ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥

वर्ष १५ } ४ मार्गशीर्ष, पौष २००१ माघ २ { अङ्क ११, १२

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी

अच्युत

७६८ पृष्ठोंका मूल्य—६)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५ % कमीशन काटकर ४॥)]

सम्पादक—

पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास वेदान्ताचार्य

प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य

अच्युत - ग्रन्थमाला - कार्यालय,

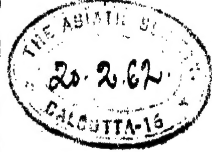
ललिताघाट, काशी ।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्त्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥



वर्ष १४ } माघ २००३ { अङ्क १

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीभगवत्स्तुतिः

नमः समस्तनिर्माणनिर्मलीभूतचेतसे ।
वदनोद्गीर्णवेदाय विश्वरूपाय वेधसे ॥ १ ॥

बलवेगसुदुर्धर्षदानवेन्द्रमदद्रुहे ।
नमः स्थितौ च सत्त्वाय विश्वाधाराय विष्णवे ॥ २ ॥

नमः पातकसङ्घातजिष्णवेऽखिलदेहिनाम् ।
ईषदुन्मीलल्ललाटनेत्राग्निप्रभवार्चिषे ॥ ३ ॥

त्वं हि सर्वस्य लोकस्य गुरुरात्मा महेश्वरः ।
विसृज्य वैष्णवान् सर्वानतस्त्वमनुकम्पसे ॥ ४ ॥

व्यापयन्निखिलं लोकं मायया परिबृंहितम् ।
न तया परिभूतोऽसि न च तत्प्रभवैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्तरा वर्तमानोऽपि न ताभ्यामभिभूयसे ।
दृशा विषयवर्तिन्या निगृहीतमना अपि ॥ ६ ॥

तया फलाभिगामिन्या आत्मन्येवाभिलीयसे ।
न तवास्ति महिम्नोऽन्तो यथा निरवधिः स्वयम् ॥ ७ ॥

—श्रीपद्मपुराणान्तर्गता ।

योगवासिष्ठ

अनुवादक—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

विषय-सूची

चेत्योन्मुखत्वमेवाऽऽहुश्चेतनस्याऽस्य चेतनम् ।
एष एव च संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे ॥ ५४ ॥
चेतनस्याऽचेतनत्वमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
मोक्षं विद्धि परं शान्तं पदमव्ययमेव च ॥ ५५ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने शान्ते शान्तात्मनि स्थिते ।
चेत्यं न सम्भवत्येव कः किं चेतयते कथम् ॥ ५६ ॥
सङ्कल्पः स्वप्नदृश्येऽन्तः संविन्मात्रात्मतां विना ।
यथाऽन्यवज्जडवद्रूपास्तथैवाऽस्मिन् बहिर्गते ॥ ५७ ॥

उसका दूसरेसे प्रकाश होना ही संसार है, यह कहते हैं—'चेत्योन्मुख०' इत्यादिसे ।

इस चेतनका यानी निर्वाणरूप स्वप्रकाशपदका विषयोंकी ओर झुक जाना ही परप्रकाश (विषयसम्बन्धरूप क्रिया) कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्टको देनेवाला बन्धन है ॥ ५४ ॥

विषयसम्बन्धके अभावसे प्राप्त अचेतनता तो मोक्षमें इष्ट ही है, यह कहते हैं—'चेतनस्या०' इत्यादिसे ।

चेतनकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसीको आप मोक्ष जानिए । मोक्ष ही अविनाशी शान्त परमपद है ॥ ५५ ॥

मोक्षमें विषयोंकी स्थितिका निवारण करते हैं—'दिक्काला०' इत्यादिसे ।

भद्र, देश, काल आदिसे अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही जब मोक्ष स्थित है, तब उस शान्तरूपमें चेत्यकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थितिमें कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ॥ ५६ ॥

इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्रसे स्वतःसिद्ध मुक्तिका उपपादन कर अब बहिर्मुखतामात्रसे ही जगत्‌का विस्तार होता है, इसका उपपादन करते हैं—'सङ्कल्पः' इत्यादिसे ।

हे श्रोतृगण भूपसमूह, जैसे स्वप्नके संसारमें चेतनगत तत्-तत् वासनानुसारी सङ्कल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपताका परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपञ्चरूप होकर अन्य जड़के सदृश भासने लग जाता है ॥ ५७ ॥

मनोबुद्ध्यादयश्चैते संविन्मात्रानुरूपिणः ।
मनोबुद्ध्यादिशब्दार्थभावितास्तु जडात्मकाः ॥ ५८ ॥
संविन्मात्रे समे स्वच्छे सबाह्याभ्यन्तरे तते ।
अभिन्ने भेदबुद्धिर्वा किमनर्थाय जृम्भते ॥ ५९ ॥
संविन्मात्रस्य शुद्धस्य शून्यस्य च किमन्तरम् ।
यच्चान्तरं तद्विबुधा विदन्त्येति न वाग्गतिम् ॥ ६० ॥
सदसद्रूप आभासो यथा किमपि लक्ष्यते ।
तमसीक्षितयत्नेन ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ ६१ ॥

इसी तरह ये जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि हैं, वे सब अन्तर्मुखदशामें चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थोंमें भावना करनेपर यानी बहिर्मुख-दशामें चेतनभिन्न जड़रूप हैं ॥ ५८ ॥

इसी रीतिसे आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें चितिकी बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थकी हेतु है, इसे कहते हैं—'संविन्मात्रे' इत्यादिसे ।

यह विस्तृत जितना बाह्य-आभ्यन्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थके लिए ही विकसित होती है ॥ ५८ ॥

समस्त दृश्योंका विनाश हो जानेपर अन्तमें बच जानेवाला संविन्मात्रस्वरूप जो आत्मा है, वह शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानोंका अनुभव है, यह कहते हैं—'संविन्मात्रस्य' इत्यादिसे ।

अन्तमें अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मामें और शून्यमें क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते । जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणीका विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशया-नन्दरूप है, उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ॥ ६० ॥

तब विवेकियोंकी यौक्तिक दृष्टिसे जगत् कैसा है ? इसे कहते हैं—'सदसद्रूपः' इत्यादिसे ।

जैसे आँखके प्रणिधानरूप (एकाग्रता) प्रयत्नसे अन्धकारमें कुछ सद्-असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्ममें जो आभास दिखाई देता है, वह आभास ही यह जगत् है ॥ ६१ ॥

अयमाकाशमेवाऽहं यदि शाम्याम्यवासनम् ।
वासनां तु न बध्नासि स्थित एवाऽसि चिन्नभः ॥ ६२ ॥
इति निश्चयवानन्यस्तज्ज्ञोऽज्ञ इव संज्ञया ।
चिद्वपुर्विद्यमानोऽपि शाम्यत्यसदिव स्वयम् ॥ ६३ ॥
जीवानां ज्ञप्तिगुप्तेन ज्वलन्नज्ञानवायुना ।
अविद्याग्निः प्रबुद्धानां पुनस्तेनैव शाम्यति ॥ ६४ ॥
अजडानां यदज्ञानं स्थाणूनामिव शाम्यताम् ।
तमाहुर्मोक्षमक्षुब्धमासितं पदमक्षयम् ॥ ६५ ॥

यह मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चयकर वासनानिर्मुक्त हो उत्तमशान्तिसे सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासनाको कहीं न बाँध लें, तो चिदाकाशरूप ही होकर स्थित हैं ॥ ६२ ॥

यह चिदाकाशरूप ही मैं हूँ, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहारसे अज्ञानीके सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्यस्वरूप ही है और देहादिकी स्थिति होनेपर भी उन्हें असत्-सा मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥ ६३ ॥

क्या जीवोंकी अविद्याको चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्याका साधक है, इसलिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्याका कार्य है, इसलिए अविद्याका जड़ भी विरोधी नहीं है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'जीवानाम्' इत्यादिसे।

मैं अज्ञानी हूँ, इस प्रकारका साक्षी ज्ञान ही अज्ञानकी सिद्धि करता है। यद्यपि जीवोंकी संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरहके साक्षि-ज्ञानसे रक्षित अज्ञानरूप वायुसे जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरहके प्रबुद्ध जीवोंकी अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूपमें परिणत साक्षि-रक्षित अज्ञान-वायुसे मानो नष्ट हो जाती है, तीसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करती ॥ ६४ ॥

क्या मुक्त पुरुष जगत्‌को जानते हैं या नहीं? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनोंमें कोई विशेष नहीं रहा। दूसरे पक्षमें यानी नहीं जानते हैं, इस पक्षमें तो एक आत्माके अज्ञानका परिहार करते हुए आपने जगत्‌के अनन्त

ज्ञत्वेन ज्ञत्वमासाद्य मुनिर्भवति मानवः ।
अज्ञत्वादज्ञतामेत्य प्रयाति पशुवृक्षताम् ॥ ६६ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेदमित्यविद्यामयो भ्रमः ।
असत्यः प्रेक्षया ध्वान्तं दीपेनेव न लभ्यते ॥ ६७ ॥
समग्रकरणग्रामोऽप्यसङ्कल्पो विवेदनः ।
न किञ्चिदप्यनुभवत्यन्तर्बाह्ये च शान्तधीः ॥ ६८ ॥

अज्ञान स्वीकृत कर लिये । सूखे काठके-जैसे स्थित उन पुरुषोंमें मुक्तत्व ही कैसा? इसपर कहते हैं—'अजडानाम्' इत्यादिसे ।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्माके स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषोंकी सांसारिक ज्ञानोंसे रहित दुःखरूप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है वही मोक्ष है और वही अविनाशी पद है। इनमें अनन्त अज्ञानोंकी आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक हीके विज्ञानसे सभीका ज्ञान हो जानेके कारण उनमें किसी तरहके अज्ञानकी प्राप्ति ही नहीं है। अपि च, भ्रमात्मक ज्ञानका अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञानसे कोई विलक्षणता ही नहीं रही ॥ ६५ ॥

किञ्च, जब मूलाज्ञान रहता है तभी उसके बलसे बाह्य अर्थोंके अज्ञान मूर्खताके सम्पादक होते हैं। मूलाज्ञानका नाश हो जानेपर तो बाह्य अर्थोंके अज्ञान मुनित्वके सम्पादक हो जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'ज्ञत्वेन' इत्यादि ।

आत्मज्ञानके द्वारा सांसारिक पदार्थोंका अज्ञान प्राप्तकर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्माके अज्ञान-द्वारा सांसारिक पदार्थोंका अज्ञान प्राप्तकर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है ॥ ६६ ॥

किञ्च, ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो, इस आशयसे कहते हैं—'अहम्' इत्यादि ।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारका ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है। यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्तिसे, दीपकसे अन्धकारकी नाईं, निकल जाता है ॥ ६७ ॥

तब जीवन्मुक्तोंकी मुक्तता ही न रही, क्योंकि उन्हें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे

सुषुप्तत्व इव स्वप्नः समाधौ प्रविलीयते ।
दृश्यं सर्वं ज्ञबोधेऽन्तः पुनः स्वात्मैव लक्ष्यते ॥ ६९ ॥
नीलत्वं च यथा व्योम्नि तथा पृथ्व्यादिता शिवे ।
भ्रान्तिमात्रादृते नान्यद्यथा व्योम तथा शिवः ॥ ७० ॥
वासनाभिरुपेतोऽपि समस्ताभिरवासनः ।
भवत्यसावसत्सर्वमिदमित्येव यस्य धीः ॥ ७१ ॥
सङ्कल्पेष्वद्भुतं भव्य स्वप्नमायेन्द्रजालकम् ।
यद्वत्संसृतयस्तद्वद् दृष्टेऽप्यास्था किमत्र वै ॥ ७२ ॥

बाह्य पदार्थोंका विज्ञान होता है, यही दृष्ट है, इसपर कहते हैं—'समग्र०' इत्यादिसे ।

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे सङ्कल्प-शून्य हैं और सविकल्पक ज्ञानसे रहित हैं। इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसीका अनुभव नहीं करता। जिस तरह सुषुप्ति अवस्थामें स्वप्नका विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान होनेपर समाधिमें समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥ ६९ ॥

समस्त दृश्य क्यों विलीन हो जाता है, इस प्रश्नपर वे भ्रान्तिरूप हैं, यह उत्तर देते हैं—'नीलत्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें नीलरूप विलीन हो जाता है वैसे ही पृथिवी आदिरूप समस्त दृश्य आत्मामें विलीन हो जाता है। जैसे आकाशमें नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मामें पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूपके प्रति आत्मा है ॥ ७० ॥

अतएव बाधित अर्थकी वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थितिमें ज्ञानी वासनारहित ही है, यह कहते हैं—'वासनाभिः' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषको यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है वह वासनासे युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओंसे रहित ही है ॥ ७१ ॥

चित्र-विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी ; विहित निषिद्ध अनेक कर्म ; एवं विहित निषिद्ध कर्मफलोंकी भोगस्थिति तथा ईश्वर—इन सबका जहाँपर

न दुःखमस्ति न सुखं न पुण्यं न च पातकम् ।
न किञ्चित्कस्यचिन्नष्टं कर्तुर्भोक्तुरसम्भवात् ॥ ७३ ॥
सर्वं शून्यं निरालम्बं ममताप्रत्ययोऽप्ययम् ।
द्विचन्द्रस्वप्नपुरवद्यस्यासौ सोऽपि नास्ति नः ॥ ७४ ॥
केवलो व्यवहारस्थः काष्ठमौनगतोऽथवा ।
काष्ठपाषाणवत्तिष्ठन् ब्रह्मतामधिगच्छति ॥ ७५ ॥
शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे ।
अवयविनोऽवयवित्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या ॥ ७६ ॥

अस्तित्व है ऐसे इस अद्भुत जगतको आप कैसे असत्, अनृत और सङ्कल्पस्वरूप पूर्वोक्त युक्तियोंसे मानकर खण्डित करते हैं ? सङ्कल्प, मनोरथ आदि स्थलोंमें तो उस तरहके पदार्थ हैं नहीं, ऐसी आशङ्का कर वहाँपर भी (सङ्कल्प आदि स्थलोंमें भी) अद्भुत अर्थसत्ताका दिग्दर्शन कराते हैं—'सङ्कल्पेष्व०' इत्यादिसे ।

हे भव्य श्रीरामजी, सङ्कल्पजनित पदार्थोंमें स्वप्न, माया, इन्द्रजाल जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं, वैसे ही ये सब संसार अद्भुत ही हैं । प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थोंमें क्या आस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है ? एवं संसारमें भी आस्था बाँधकर बैठे रहना क्या अच्छा है ? ॥७२॥

जब आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी सत्ता हो, तब तो समस्त सुख-दुःखके भोगके लिए पुण्य-पापकी व्यवस्था हो सकती है । आत्मामें जब कर्तृत्व-भोक्तृत्वका संभव ही नहीं, तब पुण्य-पापकी व्यवस्था ही क्या ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्वका ही जब आत्मामें असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसीका कुछ बिगड़ा ही है ॥ ७३ ॥

जिस अहङ्कारमें हम लोगोंको यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है । इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बनरहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगरके सदृश मिथ्या है ॥ ७४ ॥

भद्र, समस्त द्वैतसे शून्य तत्त्ववित् पुरुष चाहे व्यवहारमें रहे या काष्ठ-पाषाणके सदृश निश्चल होकर समाधिमें स्थित रहते हुए चाहे लकड़ीके सदृश मौन धारण करे ; सभी स्थितिमें वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ॥ ७५ ॥

इस तरह मायिक विवर्तवादके सिद्धान्तको लेकर आरोपित जगत्के

अर्थागतस्वभावस्य च नैव च सम्भवादमले ।
एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः ॥ ७७ ॥

अपवादसे तत्त्ववित् पुरुषकी परम पुरुषार्थमें निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो जुदे-जुदे सिद्धान्तकी कल्पना करते हैं उनके पास जगत्‌के उत्पत्ति आदि व्यवहारमें एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थमें कोई युक्ति नहीं है, यह कहते हैं—'शान्तत्वे' इत्यादिसे ।

भद्र, यह शिवस्वरूप जो अन्तरात्मा है वह प्राण, बुद्धि, मन, देह आदिके साथ एकरूप बनकर अनेकरूप भिन्नस्वभाव तथा संसारके अनेक अर्थोंसे आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मामें दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न-स्वभावता आदिका निराकरणकर दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मामें आनन्दरूपता बचानी है । इसमें अध्यारोपापवादप्रणालीको छोड़कर दूसरी कोई युक्ति है नहीं । अपि च, कल्याणरूप अन्तरात्माको सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्माका—संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्त-स्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक-अनेक तरहके भावों द्वारा—जो संसारमें आना है, इसमें अध्यारोपापवादप्रणालीको छोड़कर किसीके पास और कोई युक्ति नहीं है । अपि च, इन सब बातोंको सिद्ध करनेके लिए आत्माको परिच्छिन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्माको जिन अवयवोंको लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवोंको चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थितिमें अवयवोंका विच्छेद हो जानेके कारण अवयवीका विनाश ही प्राप्त है । यदि अवयवोंको जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायगा । ऐसी स्थितिमें अनित्य आत्मा पूर्वके पुण्य-पापोंका भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्माको जगत्‌का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनानेमें अनुकूल संकल्पात्मक चित्तरूपता आदिमें अध्यारोपापवादको छोड़कर और कौन-सी युक्ति हो सकती है ? इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियोंके लिए शरण है ॥ ७६ ॥

यद्यपि स्वभावतः आत्मा शान्त ही है तथापि प्रलयके बाद चित्त्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण-विलक्षण धर्मोंसे युक्त पदार्थोंका आविर्भाव

न च नास्तिकोपलम्भात्संविचेरस्तिता च नैवाजे ।
ग्राह्यग्राहकदृष्टेरसम्भवादस्ति किञ्चिदपि ॥ ७८ ॥

होगा ही, क्योंकि प्रलयके समय ब्रह्ममें सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं; इसलिए उन पदार्थोंका अपना-अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्ममेंसे कहीं गया नहीं, इसपर कहते हैं—'अर्थागत०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, अर्थोंकी विचित्रताका कारणभूत जो स्वभाव है वह परमात्मामें अर्थोंके कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थोंके कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थानसे आनेवाले अन्याधीन धर्मको दूसरेका स्वभाव माना नहीं जा सकता । दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असङ्ग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मामें दूसरेका विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता । अपि च, जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकालमें स्वतन्त्ररूपसे अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलयके बाद अपने-अपने स्वभावके बलसे ही चित्र-विचित्ररूपमें आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभावको अनागन्तुक ही कहना चाहिए । परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्षमें ब्रह्मके सर्वगत होनेके कारण सब पदार्थ सभी तरहकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण होने लगेंगे । ब्रह्मके सर्वगत होनेपर 'इस वस्तुका यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करनेवाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तुमें सभी तरहकी विचित्रताओंको मान लेंगे, तो इस संसारसे विचित्रताका नाम ही उठ जायगा । सर्वसाधारण धर्ममें न तो विचित्रता रहती है और न वह किसीका पार्थक्यकारक ही होता है । ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण जगत्की एकरूपता हो जायगी ॥ ७७ ॥

सबके अनुभवपर चढ़ी हुई जगत्-विचित्रताका यदि युक्तिके अभावमें आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञानका भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेयके बिना ज्ञान तो कहीं होता नहीं । ऐसी स्थितिमें शून्यवाद ही आ गया, इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

विषयोंके खण्डनके प्रसङ्गमें जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञानका भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञानके अस्तित्वका खण्डन करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञानकी सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं । अपि च, खण्डन करनेवाला पुरुष अपनेसे भिन्न ज्ञान

शममममलमहार्यमार्यजुष्टं
शिवमजमक्षयमासितं समं यत् ।
तदवितथपदं तदास्व शान्तं
पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥



और विषयका खण्डन करेगा, अपना तो करेगा नहीं, जब सभी ज्ञान उसीकी आत्मा है, तब स्वभिन्न विषयका खण्डन करते हुये वह ज्ञानको आखिर बचा ही लेता है । किञ्च, जो निषेध किया जाता है वह किसी आधारपर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता । इससे ज्ञान करनेवाला एवं जानने योग्य विषय दोनोंका स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेयसे शून्य आधारभूत आत्मामें ही निषेध करना चाहिए, यही उसकी आत्मा है । ऐसी स्थितिमें अविनाशी स्वात्मामें ही ग्राह्य-ग्राहकदृष्टिके असम्भवप्रतिपादनमें पर्यवसानसे खण्डनकर्ताके मतमें समस्त प्रतिषेधोंके आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामजी, आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा छोड़ने लायक नहीं जो अज, अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थसत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिव पद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जाइये । व्यवहारमें साधारण जनोंके सदृश यद्यपि आप खाइये, पीजिये, खेलिये, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपञ्चरूप बन्धन है ही नहीं ॥ ७९ ॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहन्तैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी ।
तयैवान्विष्यते मूढैस्तदित्युन्मत्तचेष्टितम् ॥ १ ॥
अहन्तैवाऽलमज्ञानादज्ञत्वस्य निदर्शनम् ।
न हि तज्ज्ञस्य शान्तस्य ममाऽहमिति विद्यते ॥ २ ॥
अहन्तामलमुत्सृज्य निर्वाणः खमिवाऽमलः ।
सदेहमपदेहं वा ज्ञस्तिष्ठति गतज्वरः ॥ ३ ॥
न तथा शरदाकाशं न तथा स्तिमितोर्णवः ।
पूर्णेन्दुमघ्यं न तथा यथा ज्ञः परिराजते ॥ ४ ॥

तीसवाँ सर्ग

[जिस दृष्टिसे अविद्याजनित नानात्वभ्रान्तिकी शान्ति द्वारा धीर पुरुष परमब्रह्ममें स्थिर हो जाता है, उस दृष्टिका वर्णन]

जबतक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तबतक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्तैव' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अहम्भाव ही सब अविद्याओंकी मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थानको आवृत करनेवाली है। जो मूढ पुरुष हैं, वे उसी अविद्यासे परमपदकी अन्वेषणा करते हैं, यही उनकी उन्मत्तोंकी-सी चेष्टा है ॥१॥

भद्र, जैसे धूमज्ञान अग्निज्ञानका हेतु पर्याप्त है, वैसे ही अज्ञानसे उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञानकी सत्तामें हेतु पर्याप्त है, जो तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष है, उसे ममता या अहन्ता नहीं रहती ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, इस अहन्तारूपी मलका सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाशकी नाईं मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापोंसे शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देहका ॥ ३ ॥

अहन्ताके दूर चले जानेसे ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है, यह वर्णन करते हैं—'न तथा' इत्यादिसे।

जैसा अहन्तासे रहित ज्ञानीपुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्कालका

चित्रसङ्गरयुद्धस्य सैन्यस्याऽक्षुब्धता यथा।
तथैव समता ज्ञस्य व्यवहारवतोऽपि च ॥ ५ ॥
निर्वाणैकतया ज्ञस्य वासनैव न वासना।
लेखादामोपमा त्वब्धेरूर्म्यादि न जलेतरत् ॥ ६ ॥
तरत्तरङ्गो जलधिर्जलमेव यथाऽखिलम्।
दृश्योच्छूनमपि ब्रह्म तथा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ७ ॥
अन्तस्तरङ्गतोऽक्षुब्धो बहिरस्तङ्गतः शमी।
विद्यते चोदितो यस्य स मुक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥
अहन्त्वसर्गरूपेण संवित्संविन्मये परे।
स्फुरत्यम्भोम्भसीवातो नानातेयं किमात्मिका ॥ ९ ॥

आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमाका मध्यभाग ही शोभित होता है ॥ ४ ॥

जैसे चित्रलिखित युद्धमें परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध-सी प्रतीत होनेपर भी अक्षुब्ध ही रहती है, वैसे ही व्यवहारमें निरत भी ज्ञानी पुरुषमें समता (अक्षुब्धता) ही रहती है ॥ ५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण-स्वरूप बन गया है। जैसे जले हुए वस्त्रमें तन्तुओंकी रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असलमें तन्तुओंकी रेखाएँ हैं ही नहीं, वैसे ही व्यवहारसे ज्ञानीमें अनुमित-वासना बाधित होनेके कारण वासनारूप नहीं है। जैसे समुद्रके तरङ्ग जलसे अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मासे इतर कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे तैर रहे तरङ्गोंसे युक्त समुद्र पूर्णरूपसे जल ही है, वैसे ही दृश्यसे वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥ ७ ॥

ज्ञानी पुरुषमें भीतर-बाहर सबकी वासनाएँ बाधित हो चुकी हैं, इसमें क्या प्रमाण ? इस शङ्कापर अक्षोभ, शम आदि ही प्रमाण हैं, इस आशयसे कहते हैं—'तरत्तरङ्गो' इत्यादि।

जो पुरुष भीतरके मानसिक तरङ्गोंसे क्षुब्ध नहीं होता और बाहरके तरङ्गोंसे भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्तिसे शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मामें अहन्ताकी सृष्टिके रूपसे ज्ञानरूप आत्मा ही

धूमस्य स्फुरतो व्योम्नि यथा गजरथादयः ।
व्यूहा धूमान्न ते भिन्नास्तथा सर्गाः परे पदे ॥ १० ॥
संविद्भ्रान्तिविचारेण भ्रान्त्यलाभविलासिनः ।
विजयध्वं विषादमागता ज्ञास्तज्ज्ञता हि वः ॥ ११ ॥
अङ्कुरोऽनुभवत्यन्तर्वृक्षपत्रफलं यथा ।
तथा जगदहन्त्वे ज्ञः स्वात्मखमप्यलम् ॥ १२ ॥
रूपालोकमनःसत्ताज्वालार्चिष्विव दण्डता ।
सत्योऽपि च न सन्त्येता भ्रान्तेश्चित्ताबला इव ॥ १३ ॥

ऐसे भासित होता है जैसे जलमें जल तरङ्गरूपसे भासित होता है, इसलिए इस अनेकताका रूप ही क्या ॥ ९ ॥

जैसे आकाशमें स्फुरित हो रहे नीहारधूम्रके हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूमसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमपदमें ये सर्ग भी हैं अर्थात् परमपदसे भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥ १० ॥

अब महाराज वसिष्ठजी सभी श्रोताओंको सम्बोधित कर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

हे उपस्थित विद्वानो, आप लोग किसी तरहका विषाद न करें, किन्तु मेरे कथनके अनुसार विषादके हेतु सम्पूर्ण प्रपञ्च संवितकी एकमात्र भ्रान्ति (विवर्त) है, यों विचारकर—भ्रान्ति और उसके विषयकी तत्त्वतः परीक्षा करनेपर निःस्वरूप सिद्ध होनेके कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकनेसे—विलसनशील होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमाइये । क्योंकि मेरे उपदेशसे सचमुच आप लोग वस्तुतत्त्वको जान गये हैं । तात्पर्य यह है कि आप लोगोंमें अब अज्ञता नहीं रही ॥ ११ ॥

किस तरहकी वह संविद्-भ्रान्ति अज्ञानियों द्वारा अनुभूत होती है, यह कहते हैं—'अङ्कुरो०' इत्यादिसे ।

जैसे अङ्कुर अपनी आत्मामें ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदिका अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाशके सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्माका जगत और अहङ्काररूपसे भलीभाँति अनुभव करता है ॥ १२ ॥

उसमें किस तरहका विचार होता है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

यथासुखं यथारम्भं यथानाशं यथोदयम् ।
यथादेशं यथाकालमजराः शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥
इष्टानिष्टोपलम्भेषु शान्तो व्यवहरन्नपि ।
शववन्नान्यतामन्तर्निर्वाणोऽनुभवत्यलम् ॥ १५ ॥
अमनोवासनाहन्ता धत्ते यच्च जगच्चिरम् ।
जीवतो जीवतश्चैव चिज्जीवः स परं पदम् ॥ १६ ॥
सत्तैव जडवाहेन दुःखभाराय केवलम् ।
नृणां पाशावबद्धानां पोतकानामिवार्णवे ॥ १७ ॥

बाह्य रूपालोककी सत्ता तथा आन्तरिक मनकी सत्ता ये सब अधिष्ठानरूपसे सत्य होती हुई भी अपने स्वरूपसे ऐसे सत्य नहीं हैं, जैसे भ्रमणशील हो रहे आलातकी ज्वालार्चिमें दण्डचक्रादिरूपता या विधुर पुरुषोंके चित्तमें कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूपसे सत्य नहीं हैं ॥ १३ ॥

इसलिए हे श्रोताओ, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्योंका आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःखका अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरहके इसके देश-काल हैं—इन सब बातोंका उत्पत्ति-स्थिति आदि प्रकरणोंमें कही गई युक्तियोंसे निश्चय कर यानी ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अजर होते हुए शान्तरूपसे आप लोग स्थित रहिये ॥ १४ ॥

इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्देके सदृश अन्यताका अनुभव नहीं करता, किन्तु अपनी आत्मामें चित्तका समर्पण कर स्वस्वरूपका ही अनुभव करता है ॥ १५ ॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनकी अहन्ता मनोजनित वासनासे रहित ही है। वह अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जो जगत् धारण करती है और उसका भोक्ता जबतक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥ १६ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यही निकला कि जीव जगत्की जड़रूपसे सत्ता मान लेना ही अनर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'सत्तैव' इत्यादि।

जैसे समुद्रमें जहाजोंके भार-वहनके लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है वैसे ही संसाररूपी फन्देसे बँधे गये मनुष्योंको दुःखरूपी भार ढोनेके लिए जीव-जगत्की जड़रूपसत्ता ही कारण है ॥ १७ ॥

मोक्षसत्ताऽऽश्रयति तं नाज्ञानानुभवादिव ।
मृतेन यत्किल प्राप्यं जीवन्प्राप्नोति तत्कथम् ॥ १८ ॥
यद्यत्सङ्कल्प्यते तत्तत्सङ्कल्पादेव नाशभाक् ।
न सम्भवति यत्रैतत्तत्सत्यं पदमक्षयम् ॥ १९ ॥
नान्यो न चाहमस्मीति भावनान्निर्भयो भव ।
सत्यं युक्तं भवत्येतद्विषमप्यमृतं यथा ॥ २० ॥
जडं देहादि चितान्तं विचार्य सकलं वपुः ।
लभ्यते नाहमस्मीति तस्मान्नास्मीति सत्यता ॥ २१ ॥
शान्ताशेषविशेषाणामहन्तान्ताविचारणात् ।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ २२ ॥

जो मृत पुरुषके द्वारा प्राप्त किया जानेवाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृतपुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुषका जीवनापराधसे मानो आश्रयण नहीं करता, वैसे ही मोक्ष-सत्ता अज्ञानी पुरुषका अज्ञानगत जड़तानुभवके अपराधसे मानो आश्रयण नहीं करती ॥ १८ ॥

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ माननेकी आवश्यकता क्या है ? साङ्कल्पिक स्वर्ग आदि फलोंमें से किसी एकको नित्य पुरुषार्थरूप मान लीजिये, इसपर कहते हैं—'यद्यपि' इत्यादिसे ।

जो-जो पदार्थ सङ्कल्पसे सिद्ध होता है, वह सब सङ्कल्पसे ही नष्ट भी होता है । इसलिए जहाँ इस सङ्कल्पका सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥१९॥

न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरहकी अनहंभावनासे आप निर्भय हो जाइये । अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावनाको भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझकर ग्रहण ऐसे कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टिसे भयङ्कर विष समझकर छोड़े गये अमृतको परमार्थ दृष्टि ग्रहण करती है ॥२०॥

इसमें सत्यताका उपपादन करते हैं—'जडम्' इत्यादिसे ।

जड-देहादिसे लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचारकर देखनेसे अहंरूप उपलब्ध नहीं होता । अतः जड देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्यता है ॥ २१ ॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण शान्तिकी सीमारूपी मोक्षता अहङ्कारकी शान्ति

भोगत्यागविचारात्मपौरुषान्नान्यदत्र हि।
उपयुज्यत इत्यज्ञाः स्वात्मैवाशु प्रणम्यताम् ॥ २३ ॥
निर्वासनं मननमेवमुदाहरन्ति
मोक्षं विना भवति तन्न च जातु बोधात्।
सन्नो जगद्भ्रम इतीह परः प्रबोधो
न प्रत्ययोऽत्र यदतः सुचिराय बन्धः ॥ २४ ॥
जगदहमसदित्यवेत्य सम्यग्-
जनधनदारशरीरनिर्व्यपेक्षः।

ही है। जैसे जमे हुए घीके पिघल जानेपर घीका कुछ नाश नहीं होता, वैसे ही अहन्ताका नाश होनेपर आत्माका अणुमात्र भी कुछ नाश नहीं होता। अहन्ताके नाशसे सर्वनाश हो जायगा, यों विचारकर भय नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'शान्ता०' इत्यादिसे।

विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ताका नाश करनेवाली केवल मुक्तता उदित होती है। उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

इस मुक्तिमें, भोगोंका त्याग, विचार इन्द्रिय, तथा मनका निग्रहरूप पौरुष—इन तीनोंके सिवा और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय करके हे अज्ञ, मुमुक्षुओ, आत्मभिन्न सबका त्यागकर शीघ्र अपनी आत्माकी ही शरणमें जाओ ॥ २३ ॥

इस प्रकार अहन्ताके नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक जो ब्रह्मभावसे मनकी स्थिति है, उसीको श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं। और वह मोक्ष विना तत्त्वज्ञानके कभी भी नहीं होता। सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता, यह मोक्षशास्त्रमें प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है। चूँकि इस ज्ञानमें 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिसे कराया जा रहा भी विश्वास पुरुषके प्रबल रागादि दोषके कारण तथा जगत्में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जानेके कारण जम नहीं पाता, इसीलिए चिरकालतक जीवको संसारबन्धन बार-बार हुआ करता है ॥ २४ ॥

इसलिए शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास करके 'जगत् और अहन्ता—ये

भवति हि स च चेतनस्वरूपः
परिमितखं खलु नान्यथास्ति मुक्तिः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

—o—

एकत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मनि चिदाभासे तदेवाश्वनुभूयते ।
संवेद्यते यदेवान्तरसत्यं वस्त्ववस्तु वा ॥ १ ॥

हैं, इसको' श्रवण, मनन आदिके अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदिमें आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्वको जानकर उपाधिसे परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाता है। वही इस जीवकी मुक्ति है, यही इसका उपाय है। इस ज्ञानसे भिन्न किसी दूसरे ज्ञानसे इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

[अचिद्रूप वस्तु असत् हो या सत्, सभी चितिसे ग्रस्त है, इसलिए कुछ भी नष्ट नहीं होता, इस विषयमें निर्वाणकी स्थितिका वर्णन]

नित्य निरतिशयानन्दसे पूर्ण अद्वय चिदाकाशरूप निर्वाणस्थितिका अनुभव करानेके लिए दृश्यानुभव दृश्यभावनाके अभ्यासके अधीन है, इस पूर्वोक्तका स्मरण कराते हैं—'सर्वात्मनि' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तुकी भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभासमें अनुभव होने लग जाता है ॥ १ ॥

तदेवाभ्यासतः पूर्वं बाह्यार्थानुभवात्मना ।
स्फुरतीव बहिष्ट्वेन स्वस्वप्नोऽत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥
चिद्रूपं सर्वमेतच्च चिदच्छा गगनादपि ।
चिच्चिनोति चिदेवाऽतो नैतत्किश्चन कुत्रचित् ॥ ३ ॥
न नाशो नास्ति नानर्थो न जन्ममरणे न खम् ।
न शून्यता न नानास्ति सर्वं ब्रह्मैव नैव च ॥ ४ ॥
नाशे जगदहन्त्वादेर्न किश्चिदपि नश्यति ।
असतः किल नाशोऽपि स्वप्नादेः किं नु नश्यति ॥ ५ ॥

वही बाह्य पदार्थोंके अनुभवरूपसे दृढ़ अभ्यास होनेके पहले बाहरमें जगत्के रूपसे मानो स्फुरित होता है, इस विषयमें अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥ २ ॥

ठीक है, ऐसा ही रहे, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं— 'चिद्रूपम्' इत्यादिसे ।

यह सारा संसार चितिका ही रूप (कल्पित आकार) है । वह चिति आकाशसे भी स्वच्छ है । चूँकि घृत जैसे अपनी आत्मामें ही काठिन्यको धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकारको धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है । चितिसे भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥ ३ ॥

ऐसा ही सही, इससे भी प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं— 'न' इत्यादिसे ।

न तो नाश है, न अस्तिता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठानरूपसे सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

जगत् तथा अहङ्कार आदिके जड़ांशका तत्त्वज्ञान द्वारा हुआ नाश तो सभीको इष्ट है ही, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इसपर कहते हैं— 'नाशे' इत्यादिसे ।

इस जगत् और अहन्ता आदिका नाश इष्ट होनेपर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादिका भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है ? क्योंकि नाशका स्वरूप ही क्या रहा ॥ ५ ॥

मिथ्यावभासे सङ्कल्पनगरे कैव नष्टता ।
तथा जगदहन्त्वादौ नाशो नाऽसति विद्यते ॥ ६ ॥
कुतो जगदुपालम्भ इति चेत्तदवस्तुनि ।
न निर्णयः सम्भवति खपुष्पाणां किमुच्यते ॥ ७ ॥
निर्णय एष एवात्र यदशेषमभावयन् ।
यथास्थितं यदाचारं पाषाण इव तिष्ठसि ॥ ८ ॥
जगत्सङ्कल्पमात्रात्म तत्र तेऽर्थयुतं क्षणात् ।
शाम्यत्यशेषेणेत्येव निर्णयः सर्गविभ्रमे ॥ ९ ॥

मिथ्या अवभासित हो रहे असत् सङ्कल्पनगरका नाश ही क्या (मिथ्या) है, ठीक, इसी तरह असद्रूप जगत् और अहङ्कार आदिका नाश ही क्या? असत्का वस्तुतः नाश ही नहीं है ॥ ६ ॥

यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थरूपसे इसका वर्णन करके इसकी निन्दा तथा हेयरूपसे इसका निर्णय शास्त्रोंमें क्यों किया जाता है? यदि यह आप आशङ्का करें, तो यह आपकी आशङ्का एक तरहसे ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थोंके विषयमें न तो किसी प्रकारकी निन्दाकी और न उनके फल, विचार या किसी तरहके निर्णयकी ही सम्भावना है। कहिये, आकाशके फलोंकी कोई कभी निन्दा या उसके विषयमें किसी तरहका निर्णय करता है? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लीजिये ॥ ७ ॥

तब क्या वे शास्त्र सब व्यर्थ है? इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'निर्णयः' इत्यादिसे।

स्वाभाविक स्वरूपस्थितिकी सिद्धिके लिए असद्रूप होते हुए भी सत्की नाई कल्पना करके निन्दा आदिके द्वारा शास्त्रोंमें वैराग्य एवं विवेकसे लेकर तत्त्व-साक्षात्कार पर्यन्त उपायोंकी कल्पना की गई है—यही सब शास्त्रोंमें निर्णय है, इसलिए हे श्रीरामजी, जो ये सब वस्तुएँ सत्-सी प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूपसे भावना न करते हुए यानी इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और सम्प्रदायके अनुसार भूमिकाओंके क्रमका अभ्यास करके पाषाणके समान स्थित रहिये ॥ ८ ॥

ठीक है, आत्मतत्त्वके विषयमें यह निर्णय ऐसा ही रहे, किन्तु स्वर्गादि जगत्के स्वरूपके विषयमें कौन-सा सफल निर्णय हुआ है? उसे कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे।

सर्गोऽनर्गल एवाऽयं ब्रह्मात्मकतया क्षयः ।
अन्यथा तु न सर्गोऽयमस्ति नास्ति च सन्ति वा ॥ १० ॥
येषां च विद्यते सर्गः स्वप्नपुंसामिवाऽऽसताम् ।
स सर्गः पुरुषास्ते च मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ११ ॥
असतामेव सद्भावमिव येषामुपेयुषाम् ।
न वयं निर्णयं विद्मो वन्ध्यापुत्रगिरामिव ॥ १२ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या क्वाप्यपूर्वैव पूर्णता ।
तज्ज्ञानां द्रष्टृदृश्यांशदृष्टौ न हि पतन्ति ते ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त स्थितिमें सांसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र सङ्कल्पस्वरूप यह जगत् एक क्षणमें ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस, इतना ही इस सृष्टिके विलासमें सफल निर्णय हुआ है ॥ ९ ॥

सुषुप्ति और प्रलयमें सर्ग तो अपने आप ही नष्ट हो जाता है, अतः उसमें ब्रह्मरूपताके परिज्ञानसे कौन-सा लाभ हुआ ? इस शङ्कापर कहते हैं—'सर्गो' इत्यादिसे ।

जगत्‌में ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है। इसके विपरीत कोई दूसरे मार्गसे वैसा क्षय नहीं होता, क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदिमें जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूपसे रहती है, कार्यरूपसे नहीं रहती अथवा ऐन्दव आख्यानकी रीतिसे प्रलयमें भी कार्य बने ही रहते हैं ॥१०॥

तब सृष्टिके रहते भला प्रलयव्यवहार कैसे ? इसपर कहते हैं—'येषाम्' इत्यादिसे ।

स्वप्नपुरुषके तुल्य जिन असत् पुरुषोंकी दृष्टिमें यह सृष्टि है, वह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णाजलके तरङ्गके समान हैं । तात्पर्य यह है कि प्रलयका सङ्कल्प करनेवालेकी दृष्टिसे उन सबकी सत्ता न होनेके कारण अपने सङ्कल्पित सम्पूर्ण जगत्‌के नाशसे ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥ ११ ॥

यही कारण है कि जीव और जगद्रूपोंके विषयमें कोई निर्णय न हो सकनेसे अनिर्वचनीयता कही गई है, यह कहते हैं—'असतामेव' इत्यादिसे ।

जो लोग असत्पदार्थोंका ही सद्भाव-सा मानते हैं, वन्ध्या-पुत्रकी वाणीकी तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते । कहनेका तात्पर्य यह है कि जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय ही है ॥ १२ ॥

इसीलिए तो तत्त्वज्ञानी पुरुष सदा ही अद्वितीय चिदानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं, यह कहते हैं—'परिपूर्णा०' इत्यादिसे ।

अचला इव निर्वाता दीपा इव समत्विषः ।
साचारा वा निराचारास्तिष्ठन्ति स्वस्थमेव ते ॥ १४ ॥
आपूर्णैकार्णवप्रख्या काप्यन्तः पूर्णतोदिता ।
अन्तः शीतलता ज्ञप्तिर्ज्ञस्याऽपूर्वैव लक्ष्यते ॥ १५ ॥
वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते ।
तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥ १६ ॥
अनालोकनसिद्धं यत्तदालोकान्न विद्यते ।
कृष्णाद्यनुपलम्भोऽत्र दृष्टान्तः स्पष्टचेष्टितः ॥ १७ ॥
भूतानि देहमांसादि तच्चाऽसद्विभ्रमो जडः ।
बुद्ध्यहङ्कारचेतांसि तन्मयान्येव नेतरत् ॥ १८ ॥

परिपूर्ण समुद्रके समान तत्त्वज्ञानियोंमें कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्दकी परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांशकी दृष्टिमें गिरते नहीं ॥ १३ ॥

वे ज्ञानी लोग पर्वतके समान अकम्पनीय, वातरहित स्थानमें स्थापित दीपककी नाईं सदा समप्रकाशयुक्त तथा आचारशून्य होते हुए भी आचारयुक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुषके हृदयके भीतर उदित हुई परिपूर्ण समुद्रके समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञानरूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥ १५ ॥

तब अज्ञपुरुषका स्वरूप क्या है, इसपर कहते हैं—'वासनैव' इत्यादिसे ।

इस संसारमें अज्ञानी पुरुष तो वासनारूप ही है । तत्त्वदृष्टिसे विचार कर देखनेपर तो वह वासना कुछ है ही नहीं । कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसीसे यह संसार उपस्थित हुआ है ॥ १६ ॥

जिस पदार्थकी प्रतीति प्रकाशास्फूर्तिसे सिद्ध है यानी प्रकाशके बिना जिस पदार्थकी प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाशसे विद्यमान नहीं रहता । इस विषयमें बिलकुल स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाशकी उपस्थितिमें अन्धकार और उसमें अपना काम करनेवाले चोर आदिकी उपलब्धिका अभाव ही है ॥ १७ ॥

प्रकाशके बिना प्रतीत हो रहे पदार्थोंकी स्थिति किस तरहके प्रकाशसे विद्यमान नहीं रहती ? इसपर वह कहते हैं—'भूतानि' इत्यादिसे ।

भूतादिमयतां त्यक्त्वा बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
अत्यन्तस्थितिरभ्येति यदि तन्मुक्ततोदिता ॥ १९ ॥
चिद्श्लिष्टा चेत्यनिष्ठत्वात्ताहश्येवाऽत्र काऽस्तिता ।
तस्मात्क्वेव कुतः कुत्र वासना किंस्वरूपिणी ॥ २० ॥
यस्य चैष भ्रमः सोऽसन्प्रेक्षयासन्न लक्ष्यते ।
मृगतृष्णाम्बुवत्तेन संसारः कस्य कः कुतः ॥ २१ ॥

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पञ्चीकृत भूतमय, असद्विभ्रमसे युक्त एवं जड़रूप हैं तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी अपञ्चीकृत भूतोंके विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥ १८ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, परन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'भूतादिमयताम्' इत्यादिसे ।

उस बुद्ध्यादिघटित सूक्ष्म शरीरमें अहंभावसे प्रविष्ट हुआ चिदात्मा तद्द्वारा स्थूलदेहको भी अविद्याके कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है । विवेक द्वारा बुद्धि, अहङ्कार और चित्तकी भूतादिरूपताको 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुतिमें दिखलाये गये उपायसे छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वभावसे स्थिति हो जाय, तो फिर मुक्तता भी आविर्भूत हो ही गई, यह समझ लेना चाहिए । उसीको मैंने आलोक कहा है, यह तात्पर्य है ॥ १९ ॥

इस प्रकार आत्मप्रकाशके प्रसृत होनेपर वासना भी बाधित ही हो जाती है, इसलिए उस वासनासे भी संसारबन्धकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

विषयोंकी ओर उन्मुख होनेके कारण चिति लिङ्ग शरीररूपी उपाधिमें यदि मिलित है, तो उसकी वासना भी उस लिङ्ग शरीरके सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता-अवस्थामें उसका बाध होनेसे वह वासना कैसी, कहांसे, कहांपर और किस स्वरूपकी हो सकती है ? ॥ २० ॥

किञ्च, तत्त्वज्ञान होनेपर बद्ध जीवकी ही जब उपलब्धि नहीं होती, तब भला किसके द्वारा किसको बन्धनकी प्रसक्ति ? यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे।

जिस जीवको इस संसारका भ्रम है, वह असत् ही है जो असत् होता है, वह तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर मृगतृष्णा-जलकी नाईं कथित ही नहीं होता, इससे किसको कहांसे कौन-सा संसार ? ॥ २१ ॥

तदेवं तर्हि तस्य स्यादिति चित्तोदयो हि यः ।
पुनः स एव संसारविभ्रमः सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥
तस्मात्सर्वमनाश्रित्य व्योमवत्समुपास्यताम् ।
अपुनःस्मरणं श्रेय इह विस्मरणं परम् ॥ २३ ॥
नेह द्रष्टा न भोक्ताऽस्ति नास्तिता न च नास्तिता ।
यथास्थितमिदं शान्तमेकं स्पन्दि सदाब्धिवत् ॥ २४ ॥
सर्वं दृश्यं जगद्ब्रह्म सदित्यवगते स्फुटम् ।
जलशोषादिवोदेति बिम्बबिम्बिक्षये शिवम् ॥ २५ ॥

आत्मप्रकाशके मन्द पड़ जानेपर तो फिर चित्तका उदय हो जानेसे संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाशको तबतक दृढ़ बनाये रखना चाहिए, जबतक कि संसारकी बिलकुल विस्मृति न हो जाय यानी उसकी पुनःस्मृतिका अवसर न आने पावे, यह कहते हैं—'तदेवम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

इससे इस तरह आत्मतत्त्वज्ञानके लिए प्रवृत्त हुए पुरुषके विषयोंका स्मरण करनेसे जो पुनः चित्तका उदय होगा, वही फिर संसाररूपसे प्रवृत्त हो जायगा ॥ २२ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, सबको छोड़-छाड़कर आकाशके समान निर्मल आत्माकी ही एकमात्र आप उपासना कीजिये। विषयोंका पुनःस्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओंके अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयोंकी विस्मृतिको ही इस व्यावहारिक जगतमें सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषोंका परम कर्तव्य है ॥ २३ ॥

भूमिकाओंके अभ्यासमें तत्पर मुमुक्षु किस तरह देखे, यह बतलाते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्रके समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहारके निमित्तभूत, एक, शान्त-स्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

यह सारा दृश्य जगत् सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जानेपर बिम्ब और बिम्बी यानी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनोंके नाशसे, जल सूखनेसे बिम्बरूपताकी नाईं, एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥ २५ ॥

शान्तता व्यवहारो वा रागद्वेषविवर्जितः ।
विश्रान्तस्य परे तत्त्वे दृश्यते समदर्शिनः ॥ २६ ॥

अथवा शान्ततैवाऽस्य निर्वाणस्याऽवशिष्यते ।
निर्वासनः किल मुनिः कथं व्यवहरत्यसौ ॥ २७ ॥

यावत्त्वस्य न निर्वाणं परिपोषमुपागतम् ।
तावद्व्यवहरत्यस्तरागद्वेषभयोदयः ॥ २८ ॥

वीतरागभयक्रोधो निर्वाणः शान्तमानसः ।
शिलेवाप्यशिलीभूतो मुनिस्तिष्ठति नित्यशः ॥ २९ ॥

कोशेऽस्ति पद्मबीजस्य यथा सर्वाब्जिनी तथा ।
अनन्या स्वप्नविभ्रान्तिरात्मन्यस्ति न बाह्यता ॥ ३० ॥

परम पदमें विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानीकी समाधि या राग-द्वेषसे शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिकामें प्राप्त इस ज्ञानीकी शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासनारहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥२७॥

जबतक उस ज्ञानीकी सप्तम भूमिकामें विश्रान्ति परिपोषताको यानी दृढ़ताको प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक राग-द्वेष और भयके उदयसे रहित हो वह व्यवहार करता है ॥ २८ ॥

सप्तम भूमिकामें प्राप्त ज्ञानी राग-द्वेष भय और क्रोधसे शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थरकी नाईं नित्य निश्चल स्थित रहता है ॥ २९ ॥

इस तरह ब्रह्ममें स्वाभाविक भावनाके अनुसार जगद्रूप है तथा शास्त्रीय तत्त्व-भावनाके अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छाके अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं, इस आशयसे कहते हैं—'कोशे' इत्यादिसे ।

जैसे कमलके बीजकोशके अन्दर ही अभिन्नरूपसे सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित हैं, वैसे आत्मामें ही स्वप्नभ्रान्तिरूप यह जगत् अनन्य होकर स्थित है, आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं ॥ ३० ॥

बाह्यताभावनाद्बाह्यमात्मैवाऽऽत्मत्वभावनात् ।
भवतीदं परे तत्त्वे भावनं तत्तदेव हि ॥ ३१ ॥
याऽन्तः स्वप्नादिविभ्रान्तिः सैवेयं बाह्यतोदिता ।
मनागप्यन्यता नात्र द्विभाण्डपयसोरिव ॥ ३२ ॥
स्थैर्यास्थैर्ये तथैवात्र भ्रान्तिमात्रमये तते ।
आधाराधेयते ते द्वे यथाजलतरङ्गते ॥ ३३ ॥
स्वप्नादावात्मनोऽन्यत्वज्ञानादन्यत्ववेदनम् ।
अनन्यतावबोधे तु तदनन्यन्न चोदयि ॥ ३४ ॥

'बाहर है' यह प्रतीति आत्मामें बाह्यरूपताकी भावनासे ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होनेसे, यह कहते हैं—'बाह्यता०' इत्यादिसे ।

आत्मा ही बाह्यरूपताकी भावनासे बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मत्वकी भावना करते रहनेसे आत्मरूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्वमें तत्-तत् भावना ही बाह्यत्व और आभ्यन्तरत्व है ॥ ३१ ॥

यही कारण है कि स्वप्न और जाग्रदवस्थामें प्रतीतिसे कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'यान्तः' इत्यादिसे ।

जो अन्तःकरणमें भीतर स्वप्नकी विभ्रान्ति है वही यह बाह्य-जगद्रूपसे उदित हुई है । दो पात्रोंमें स्थित दूधके समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्थामें तनिक भी भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

जाग्रत् और स्वप्नावस्थाके पदार्थोंमें स्थिरता और चञ्चलतारूप भेद तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है, उसकी क्या दशा होगी, यदि यह आशङ्का करें, तो उसपर कहते हैं—'स्थैर्यास्थैर्ये' इत्यादिसे ।

एवं जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थोंमें जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रत्कालीन शरीरमें आधारता और स्वप्नमें आधेयताकी जो प्रतीति होती है वह भी जल और तरङ्गके तुल्य ही है ॥ ३३ ॥

जैसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें जबतक एकमात्र आत्मरूपताका अनुसन्धान नहीं होता, तभीतक उनका भान होता है । आत्ममात्रस्वरूपताका अनुसन्धान होनेपर तो जागरणरूप बाधसे आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है, वैसे ही जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें भी समझना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'स्वप्नादा०' इत्यादिसे ।

कलनारहितं शान्तं यद्रूपं परमात्मनः ।
भवत्यसौ तत्तद्भावादतद्भावान्न तद्भवेत् ॥ ३५ ॥

स्वप्नादिज्ञानसंशान्तौ यद्रूपं शुद्धमैश्वरम् ।
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत् ॥ ३६ ॥

आत्यन्तिकभ्रान्तिलये युक्त एवाऽवगच्छति ।
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ ३७ ॥

जैसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें आत्माके अन्यत्वज्ञानसे अन्यरूपताका भान होता है । आत्मैक्यताका अवबोध होनेपर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता, वैसे ही जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें भी जबतक शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं होता तभीतक पदार्थोंमें अन्यत्व भासता है । शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जानेपर तो वे सबके सब पृथक् आविर्भाववाले ही नहीं होते—एकरूप ही अवभासित होते हैं ॥ ३४ ॥

इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावनाके अधीन ही है, यह जो कहा गया है वह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं—'कलना०' इत्यादिसे ।

कल्पनाओंसे रहित, शान्त जो परमात्माका रूप है वह तत्-तत् पदार्थोंकी भावना करनेसे तत्-तत् रूपोंमें परिणत हो जाता है तथा भावना न करनेसे तत्-तत् रूपोंमें परिणत नहीं होता ॥ ३५ ॥

स्वप्नादि ज्ञानके शान्त होनेपर जो विशुद्ध ईश्वरका रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तिता'के निरूपक काल और देश आदिके आधारका अभाव रहनेसे 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूपका बाध न रहनेसे 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता । इसलिए वह वाणीका विषय कदापि नहीं है ॥ ३६ ॥

तब वाणीके द्वारा गुरु लोग उसका उपदेश कैसे देते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'आत्यन्तिक०' इत्यादिसे ।

भ्रमका आत्यन्तिक लय हो जानेपर समाधिमें स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभवसे उसका स्वरूप जान पाते हैं । कान्तासम्भोगसुखकी नाईं, दूसरेके प्रति वह उपदेशका विषय नहीं है । वह विद्वानोंके अनुभवका ही विषय है । उसमें श्रोताकी बुद्धिको प्रवृत्त करना ही उपदेशका फल है ॥ ३७ ॥

शान्तं निरस्तभयमानविषादलोभ-
मोहात्मदेहमननेन्द्रियचित्तजाड्यम् ।
त्यक्त्वाऽहमक्षयमपास्तसमस्तभेदं
निर्वाणमेकमजमासितुमेव युक्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यदा चितिः प्रसरति तदाऽहन्ता जगद्भ्रमः ।
असदेवाभ्युदेतीव स्पन्दादपि च वायुता ॥ १ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, अहङ्कार छोड़कर भय, मान, विषाद, लोभ, मोह, आत्मा, देह, मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़तासे शून्य, शान्त, समस्त भेदोंसे रहित, अविनाशी, निर्वाणस्वरूप एकमात्र ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधिमें स्थित रहना ही युक्त है, व्यवहारविषयोंमें पड़ना उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

[साधुओंके समागम और सत् शास्त्रोंका विचार करनेवाले पुरुषको मोक्ष अवश्य ही होता है, इसलिए मोक्ष स्वाधीन है, इसका युक्तिपूर्वक कथन]

यदि मनुष्यके पास विद्या या अविद्या है, तो उसके लिए मोक्ष या संसार स्वाधीन है, यह वर्णन करनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पहले अविद्यासे चित्तका विस्तार और फिर उससे स्वाधीन संसारको दिखलाते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जब यह चितिशक्ति स्पन्दित होती है, यानी अविद्यासे विषयोंकी ओर झुकनेके लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब

उदितोऽपि न खेदाय ब्रह्मरूपत्ववेदनात् ।
परमाय त्वनर्थाय जगच्छब्दार्थभावनात् ॥ २ ॥
रूपानुभवमादत्ते चक्षुःप्रसरणाद्यथा ।
चितिःप्रसरणात्तद्वज्जगद्विभ्रममास्थिता ॥ ३ ॥
याऽसौ प्रसरति व्यर्थं चेत्याभावान्न सा सती ।
असत्कथं प्रसरति वन्ध्यापुत्रः क्व नृत्यति ॥ ४ ॥
अयं त्वनुभवादेव मुधैवानुभवन् स्थितः ।
असदेवानुभवन्स्वयमर्भकयक्षवत् ॥ ५ ॥

अहम्भावरूप जगत्का भ्रम उत्पन्न-सा हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है। स्पन्दनसे भी तो वायुरूपता उत्पन्न-सी हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥ १ ॥

श्रीरामजी, भले ही वह जगद्भ्रम उत्पन्न-सा हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्म-रूपताका ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरहसे भी वह खेदका कारण नहीं होगा। यदि उसमें जगद्रूपताका ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेदका कारण होगा ॥ २ ॥

जैसे चक्षु अपनी चहल-पहलसे रूपका अनुभव प्राप्त करती है, वैसे ही चिति चहल-पहलसे ही जगत्का भ्रम प्राप्त करती है ॥ ३ ॥

उत्पन्न होते हुए भी संसारभ्रम खेदका कारण नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उपपादन करते हैं—'याऽसौ' इत्यादिसे।

भद्र, जो यह चितिशक्ति है, वह तो स्वभावतः ही सत्यरूप है, अतः वह विषयोंकी ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयोंकी सत्यरूपता तो है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें असत् विषयोंकी ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है, क्या कहीं वन्ध्याका पुत्र नृत्य करता है ! निष्कर्ष यह निकला कि विषयोंकी तीनों कालमें सत्ता न होनेके कारण अज्ञानसे ही चितिकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञानसे बाधित हो जाती है, तब विषय खेदके कारण हो ही नहीं सकते ॥ ४ ॥

यह जो चितिका बाह्य पदार्थोंकी ओर प्रसरण है, वह तो अनुभवसे ही सिद्ध है, विचारसे जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्भका पुत्रको

अहम्भावोऽपि दुःखार्थमहमित्येव वेदनात् ।
अवेदनान्नाहमतः स्वायत्ते बन्धमुक्तते ॥ ६ ॥

तद्ध्यानं समाधिर्वा यदवेदनमासितम् ।
अजडानां जडमिव समं शान्तमनामयम् ॥ ७ ॥

...द्वैर्वाक्यसन्द...
मा विषीदत दुःखाय विबुधा अबुधा इव ॥ ८ ॥

अनुभव नहीं होता, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने कालतक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्षका अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थका अनुभव कर स्थित रहा ॥ ५ ॥

कथित न्याय भीतरके अहम्भावमें भी समान ही है, यह दिखलाते हुए बन्ध और मोक्षमें स्वाधीनता सिद्ध हो गई, यह कहते हैं—'अहम्भावोऽपि' इत्यादिसे ।

भद्र, जब भीतर अहम्भावका ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहंभाव भी दुःखका ही कारण होता है और जब अहम्भावका परिज्ञान नहीं होता तब वह दुःखका कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥६॥

अब मोक्षमें स्वाधीनताका उपपादन करते हैं—'तद्ध्यानम्' इत्यादिसे ।

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्यासे मूलभूत जड़ताके हट जानेके बाद चिदात्माके साथ एकरस हो जानेके कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थोंकी पत्थरके सदृश निश्चल वेद्यवेदननिर्मुक्त स्थिति है । सम, शान्त और निर्विकार यही स्थिति मुक्ति है ॥ ७ ॥

यही सिद्धान्त एकमात्र शान्तिका कारण है, दूसरी-दूसरी कल्पनाओंमें तो केवल वादियोंका कलहमात्र होनेके कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है, इस आशयसे उन वादियोंको लक्ष्य कर कहते हैं—'द्वैता०' इत्यादि ।

हे पण्डितमानी वादिगण, आप मूर्खोंके सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरहके सङ्कल्पोंसे तरह-तरहके कलहरूप वचनोंका विचार कर दुःखके लिए व्यर्थके कण्ठशोषणरूप विषादको मत प्राप्त कीजिये । परम पुरुषार्थके हेतुभूत इसी सिद्धान्तका आप अवलम्बन कीजिए ॥ ८ ॥

असदाश्रयते दुःखं स्वप्नवद्घनवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परचितानिव ॥ ९ ॥
दुःखं सदेव नाश्नाति सुप्तवत्तनुवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परहितानिव ॥ १० ॥
अत्यन्ततनुतामेत्य वासनैवैति मुक्तताम् ।
देशकालक्रियायोगात्पदार्थे भावनामिव ॥ ११ ॥
अत्यन्ततनुतां याता वासनैवेति मुक्तताम् ।
पराणुपरिणामेन खतां खेऽभ्रादिका यथा ॥ १२ ॥

जिस पुरुषकी वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःखका निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादिके अनुभवका निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुषके लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुषकी अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्धप्राप्त दुःखका अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्दमें ही मस्त रहता है, अतः आत्मानन्दके अनुभवसे आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अभुक्त-सा ही रहता है, यह कहते हैं—'असदाश्रयते' इत्यादिसे ।

भद्र, दृढ़ वासनासे युक्त पुरुष स्वप्नके सदृश असत् दुःखका उस तरह अनुभव करता है, जिस तरह सङ्कल्पसे रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदिका यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थोंका अनुभव करता है ॥ ९ ॥

जिस पुरुषकी वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुषके सदृश प्रारब्धप्राप्त दुःखका भी अनुभव उस तरह नहीं करता, जिस तरह सङ्कल्पशून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदिका अनुभव नहीं करता ॥ १० ॥

उपर्युक्त सिद्धान्तसे यही झलका कि वासनाओंकी वृद्धिसे जैसे संसारका अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओंका ह्रास ही देशकालके क्रमसे मुक्तिका अनुभव सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'अत्यन्त०' इत्यादिसे ।

अत्यन्त ह्रासको प्राप्त हुई वासना ही देश, काल और क्रियाके सम्बन्धसे मुक्तिको ऐसे प्राप्त होती है, जैसे पदार्थमें भावना पदार्थरूपताको प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

अत्यन्त तनुताको (क्षीणताको) प्राप्त वासना ही ऐसे मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाशमें मेघ, कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म बनकर आकाशरूप बन जाते हैं ॥ १२ ॥

अहंभावनया बोधे वासना घनतानवा ।
विपश्चित्सङ्गमाभ्यासात्पाण्डित्यमिव मूढता ॥ १३ ॥
नाहमस्तीह मद्युक्त्या निश्चयोऽन्तः शमात्मकः ।
जीवतोऽजीवतश्चास्ति रूढबोध इति स्मृतः ॥ १४ ॥
वायौ द्रव्यमिवात्रेदं जगदादि च भासते ।
कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ १५ ॥
नाहमित्येव निर्वाणं किमेतावति मूढता ।
सत्सङ्गमविचाराभ्यामेतदाश्ववगम्यते ॥ १६ ॥
क्षीयते तत्त्ववित्सङ्गादहमित्येव बन्धनम् ।
आलोकेनेव तिमिरं दिवसेनेव यामिनी ॥ १७ ॥

वासनाके उच्छेदमें कौन उपाय है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'अहम्भावनया' इत्यादिसे ।

जैसे पण्डितोंके संसर्गसे बढ़े हुए अभ्याससे मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ताके रूपमें परिणत हो जाती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावनासे दिनपर-दिन अत्यन्त क्षीणताको प्राप्त हुई वासना ही मुक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है ॥१३॥

कहाँतक आत्माके ज्ञानको बढ़ाना चाहिए ? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि जबतक आत्माका ज्ञान दृढ़ न बन जाय, तबतक, इस अभिप्रायको लेकर दृढ़ बोधका (दृढ़ आत्मज्ञानका) लक्षण कहते हैं—'नाहमस्तीह' इत्यादिसे ।

भद्र, मेरी युक्तिका अवलम्बनकर यानी 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकारकी दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्मभावनाका अवलम्बनकर इस संसारमें जीवित या परलोकगत योगीके अन्दर 'अहंशब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़ बोध कहा गया है ॥ १४ ॥

वायुमें कल्पित द्रव्य और क्रियाकी नाईं इस आत्मामें यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है । वह सब 'मैं कौन हूँ' 'यह कैसे उत्पन्न हुआ' इस विचारसे नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अहंकार आदिकी सत्ताका त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतनेको लेकर मूढ़ताका अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्याससे तत्काल ही किया जा सकता है ॥ १६ ॥

जैसे प्रकाशसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवससे रात्रि नष्ट हो

कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवनम् ।
इति तत्त्वज्ञसंयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥ १८ ॥
जीवितं भुवनं भाति ततोऽहमिति नश्यति ।
तत्त्वमेकेन तज्ज्ञार्कसेवनात्स निषेव्यताम् ॥ १९ ॥
यो यो बोधातिशयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो ।
सङ्गमे कथयोदेति तेषां वादपिशाचिका ॥ २० ॥
वादयक्षेऽप्यभ्युदिते बालस्येव विपश्चितः ।
युक्तियुक्तमलं मुख्यमुदेत्यहमिति भ्रमः ॥ २१ ॥

जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके सत्सङ्गसे अहम्भावरूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

भद्र, मैं कौन हूँ, यह प्रपञ्च किस तरह आया, जीव कौन है, प्राणधारणरूप जीवनका क्या स्वरूप है—इन सबका तत्त्वज्ञके सङ्गसे जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥ १८ ॥

वह विचार गुरुजीकी सेवा करनेसे सफल हो जाता है, यह कहते हैं—'जीवितम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञरूपी सूर्य है उसका सेवन (सङ्ग) करनेसे यह सारा ही जगत् ज्ञानसे प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थोंका स्वरूप ढँक देनेवाला अहम्भावरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तुका असली स्वरूप एक ही क्षणमें भासने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञरूपी सूर्यकी आप सेवा (सङ्गति) करें ॥१९॥

जब अनेक विद्वान् और अनेक तार्किक पुरुषोंकी मण्डली जुट जाय, तब मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह विद्वान् है और यह तार्किक है ? इसपर कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे ।

हे भद्र, जो-जो अपनेसे अधिक ज्ञानवान् हों उन-सबकी अलग-अलग सङ्गति कीजिये । उनका सङ्गम होनेपर परस्पर विरुद्ध युक्तिका जब कथन होगा, तब उससे वादरूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥ २० ॥

भले ही वादरूप पिशाचिका उत्पन्न हो, इसमें क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—'वाद०' इत्यादिसे ।

जब वादरूपी यक्ष उत्पन्न होगा, तब बालकके सदृश ज्ञानी श्रोताको भी

अतः प्रत्येकमेकान्ते प्राज्ञः सेवेत पण्डितम् ।
एकीकृत्य तदुक्तांस्तानर्थान् बुद्ध्या विचारयेत् ॥ २२ ॥

विचारयेत्तदुक्त्यर्थं बुद्ध्या बुद्धिविवृद्धये ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तं यत्तत्स्यात्तन्मयतां व्रजेत् ॥ २३ ॥

विपश्चित्सङ्गमैर्बुद्धिं नीत्वा परमतीक्ष्णताम् ।
अज्ञानलतिका सैका कणशः क्रियतामलम् ॥ २४ ॥

एषोऽर्थः सम्भवत्येव तेनेदं कथयाम्यहम् ।
स्वानुभूतं वयं बाला नासमञ्जसवादिनः ॥ २५ ॥

तर्कयुक्त यानी तार्किकोंके द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्माका स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलाङ्गूल न्यायसे उसका अवलम्बन करना अनर्थका ही कारण होगा ॥ २१ ॥

इसलिए प्रत्येक पण्डितके पास जाकर एकान्तमें बुद्धिमान् पुरुषको उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थोंको मिलाकर अपनी बुद्धिसे विचार करना चाहिए ॥ २२ ॥

उन पण्डितोंकी उक्तियोंके (वचनोंके) अर्थोंकी अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति, स्वानुभव एवं अन्य विद्वानोंके अनुभवोंको मिलाकर बुद्धिकी शुद्धिके लिए खूब बार-बार परीक्षा करनी चाहिए । अनन्तर समस्त सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीका अवलम्बनकर तन्मय बन जाना चाहिए ॥ २३ ॥

इसीसे तत्त्वज्ञानका उदय और उससे अज्ञानका उच्छेद हो जाता है, यह कहते हैं—'विपश्चित्' इत्यादिसे ।

पण्डितोंके सम्बन्धसे बुद्धिको अत्यन्त तीक्ष्ण बनाकर केवल उस अज्ञानरूपी लताको खूब छोटे-छोटे कणोंमें बना दीजिए ॥ २४ ॥

मेरे कहे गये वचनोंमें आप कभी असम्भवकी शङ्का न करें, यह कहते हैं—'एषोऽर्थः' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, मैंने जो कुछ अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थका आपसे वर्णन किया है । यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहनेवाले बालक नहीं हैं ॥ २५ ॥

व्योम्नोऽम्बुवाहादिविजृम्भयेव
तरङ्गभङ्ग्येव महाजलस्य ।
न युज्यते नापि च नश्यतीह
नाशोदयौ निर्मननस्य किञ्चित् ॥ २६ ॥

इदं हि सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुवन्
निरामये ब्रह्मणि शान्त आतते ।
विचारिते नाहमितीह विद्यते
कुतः क्व कस्मान्मननादिविभ्रमः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोधनोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥



जो समस्त कल्पनाओंसे परे है, वही असली तत्त्व है, असली वस्तुकी तन्मयता बन जानेपर सारे जगत्का व्यवहार करें, तो भी उससे ज्ञानीके लिए किसी इष्ट वस्तुकी क्षति या अनिष्टवस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, यह कहते हैं—'व्योम्नः' इत्यादिसे ।

हे राघव, जैसे आकाशमें मेघ या कुहरे आदिका ढेर हो जाय अथवा जलमें अनेक तरहके तरङ्गोंका आविर्भाव हो जाय, तो भी उनसे आकाश या जलमें किसी इष्टकी क्षति या अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती, ठीक इसी तरह सम्पूर्ण सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुषको, सभी तरहके व्यवहारोंसे, न तो किसी इष्टकी क्षति होती है और न किसी अनिष्टकी प्राप्ति ही होती है ॥ २६ ॥

आकाश एवं समुद्र स्थलमें द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्टक्षति एवं अनिष्टप्राप्तिकी किसी तरह शङ्का हो भी सकती है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मस्वरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थोंसे इष्टक्षति एवं अनिष्टप्राप्तिकी शङ्का ही नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'इदम्' इत्यादि ।

समस्त विकारोंसे शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्माका जब विचार कर लिया यानी तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत् और अहम्भाव मृगतृष्णाजलके

अचेतनादिदं सर्वमुपलस्येव शाम्यति ।
शून्याख्यातः परालीनचित्तस्य चित्त्वभावनात् ॥ ८ ॥

इदमस्त्वथवा मास्तु चेतितं दुःखवृद्धये ।
अचेतितं सुखायान्तरचेतनमचेतनात् ॥ ९ ॥

द्वौ व्याधी देहिनो घोरावयं लोकस्तथा परः ।
याभ्यां घोराणि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वैर्हि पीडितः ॥ १० ॥

इह लोके यतन्तेऽज्ञा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः ।
आजीवितं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥ ११ ॥

परब्रह्ममें अशेषरूपसे विलीनचित्तका—पत्थरके सदृश बाहरका परिज्ञान न होनेसे और भीतर चितिरूपताकी भावना होनेसे शून्यरूप संज्ञाको प्राप्तकर—यह सब दृश्य प्रपञ्च शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सुख और दुःखके लिए विषयोंकी सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है, किन्तु विषयोंका दर्शन या अदर्शन उपयोगी है, इसलिए विषयप्रकाशके लिए प्रवृत्ति करनेवाले चित्तका ही प्रथम निरोध करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'इदम०' इत्यादि ।

यह दृश्य रहे चाहे न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य यानी दृश्यदर्शन ही दुःखकी वृद्धिका कारण है । अचेतित दृश्य यानी विषयका अदर्शन तो सुखका कारण है । पर विषयोंका अदर्शन चित्तक्रियाके निरोधसे जबतक ब्रह्माकारताकी सिद्धि न हो जाय, तबतककी प्रतिकल्पनासे होता है ॥ ९ ॥

परलोककी चिकित्साका वर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'द्वौ' इत्यादिसे ।

शरीरधारियोंके लिए महाभयङ्कर दो व्याधियाँ हैं—'एक तो यह लोक और दूसरा परलोक । क्योंकि इन्हीं दोनोंके कारण पीड़ित होकर मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावोंसे अनेक दुःख भोगता है ॥ १० ॥

इस लोकमें अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृषा आदि व्याधियोंके लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियोंका अवलम्बनकर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोकमें नरक आदि व्याधियोंके लिए भोगोंसे कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥ ११ ॥

परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् ।
शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥ १२ ॥
परलोकचिकित्सायां सावधाना भवन्ति ये ।
मोक्षमार्गमहेच्छायां शमशक्त्या जयन्ति ते ॥ १३ ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ १४ ॥
इहलोकचिकित्साभिर्जीवितं यातु मा क्षयम् ।
आत्मज्ञानौषधैरज्ञाः परलोकश्चिकित्स्यताम् ॥ १५ ॥
आयुर्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् ।
परलोकमहाव्याधिर्यत्नेनाऽऽशु चिकित्स्यताम् ॥ १६ ॥
परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाऽऽशु चिकित्सिते ।
इहलोकमयो व्याधिः स्वयमाशूपशाम्यति ॥ १७ ॥

जो उत्तमपुरुष हैं, वे परलोककी महाव्याधिमें चिकित्साके लिए शान्ति, सत्सङ्गति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायोंसे प्रयत्न करते हैं ॥ १२ ॥

जो पुरुष परलोककी चिकित्साके लिए सावधान यानी अपथ्य भोगोंके त्याग और सत्समागम आदि औषधके सेवनमें सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्गकी महती इच्छामें अपने शमगुणकी बड़ी शक्तिके कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥१३॥

परलोककी चिकित्सा परलोकमें जाकर ही करेंगे, यहांपर उसकी चिन्ता करनेसे क्या फल ? इसपर कहते हैं—'इहैव' इत्यादिसे ।

जो पुरुष यहींपर नरकरूप व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेशमें जाकर क्या चिकित्सा करेगा ॥ १४ ॥

हे अज्ञानीजनो, तुम लोग इस लोककी चिकित्सामें निरत होकर अपना जीवन क्षीण मत करो, परन्तु आत्मज्ञानके औषधोंसे परलोककी चिकित्सा करो ॥ १५ ॥

आयु तो ऐसी क्षणभङ्गुर (एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाली) है जैसा कि वायुसे कम्पित हो रहा पत्तेका छोटा टुकड़ा और जलकण । इसलिए बड़े यत्नसे परलोकरूप महाव्याधिकी शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनेमें तत्पर हो जाओ ॥ १६ ॥

इस लोककी व्याधिकी चिकित्साके लिए दूसरे यत्नकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'परलोक०' इत्यादिसे ।

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
परमाणूदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥ १८ ॥
यत्संविदः प्रसरणं रूपालोकमनांसि तत् ।
व्योमन्येवानुभूयन्ते नातः सत्यो जगद्भ्रमः ॥ १९ ॥
प्रलयेष्वपि दृष्टेषु जगद्दृश्याख्यविभ्रमः ।
न नश्यति न जायेत भ्रान्तिमात्रैकरूपिणः ॥ २० ॥
भोगपङ्कार्णवे मग्न आत्मा नोत्तार्यते यदि ।
स्वपौरुषचमत्कृत्या तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ २१ ॥

परलोकरूप व्याधिकी यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करनेपर इस लोककी व्याधि स्वयं अपने-आप ही शान्त होने लग जाती है ॥ १७ ॥

परलोककी व्याधिके लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्साएँ बतलाई गई हैं, तथापि उनसे उक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञानसे ही निर्मूल नष्ट होती है । आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधिके अभ्याससे यानी चितिकी बहिर्मुखताके निरोधसे ही होता है, इस आशयसे आत्मज्ञानका उपाय बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'संविन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्माके ही स्वरूप) हैं, इस संवित्की बहिर्मुखता ही जगत् है। यह सारा जगत् एक छोटेसे परमाणुके उदरमें भी सैकड़ों पर्वतोंके विस्तारमें विद्यमान है, क्योंकि वहाँपर भी संवित् बैठी ही है ॥ १८ ॥

जो आत्मचितिका बहिर्मुखतासे विस्तार है, वही बाह्यविषय और भीतरी विषय (काम, सङ्कल्प आदि) हैं। ये चिदाकाशमें ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत्का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

जगत्का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयोंसे भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियोंसे अपना अस्तित्व भी नहीं रखता । यदि नष्ट होता है, तो आत्माके ज्ञानसे ही, इस आशयसे कहते हैं—'प्रलयेष्वपि' इत्यादि ।

देखे गये प्रलयोंमें भी जगत्-भ्रमका न विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियोंमें उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असली रूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥ २० ॥

आत्मज्ञान सम्पादनमें कौन-कौन उपाय है ? इस प्रश्नपर वैराग्य ही पहला उपाय है, यह कहते हैं—'भोग०' इत्यादिसे ।

अजितात्मा जनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २२ ॥
जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् ।
निर्वाणस्य तथा भोगसन्त्यागो रागशान्तिदः ॥ २३ ॥
तज्ज्ञस्य जीवितनदी सकल्लोलाप्यसम्भ्रमा ।
समं वहति सौम्येव चित्रसंस्थेव नीरसा ॥ २४ ॥
अज्ञजीवितनद्यास्तु रसनात्यन्तभीषणाः ।
आवर्त्तावृत्तिविक्षोभकल्लोलाः सहवाहिनः ॥ २५ ॥
सर्गवर्गाः प्रवल्गन्ति संवित्प्रसरलेशकाः ।
द्विचन्द्रबालवेतालमृगाम्बुस्वप्नमोहवत् ॥ २६ ॥

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कारसे भोगरूप कीचड़में फँसी हुई अपनी आत्माका उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धारका रहता ही नहीं ॥ २१ ॥

जिसने अपने मनके ऊपर विजय पाई नहीं है, भोगरूपी कीचड़में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियोंका ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलोंका समुद्र ॥ २२ ॥

जैसे आयुकी सबसे पहली सीढ़ी बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्षकी पहली सीढ़ी रागोंसे शान्ति देनेवाला भोगत्याग ही है ॥ २३ ॥

'रागसे शान्ति देनेवाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य—ज्ञानी और अज्ञानीकी आयुरूप नदीका वैलक्षण्य वर्णनसे—दिखलाते हैं—'तज्ज्ञस्य' इत्यादि ।

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसकी आयुरूप नदी कल-कल ध्वनि करती हुई (प्रारब्धप्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरङ्गोंसे युक्त होती हुई) भी जगद्भ्रमोंसे शून्य है । अतएव चित्रमें चित्रित जलशून्य नदीके सदृश एकरूप एवं सौम्य (उपद्रव-रहित) होकर बहती-रहती है ॥ २४ ॥

और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियाँ तो अनेक तरहकी दुःख-क्रन्दनोंकी ध्वनियोंसे अत्यन्त भयङ्कर रहती हैं । बाह्यवृत्तियोंसे उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ-साथ बहनेवाले आवर्त रहते हैं ॥ २५ ॥

अज्ञानियोंको अविचारसे ही सृष्टिके प्रतिभासरूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संवित्तिकी एक बहिर्मुखता है, यह कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे ।

संविद्वारितरङ्गौघा भान्ति सर्गाः सहस्रशः ।
विचारितास्त्वसत्यास्ते सत्यास्त्वनुभवभ्रमात् ॥ २७ ॥

जगन्त्याकाशकोशेऽपि संवित्प्रसरणभ्रमात् ।
सन्तीवाऽप्यनुभूयन्ते न तु सत्यानि तानि तु ॥ २८ ॥

संविद्विकासपयसो बुद्बुदः सर्गविभ्रमः ।
अहमित्यादिसद्भावविकाराकाररूपवान् ॥ २९ ॥

संविन्निर्वाणमजगत्संविदुन्मीलनं जगत् ।
नान्तर्न बाह्यं नासत्यं न सत्यं सर्वमेव तत् ॥ ३० ॥

चिद्रूपमजमव्यक्तमेकमव्ययमीश्वरः ।
स्वत्वभावत्वरहितं ब्रह्म शान्तास्म खादपि ॥ ३१ ॥

अज्ञानियोंके लिए चितिकी बहिर्मुखताके एकलेशमात्ररूप अनेक तरहके सर्ग ऐसे निकलते-रहते हैं, जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णाके जल तथा स्वप्नमोह—ये अज्ञानसे निकलते-रहते हैं ॥ २६ ॥

भद्र, संवित-रूपी जलके तरङ्ग ही हजारों सृष्टियोंके रूपोंमें भासते हैं । जब उनके विषयमें विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं, और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियोंके अनुभवसे सत्य भासने लग जाते हैं ॥२७॥

आत्माकी बहिर्मुखताके भ्रमसे ही आकाशमें भी अनेक तरहके गन्धर्वनगर आदि जगत् सत्य-से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करनेपर वे सत्य नहीं ठहरते ॥ २८ ॥

आत्माकी बहिर्मुखतारूप जो जल है, उसीका यह जगद्भ्रम एक तरहसे बुद्बुद् है और उसमें जो रूप है, वह अहङ्कार आदि सद्रूप भावविकारोंके आधारोंसे ही आया है ॥ २९ ॥

आत्माकी बहिर्मुखताका न होना ही समस्त जगत्की निवृत्ति है और आत्माकी बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है । वास्तवमें न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है । जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥ ३० ॥

चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक, अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्वसे रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाशसे भी अत्यन्त शान्त है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मणो निःस्वभावस्य सर्गसंवेदने स्वतः ।
स्पन्दने पवनस्येव कारणं नोपयुज्यते ॥ ३२ ॥

स्वप्नानुभववद्भ्रान्तिर्ब्रह्माब्धौ ब्रह्मवीचयः ।
सर्गता वस्तुतस्त्वत्र न स्वप्नो न च सर्गता ॥ ३३ ॥

एकमेव निराभासमचित्त्वमजडं समम् ।
न सच्चासच्च सदसदिदमव्ययमद्वयम् ॥ ३४ ॥

यथास्थितस्यैव सतो यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
संवित्प्रशमनं जातं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३५ ॥

आत्माकी जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्याका ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्मके स्वभावसे उत्पन्न है, यह कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे ।

हे भद्र, जिसमें किसी तरहका कोई स्वभाव ही नहीं है, उस ब्रह्ममें अपनेको सृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसमें पवनके स्पन्दनकी नाईं, कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

जैसे आत्मामें स्वप्नका अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्रमें अविद्याजनित सर्गरूपता ब्रह्मकी तरङ्गें भी भ्रान्तिरूप ही हैं, और कुछ नहीं । वस्तुतस्तु आत्मामें न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥ ३३ ॥

परमार्थदशामें ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं—'एकमेव' इत्यादिसे ।

ब्रह्म एक ही है, उसमें न कोई आभास है, न कोई चित्स्वरूप दूसरा धर्म है, न जडता है, किन्तु समता है । वह न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् उभयरूप है । केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार है और दूसरेसे रहित है ॥ ३४ ॥

इस प्रकारके ब्रह्मरूपकी प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियोंके लिए बहिर्मुखताका अभाव और मौन (मुनित्व) है, यह कहते हैं—'यथास्थित०' इत्यादिसे ।

भद्र, जिस तरहकी मैंने स्थिति बतलाई, उस तरहकी स्थितिसे ही स्थित रहे जिस महामतिको बाह्यविषयोंका अज्ञानरूप आत्मशमन उत्पन्न हो गया है, उसीको सब मनुष्योंमें उत्तम मुनि कहते हैं ॥ ३५ ॥

सतोऽपि मृन्मयस्येव यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
साहं जगद्विगलितं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३६ ॥
यथा शाम्यत्यसङ्कल्पा सङ्कल्पनगरं तथा ।
वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात् ॥ ३७ ॥
स्वभाववर्जं शब्दार्थाः सर्व एव सहेतुकाः ।
स्वभावस्य तु यो हेतुर्मुक्तिस्तदनुभावनम् ॥ ३८ ॥
न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावोऽस्तीह कश्चन ।
महाचिदम्बुद्रवताः सर्वा एवाऽनुभूतयः ॥ ३९ ॥
महाचिदनिलस्पन्दा एता एवाऽनुभूतयः ।
एतास्ता ब्रह्मगगनशून्यता इति बुध्यताम् ॥ ४० ॥
वातस्पन्दाविवाऽभिन्नौ ब्रह्मसर्गौ विभिन्नता ।
तयोस्त्वसत्या स्वभ्रान्तौ स्वप्ने स्वमरणोपमा ॥ ४१ ॥

उसी महात्माको उत्तम मुनि कहते हैं, मिट्टीके मूर्तिके सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभावके साथ जगत् नष्ट हो गया है ॥ ३६ ॥

असङ्कल्प ही जैसे सङ्कल्परूप सृष्टिका निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही दृष्ट सृष्टिका निवारण है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सङ्कल्पजनित नगरसृष्टि असङ्कल्पसे लीन हो जाती है, वैसे ही विषयवेदनसे जनित अहङ्काररूप समस्त जगत्-सृष्टि अवेदनसे चितिमें लीन हो जाती है ॥ ३७ ॥

स्वभावको छोड़कर यानी सब जड़ वस्तुओंमें अनुगत जड़तारूप मूल अविद्याको छोड़कर जितने नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उन सभीके प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्याका जो साक्षीरूपसे कारण है, उसका अनुभव करना यानी अपनेमें तद्रूपताका अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥ ३८ ॥

परमार्थमें तो किसी पदार्थका यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं, वे सब महाचितिरूप जलके द्रवस्वरूप हैं ॥ ३९ ॥

ये सभी अनुभव महाचितिरूपी वायुके स्पन्दन ही हैं, इसलिए वे सब अनुभव ब्रह्मरूप गगनकी शून्यरूपताका ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥४०॥

भद्र, जैसे वायु और वायुके स्पन्दनमें कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, वैसे ही

भ्रान्तिस्तु तावत्तत्त्वार्थविचारो यावदस्फुटः ।
विचारे तु स्फुटे भ्रान्तिर्ब्रह्मतामेव गच्छति ॥ ४२ ॥
भ्रान्तिस्त्वसत्या वस्त्वेव प्रेक्षयाऽतो न लभ्यते ।
शशशृङ्गवदत्यच्छमतौ ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ४३ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तमच्छं
समं शिवं शाश्वतमेकमेव ।
सर्वां जरामोहविकारभार-
भ्रान्तिं विमुच्याम्बरभावमेहि ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यार्थोपन्यासयोगो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥



ब्रह्म और ब्रह्मकी सृष्टिमें भी कोई भिन्नता नहीं है। अपने स्वरूपकी भ्रान्ति हो जानेपर ही उनमें विभिन्नता भासती है, पर वह स्वप्नमें स्वमरणके सदृश असत्यरूप है ॥ ४१ ॥

कबतक वह भ्रान्ति रहती है, इसपर कहते हैं—'भ्रान्तिस्तु' इत्यादिसे ।

जबतक तत्त्वार्थका विचार विस्पष्ट नहीं हो जाता, तबतक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब तो यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको ही प्राप्त कर लेती है ॥ ४२ ॥

भ्रान्ति कैसे ब्रह्मरूपताको प्राप्त कर लेती है, इसपर कहते हैं—'भ्रान्ति०' इत्यादिसे ।

भ्रान्ति तो असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करनेपर भी शशशृङ्ग-की नाईं वह प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसी स्थितिमें अतिनिर्मल ब्रह्म ही बच जाता है। तात्पर्य यह निकला कि भ्रान्तिमें जो सत्तास्फूर्तिरूप अंश है, वही ब्रह्मरूपताको प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई है नहीं, अतः दूसरे अंशके अभिप्रायसे भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥४३॥

समस्त भ्रमोंका जब बाध हो चुका, तब आखिरमें बचे हुए ब्रह्मरूपको बतला रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजीको ब्रह्मरूपताकी स्थितिमें स्थापित करते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे ।

चतुस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्राप्तेषु सुखदुःखेषु यो नश्यति स नश्यति ।
यो न नश्यत्यनाशोऽसावलं शास्त्रोपदेशनैः ॥ १ ॥
यस्य चेच्छोदयस्तस्य सन्त्यवश्यं सुखादयः ।
ते चेत्सम्यक् चिकित्स्यन्ते पूर्वमिच्छेव मुच्यताम् ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, देहके सम्बन्धसे प्राप्त हुई सभी जरा, मोह, विकार आदि भारस्वरूप भ्रान्तियोंको छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपताको प्राप्त कर लीजिए, जो आदि, मध्य और अन्तसे शून्य है, अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय ही है ॥ ४४ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

[दृष्ट पदार्थोंकी सृष्टि ही जगत् है, यह जगत् अदर्शनसे ही नष्ट हो जाता है, इस प्रस्तुत विषयमें युक्तियोंका वर्णन]

'यह अहङ्कारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदनसे उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदनसे ब्रह्मचितिमें लीन हो जाता है, यों जो पहले कहा गया था, उसमें युक्तियोंको दिखलानेकी इच्छासे महाराज वसिष्ठजी सबसे पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियोंसे अलगकर अविनाशशील आत्माको दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रोंकी सफलता आत्माके दर्शनसे ही है' यह कहते हैं—'प्राप्तेषु' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुःखोंके आनेपर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रोंका उपदेश करना व्यर्थ ही है ॥ १ ॥

जो इच्छावाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है, किन्तु इच्छात्याग आदि उपायोंका अवलम्बनकर प्रतिकार करने योग्य संसाररूपी रोगकी कोटिमें प्रविष्ट कोई दूसरा ही है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्य' इत्यादि ।

अहं जगदिदं भ्रान्तिर्नास्त्येव परमे पदे।
इदं शान्तमनालम्बं सर्वं निर्वाणमव्ययम् ॥ ३ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेति शब्दसंभ्रमविभ्रमः।
सर्वस्मिञ्छान्त आकाशे केन नामोपकल्पितः ॥ ४ ॥
नेहास्त्यहं न च जगन्न च ब्रह्मादिशब्दकाः।
शान्तस्यैकस्य सर्वत्वात्कर्ता भोक्तेह कः कुतः ॥ ५ ॥
उपदेश्याऽतिशायित्वात्सर्वापह्नव एव च।
कृतोऽयं स च सत्यात्मा त एवाऽहं विशिष्यते ॥ ६ ॥

जिस प्राणीको इच्छा आदि विद्यमान हैं, उसीको दुःख आदि अवश्य होते-रहते हैं। यदि दुःख आदि रोगोंकी भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छाका ही परित्याग कर देना चाहिए ॥ २ ॥

जो अविनाशी आत्मा है, उसमें इच्छा आदिका अभिमानी और अभिमानका विषय जगत् दोनोंकी सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे।

अहङ्कार-और यह जगत् दोनों तरहकी भ्रान्ति परमपद परमात्मामें है ही नहीं, यह तो शान्त, निरालम्बन (आश्रयरहित), सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है ॥ ३ ॥

ऐसी स्थितिमें वह 'अहम्' आदि शब्दोंका विषय ही नहीं है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, 'अहम् , ब्रह्म और जगत्' यह जो शब्दजालरूप भ्रम है, इसकी सर्वात्मक, शान्त चिदाकाशमें किसने कल्पना की ? यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥४॥

जब शब्दकी गति ही नहीं है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी तो कथा ही क्या ? यह कहते हैं—'नेहा०' इत्यादिसे।

परमार्थमें तो, न अहम् है, न जगत् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी स्थितिमें उसमें कर्तृता और भोक्तृता कैसी और कहांसे रह सकती है ॥ ५ ॥

सब कुछका बाध करनेपर उपदेश आदिका भी बाध हो ही जायगा, इस परिस्थितिमें आपत्ति यह आ जायगी कि आत्मज्ञानका कोई उपाय ही न बच

अग्रस्थसिद्धसञ्चारो ज्ञायते नापि दारुणः ।
यथैकपार्श्वसंसुप्तनरः स्वप्नाभ्रगर्जितम् ॥ ७ ॥
ज्ञप्तौ नास्ति यतस्तेन सिद्धाचारो न लक्ष्यते ।
स्वभाव इति सर्वेण ज्ञप्तिस्थो ह्यनुभूयते ॥ ८ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मभूतैव सर्वं भाति हि तन्मयम् ।
तस्मात्साहं जगत्सर्वमभिन्नं परमात्मनः ॥ ९ ॥

पायगा, यह शङ्का यदि हो, तो भले ही हो, इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्मका तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्ममें बाधित होनेवाले समस्त अनर्थोंकी अपेक्षा त्रिकाला-बाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपायसे आत्मज्ञान हो जानेके बाद उपदेश आदिकी आवश्यकता ही नहीं रहती, इस आशयसे कहते हैं—'उपदेश्या०' इत्यादि ।

उपदेश्य ब्रह्ममें दूसरे अर्थोंकी अपेक्षा त्रिकालाबाधितत्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होनेपर यह आत्मा सत्यस्वरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थितिमें बाधसे वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप (परिशिष्टरूप) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है ॥ ६ ॥

यह ठीक है, परन्तु अदर्शनमात्रसे दृश्यकी शान्ति कैसे हो सकती है, इसपर कहते हैं—'अग्रस्थ०' इत्यादिसे ।

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धानशक्तिसे अदृष्ट बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंका एवं पिशाचोंका व्यवहार अतिभयङ्कर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयनपर सोये हुए दो पुरुषोंमें एकको स्वप्नमें जोरसे हुए मेघगर्जनको दूसरा पुरुष नहीं जान पाता यानी वह हम लोगोंकी दृष्टिसे है ही नहीं, वैसे ही यहांपर भी जान लीजिये । अर्थात् चूँकि अपनी दृष्टिमें नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्धव्यवहारको नहीं देख पाता, क्योंकि सभीका यह स्वभाव है कि अपनी ही दृष्टिमें आनेवाले पदार्थका सब अनुभव करते हैं ॥ ७, ८ ॥

इससे अपनी इन बातोंमें क्या आया, इस प्रश्नपर कहते हैं—'ज्ञप्ति०' इत्यादिसे ।

ज्ञप्तिर्जगत्तया भाति सङ्कल्पस्वप्नयोरिव ।
अनानावयवोदेति जलमूर्मितया यथा ॥ १० ॥
एकात्मैवोदयो ज्ञप्तेर्नानातामिव चाऽऽगतः ।
अज्ञानात्स त्ववस्तुत्वात्प्रेक्षितो नोपलभ्यते ॥ ११ ॥
यथा स्वावयवानेव सर्वानवयवी भवेत् ।
निस्यानवयवं शान्तं ब्रह्मैवेदं तथा जगत् ॥ १२ ॥
भाण्डलक्षाणि धत्तेऽन्तश्चिद्रूपकनकेष्टिका ।
यदेव सा चेतयते जगदादीव वेत्ति तत् ॥ १३ ॥
ब्रह्मैव कचतीवेदं सत्तयाऽच्छजगत्तया ।
चिद्रूपत्वाद्द्रवात्मत्वात्तरङ्गादितयाऽब्धिवत् ॥ १४ ॥

ज्ञप्तिपदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है । इससे अहङ्कारके सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मासे अभिन्न है ॥ ९ ॥

सङ्कल्प और स्वप्नके सदृश ही ज्ञप्ति जगत्के रूपसे भासती है । और वह यद्यपि अनेक अवयवोंवाली नहीं है, परन्तु जल ऊर्मियोंके रूपसे जैसे अनेक अवयववाला भासता है, वैसे ही अनेक अवयवोंवाली भासती है ॥ १० ॥

अनेकरूप-सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टिके अज्ञानसे विवर्तरूप उदय है यानी संसार है । यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होनेके कारण तत्त्वदृष्टिसे भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥

जैसे यह जीव अवयवरहित होता हुआ भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवोंकी कल्पना कर स्वप्नमनोरथ आदिमें अवयववाला हो जाता है, वैसे ही सदासे अवयवशून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयवसे अवयववाला बन जाता है ॥ १२ ॥

यह चितिरूपी कुलाली जब स्मरण करती है, तभी जगत्को देखने लगती है और अपने भीतर लाखोंकी संख्यामें बड़े-बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ॥ १३ ॥

भद्र, चितिरूप होनेके कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्तासे सुन्दर जगत्के रूपमें ऐसे भासता है, जैसे द्रवरूप होनेके कारण सागर तरङ्गोंके रूपमें भासता है ॥ १४ ॥

यद्यच्चेतयतेऽन्तस्तु जगदादीव पश्यति ।
अरूपमपि रूपं स्वं यन्न चेतयते न तत् ॥ १५ ॥
चेतनाचेतनत्वोक्ती तस्येशत्वात्स्वदेहगे ।
उपदेशार्थमेवोक्ते न सद्विषयमर्थतः ॥ १६ ॥
न जगत्सन्न चैवाऽसद्भासते चेतनाचिति ।
अचेतनान्न कचति क इवाऽर्थग्रहोऽत्र नः ॥ १७ ॥
अचेतनं चेतनं च स्पन्दास्पन्दवदात्मनः ।
स्वायत्ते न कदर्थस्थे स्वस्थपाषाणवत्स्थिते ॥ १८ ॥
यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाऽऽधारो न च कारणम् ।
सोऽहमित्येव यो यक्षो न जाने कुत उत्थितः ॥ १९ ॥

जिस-जिसका अपने अन्दर अध्याससे प्रकाश करता है, उस उसको ब्रह्म मानो देखता है । यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अध्यास नहीं करता उसे नहीं देखता ॥ १५ ॥

ब्रह्ममें चेतनता और अचेनताको लेकर जो कुछ वचन प्रयोग किया जाता है, वह तो मायाशबल होनेसे सर्वशक्ति सम्पन्न होनेके कारण ब्रह्मके विषयमें नहीं है, किन्तु स्वदेहभूत मायाके ही विषयमें है यानी चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही है । वह वचन केवल उपदेश देनेके लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है—ब्रह्मका कुछ भी स्पर्श नहीं करता ॥ १६ ॥

भद्र, जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्तिमें बहिर्मुखवृत्तिके कारण भासता है । यदि बहिर्मुखवृत्तिका त्याग हो जाय, तो वह भासता ही नहीं, इसलिए हम लोगोंको इन विषयोंके लिए आग्रह ही क्या ॥ १७ ॥

ऐसा भले ही हो, इससे हुआ क्या, इसपर कहते हैं—'अचेतनम्' इत्यादिसे ।

आत्माका चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्नकी आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूपमें स्थित स्फटिक पत्थरके सैकड़ों बिम्ब प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन हैं, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रमकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही आत्माके चेतनाचेतनके विषयमें भी जानना चाहिए ॥ १८ ॥

समस्त कल्पनाओंके मूलभूत एक अहङ्कारकी ही परीक्षा कर लेनेसे

यस्याऽहमिति यक्षस्य सत्तैवाऽस्ति न सत्यतः ।
अहो नु चित्रं तेनेमे भवन्तो विवशीकृताः ॥ २० ॥

काकतालीयवद्भ्रान्तमहं ब्रह्मणि भासते ।
स्वमेव रूपं दृग्भ्रान्तौ केशोण्डूकमिवाम्बरे ॥ २१ ॥

ब्रह्मैवाऽहं जगच्चात्र कुतो नाशसमुद्भवौ ।
अतो हर्षविषादानां किन्त्वेव कथमास्पदम् ॥ २२ ॥

सर्वेश्वरत्वादीशस्य विभातीदं प्रचेतितम् ।
अचेतितं च नो भाति तेनाचेतितमस्तु ते ॥ २३ ॥

मिथ्यात्वका निश्चय हो जानेपर समस्त जगत्‌का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्ये०' इत्यादि ।

ठीक-ठीक देखनेपर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं है और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम्' रूप यक्ष कहाँसे उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता ॥ १९ ॥

जिस अहङ्काररूप यक्षकी वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसीने इन आप सब लोगोंको पराधीन बना डाला है, यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥ २० ॥

ब्रह्ममें काकतालीय न्यायसे अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहङ्कार ऐसे भासता है, जैसे कि दृष्टिकी भ्रान्ति होनेपर आकाशमें अपना ही रूप केशोण्डूकके रूपमें भासता है ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त वचनोंसे जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे ।

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशामें जगत्‌की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँसे । इससे हर्ष और विषादका स्थान ही क्या और किस तरहसे ॥ २२ ॥

वर्णित दृष्टिसृष्टि कल्पनाओंका अनुवादकर फलित कहते हैं—'सर्वेश्वर०' इत्यादिसे ।

सर्वेश्वर होनेके कारण यानी मायाशबल होनेके कारण ही ईशमें प्रचेतित (दृष्ट) हुआ यह संसार भासता है और अचेतित (दृष्ट न हुआ) नहीं भासता है । इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥ २३ ॥

काकतालीयवच्चित्त्वाज्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
स्वप्नसङ्कल्पपुरवत्तत्समाद्भिद्यते कथम् ॥ २४ ॥

यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिका ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ २५ ॥

अनाकृतावसंस्थाने स्वच्छे यदनुभूयते ।
तत्तदेवात उदितं किंनामाहं जगन्ति किम् ॥ २६ ॥

मरुतः स्पन्दवैचित्र्यं सत्तयैव यथा तथा ।
ब्रह्मणो निःस्वभावस्य जगदाद्यहमादि च ॥ २७ ॥

यथऽभ्रे लक्ष्यते वृक्षगजवाजिमृगादिता ।
असन्निवेशाकृतिनि सर्गाहन्ते तथा परे ॥ २८ ॥

बतलाई गई रीतिसे यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूपसे स्वप्ननगर या सङ्कल्पनगरके सदृश अकस्मात् काकतालीयकी नाईं भासता है। वस्तुतस्तु वह जगत् ब्रह्मसे किस तरह अलग हो सकता है? यदि ब्रह्मसे अलग मान लिया जाय, तो सत्ताका लाभ न होनेसे अलीक (अत्यन्त असत्) ही हो जायगा ॥ २४ ॥

जैसे शान्त जलमें अप्रकाश्य तरङ्ग आदि हैं, या न खोदे गये काठमें अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमिमें अदृश्य घट आदि हैं, वैसे ही ब्रह्ममें यह सृष्टिका रूप है ॥ २५ ॥

जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवोंसे रहित है और स्वच्छ है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न हुआ अहङ्कार क्या है और ये जगत् ही क्या हैं ॥ २६ ॥

अलग सत्ता न होनेसे भी वह वही है, यह कहते हैं—'मरुतः' इत्यादिसे। जैसे पवनका स्पन्दवैचित्र्य पवनसत्ताके ही अधीन है, वैसे ही अविद्यारहित ब्रह्मके अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ताके अधीन हैं ॥ २७ ॥

जैसे आकाशमें वृक्ष, हाथी, घोड़े आदिका रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित ब्रह्ममें सृष्टि एवं अहङ्कारका रूप दिखाई पड़ता है ॥ २८ ॥

सर्गोऽवयववद्भाति सर्व एव परे शिवे ।
एवं तदुपमां विद्धि कार्यकारणवद्यथा ॥ २९ ॥
अन्तःशान्तमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
जगत्यसम्भवादेव व्योमवत्सममास्यताम् ॥ ३० ॥
न भवन्तो न च वयं न जगन्ति न खादयः ।
सन्ति शान्तमशेषेण ब्रह्मेदं निर्भरं स्थितम् ॥ ३१ ॥
अशेषेष्वविशेषेषु शान्ताशेषविशेषता ।
सत्या सैवाहमित्याशु त्यक्त्वा मोक्षाय भाव्यताम् ॥ ३२ ॥
वेदनं बन्धनं विद्धि विद्धि मोक्षमवेदनम् ।
यथास्थितं यथाचारं भव शान्तमवेदनम् ॥ ३३ ॥
द्रष्टा न दृश्यतां याति चितिर्नायाति चेत्यताम् ।
चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामभद्र, परब्रह्ममें यह सारा जगत् वृक्षशाखाके सदृश भासता है । वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारणके सदृश जैसे लोकमें सूक्ष्म अर्थोंके लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्मका सादृश्य जानिये ॥२९॥

हे श्रीरामजी, आप भीतरसे शान्त, प्रयत्नोंसे निर्मुक्त, उपाधिसे रहित भ्रमसे शून्य होकर आकाशके समान निर्विक्षेप हो स्थित रहिये, क्योंकि वर्णित रीतिसे आपसे भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ॥ ३० ॥

न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेषरूपसे परिपूर्ण सर्वोपद्रववर्जित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ॥ ३१ ॥

हे भद्र, चैतन्यसे अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूपका निरूपण न हो सकनेसे सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए, तब विशेष विभ्रमको छोड़कर उक्त परमार्थसत्यस्वरूप चितिशक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्षके लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

भद्र, बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको बन्धन और बाह्य पदार्थोंके अज्ञानको मोक्ष जानिये । इसलिए आप भूमिकाभ्यासरूप विद्वानोंके आचरणका उल्लंघन न कर यथास्थित शान्त अवेदनरूप हो जाइये ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानकी दृढ़ता होनेपर जड़ अर्थ चेतनरूप ही नहीं होते, यह कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

द्रष्टृदृश्यदशाभावाज्जाग्रत्येव सुषुप्तिवत् ।
शरदाकाशकोशाभमसत्तोपममास्यताम् ॥ ३५ ॥
तथैकब्रह्मचिद्रूपे पवनस्पन्दने यथा ।
अत्राचिद्बोधता सर्गो मोक्षो ब्रह्मैकबोधता ॥ ३६ ॥
चित्स्पन्दो ब्रह्ममरुतो यत्र सर्ग इति स्मृतः ।
नात्र चित्स्पन्दनं यत्स्यान्निर्वाणं तदुदाहृतम् ॥ ३७ ॥
बीजमन्तर्यथा वेत्ति स्वरूपं पल्लवादिकम् ।
तथा महाचिदन्तस्थं स्वरूपं वेत्ति सर्गताम् ॥ ३८ ॥
पत्रादिवेदनाद्बीजं यथा पत्रादि तिष्ठति ।
परा चित्सर्गसंवित्तिस्तथा भवति सर्गता ॥ ३९ ॥

द्रष्टा कभी दृश्यरूप नहीं होता और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती। चेत्यके अभावसे जगत्-शून्य ब्रह्ममें कौन, क्या और किस प्रकार चेतित (प्रकाशित) होगा ॥ ३४ ॥

हे भद्र, द्रष्टा, दृश्यकी दशा न रहनेसे जाग्रदवस्थामें ही सुषुप्तिके सदृश तथा शरदाकाशके सदृश शून्यकी तरह आप स्थित रहिये ॥ ३५ ॥

जैसे अज्ञानसे पवन और स्पन्दनमें भेदप्रतीति होती है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्मचैतन्यमें अज्ञानसे भेद प्रतीत होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि चिति और अचितिका भेददर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्यदर्शन मोक्ष है ॥ ३६ ॥

जहां ब्रह्मरूप वायुसे चितिका स्पन्दन है होता वहींपर सर्गनाम पड़ जाता है, अतः यहां जब चितिका स्पन्दन नहीं होगा, तभी वह निर्वाण कहा जायगा ॥३७॥

द्वैतदर्शन ही सृष्टिरूप है, यह दृष्टान्तोंसे प्रतिपादन करते हैं—'बीज०' इत्यादिसे।

जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूपका परिज्ञान करता है, वैसे ही महाचैतन्यरूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूपका अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

ज्ञानकालमें ही ब्रह्मभावनिष्ठा हो जाती है, इसमें भी ये ही दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'पत्रादि०' इत्यादिसे।

जैसे पत्र आदिके ज्ञानसे बीज पत्र आदिरूपसे स्थित हो जाता है, वैसे ही परमचैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञानसे सृष्टिरूप हो जाता है ॥ ३९ ॥

यथा भावविकाराभाश्रितपराः सर्गतास्तथा ।
सर्वे बीजानि दृष्टान्ताः तद्रूपा एव तन्मयाः ॥ ४० ॥
निर्विकारपरब्रह्ममयं सर्वमिदं जगत् ।
निर्विकारमनाद्यन्तमेवं विद्धि निरामयम् ॥ ४१ ॥
निजसङ्कल्पमात्रात्मा निजसङ्कल्पनात्क्षयी ।
द्वैताद्वैतविकारोऽयं सङ्कल्पनगरं यथा ॥ ४२ ॥
शून्यत्वाकाशयोर्भेदो यादृशोऽवगतस्त्वया ।
भेदं निरात्मकं विद्धि तादृशं ब्रह्मसर्गयोः ॥ ४३ ॥
महाचिद्रूपिणी शान्ता या सत्ता ब्रह्मणः पुरा ।
स्वतः सेयमहं त्वं च मानवोऽस्मीत्यबोधतः ॥ ४४ ॥
ब्रह्मण्यस्मिन् जगद्रूपे न किञ्चिदपि जायते ।
जातमप्यथ नष्टं च न नश्यत्यम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥

वृक्षके छः भावविकार भी यहां दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे चैतन्यके आश्रित भावविकारोंके क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूपसे स्थित चैतन्यके ही विकाररूप होनेके कारण सृष्टियां तन्मय हैं ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकाररहित, आदि-अन्तशून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानिये ॥ ४१ ॥

सङ्कल्पनगरके सदृश यह द्वैताद्वैतात्मक जगत केवल अपना सङ्कल्परूप ही है, अतः अपना सङ्कल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

भद्र, शून्यता और आकाशका भेद जैसा आपने तुच्छ जाना, ब्रह्म और जगत्का भी भेद वैसा ही तुच्छरूप जानिये ॥ ४३ ॥

पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप जो ब्रह्मकी सत्ता है, वही अज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकारको धारण कर अहङ्कारके रूपसे एवं जगतके रूपसे विवर्तित हो जाती है ॥ ४४ ॥

इस जगत्-रूप ब्रह्ममें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता । जलतरङ्गके सदृश उत्पन्न हुआ भी वास्तवमें उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट हुआ भी वास्तवमें वह नष्ट नहीं होता है ॥ ४५ ॥

पदार्थब्रह्मरूपेण ब्रह्मैवात्मनि तिष्ठति ।
अवयवीवावयवे खे खं वारीव वारिणि ॥ ४६ ॥

निमेषादर्धभागेन देशाद्देशान्तरस्थितौ ।
यद्रूपं संविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ४७ ॥

संक्षुब्धमक्षुब्धमिति द्विरूपं
संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः ।
श्रेयः परं येन समीहसे त्वं
तदेकनिष्ठो भव माऽमतिर्भूः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थयोगोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥



पदार्थोंके रूपसे या ब्रह्मरूपसे अपने स्वरूपमें ब्रह्म ही स्थित है। जैसे कि अपने अवयवोंमें अवयवी (वृक्ष आदि), आकाशमें आकाश और जलमें जल स्थित रहता है ॥ ४६ ॥

चितिकी वास्तविक स्थिति तो निर्विषयक ही है, यह कहते हैं—'निमेषा०' इत्यादिसे।

एक निमेषके अर्धभागसे एकदेशसे देशान्तरकी स्थितिमें जो मध्यमें ज्ञानकी स्थिति है, उस स्वभावकी ही आप उपासना कीजिए ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामजी, शास्त्रज्ञ विद्वान् संवित्‌का एकरूप तो संक्षुब्ध यानी अज्ञानियोंके अनुभवसे सिद्ध विवर्तवाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध यानी विवर्तरहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यों कहते हैं। इन दोनों रूपोंमें आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाइए। बिना परीक्षा किये किसीका ग्रहण कर अविवेकी मत बन जाइए ॥ ४८ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात् ।
यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥ १ ॥
गच्छञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्हसन् ।
नूनं निरामयत्वाय नित्यमेतन्मयो भव ॥ २ ॥
तत एव निराभासात्सत्यान्निर्वासनैषणात् ।
यथास्थितं यथाचारमचलामरशैलवत् ॥ ३ ॥
एतद्रूपमविद्यायाः प्रेक्षिता यन्न लभ्यते ।
प्रेक्षिता लभ्यते चेत्सा तद्विद्यैव पराऽभवत् ॥ ४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

[प्रपञ्चसहित तथा प्रपञ्चरहित ब्रह्मतत्त्वकी अखण्ड एक दृष्टिके लिए सत्य और असत्य दोनों तरहसे भासमान ब्रह्मके स्वरूपका विस्तारपूर्वक वर्णन]

विरोधाभासोक्तियोंसे संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपोंसे युक्त ब्रह्मका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त उपायसे परिचित अक्षुब्धरूपका उसमें अपनी दृढ़ स्थिति बनानेके लिए पहले स्मरण कराते हैं—'देशाद्देशान्तरम्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, क्षणभरमें ही क्रमशः एक देशसे दूसरे अत्यन्त दूर देशतक प्राप्त संवित्‌का (ज्ञानका) दोनों देशोंके बीचमें जो निर्मल निर्विषयकरूप है वही परब्रह्म परमात्माका सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्धरूप है ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, निरामय होनेके लिए यानी निर्वाणपदकी प्राप्तिके लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते, तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूपमें अवश्य तन्मय हो जाइये ॥ २ ॥

जीवन्मुक्तोंकी स्थिति तथा अपने कुलके आचारके अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादिसे शून्य चितिस्वरूपसे, सुमेरु पर्वतके समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥ ३ ॥

आगे कही जानेवाली बातोंमें उपयोगी होनेके कारण उस विद्याके विरुद्ध अविद्याका निरूपण करते हैं—'एतद्रूपम०' इत्यादिसे।

अविद्यासम्भवाच्चेत्यचित्त्वे सम्भवतः क्व किम् ।
चेत्यते कथमेवान्तः शान्तिरेव बलोदिता ॥ ५ ॥
सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाऽशुद्धवत्ततम् ॥ ६ ॥
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वा शून्यवत्स्फुटम् ।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ॥ ७ ॥
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ।
सदेवाऽसदिवादृश्यं तदेवाऽतदिवोदितम् ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी, अविद्याका एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भलीभांति विचारपूर्वक देखनेसे वह कहीं उपलब्ध न हो और विचारपूर्वक देखनेसे यदि उपलब्ध हो, तो फिर वह परा विद्या ही है ॥ ४ ॥

अविद्याके न रहनेसे चिति और चेत्य (विषय) के भेदका संभव कहां ? और भेद न रहनेसे वह चिति अपने भीतर किसको कैसे प्रकाशित करे ? इसलिए विचारकर देखनेसे यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषयशून्य चिन्मात्रस्थिति ही बलात् उदित है ॥ ५ ॥

विद्या और अविद्या दोनोंसे मिले-जुले रहनेके कारण मध्यकी भूमिकामें आरूढ विवेकी पुरुषकी दृष्टिसे नियत एक रूपवाला होते हुए भी वह ब्रह्म अनियत-विरुद्ध नाना स्वभावसे युक्त-सा स्थित रहता है, इस तरहके अनेक विरोधाभासों तथा प्रमाण, युक्ति और अनुभव आदिसे सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसका विस्तृत वर्णन करते हैं—'सत्यम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञानके कारण अनेक-सा यानी विरुद्धरूपसे स्थित भासता है । एवं सर्वत्रव्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होनेपर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञानके कारण ही भासता है ॥ ६ ॥

अशून्य होनेपर भी प्रलयमें शून्यके समान तथा शून्य होनेपर भी सृष्टिकालमें अशून्यके समान वह स्पष्ट भासता है । देश और कालसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी वह परिच्छिन्नके सदृश तथा अस्फार (विशाल देश, काल आदिसे शून्य) होनेपर भी वह स्फार (विशाल देशकालादि) के समान सद्रूप स्थित है ॥ ७ ॥

विकारशून्य होनेपर भी वह विकारीके समान, शान्त और समरूप होनेपर भी

अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम् ।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ॥ ९ ॥
अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत् ।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत् ॥ १० ॥
आलोकिध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम् ।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ॥ ११ ॥
सर्वात्मकमपि त्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा ॥ १२ ॥
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ।
ब्रह्म विद्धि विदांनाथमपामिव महोदधिम् ॥ १३ ॥

वह अज्ञानके कारण अशान्त तथा असमके समान, सत् होनेपर भी वह चक्षु आदिसे देखनेके अयोग्य होनेके कारण असत्‌के सदृश एवं तद्रूप होनेपर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥ ८ ॥

विभागशून्य होनेपर भी वह भागसहितके तुल्य, जाड्यरूपताको न प्राप्त होनेपर भी वह जड़के समान, विषयोंसे शून्य होनेपर भी वह विषयभावको प्राप्त हुएके समान, अंशशून्य होनेपर भी वह अंशयुक्तके समान सुशोभित दीखता है ॥ ९ ॥

अहङ्काररहित होनेपर भी अहङ्कारसहितके समान, अविनाशी होनेपर भी नाशवान्‌के सदृश, कलङ्कशून्य होनेपर भी कलङ्कयुक्तके समान, विषयरहित होनेपर भी विषयसहितके तुल्य वह ब्रह्म भासता है ॥ १० ॥

स्वप्रकाश होनेपर भी सघन अन्धकारयुक्तके समान, पुरातन होनेपर भी नवीनके समान, परमाणुसे भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत्‌को अपने उदरके भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥ ११ ॥

सर्वात्मक होनेपर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्तशुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्टस्वरूप अपने पुरुषप्रयत्नसे सम्पूर्ण दृश्यसमूहका त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपञ्चजालसे शून्य होनेपर भी जो सांसारिक प्रपञ्चजालसे बँधे हुएके समान है एवं अनेक तरहसे स्थित होनेपर भी जो द्वितीय परिशेषशून्य है ॥ १२ ॥

मायारहित होनेपर भी जो मायारूपी किरणसमूहका निर्मल सूर्य है । ज्ञानोंके

जगद्रत्नमहाकोशं तुलायां तूलकाल्लघु ।
मायामरीचिशशिनमपि नेक्षणगोचरम् ॥ १४ ॥
अनन्तमपि निष्पारं न च क्वचिदपि स्थितम् ।
आकाशे वनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ॥ १५ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १६ ॥
अकर्तृकर्मकरणमकारणमकारकम् ।
अन्तःशून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम् ॥ १७ ॥
जगत्समुद्गकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ।
अनन्तशैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ॥ १८ ॥
प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं नवम् ।
आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ॥ १९ ॥

स्वामी सागरकी नाईं, वेदनमात्रस्वरूप होनेपर भी जो सम्पूर्ण वेदनोंका मानो स्वामी है—सर्वज्ञ है । हे श्रीरामजी, उसीको आप ब्रह्म जानिये ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नोंका महाकोश अर्थात् अत्यन्त वजनदार होनेपर भी विवेककी तराजूपर तौलनेसे रूईसे भी अत्यन्त लघु (हलका) तथा मायारूपी किरणजालका चन्द्रमा होनेपर भी वह ब्रह्म ईक्षणगोचर (दृष्टिका विषय) नहीं है ॥१४॥

काल और देशसे अनन्त तथा अपार होनेपर भी कहीं एक नियत स्थानपर न स्थित न रहनेवाला एवं शून्यस्थानमें भी वनविन्यास तथा पर्वत आदिकी रचनामें तत्पर वह ब्रह्म है ॥ १५ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोंमें वह अत्यन्तसूक्ष्म है, स्थूल पदार्थोंमें वह सबसे अत्यन्तस्थूल है, वजनदार पदार्थोंमें वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

कर्ता, कर्म और करणसे रहित, कारणशून्य, अकारक तथा अन्तःशून्य होनेके कारण ही यह ब्रह्म चिरकालसे कर्ता आदिसे परिपूर्ण स्थित है ॥ १७ ॥

जगद्रूपी रत्नोंकी पेटारी होनेपर भी नित्य जंगलके समान शून्य तथा अनन्त पर्वतोंके तुल्य कठिन होनेपर भी आकाशके लेशसे भी बढ़कर कोमल वह ब्रह्म स्थित है ॥ १८ ॥

प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येककालस्वरूप होनेपर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण

प्रत्यक्षमपि दुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ।
चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ॥ २० ॥
अहमेवाऽनहंभावमनहं वाऽहमेव च ।
अन्यदेव तदेवाऽहमहमेवान्यदेव तत् ॥ २१ ॥
अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ॥ २२ ॥
बिभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ।
भाति सर्गस्त्वनेनैव तुषारेणेव शुक्लता ॥ २३ ॥
अदेशकालावयवोऽप्येष देवो दिवानिशम् ।
असज्जगत्तनोतीव यथा वारि तरङ्गकम् ॥ २४ ॥

होनेपर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाशस्वरूप होनेपर भी अन्धकारके सदृश तथा जगत्‌का तिरोभाव करनेवाला होनेके कारण अन्धकारस्वरूप होनेपर भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष होनेपर भी वह इन आँखोंसे दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होनेपर भी वह साक्षीरूपसे सामने स्थित है । चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्-रूपसे विवर्तित तथा जड़ जगत् आदिके रूपसे भासित हो रहा भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥ २० ॥

अनहंभाव (युष्मदर्थका विषय) होनेपर भी अहंभावरूप, तथा अहंभाव-रूपसे भासित होनेपर भी वह अनहंभावरूप एवं इदमर्थका विषय अन्यरूप होनेपर भी वह आत्मरूप ही है तथा अहंरूप (आत्मरूप) होनेपर भी वह ब्रह्म अन्यके समान स्थित है ॥ २१ ॥

इस परिपूर्ण चिद्-रूप सागरके भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरङ्गें द्रवतारूप स्वभावसे स्फुरित हो रहीं-सी अवस्थित हैं ॥ २२ ॥

जैसे तुषार अपने अङ्गमें शुक्लता धारण करता है, वैसे ही यह चेतन स्थावर-जङ्गमात्मक सारी सृष्टिको अपने भीतर धारण करता है । जैसे तुषारसे शुक्लता सुशोभित होती है, वैसे ही इस चेतनसे ही यह सारी सृष्टि शोभित हो रही है ॥ २३ ॥

देश-कालादिके अवयवोंसे रहित भी यह चिद्रूप देव रात-दिन असद्रूप जगत्‌का ऐसे विस्तार करता-रहता है, जैसे कि जल तरङ्गोंका ॥ २४ ॥

एतस्मिन्विकसन्तीमा विपुलाकाशकानने ।
जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ॥ २५ ॥
एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ।
अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥ २६ ॥
व्योमवृक्षफलस्याऽस्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ।
सर्गोपलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ॥ २७ ॥
अन्तस्थेन बहिष्ठेन नानानानातयाऽऽत्मनि ।
एष सोऽन्तर्बहिर्भाति भावाभावविभावया ॥ २८ ॥
एतद्रूपा पदार्थश्रीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ।
चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ॥ २९ ॥

इस विस्तृत आकाशरूपी जंगलमें प्रसारको प्राप्त हो रहे पञ्चभूतरूप पत्तोंके सहित ये जगद्रूपी पुरानी मञ्जरियां विकसित हो रही हैं ॥ २५ ॥

अत्यन्त निर्मल आकारवाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब (वर्णित जीवजगत्स्वरूप दूसरा आकार) देखनेकी इच्छासे दर्पणरूपताको प्राप्त हो गया है ॥ २६ ॥

अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित्में आकाशरूपी गूलरके वृक्षके फलके सदृश इस ब्रह्माण्डके—अपनी इच्छासे कल्पित तीनों लोकके अवयवमें देदीप्यमान—सूर्य-चन्द्र आदि अपनेसे उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजालको जीवभूत आत्माके रूपादिदर्शनमें उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥ २७ ॥

वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपञ्चसे, बाहर स्थित जगत्स्वरूपसे, जाग्रत्-स्वप्नमें नानारूपसे और सुषुप्तिमें एकरूपसे भाव और अभावकी यानी आविर्भाव और तिरोभावकी भावना करके स्वयं अपनी आत्मामें ही बाहर और भीतर भासता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासता ॥ २८ ॥

अब इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'एतद्रूपा' इत्यादिसे ।

इस चितिरूप आत्मामें इस चितिकी ही इच्छासे चितिरूप पदार्थोंकी शोभा अपने ही लिए ऐसे चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटरमें ॥ २९ ॥

अस्याम्भसो द्रवत्वं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
संवित्स्वादूपलम्भाङ्गं भुवनावर्तवृत्तिमत् ॥ ३० ॥
शाम्यत्यत्र पदार्थश्रीः सर्वासामेव भास्वति ।
एतस्मादेव चोदेति स्वालोक इव तेजसः ॥ ३१ ॥
इदमेव जगत्सर्वं शुक्लत्वं तुहिने यथा ।
अत एताः प्रवर्तन्ते विद इन्दोरिवांशवः ॥ ३२ ॥
एतस्माद्रञ्जतोऽनङ्गाज्जगच्चित्रमिदं स्थितम् ।
विद्धि भावविकारादि शान्तमेतन्मयं ततम् ॥ ३३ ॥
अस्माद्वनतरोरेताः स्वरूढा गगनाङ्गणे ।
दृश्यशाखाः प्रवर्तन्ते जगज्जालगुलुच्छकाः ॥ ३४ ॥
व्ययोदयवती नूनमत्र दृश्यतरङ्गिणी ।
नानातानन्तकुसुमा वहत्यविचलाचले ॥ ३५ ॥

इस चितिरूपी जलका जो द्रवत्व है वही यह जगत् है, जिस जगतके—संवित्से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि—एक अङ्ग हैं तथा भुवनरूप आवर्तकी जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥ ३० ॥

सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकाशोंकी रूपादिपदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्यमें सुषुप्ति और प्रलयमें शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्नमें, सूर्य आदिके तेजसे अपने प्रभामण्डलकी नाईं, इसीसे उदित होती है ॥ ३१ ॥

तुषारमें शुक्लताकी नाईं यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है । अतः इसी चितिरूपी ब्रह्मसे ये समस्त पदार्थोंकी शोभाएँ, चन्द्रमासे किरणोंकी नाईं, प्रवृत्त होती हैं—विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३२ ॥

इसी निरवयव चितिरूप रञ्जकद्रव्यसे चित्रित यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप चित्र स्थित है । इसलिए हे श्रीरामजी, इस जगतको आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओंसे शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानिये ॥ ३३ ॥

इसी चितिरूप जङ्गलीवृक्षसे आकाशरूप आँगनमें उत्पन्न तथा अनेक जगज्जालरूपी गुच्छोंसे सुशोभित ये सब दृश्यप्रपञ्चरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥ ३४ ॥

इसी चितिरूपी अचल पर्वतके ऊपर वृद्धि तथा ह्राससे युक्त एवं नाना-

अस्मिन्व्योमात्मके रङ्गे भुवनाभिनयभ्रमैः ।
नृत्यत्यविरतारम्भं वारैर्नियतिनर्तकी ॥ ३६ ॥
जगत्कोटिमहाकल्पकल्पोन्मेषनिमेषणः ।
विताने नाट्यते भूयो जन्यते कालबालकः ॥ ३७ ॥
उद्यत्स्वपि जगत्स्वेष शान्तमेवाऽवतिष्ठते ।
अनिच्छ एव मुकुरः प्रतिबिम्बशतेष्विव ॥ ३८ ॥
भूतानां वर्तमानानां सर्गाणां सम्भविष्यताम् ।
एषोऽकारणकं बीजं सर्गाणामिव कारणम् ॥ ३९ ॥
अस्योन्मेषो जगल्लक्ष्मीर्निमेषः प्रलयागमः ।
अनुन्मेषनिमेषोऽसावात्मन्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४० ॥

प्रकारके भिन्नतारूपी अनन्त फूलोंसे सुशोभित दृश्यरूपी नदी बह रही है । हे श्रीरामजी, आप इसमें तनिक भी सन्देह न कीजिये ॥ ३५ ॥

इसी चिदाकाशरूपी रङ्गभूमिमें भुवनकी रचनारूप अभिनयके भ्रमोंसे युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासरों तथा नित्य महोत्सवके दिनोंसे नृत्य कर रही है ॥ ३६ ॥

जिसके नेत्रोंके उन्मेष और निमेषमें अनेक ब्रह्माण्डोंके महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालकको ब्रह्मरूपी रङ्गभूमिके मायामण्डपके भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार-बार उपसंहृत तथा पुनः-पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥ ३७ ॥

उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी यह चिद्-रूपी परमात्मा इच्छादि विकारोंसे शून्य शान्त ही ऐसे स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बोंके उदित होते हुए भी दर्पण ॥ ३८ ॥

जैसे भौतिक सृष्टियोंके कारण पञ्चभूत हैं, वैसे ही स्वयंकारणशून्य यह चिद्-रूप परमात्मा भूत, भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियोंका कारण है ॥ ३९ ॥

इस परब्रह्म परमात्माका उन्मेष ही जगत्का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलयका आगम है । हे श्रीरामजी, सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक-से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है ॥ ४० ॥

उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहान्ति
सर्गागमप्रलयजन्मदशा जगन्ति ।
सर्वाणि तान्ययमपारस्वरूप एव
प्रस्पन्दनानि मरुदेव यथाऽऽस्स्व शान्तम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥



षट्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चमत्कुर्वन्त्यथानर्था आवर्ता इव वारिणि ।
एकस्वभावाः सकला यथा वारितरङ्गकाः ॥ १ ॥

परिणामतः महान् होते हुए भी जो काल, देश और वैभव आदिसे भी महान् हैं उन अनेक महामहाब्रह्माण्डोंके तथा उनके भीतर अनेक तरहके पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियोंके जन्म बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रदादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्षकी दशाएँ—ये सबके सब इस चिदाकाशमें उदित होते-रहते हैं। वे सभी अपरिच्छिन्नस्वरूप इस चिदाकाशके ही रूप हैं, जैसे कि वायुके सभी स्पन्दन वायुरूप ही हैं, वायुसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुके स्वरूप नहीं हैं। हे श्रीरामजी, ऐसा समझकर आप शान्त स्थित रहिये ॥ ४१ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

[इच्छारहित तुच्छ पुरुषका भोग बन्धनके लिए नहीं होता, एकमात्र इच्छा ही बन्धन है तथा इसका त्याग मुक्ति है, इन सबका वर्णन]

इस संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरेसे विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूपसे भासित होते हैं। इनमें इनका प्रथम

सर्वस्यैवाऽस्य विश्वस्य निर्ज्ञेयज्ञेयरूपिणी ।
परमाकाशतारूपं परोपशमसंश्रया ॥ २ ॥

बालचिन्ता पुरो व्योम्नि न किञ्चिदपि मे यथा ।
तथेदं तत्त्वतो विश्वं सत्यं तु शिशुचेतसि ॥ ३ ॥

रूप तो राग-द्वेष आदिके उदयसे दुःखका हेतु होनेके कारण अनर्थरूप है। परन्तु द्वितीय रूप राग-द्वेष आदिके उपशम द्वारा मोक्षमें अत्यन्त उपयोगी है, यह दिखलाते हैं—'चमत्कुर्वन्त्य०' इत्यादिसे ।

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जलमें आवर्तकी नाईं, भिन्न-भिन्न स्वरूपके होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं यानी इच्छाओंके उत्पादन द्वारा चित्तको भ्रममें डाल देते हैं। उसके बाद वे राग-द्वेष आदिकी उत्पत्ति होनेसे नरक आदिके रूपमें पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे सभी तरङ्ग एकमात्र जलस्वरूप हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभावके हैं। और एकरूपके होते हुए ये न तो किसी तरहका भ्रम पैदा करते हैं और न किसी तरहका अनर्थ ही पैदा करते हैं ॥ १ ॥

उनका वह अविरुद्ध रूप क्या है, जिस रूपसे वे एकस्वभावके होते हैं, यह दिखलाते हैं—'सर्वस्यैव' इत्यादिसे ।

इस सम्पूर्ण विश्वकी सत्तामात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है। और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थोंसे निचोड़कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूपकी है। यही कराण है कि वह परम समाधिरूपी उपशमसे ही लक्षित होती है ॥ २ ॥

प्रसिद्ध आकाशमें बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदिका भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषोंकी बुद्धिसे वेद्य शुद्धरूप दृष्टान्तरूपसे प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं—'बाल०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, बालककी चिन्तासे कल्पित यक्ष, पिशाच आदिका रूप जैसे सामने आकाशमें प्रौढ़ विद्वान्‌की दृष्टिमें कुछ भी नहीं है वैसे ही मुझ विद्वान्‌की दृष्टिमें तत्त्वतः यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियोंकी दृष्टिमें सत्य प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनाम् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १४ } फाल्गुन २००३ { अङ्क २

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीभगवत्स्तुतिः

नमो नमः शाश्वत अव्ययाय
नमो नमः सर्वनभोमयाय।
श्रीपद्मनाभाय महेश्वराय
नमामि ते केशव पादपद्मम् ॥ १ ॥

आनन्दकन्द कमलाप्रिय वासुदेव
सर्वेश ईश मधुसूदन देहि दास्यम्।
पादौ नमामि तव केशव जन्म जन्म
कृपां कुरुष्व मम शान्तिद शङ्खपाणे ॥ २ ॥

संसारदारुणहुताशनतापदग्धं
पुत्रादिबन्धुमरणैर्बहुशोकतापैः।
ज्ञानाम्बुदेन मम प्लावय पद्मनाभ
दीनस्य मच्छरणरूप भवस्व नाथ ॥ ३ ॥

—श्रीपद्मपुराणान्तर्गता।

योगवासिष्ठ

अनुवादक—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

विषय-सूची

अरूपालोकमननं शिलापुत्रकसैन्यवत् ।
रूपालोकमनस्कारा भान्ति केवाऽत्र विश्वता ॥ ४ ॥
रूपालोकमनस्कारसारश्चिन्मात्रतां विना ।
न लभ्यतेऽसावपरं व्योमेवाऽत्र क्व विश्वता ॥ ५ ॥
विदो विस्त्वं जगद्भ्रान्तिरविस्त्वं तु न विभ्रमः ।
विस्त्वाविस्त्वे त्वदायत्ते चित्ताचित्ते यथा तव ॥ ६ ॥
परमाकाशरूपत्वाच्चिद्व्योम्नो विततकृतेः ।
न स्वभावविपर्यासः कश्चित्सम्भवति क्वचित् ॥ ७ ॥

पत्थरमें खुदी गई चित्रगत सेनाकी नाईं यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषयसे रहित है। अतः विद्वानोंकी दृष्टिसे यहां विश्वता कैसी! परन्तु अज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो यहां रूपालोक, मनन आदि सब कुछ भासते ही हैं ॥४॥

रूपालोक और मननं आदिका यानी बाह्य और आभ्यन्तर सबका तत्त्वतः विचार करनेपर जब चिन्मात्रसे अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे विश्वताकी सिद्धि तो बहुत दूर ही है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे।

विचार कर देखनेसे रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थोंका सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्रसे अतिरिक्त, द्वितीय आकाशकी नाईं, वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहां विश्वता (संसारता) रही कहां ॥ ५ ॥

इसलिए ज्ञाता पुरुषका जगत्‌को जगद्रूपसे जानना ही जगत्‌की भ्रान्ति है तथा जगत्‌को जगद्रूपसे न जानना ही सारे भ्रमोंकी शान्ति है। अतः हे श्रीरामजी, स्मृति और विस्मृति जैसे आपके अधीन हैं, वैसे ही इस संसारको जानना और न जानना भी आपके अधीन है ॥ ६ ॥

'अपरं व्योमेवा०' यह जो ऊपर कहा गया है, इसको विशदरूपसे कहते हैं—'परमाकाश०' इत्यादिसे।

विस्तृत आकारवाले चिदाकाशके परमाकाशरूप होनेसे उसके स्वभावमें किसी तरहका कोई परिवर्तन कहींपर भी संभव नहीं है। इसमें कारण यह है कि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥ ७ ॥

तन्मयस्याऽस्य विश्वस्य न स्वभावविकारिता ।
विद्यते प्रेक्ष्यमाणाऽपि किमु साऽस्य भविष्यति ॥ ८ ॥
सर्वं चिद्व्योम चैवेदं न सत्त्वमहमित्यपि ।
विकाराद्यस्ति न ज्ञप्तार्ज्ञप्तिं न लभेत् क्वचित् ॥ ९ ॥
सर्वं शान्तं शिवं शुद्धं त्वमहन्तादिविभ्रमम् ।
न किञ्चिदपि पश्यामि व्योमजं काननं यथा ॥ १० ॥
संविदाकाशशून्यत्वं यत्तद्विद्धि वचो मम ।
इदं त्वत्संविदाकाशे स्वयमात्मनि तिष्ठति ॥ ११ ॥
पदमाहुः परं सद्यदनिच्छोदयमासितम् ।
पाषाणपुरुषस्येव चित्रस्थस्येव चाऽऽसनम् ॥ १२ ॥

चूँकि यह जगत् ब्रह्मसाक्षात्कारसे बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्मका विकार नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'तन्मयस्या०' इत्यादिसे ।

चिन्मय इस विश्वकी स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचारदृष्टिसे देखनेपर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है ॥ ८ ॥

जिस न्यायसे अभिमन्तव्यके विकारका निरास किया गया है, उसी न्यायसे अभिमन्ताके विकारका भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है । इस चिदात्मामें अहङ्कार आदि विकार और बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चितिसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

त्वत्ता और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं । अतः आकाशमें उत्पन्न जंगलकी तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, इस तरह जो मेरा उपदेशवचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझिये, क्योंकि यह मेरा वचन आपकी संविदाकाशरूप आत्मामें ही स्वयं स्थित रहता है, जड़स्वरूपमें नहीं ॥ ११ ॥

इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता—इन तीनोंके चिन्मात्ररूप सिद्ध

स विश्रान्तमना मौनी यस्य प्रकृतकर्मसु ।
स्पन्दो दारुनरस्येव विगतेच्छमनाकुलम् ॥ १३ ॥
अन्तःशून्यं बहिःशून्यं विरसं गतवासनम् ।
जगद्वेणोरिव ज्ञस्य जीवतो भाति जीवनम् ॥ १४ ॥
यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि ।
स बाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥ १५ ॥
उच्यन्तां शब्दजालानि वंशवद्गतवासनम् ।
रसेनाऽनङ्गलग्नेन प्रकृतानन्यचोदनैः ॥ १६ ॥
स्पृश्यतां स्पर्शनीयानि यथाप्राप्तान्यवासनम् ।
कूटागारवदक्षुब्धमनिच्छममनोदयम् ॥ १७ ॥

होनेपर, चित्रमें स्थित पुरुषके तथा पाषाणके भीतर खुदे गये पुरुषके आसनकी तरह, इच्छा और विषय आदिके अभावसे इच्छाके उदयके बिना जो अवस्थान है उसीको ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥ १२ ॥

इच्छाके अभावमें भी जीवनके हेतुभूत व्यवहारकी सिद्धि बतलाते हैं—'स' इत्यादिसे ।

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्धप्राप्त कर्मोंमें इच्छाशून्य तथा बिना व्याकुलताके, कठपुतलीके समान, होती रहती है ॥१३॥

इस तरहके व्यवहारसे जीवन-धारण कर रहे ज्ञानी पुरुषको जगत्की प्रतीति कैसे होती है, यह कहते हैं—'अन्तःशून्यम्' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ज्ञानीको बाहर और भीतरसे शून्य, रसहीन, वासनारहित; बाँसकी नलीके सदृश, इस जगत्का जीवन भासता है ॥ १४ ॥

जिसे यह दृश्यप्रपञ्च नहीं रुचता और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदयके भीतर रुचता है वह बाह्य और आभ्यन्तरसे शान्तमुनि संसारसागरसे मानो पार हो गया ॥ १५ ॥

प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षयके अनुपयोगी शब्दोंके उच्चारणसे रहित, व्यवहारोंमें तथा उन व्यवहारोंके अङ्गभूत देहादिमें अहन्ता, ममताके सम्बन्धसे रहित, माधुर्यरससे परिपूर्ण, बाँसुरीकी ध्वनिके समान, वासनात्यागपूर्वक आप लोग वाणीसे शब्दोंका उच्चारण करते रहें ॥ १६ ॥

नट, भट, वेश्या आदिकोंके निवासगृहके समान इच्छारहित, मनके उदयसे

स्वाद्यन्तां रसजालानि विगतेच्छाभयैषणम् ।
अपरागाभिलषणं यथाप्राप्तानि दर्विवत् ॥ १८ ॥

दृश्यन्तां रूपजालानि पुनः प्राप्तान्यवासनम् ।
अरसं निर्मनो मानमगर्वं चित्रनेत्रवत् ॥ १९ ॥

जिघ्रयन्तां गन्धपुष्पाणि विगतेच्छमवासनम् ।
स्पन्दबन्धोपलग्नानि त्यागाय वनवातवत् ॥ २० ॥

इति चेद्विरसत्वेन बोधयित्वा चिकित्सिताः ।
न भोगरोगास्तद्वच्च शान्त्यै नास्ति कथैव च ॥ २१ ॥

यः स्वादयन् भोगविषं रतिमेति दिनेदिने ।
सोऽग्नौ स्वमूर्तिं ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्झति ॥ २२ ॥

शून्य, वासनारहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्धप्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता आदि स्पर्शनीय विषयोंका स्पर्श करते चलें ॥ १७ ॥

इच्छा, भय और एषणाओंसे शून्य तथा राग और अभिलाषाओंसे रहित हो आप लोग दर्वीके (करछी) के तुल्य अनेक तरहके प्रारब्धप्राप्त रसोंका आस्वाद लेते रहें ॥ १८

पुनः हे श्रोताओ, आप लोग इच्छारहित, वासनाओंसे शून्य तथा अभिमानसे रहित हो, वासनाशून्य चित्रगत नेत्रके सदृश, प्राप्त रूपसमूहोंका अवलोकन करते रहें ॥ १९ ॥

इच्छा और वासनाओंसे रहित होकर घ्राणेन्द्रियके नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पोंको, बनवायुके सदृश, त्यागके लिए सूँघते रहें ॥ २० ॥

इस रीतिसे न कहे गये भी कर्मेन्द्रियोंसे प्राप्त विषयोंमें पहलेकी नाईं निःसाररूपसे मनको बोधित करके भोगरूपी रोगोंकी यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख-निवृत्तिकी कथा ही क्या है ? बल्कि अनर्थपरम्पराकी उत्पत्ति होती ही रहेगी ॥ २१ ॥

किञ्च, जो मनुष्य भोगरूपी विषका आस्वाद लेते हुए प्रसन्नताको प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्निमें अपनी मूर्तिरूपी तृणपुञ्जको निरन्तर फेंकते रहता है ॥ २२ ॥

निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः ।
यथा शाम्येन्मनोऽनिच्छं नोपदेशशतैस्तथा ॥ २३ ॥
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नाऽपि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ २४ ॥
इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥ २५ ॥
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथायथा ।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥ २६ ॥
यथायथेच्छा तनुतां याति जन्तोर्विवेकतः ।
तथातथोपशाम्यन्ति दुःखचिन्ताविषूचिकाः ॥ २७ ॥

अतः भोगेच्छाका त्याग ही मनकी शान्तिमें मुख्य हेतु है, यह कहते हैं—'निरिच्छत्वम्' इत्यादिसे।

भोगोंकी इच्छाके त्यागको ही आगमालङ्कारोंने (वेदान्तवेत्ताओंने) समाधि कही है। इच्छाके त्यागसे जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशोंसे भी शान्त नहीं होता ॥ २३ ॥

इच्छाके उदयसे जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरकमें भी प्राणीको नहीं होता और इच्छाकी शान्तिसे जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोकमें भी अनुभूत नहीं होता * ॥ २४ ॥

इच्छामात्रको दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छाकी शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। एकमात्र इसीमें सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥ २५ ॥

जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तुको इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखोंकी बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥ २६ ॥

जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तुकी इच्छा सूक्ष्म होती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखोंकी चिन्तारूप विषूचिका (हैजा) भी शान्त होती-जाती है ॥ २७ ॥

* सुनिये, इस विषयमें ययातिने क्या कहा है—
"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"

यथायथेच्छा घनतां याति लोकस्य रागतः ।
तथातथा विवर्धन्ते दुःखचिन्ताविषोर्मयः ॥ २८ ॥
इच्छा चिकित्स्यते व्याधिर्न स्वयत्नौषधेन चेत् ।
तदत्र बलवन्मन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥ २९ ॥
इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ ३० ॥
यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः ।
सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्झति ॥ ३१ ॥
दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः ।
सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥ ३२ ॥

और जैसे-जैसे मनुष्यकी भोगोंमें इच्छा रागतः सघन बनती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखोंकी चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥ २८ ॥

उसकी चिकित्साके लिए धैर्यरूपी पुरुषप्रयत्न ही एकमात्र औषध है, और दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं—'इच्छा' इत्यादिसे ।

यदि अपने पौरुषप्रयत्नरूपी औषधसे धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधिकी चिकित्सा न की जा सकी, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधिसे छुटकारा पानेके लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसारमें विद्यमान नहीं है ॥ २९ ॥

यदि एक ही कालमें सभी इच्छाओंका पूर्णरूपसे त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्गका पथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥ ३० ॥

जो नराधम, अपनी भोगोंकी इच्छाको सूक्ष्म बनानेमें यत्न नहीं करता, वह प्रतिदिन मानो अपनी आत्माको अन्धकूपमें फेंकता है ॥ ३१ ॥

भोगोंकी इच्छाका आत्यन्तिक नाश तो ज्ञानद्वारा उसके मूलका नाश होनेसे ही हो सकता है, यह कहते हैं—'दुःख०' इत्यादिसे ।

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदिसे सुशोभित संसाररूपी लताका बीज इच्छा ही है। वह आत्मज्ञानरूपी अग्निसे भलीभाँति दग्ध हो जानेपर फिर नहीं अङ्कुरित होती ॥ ३२ ॥

इच्छामात्रं हि संसारो निर्वाणं तदवेदनम् ।
इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथा भ्रमैः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोपदेशगुरवः प्रेक्ष्यन्ते किमनर्थकम् ।
किमिच्छाननुसन्धानसमाधिर्नाधिगम्यते ॥ ३४ ॥
यस्येच्छाननुसन्धानमात्रे दुःसाध्यता मतेः ।
गुरूपदेशशास्त्रादि तस्य नूनं निरर्थकम् ॥ ३५ ॥
इच्छाविषविकारिण्यामन्त एव नृणामलम् ।
दुःखप्रसरकारिण्यां हरिण्या जन्मजङ्गले ॥ ३६ ॥
न बालीक्रियते त्वीषदात्मज्ञानाय चेदसौ ।
इच्छोपशान्तिः क्रियतां तयाऽलं तदवाप्यते ॥ ३७ ॥

इच्छामात्र ही यह संसार है और इच्छाका अवेदन—असत्त्वापादन यानी अभाव ही निर्वाण है । इसलिए भोगोंकी इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें, और दूसरे नानाविध यत्नोंसे क्या मतलब—इधर-उधर भटकते-फिरना बेकार है ॥ ३३ ॥

इच्छाकी शान्तिमें यत्न न होनेपर शास्त्रादिके उपदेश भी सब व्यर्थ ही हैं, यह कहते हैं—'शास्त्रोपदेश०' इत्यादिसे ।

यदि आपकी इच्छाकी शान्ति नहीं हुई है, तो फिर शास्त्रोंके उपदेश और गुरुओंकी प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ! इच्छाके अभावरूप चित्तको शान्त करनेके उपायका आश्रयण आप लोग क्यों नहीं कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

जिसको अपने विवेकसे सिर्फ इच्छाका अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओंके उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३५ ॥

जैसे व्याघ्र आदिसे भरे जंगलमें हरिणीकी मृत्यु निश्चित है वैसे ही नानाविध दुःखोंका विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकारसे युक्त इस संसारमें मनुष्योंकी मृत्यु बिलकुल निश्चित है ॥ ३६ ॥

यदि इच्छासे यह मनुष्य लड़कों-जैसा चञ्चल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञानके लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है । इसलिए आप लोग भलीभाँति इच्छाकी उपशान्ति ही कर डालें, उसीसे वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम् ।
यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥ ३८ ॥

जरामरणजन्मादि करञ्जखदिरावलेः ।
बीजमिच्छासदैवान्तर्दह्यतां शमवह्निना ॥ ३९ ॥

यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्तैव ततस्ततः ।
यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥ ४० ॥

यतो यतश्च सेच्छत्वं बन्धपाशास्ततस्ततः ।
पुण्यपापमया दुःखराशयो विततार्तयः ॥ ४१ ॥

इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च ।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम् ॥ ४२ ॥

यथायथाऽस्य पुंसोऽन्तरिच्छा समुपशाम्यति ।
तथातथाऽस्य कल्याणं मोक्षाय परिवर्धते ॥ ४३ ॥

इच्छाका न होना ही निर्वाण है और इच्छासहित रहना ही मनुष्यके लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छाके ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें। सिर्फ इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है ? ॥ ३८ ॥

जरा, मरण, जन्मादिरूप करञ्ज और खैरकी पङ्क्तियोंका बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्निसे आप लोग जला डालें ॥ ३९ ॥

जहाँ-जहाँ इच्छाका अभाव है वहाँ-वहाँ मुक्ति है ही। जबतक विवेक-वैराग्य आदि उपायोंकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक अपनेमें जितना धैर्य और बल हो, उसके अनुसार उठी हुई इच्छाका नाश करते चलें ॥ ४० ॥

जहाँ-जहाँ इच्छा है वहाँ-वहाँ पुण्य-पापमय दुःखोंकी राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दनसे युक्त बन्धनके पाश हैं ही ॥ ४१ ॥

यदि साधु पुरुषका एक क्षण भी भोगोंकी इच्छाके अभावके बिना बीत गया, तो चोरोंसे जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्यके समान, उसे चिरकालतक रोते रहना ठीक ही है ॥ ४२ ॥

जैसे-जैसे इस पुरुषकी वाञ्छा शान्त होती-जाती है, वैसे-वैसे मोक्षके लिए कल्याणदायक साधनचतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥ ४३ ॥

आत्मनो निर्विवेकस्य यदिच्छापरिपूरणम् ।
संसारविषवृक्षस्य तदेव परिषेचनम् ॥ ४४ ॥
हृद्वृक्षजाः स्वसुखदुःखकुबीजकोशौ
वैरादिवाश्रयकृतादशुभाच्छुभाच्च ।
आसाद्य दुष्कृतकृशानुशिखाः शितान्ता
इच्छाच्छमच्छमिति पुंस्पशुमादहन्ति ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसारबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच
इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।
शान्तये शृणु भूयोऽपि पूर्वमुक्तमपि स्फुटम् ॥ १ ॥

विवेकशून्य आत्माकी इच्छाको भलीभाँति भोगोंके द्वारा जो पूरण करना है, वही संसाररूपी विषैले वृक्षको सींचना है ॥ ४४ ॥

हृदयरूपी वृक्षसे यानी आश्रयभूत लकड़ीसे उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्निकी शिखाएँ हृदयके अन्दर स्थित चिदाभासस्वरूप जीवरूप पशुको, उनके आश्रयभूत हृदयमें किये गये पुण्य-पापसे अर्थात् उनके आश्रयमें किये गये दोषापराधसे ही उत्पन्न हुए मानो वैरके कारण, मोहरूपी धूमसे अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशोंसे खूब बाँधकर नीचे पटक करके उसके सुख-दुःखोंके कुत्सित बीजोंके पात्रभूत अण्डकोशोंको—चारो ओरसे बैंगनकी तरह खूब पकाती हैं । पकाते समय उससे छाँय-छाँय शब्द निकलता है ॥ ४५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

[भोगोंकी इच्छा जिससे उत्पन्न ही न हो या उत्पन्न होनेपर भी वह केवल भ्रमरूप ही समझी जाय, उस ज्ञानयोगका युक्तियोंसे वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इच्छारूपी विषका विकार दूर

आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद्विद्यते तदिहेच्छया ।
इष्यतामसति त्वेतत्स्वात्मान्यत्वं किमिष्यते ॥ २ ॥
निर्भागावयवा सूक्ष्मा व्योम्नः शून्यतरैव चित् ।
सैवाहं जगदाकारा सती किं तत्तयेष्यते ॥ ३ ॥
सा व्योमरूपा व्योमैव व्योमात्मवेद्यवेदिका ।
व्योमात्मजगदाभासमत्रेच्छाविषयोऽस्ति कः ॥ ४ ॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः कुतश्चिदिति तन्न नः ।
विद्यतेऽसौ प्रशान्तानां येषामस्ति न वेद्मि तान् ॥ ५ ॥

करनेवाले स्पष्टरूपसे पहले वर्णित हुए भी योगनामक उपायको इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थोंकी शान्तिके लिए आप फिर सुनिये ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, यदि आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ यहां हो, तो आप उसकी बे रोक-टोक इच्छा कीजिये, [उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते] परन्तु आत्मासे भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, तो भला बतलाइये तो सही] आप अपनी इस आत्मासे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ! कहनेका तात्पर्य यह कि जबतक आत्मतत्त्वका भलीभांति ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक द्वितीय वस्तुमें सत्यताकी भ्रान्तिसे इच्छाका उदय होता है, इसलिए हे श्रीरामजी, आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्तिमें एकमात्र उपाय है ॥ २ ॥

यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञानसे आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत्—इन दोनोंमें अत्यन्त अभेद होनेसे त्रिपुटीघटित इच्छाकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'निर्भागावयवा' इत्यादिसे ।

त्रिपुटीके विभाजक उपाधियोंके भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवोंके भेदसे रहित, सूक्ष्म और आकाशसे भी अत्यन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकारसे स्थित है । तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ॥ ३ ॥

वह चिति आकाशरूप है । आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है । यह जगत्का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छाका विषय ही कौन है ॥ ४ ॥

ज्ञानसे विषयोंके गृहीत न होनेपर इच्छाका उदय न होनेके कारण,

ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः स्वनिष्ठोऽपि न लभ्यते ।
असतस्तु कथं लाभः केन लब्धोऽसितः शशी ॥ ६ ॥
एषैव ग्राहकादीनां सत्ता यन्नात्मनिष्ठता ।
स्वभावावेक्षया सत्या न जाने क प्रयान्ति ते ॥ ७ ॥
एष एव स्वभावो यद्द्रष्टृदृश्यक्षयोऽखिलः ।
ज्ञात्वाऽसत्या विनिर्वाणमहन्ताऽऽत्मनि गच्छति ॥ ८ ॥
निर्वाणे नास्ति दृश्यादि दृश्यादौ नास्ति निर्वृतिः ।
मिथोऽनयोरनुभवो न च्छायातपयोरिव ॥ ९ ॥

ग्राह्य और ग्राहकके सम्बन्धाभावमें ग्रहणकी भी सिद्धि न हो सकनेसे ज्ञानियोंको इच्छा होती ही नहीं, यह कहते हैं—'ग्राह्यग्राहक०' इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहकका सम्बन्ध प्रशान्तचित्त हम लोगोंकी दृष्टिमें किसी भी निमित्त या प्रमाणसे विद्यमान नहीं है । इसलिए भी हे श्रीरामजी, बतलाइये आप किसकी इच्छा कर रहे हैं ? जिन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह है, उन्हें भी मैं आत्मासे अलग नहीं जानता, तात्पर्य यह कि सत्त्वदृष्टिसे वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं ॥ ५ ॥

यदि किसी तरह ग्राह्य-ग्राहकसम्बन्धको स्वनिष्ठ (आत्मनिष्ठ) भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि असत्का लाभ कैसे हो ? आजतक किसने चन्द्रमाको काले वर्णका देखा है ॥ ६ ॥

तात्त्विक आत्मामें जो अविश्रान्ति है यानी आत्मामें परायण न होना है, बस यही एकमात्र ग्राह्य-ग्राहक आदि त्रिपुटियोंकी सत्ता है । अशास्त्रीय दृष्टिकी अपेक्षासे वे ग्राह्य-ग्राहक आदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीयतत्त्वदृष्टिका उदय होनेपर न जाने कहाँ चले जाते हैं ॥ ७ ॥

और तत्त्वज्ञानका भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मामें ही चले जाते हैं—लीन हो जाते हैं । द्रष्टा और दृश्यका वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है ॥ ८ ॥

दृश्यादि और निर्वाण—इन दोनोंका परस्पर असहभाव भी स्वभावतः ही है, यह कहते हैं—'निर्वाणे' इत्यादिसे ।

उभे एते मिथोऽसत्ये असत्ये च न निर्वृतिः ।
यतो निर्वाणमजरमदुःखमनुभूयते ॥ १० ॥
भ्रमभूतं च दृश्यादि नित्यं नात्र सुखप्रदम् ।
असच्च तद्भाव्यतां मा निर्वाणे स्थीयतामजे ॥ ११ ॥
शुक्तिकारूप्यसदृशं प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
अर्थकार्यपि तन्नास्ति किमत्रापह्नवेन च ॥ १२ ॥
तत्सद्भावान्महद् दुःखमसद्भावान्महत्सुखम् ।
अभावः सोपपत्तिस्तु दृढतां याति भावनात् ॥ १३ ॥
तत्किमात्मनि बन्धाय विदग्धं न मुधाधमाः ।
स्पष्ट एवोपचयादेर्वस्तुन्यस्तमिताऽपदे ॥ १४ ॥

निर्वाणमें दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदिमें निर्वाण नहीं है। छाया और आतपकी नाईं इन दोनोंका परस्पर अनुभव यानी सहानुभव नहीं है ॥ ९ ॥

क्यों सहानुभव भी नहीं है ? इसपर कहते हैं—'उभे' इत्यादिसे ।

यदि ये दोनों साथ होते, तो परस्पर द्वारा बाधित हो जानेसे दोनों असत्य हो जाते। असत्यमें निर्वृति नहीं है, क्योंकि विद्वानोंको निर्वाण अजर, अमर तथा दुःखशून्य अनुभूत होता है ॥ १० ॥

तब तो सर्वजनप्रसिद्ध दृश्यादि महाकौतुक निर्वाणमें दुर्लभ ही होगा, इसका परिहार करते हुए कहते हैं—'भ्रमभूतम्' इत्यादिसे ।

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहाँ वह कभी सुखप्रद नहीं है। इसलिए हे श्रीरामजी, असत् और अनर्थरूप दृश्यादिकी आप भावना न कीजिये, अज निर्वाणमें स्थित रहिये ॥ ११ ॥

शुक्तिकामें चाँदीके समान, विचारकर देखनेसे जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थका सम्पादक कभी नहीं है। इस तरहके दृश्यमें अपह्नवसे क्या हुआ ॥ १२ ॥

दृश्यके सद्भावमें महादुःख है और असद्भावमें महान् सुख है। निदिध्यासनसे मननसहित अभाव—शाब्दज्ञानकृत बाध दृढ़ताको प्राप्त हो जाता है ॥१३॥

अब परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्यकौतुकमें आसक्त अधम अधिकारियोंकी, जो श्रोता हैं, बलात् निर्भर्त्सना कर उनकी दृश्यासक्तिका त्याग करानेकी इच्छासे कहते हैं—'तत्किमा०' इत्यादिसे ।

कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा तु ब्रह्मता ह्यस्मिन्संविन्मात्रात्मके तते ॥ १५ ॥
मार्गयन्ति प्रबोधाय तैर्मृगैरलमस्तु नः ।
व्योमरूपे किलैकस्मिन् सर्वात्मनि तते सति ॥ १६ ॥
कार्यकारणताढ्यानामुक्तीनामेव कः क्रमः ।
यो हेतुः स्पन्दने वायोर्द्रवत्वे सलिलस्य च ।
शून्यत्वे नभसः सौम्य सर्गादित्वे चिदात्मनः ॥ १७ ॥
कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा ब्रह्मणि सर्गाणां कारणार्था विलज्जता ॥१८॥

हे अधम प्राणियो, सम्पूर्ण विकारोंकी अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तुके—स्वप्रकाश-स्वरूप होनेके कारण शास्त्रों एवं आचार्योंके उपदेशसे करतलमें स्थित आमलकके समान स्पष्ट स्फुरित रहते—उसका अदर्शन क्यों पाते हो—दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आत्माको बन्धनमें डालनेके लिए ही उस दृश्यसमूहको भस्मीभूत नहीं करते ॥ १४ ॥

जब कार्यकारणभावादि सब ब्रह्म ही है, तभी तो देहादिपरिच्छिन्न पदार्थोंके बाधसे विस्तारको प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यगात्मामें ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥ १५ ॥

अतएव आकाशस्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्ममें कार्य-कारण आदि दृश्य-सत्ताको स्वीकार कर जो लोग ब्रह्मज्ञानके लिए अनेक साधन ढूँढ़ते-फिरते हैं उन तार्किक मृगों या शिष्यमृगोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १६ ॥

तथा कार्यकारणसे परिपूर्ण उक्तियोंमें ही सर्वस्वभावस्वरूप अविद्याके सिवा और दूसरा क्या हेतु है ? जो वायुके स्पन्दनमें हेतु है तथा जो हेतु जलके स्पन्दनमें तथा आकाशकी शून्यतामें है वही हेतु, हे सौम्य, चिदात्माके सृष्टि आदिरूप होनेमें है ॥ १७ ॥

यही कारण है कि विद्वान् महानुभावोंको, आगे चलकर उसका बाध हो जानेसे, सृष्टि आदिके हेतुके निरूपणमें निर्लज्ज बनना पड़ता है, यह कहते हैं—'कार्यकारणभावादि' इत्यादिसे ।

जब कार्यकारणभावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो फिर ब्रह्ममें सृष्टियोंकी कारणताका प्रतिपादन करना निर्लज्जता है ॥ १८ ॥

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमयं जगत् ।
नास्ति चिन्मात्रतान्यत्वमत इच्छोदयः कुतः ॥ १९ ॥
मृद्देहयोधसेनायां न मृन्मात्रेतरद्यथा ।
न सज्जगदहन्तादौ दृश्ये ब्रह्मेतरत्तथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तदुदेत्विच्छा मा वोदेतु मुनीश्वर ।
सा तु ब्रह्मैव कोऽर्थः स्यादस्या विधिनिषेधने ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञातायां सम्प्रबुद्धायामिच्छा ब्रह्मैव नेतरत् ।
यथा सम्बुद्धवान् राम तत्सत्यं किन्त्विदं शृणु ॥२२॥

न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु शान्त शिवमय यह जगत् है। जब चिन्मात्रतासे भिन्न कुछ है ही नहीं, तब भला इच्छाका उदय कहाँसे ॥ १९ ॥

जैसे मिट्टीकी देहवाली योधाओंकी सेनामें एकमात्र मिट्टीसे अन्य कुछ नहीं है वैसे ही सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्यमें सत् ब्रह्मसे इतर और कुछ नहीं है ॥ २० ॥

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही ठहरी, उसकी उत्पत्ति माननेमें क्षति क्या है, यों विद्वानोंकी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'एवं चेत्त०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर, यदि बात ऐसी है, तो फिर इच्छाका उदय हो या न हो, [कोई हानि नहीं है,] क्योंकि वह भी तो ब्रह्म ही ठहरी। इसकी विधि और निषेधमें कौन-सा मतलब सिद्ध होगा, [यह कहिये] ॥ २१ ॥

'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा भ्रमैः' (इच्छा उत्पन्न न हो, इसीमें यत्न कीजिये, व्यर्थके भ्रमोंसे कौन-सा मतलब है, इस पूर्वोक्त यत्नमें विधि और निषेधका निवारण रहते हुए भी सचमुच विद्वानोंकी इच्छाका उदय होनेपर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु विद्यासे बाधित उस इच्छाका उदय होना ही दुर्लभ है, यह कहते हैं—'ज्ञातायाम्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्वके ज्ञात हो जानेपर—

यदा यदा ज्ञतोदेति शाम्यतीच्छा तदा तदा ॥ २३ ॥

वस्तुस्वभावादुदयत्यादित्ये यामिनी यथा ।
शाम्यत्येव न तूदेति ज्ञप्ताविच्छादि तत्तथा ॥ २४ ॥

यथायथोदयो ज्ञप्तेर्द्वैतशान्तिस्तथातथा ।
वासनाविलयश्चैव कथमिच्छोदयो भवेत् ॥ २५ ॥

तस्याविद्योपशान्तेयं निर्मला मुक्ततोदिता ।
अशेषदृश्यवैरस्याद्यस्येच्छोदेति न क्वचित् ॥ २६ ॥

विरक्तताऽस्य नो दृश्ये नोदेत्यत्रास्य रक्तता ।
केवलं द्रष्टृदृश्यश्रीः स्वदते न स्वभावतः ॥ २७ ॥

संप्रबुद्ध हो जानेपर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरती है, ब्रह्मसे अन्य नहीं । जैसा आपने समझा है, वह सब बिलकुल सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि—॥ २२ ॥

जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तबतब सांसारिक विषयोपभोगकी इच्छा शान्त हो जाती है ॥ २३ ॥

क्योंकि यही वस्तुका स्वभाव है । सूर्यके उदित होनेपर जैसे रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती, वैसे ही ज्ञानका उदय होनेपर इच्छा आदि सब शान्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

जैसे-जैसे ज्ञानका उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैतकी शान्ति और वासनाका विलय होता है, तब भला इच्छाका उदय कैसे हो ॥ २५ ॥

मूलका उच्छेद होनेसे भी विद्वानोंकी इच्छाके उदयका संभव नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तस्या०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें वैराग्य आ जानेसे जिस पुरुषको इच्छा कहीं उदित नहीं होती, उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी ॥ २६ ॥

इस पुरुषको न तो इन दृश्य पदार्थोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है और न इसको राग ही उदित होता है । केवल स्वभावसे ही द्रष्टा और दृश्यकी शोभा इसे नहीं रुचती ॥ २७ ॥

काकतालीययोगेन परप्रेरणयाऽनया ।
यदि किञ्चित्कदाचिच्च सम्यगिच्छति वा न वा ॥ २८ ॥
तदस्य सेच्छा नेच्छा वा ब्रह्मैवात्र न संशयः ।
इच्छा न जायते ज्ञस्यावश्यमेवानु वा न वा ॥ २९ ॥
ज्ञता चेदुदिता जन्तोस्तदिच्छाऽस्योपशाम्यति ।
नैतयोः स्थितिरेकत्र प्रकाशतमसोरिव ॥ ३० ॥
प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित् ।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते ॥ ३१ ॥
एतदेव ज्ञताचिह्नं यदिच्छास्वतितानवम् ।
ह्लादनं सर्वलोकानामथानुभव एव वा ॥ ३२ ॥

काकतालीय योगसे यानी आकस्मिक घटनासे या अन्य किसीकी प्रेरणासे यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्रधारणमें साधनभूत शास्त्रोंसे अनिषिद्ध अन्न आदिकी कुछ इच्छा करता है या नहीं भी करता है ॥ २८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें इस आत्मतत्त्वदर्शीकी वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । अथवा बात यह है कि इस तत्त्वज्ञानीको अभिनवभोगचमत्कारविषयक इच्छा अवश्य नहीं उदित होती या पूर्वकालमें अभ्यस्त हुए भोगोंका अनुसरण करनेके कारण उसकी स्थिति अनियत है ॥ २९ ॥

भद्र, यदि किसी जीवको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकारके सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनोंकी स्थिति एक जगह हो नहीं सकती ॥ ३० ॥

इसीलिए रागप्राप्त विधिनिषेध शास्त्रोंमें वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता, यह कहते हैं—'प्रतिषेध०' इत्यादिसे ।

भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष कहींपर भी विधि-निषेध शास्त्रोंका अधिकारी नहीं है, क्योंकि समस्त इच्छाओंसे शून्य इस तत्त्वदर्शीको किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए कौन क्या उपदेश दे सकता है ? क्या कहीं अन्ध पुरुष देखनेवालेको 'कूपमें नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश दे सकता है ॥ ३१ ॥

बाह्य इच्छाकी निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभवमें तृप्ति—ये दोनों

दृश्यं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित् ।
तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता ॥ ३३ ॥

बोधादनैक्यमद्वैतं यः शान्तमवतिष्ठते ।
इच्छानिच्छादयः सर्वे भावास्तस्य शिवात्मकाः ॥ ३४ ॥

बोधादस्तमितद्वैतमद्वैतैक्यविवर्जितम् ।
यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥ ३५ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३६ ॥

नानिच्छयाऽनेच्छयाऽथ न सता नाऽसता सदा ।
नैवात्मना न चान्येन नैतैर्मरणजीवितैः ॥ ३७ ॥

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके चिह्न हैं, यह कहते हैं—'एतदेव' इत्यादिसे ।

सब इच्छाओंका सर्वथा निरास होना और सब लोगोंको अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभवमें स्थित रहना तत्त्वज्ञानका चिह्न है ॥ ३२ ॥

जब सारा प्रपञ्च नीरस हो जाता है तब कहींपर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानसे एकता और अनेकताके झगड़ेको छोड़कर जो पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुषके इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञानसे जिसकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो गई है एवं द्वैतनाशरूप वस्तु तथा एकत्वसंख्यासे रहित होकर जो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रतारहित और शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है उस पुरुषको यहाँ न तो किसी कर्तव्यसे प्रयोजन है और न अकर्तव्यसे ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतोंमें किसी प्रयोजनकी प्राप्ति ही है ॥ ३५, ३६ ॥

न तो इच्छासे, न अनिच्छासे, न सद्वस्तुसे, न असद्वस्तुसे, न अपनेसे, न दूसरेसे और न इन जीवन-मरणोंसे तत्त्वदर्शीको किसी भी समय अर्थका लाभ होता है ॥ ३७ ॥

इच्छा च तस्य नोदेति निर्वाणस्य प्रबोधिनः ।
यदि चोदेति तस्येच्छा ब्रह्म शाश्वतमेव सा ॥ ३८ ॥

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत् ।
इति योऽन्तः शिलेवास्ते तं प्रबुद्धं विदुर्बुधाः ॥ ३९ ॥

दुःखं सुखं भावनया कुर्वन् विषमिवामृतम् ।
इति निश्चित्य धीरात्मा प्रबुद्ध इति कथ्यते ॥ ४० ॥

तत्स्थितं व्योमनि व्योम शान्ते शान्तं शिवे शिवम् ।
शून्ये शून्यं सति च सद्यद्ब्रह्मणि जगत्स्थितम् ॥ ४१ ॥

असंवेदनसंवित्खे ततेऽविश्वमिति स्थिते ।
सौम्ये समसमे शान्ते शिवेऽहन्ताभ्रमः क्षयी ॥ ४२ ॥

अपना मुक्तस्वरूप जाननेवाले तत्त्वदर्शीको कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती । यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥ ३८ ॥

न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत् अज, आनन्द-स्वरूप, शान्त परब्रह्म ही है, इस तरहके निश्चयसे जो अपने भीतर पत्थरके सदृश अटल रूपसे रहता है उसीको पण्डित लोग विद्वान् कहते हैं ॥ ३९ ॥

भद्र, पूर्ववर्णित आत्मतत्त्वका निश्चय कर दुःखको निरतिशयानन्दरूप आत्माकी भावनासे, विषको अमृतकी नाईं, सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥ ४० ॥

तत्त्वबोधके अनुसार जो स्थिति है वही समस्त वस्तुओंकी अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियोंमें प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

जब ब्रह्ममें जगत् स्थित हो जाता है, तब आकाशमें आकाश, शान्तमें शान्त, शिवमें शिव, शून्यमें शून्य, और सतमें सत् स्थित हो जाता है, विपरीत-रूपसे कोई पदार्थ किसीमें स्थित नहीं रहता ॥ ४१ ॥

उक्त रीतिसे जगत् नहीं है, इस भावनासे जब व्यापक विषयशून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सबमें एकरूपसे रहनेवाले सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मामें अहन्ताभ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सर्वं शान्तमाकाशं परचिन्तापुरोपमम् ॥ ४३ ॥
परचिन्तापुरोमध्ये गतविघ्नं गमागमौ ।
यथाऽन्तस्तव शून्यत्वात्तथैवास्मिन् जगद्भ्रमे ॥ ४४ ॥
अब्धिद्यूर्वीनदीशैलशोभाशून्यतरात्मनि ।
जृम्भते द्रष्टृकरणं मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥
स्वप्ननिर्माणपुरवद्बालवेतालतालवत् ।
यदिदं दृश्यते तत्र किं किलासत्यतेतरत् ॥ ४६ ॥
असत्यमेवाहमिति भासते सत्यमेव च ।
भ्रान्तिभाजं विनैवेयं भ्रान्तिः स्फुरति साऽसती ॥ ४७ ॥

भद्र, जो यह कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् दिखाई दे रहा है वह सब शान्त, आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरेके मनोराज्य-नगरके सदृश तुच्छ है ॥ ४३ ॥

अन्य पुरुषके मनोराज्यके कल्पित नगरमें तुम्हें भीतर जाने-आनेमें जैसे किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती, वैसे ही इस जगद्रूप भ्रममें किसी प्रकारकी रुकावट विद्वान्‌को नहीं होती ॥ ४४ ॥

चूँकि समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत, आदिसे शून्य आत्मामें द्रष्टाका अन्तःकरण ही समुद्र आदिकी शोभाके रूपमें परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त बात सिद्ध है। [इस विषयमें दृष्टान्त है—मृगतृष्णाजलतरङ्ग] क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुषका नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामनेके प्रदेशमें मृगतृष्णा-जलतरङ्गरूपमें परिणत हो जाता है ॥ ४५ ॥

जो कुछ यह दिखाई दे रहा है वह स्वप्नमें बने हुए नगरके सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत बेतालके सदृश मिथ्या ही है। ऐसी स्थितिमें उसमें असत्यत्वको छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है ! ॥ ४६ ॥

भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्तिमें मिथ्यात्व है, यह कहते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे।

चूँकि सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूपसे असत्य होकर ही भासता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुषके बिना ही यह भ्रान्ति भासती है, अतः भ्रान्ति असत्य (मिथ्या) है ॥ ४७ ॥

न सन्नासन्न सदसत्किमपीदमतीन्द्रियम् ।
अवाच्यं जगदित्येव भात्यवक्षुभितं खवत् ॥ ४८ ॥
इहेच्छानिच्छते ज्ञस्य शाम्यतां यदलं समे ।
तथापि श्रेयसे मन्ये नन्वनिच्छोदयं स्फुटम् ॥ ४९ ॥
अहं जगदिति ज्ञप्तिः खे खस्येवेयमास्थिता ।
चिदात्मनो यथा वायोः स्पन्दो नात्रास्ति कारणम् ॥ ५० ॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तं सैव संसृतिः ।
सेच्छा तन्मुक्ततामुक्तिर्युक्तिं ज्ञात्वेति शाम्यताम् ॥ ५१ ॥

यह जो जगत् है, वह न सत है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रियसे निर्धारित नहीं किया जा सकता, यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूपका होनेपर भी गन्धर्वनगर आदिसे क्षुब्ध आकाशके सदृश प्रतीत होता है। सारांश यह है कि यदि जगत्को अत्यन्त ही असत् मान लिया जाय, तो शून्यवादियोंके मतमें ही अपनी गिनती होने लगेगी, यदि अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओंके अनुभवके साथ विरोध होगा। यदि सत-असत् उभयरूप मान लें, तो विरोध होनेके कारण एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इन सब बातोंसे अन्तमें यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामभद्र, यद्यपि तत्त्वबोधके बलसे ही भलीभाँति शान्त हो रहे विषयोंकी इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानीके लिए समान हैं यानी दोनोंका फल समान है, तथापि अनिच्छाका उदय ही विक्षेपशून्य सुखाभिव्यक्तिका हेतु होनेसे कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥ ४९ ॥

भद्र, आकाशमें आकाशकी नाईं अविकृत चिदाकाशमें ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाशसे वायु) इत्यादि श्रुति-दर्शित क्रमके अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्माकी कलना स्थित है, इसमें वायुमें स्पन्दनकी नाईं दूसरे किसी कारणकी अन्वेषणा नहीं करनी चाहिए ॥ ५० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि चितिकी बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है, यह कहते हैं— 'चित०'

इच्छा भवत्वनिच्छा वा सर्गो वा प्रलयोऽथवा ।
क्षतिर्न कस्यचित्काचिन्न च किञ्चिदिहास्ति हि ॥ ५२ ॥
इच्छानिच्छे सदसती भावाभावौ सुखासुखे ।
इत्यत्र कलना व्योम्नि सम्भवन्ति न काश्चन ॥ ५३ ॥
इच्छानां तानवं यस्य दिनानुदिनमागतम् ।
विवेकशमतृप्तस्य तमाहुर्मोक्षभागिनम् ॥ ५४ ॥
इच्छाक्षुरिकया विद्धे हृदि शूलं प्रवर्त्तते ।
जयन्ति यत्र नैतानि मणिमन्त्रौषधानि च ॥ ५५ ॥
यान्कार्यकरणव्यूहान् कृतवान् पूर्वमेव तान् ।
संप्रेक्षया न पश्यामि मिथ्याभ्रमभरादृते ॥ ५६ ॥

भद्र, चितिकी जो बाह्यविषयोंकी ओर उन्मुखता है, वही चित्त है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयोंकी ओरसे उन्मुखताको जो हटा देना है, वही मुक्ति है, इस युक्तिको जानकर आप शान्त हो जाइए ॥ ५१ ॥

इस स्थितिमें सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओंमें जैसे ईश्वरको कोई हानि या लाभ नहीं होता, वैसे इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओंमें विद्वान्‌को कोई हानि या लाभ नहीं होता, यह कहते हैं—'इच्छा' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहाँ किसीकी कुछ भी न क्षति है या न कुछ फल है ॥ ५२ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'इच्छानिच्छे' इत्यादिसे ।

इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव तथा सुख-दुःख—ये सब कल्पनाएँ इस तत्त्ववेत्ताके स्वरूपभूत चिदाकाशमें कुछ हो ही नहीं सकतीं ॥ ५३ ॥

भद्र, जिस महामतिको दिन-पर-दिन समस्त इच्छाओंकी कमी होती जाती है, विवेक-शमसे सन्तुष्ट उस महामतिको ही विद्वान् लोग मोक्षभागी कहते हैं ॥५४॥

इच्छारूपी छुरीसे विद्ध हुए हृदयमें ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि-मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने प्राणियोंके दुःखोंकी चिकित्सा करनेके लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्य-करणोंका निर्माण किया है उनकी परीक्षाके लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्याभ्रान्तिके भारसे आक्रान्त पुरुषमें चिकित्सासमर्थ नहीं पाया ॥ ५६ ॥

भ्रमभूतेन कुर्मश्चेद्व्यवहारमवस्तुना ।
तत्कस्मात्परचित्ताद्रिः कवलत्वं न नीयते ॥ ५७ ॥
असता व्यवहारश्चेत्प्रेक्षामात्रविनाशिना ।
क्रियते शशशृङ्गेण तत्कथं छाद्यते न खम् ॥ ५८ ॥
अहम्भावाच्चिदाकाशो जाड्यातिशयतः क्षणात् ।
पाषाणतां जलमिव मनस्त्वाद्याति देहताम् ॥ ५९ ॥
चित्त्वादनुभवत्येतामसत्यामेव देहिताम् ।
अविनष्टैव चिच्छक्तिः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ६० ॥

यदि शङ्का हो कि भ्रमसिद्ध किसी उपायसे ही भ्रमकी चिकित्सा करेंगे, तो इसपर कहते हैं—'भ्रमभूतेन' इत्यादिसे ।

यदि यह कहिये कि भ्रान्तिसिद्ध यानी हमारी भ्रान्तिसे सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपायसे अन्य भ्रान्तिसिद्ध दुःख आदिका निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे, तो इसपर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगोंके मनोरथसे सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुखसे दूसरेके स्वप्नमें सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ॥५७॥

भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असलमें असत् होनेके कारण पारमार्थिक दुःखनिवारणमें सामर्थ्य नहीं रखती, यह कहते हैं—'असता' इत्यादिसे ।

जिसका विचारमात्रसे विनाश हो जाता है, ऐसे भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थसे यदि व्यवहार मान लें, तो शशशृङ्गसे आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमोंके निवारणका उपाय है, दूसरा नहीं, यह भाव है ॥ ५८ ॥

अमूर्त मनकी भ्रान्तिमात्र यह जगत् मूर्तदेहादिभावको कैसे प्राप्त हो जाता है, इसपर कहते हैं—'अहंभावात्' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार जाड्यातिशयके कारण यानी अत्यन्त शीतलताके कारण जल पाषाणरूपताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही चिदाकाश मनके कारण देहाकाराहंभावसे अर्थात् देहादिमें अहन्ताके अभिमानसे देहाकारताको प्राप्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

जब देहरूप होनेपर भी वस्तुतः चितिशक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती, यही कारण है कि चिद्रूप होनेसे इस असत्य ही देहिताका वह ऐसे अनुभव करती है, जैसे स्वप्नमें अपनी मृत्युका ॥ ६० ॥

व्योम्न्यसत्यमवस्तुत्वात्सत्यं चानुभवाद्यथा ।
नीलत्वं तद्वदीशेऽस्मिन् सर्गो नासन्न सन्मयः ॥ ६१ ॥
यथा शून्यत्वनभसोर्यथास्पन्दनभस्वतोः ।
भेदो नास्ति तथा सर्गब्रह्मणोरेकरूपयोः ॥ ६२ ॥
नेह सञ्जायते किञ्चिज्जगदादि न नश्यति ।
स्वप्नो निद्रागतस्येव केवलं प्रतिभासते ॥ ६३ ॥
अविद्यमाने पृथ्व्यादौ प्रतिभामात्ररूपिणि ।
सर्गे क इव संरम्भस्त्यागादानैश्चिदम्बरे ॥ ६४ ॥
न देहः प्रतिभातोऽस्ति पृथ्व्यादिकारणान्वितः ।
केवलं ब्रह्मचिन्मात्रमेवात्मन्येव संस्थितम् ॥ ६५ ॥

प्रातिभासिक जड़ताका अस्तित्व प्रतिभासके अधीन है, इसलिए प्रातिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है, यह कहते हैं—'व्योम्न्य०' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें नीलत्व अवस्तुरूप होनेसे असत् है, प्रतिभासके कारण सत्य-सा भासता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है वैसे ही इस परमात्मामें यह सृष्टि सत्य-सी भासती है, वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है ॥ ६१ ॥

यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ताके एकरूप होनेसे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश और शून्यतामें एवं जैसे स्पन्दन और वायुमें कोई भेद नहीं है वैसे ही एकरूप ब्रह्म और सृष्टिमें भी कोई भेद नहीं है ॥ ६२ ॥

स्वप्नादिक पदार्थोंकी नाईं प्रतिभाससे अतिरिक्त प्रातिभासिक पदार्थोंकी उत्पत्ति आदि कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

इस परमात्मामें वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता और न नष्ट ही होता है । किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणीके स्वप्नके सदृश भासता है ॥ ६३ ॥

इसलिए इसके त्याग और ग्रहणमें मनुष्यको अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'अविद्यमाने' इत्यादिसे ।

चिदाकाशमें पृथिवी आदिके अविद्यमान रहते तथा सृष्टिके एकमात्र प्रतिभासस्वरूप सिद्ध होनेपर मनुष्यको उसके त्याग और ग्रहणमें भला कौन-सा आग्रह ? ॥ ६४ ॥

देहके लिए तो पृथिवी आदिका त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु

बुद्ध्यादेः कारणत्वं च द्वैतैक्यासम्भवान्न सत् ।
अनेनेदं क्रियत इत्यस्यार्थं याति सम्भवात् ॥ ६६ ॥
अहेतुरक्रमं भाति चिति कल्पक्रियागणः ।
क्षणेनैव यथा स्वप्ने मृतिजन्मादि सत्वराः ॥ ६७ ॥
खमेव पृथ्वी खं शैलाः खमेव दृढभित्तयः ।
खमेव लोका स्पन्दः खं संसर्गसंवेदनं चितेः ॥ ६८ ॥
व्योमभित्तौ जगच्चित्रं चिद्रङ्गमयमाततम् ।
नोदेति नास्तमायाति न शाम्यति न ताम्यति ॥ ६९ ॥

जब वे ही दोनों (पृथ्व्यादि और देह) एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होनेसे असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत ही ठहरे, इस आशयसे कहते हैं—'न देहः' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि कारणसहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होनेसे नहीं ही है; केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मामें स्थित है ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार बुद्धि आदिमें अपने प्रतिभासक चैतन्यात्माकी अपेक्षासे भेद और अभेदका संभव न होनेके कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरहके व्यवहारकी असत् भी कारणता आखिरमें परमार्थ वस्तुको ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसीका संभव है ॥ ६६ ॥

इस चितिमें कल्प, महाकल्प एवं उनमें होनेवाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे ऐसे भासित होते हैं, जैसे स्वप्नमें क्षणभरमें ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म-मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥ ६७ ॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सब चिदाकाश ही है, यह कहते हैं—'खमेव' इत्यादिसे ।

चूँकि चितिको सृष्टिका संवेदन अपनी ही आत्मामें होता है, और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाशस्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाशरूप हैं, ये अत्यन्त दृढ भित्तियाँ और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥ ६८ ॥

चिदाकाशरूप भित्तिमें जगद्रूपी महान् चित्र चितिरूपी रङ्गसे ही व्याप्त है । न तो यह चित्र उदयको प्राप्त होता है, न अस्तको प्राप्त होता है, न तो शान्त होता है और न म्लानिको ही प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥

चिद्वारिणि जगत्तुङ्गतरङ्गद्रवरूपिणि ।
किं नु वा कथमुत्पन्नं किं शान्तं च कदा कथम् ॥ ७० ॥
शान्ते महाचिदाकाशे जगच्छून्यत्वशालिनि ।
चेत्यासम्भवतः सन्ति नोदयास्तमयौ कुतः ॥ ७१ ॥
पर्वता गगनायन्ते गगनं पर्वतायते ।
संवेदनप्रयोगेण ब्रह्मणः सर्गतास्थितौ ॥ ७२ ॥
संविच्चूर्णप्रयोगेण निमेषार्द्धेन योगिनः ।
कुर्वन्ति जगदाकाशमाकाशं त्रिजगन्ति च ॥ ७३ ॥
सिद्धसङ्कल्पनगराण्यसंख्यानि यथाऽम्बरे ।
तथा सर्गसहस्राणि सन्ति तानि तु चिन्नभः ॥ ७४ ॥
महार्णवे यथाऽऽवर्ता अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते पयसोऽन्ये च नैव ते ॥ ७५ ॥

जगद्रूपी महातरङ्गोंसे युक्त द्रवशील चितिरूपी जलमें कौन-सा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ या कौन-सा पदार्थ कब कैसे शान्त ही हुआ ॥ ७० ॥

तब तो जगद्-रूपसे चितिके ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'शान्ते' इत्यादिसे ।

जब विषयोंका सर्वथा असंभव होनेसे जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत्की शून्यतासे शोभित, शान्त, महाचिदाकाशमें जगद्रूपसे चितिके उदय और अस्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ॥ ७१ ॥

परन्तु यदि मायाविलासदृष्टिसे देखते हैं, तो फिर सभी पदार्थोंमें सर्वरूपताकी यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है, यह कहते हैं—'पर्वताः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मके सृष्टिरूपमें विवर्तित होनेपर संवेदनके प्रयोगसे यानी विचित्र वासनाओंके अनुसार उत्पन्न संकल्पसे तो पर्वत भी आकाशरूपमें परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं ॥ ७२ ॥

संविद्रूप सिद्धौषधचूर्णके प्रयोगसे तो योगीजन आधे निमेषमें जगत्को आकाशरूप और आकाशको तीनों जगत्के रूपमें कर डालते हैं ॥ ७३ ॥

जैसे इस प्रसिद्ध आकाशमें असंख्य सिद्धसङ्कल्पोंसे कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं, वैसे ही चिदाकाशमें (ब्रह्ममें) हजारों वे सृष्टियाँ हैं ॥ ७४ ॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'महार्णवे' इत्यादिसे ।

महाचिति महासर्गा अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते व्यतिरिक्ता न ते ततः ॥ ७६ ॥
सर्गात्सर्गान्तरालोके या प्रबुद्धस्य योगिनः ।
सिद्धलोकान्तरे प्राप्तिः सैवेति विबुधोक्तयः ॥ ७७ ॥
अविनाशिनि भूतानि स्थितानि परमे शिवे ।
व्योम्नीव शून्यतोल्लासाः सर्गवर्गा निरर्गलम् ॥ ७८ ॥
परमार्थनिजामोदाः सहजाः सर्गविभ्रमाः ।
नोद्यन्ति नोपशाम्यन्ति लेखा इव शिलोदरे ॥ ७९ ॥
अन्योन्यं कुसुमामोदा मिलिता अप्यमीलिताः ।
व्योमरूपास्तथा सर्गा अन्योन्यं सिद्धभूमयः ॥ ८० ॥

जैसे महासमुद्रमें अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं, वास्तवमें वे जलसे अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही महाचितिमें असंख्य बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ यानी ब्रह्माण्ड परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं। पर वास्तवमें वे उससे अलग नहीं हैं ॥ ७५, ७६ ॥

परस्पर छिपे हुए सिद्धोंके भिन्न-भिन्न लोकोंके अवलोकनके लिए इच्छासे प्रबुद्ध योगीकी—पहले अपनी उपाधिका मूल चेतनमें प्रविलापनकर फिर दूसरेके चित्तमें प्रवेश कर उसके लोकमें—जो अनुप्रवेशरूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टिसे दूसरी सृष्टिके अवलोकनके लिए भी है, यह विद्वान् लोग * बतलाते हैं ॥ ७७ ॥

इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों एवं उनके भोग्य सृष्टियोंकी विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्ममें ही है, यह कहते हैं—'अविनाशिनि' इत्यादिसे।

अविनाशी परम शिवमें ये सभी भूत स्थित हैं। उसीमें ये सारी सृष्टियाँ बेरोक-टोक ऐसे स्थित हैं, जैसे आकाशमें शून्यताके उल्लास ॥ ७८ ॥

परमार्थ चिदाकाशके अपने आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टिके विभ्रम हैं। ये स्फटिकमणिके भीतर दिखाई दे रही रेखाओंकी नाईं न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥ ७९ ॥

पुष्पोंकी गन्ध और सिद्धोंकी भूमि जैसे परस्पर मिली हुई रहनेपर भी मिली हुई नहीं रहती, वैसे ही चिदाकाशरूप ये सृष्टियाँ भी हैं ॥ ८० ॥

---

* इस तरहका वर्णन लीलोपाख्यानमें हो चुका है।

सङ्कल्पाकाशरूपत्वात्सर्वानुभववत्स्थितेः ।
तनुसङ्कल्पमोहानां सत्याश्च मननोक्तयः ॥ ८१ ॥
न ज्ञानवादिता सत्या न बाह्यानर्थवादिता ।
यथा वेदनमेतानि वेदनानि फलन्ति वः ॥ ८२ ॥
चिति चित्त्वं यदस्त्यन्तर्जगदित्येव भाविते ।
भेदो द्रवत्वपयसोरिव नात्रोपपद्यते ॥ ८३ ॥

यही कारण है कि स्थूल सङ्कल्प और मोहवाले पामरजनोंकी दृष्टिसे इस प्रपञ्चकी स्थूल अनुभवके समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियोंकी दृष्टिसे सूक्ष्मादिभावसे इस प्रपञ्चकी स्थिति है। ऐसी स्थितिमें सबको अनुभव एक-सा न होनेके कारण अपने-अपने अनुभवके अनुसार सबकी उक्तियाँ सत्य ही हैं, यह कहते हैं—'सङ्कल्पाकाश०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रपञ्चकी स्थिति सङ्कल्पाकाशरूप होनेसे जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही है। इसलिए सूक्ष्म सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियोंकी मननपूर्वक जगत्के विषयमें जो कुछ उक्तियाँ हैं, वे बिलकुल सत्य हैं ॥ ८१ ॥

अतएव भिन्न-भिन्न वादियोंकी जो नाना प्रकारकी कल्पनाएँ हैं वे भी तत्-तत् वासनाओंसे परिपूर्ण सङ्कल्पोंके अनुसार ही सत्य हैं, सबके सङ्कल्पोंके अनुसार या परमार्थरूपसे वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न-भिन्न वादियोंको सम्बोधित कर कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

न तो विज्ञानवादी बौद्धोंकी आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता * सत्य है और न वैशेषिकोंकी बाह्यानर्थवादिता † ही सत्य है, किन्तु आप लोगोंके सङ्कल्पके अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं ॥ ८२ ॥

तब इनमें कौन-सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं—'चिति' इत्यादिसे।

वस्तुतः चितिमें जो चित्त्व है यानी त्रिपुटीप्रकाशनकी ‡ शक्ति है, वही

* विज्ञानवादी बौद्धोंका सिद्धान्त है कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं।

† वैशेषिकोंका मत है कि दुःखके हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं।

‡ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके प्रकाशनकी।

कालो जगन्ति भुवनान्यहमक्षवर्ग-
स्त्वं तानि तत्र च तथेति च सर्वमेकम् ।
चिद्व्योम शान्तमजमव्ययमीश्वरात्म-
रागादयः खलु न केचन सम्भवन्ति ॥ ८४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

—०—

अष्टत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्पश्यति जगन्मिथ्यास्ववेदनविबोधिता ।
व्योम्नि मायाञ्जनासिक्ता दृगिवाचलान्तरम् ॥ १ ॥

भीतर भावित होनेपर 'जगत्' रूपसे भासती है । इसलिए चिति और जगत्में भेद ऐसे उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्वमें ॥ ८३ ॥

कहे हुए का अनुवाद कर प्रकृतमें उसकी योजना करते हुए उपसंहार करते हैं—'कालो' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनोंके अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओंके भोगोंके उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग—यह सब कुछ ईश्वरात्मक यानी मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदिसे सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप ही है । ऐसा निश्चय होनेपर राग आदि किसीका भी सम्भव नहीं है ॥ ८४ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग

[चित् और चेत्य (विषय)—दोनोंके सम्बन्धभ्रमके निरास द्वारा उत्तम युक्तियोंसे चेतन ही जगत् है—यह वर्णन]

चेत्यरूप समस्त जगत् चेतनस्वरूप ही है, इस विषयका उपपादन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मसर्गश्चित्तसर्गो द्वावेतौ सदृशौ मतौ ।
परमार्थस्वरूपत्वादक्षुब्धत्वात्सदैव च ॥ २ ॥
ज्ञानरूपतया बाह्यं बाह्यं चानुभवात्तथा ।
सत्यरूपमतः सत्यां विद्धि बाह्यार्थरूपताम् ॥ ३ ॥
बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः ।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदाऽसदसंस्थितेः ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अपनेमें मिथ्या ज्ञानसे यानी अब्रह्मरूपता-भ्रमसे विक्षिप्त हुई चिति जगत्को उस प्रकार देखती है, जिस प्रकार मायादर्शन-हेतु अञ्जनसे युक्त आँख आकाशमें पर्वतरूपताको और पर्वतके शिखर वन, हाथी आदिको देखती है ॥ १ ॥

भ्रान्तिसे कल्पा गया यह संसार चित्रसृष्टिके सदृश केवल मनकी कल्पनासे ही क्षुब्ध-सा भासता है, वस्तुतः नहीं, यह कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही मानी जाती हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियां असलमें परमार्थ ब्रह्मसे न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरहका क्षोभ ही है ॥ २ ॥

वैसा भले ही हो, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'ज्ञान०' इत्यादिसे ।

जैसे भीतमें रहनेवाला चित्र वास्तवमें भीतसे अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्त-पुरुषोंके अनुभवसे भीतसे अलग-सा भासता है,वैसे ही ज्ञानमें कल्पा गया संसार वास्तवमें ज्ञानरूप होनेके कारण ज्ञानसे अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषोंके अनुभवरूपसे अलग-सा भासता है। जब यही असली स्थिति है, तब बाह्य-अर्थरूपताको भी, ज्ञानकी सत्यताके कारण, ज्ञानरूपसे सत्यरूप ही मानना चाहिए, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

ऐसी स्थितिमें हम लोगोंके मतसे बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवादमें कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनोंकी उक्तरीतिसे एकता ही है। किसी भी समय चेतनसे भिन्न असत् बाह्य प्रपञ्चकी सत्ता हो ही नहीं सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है ॥ ४ ॥

अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनी ।
तता शून्या महारम्भा ब्रह्मसत्तैव सर्वतः ॥ ५ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च तत् ।
तच्च सर्वमयं नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६ ॥
चिन्मयत्वाद्यदा चेत्यमेति द्रष्टृचितैकताम् ।
तदा दृश्याङ्गयैवैतच्चेत्यते नान्यथा चिता ॥ ७ ॥
यदा चिन्मात्रमेवेयं द्रष्टृदर्शनदृश्यदृक् ।
तदाऽनुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ ८ ॥

जब सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणोंसे निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पञ्चभूतोंकी भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्तमें पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई, यह कहते हैं—'अक्षुब्ध०' इत्यादिसे ।

क्षोभशून्य, तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीसे शून्य एवं पूर्णशान्तिसे विराजमान, बड़े-बड़े आरम्भोंसे युक्त, वास्तवमें शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारो ओर विस्तृत है ॥ ५ ॥

यों समस्त क्रियाकारकफलरूप ब्रह्मीभूत जगत्को ही प्रणाम करते हैं—'तस्मै' इत्यादिसे ।

यह सब कुछ ब्रह्मके लिए ही है, उसीसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, यही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत-प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ६ ॥

व्यवहारकालमें भी चितिके साथ ऐक्यप्राप्तिके बलसे ही विषयोंका अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे तरीकेसे नहीं, यह कहते हैं—'चिन्मयत्वात्' इत्यादिसे ।

चिन्मय होनेके ही कारण घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्यके साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चितिके बलसे ही इन घट आदि पदार्थोंका प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये सभी, चितिकी एकताके बलसे ही जब सिद्ध होते हैं, तब वे चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थितिमें सब

द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।
तद् दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्ना दृष्टेक्षुमिवोपलः ॥ ९ ॥
चिन्मयत्वाच्चितौ चेत्यं जलमप्स्विव मज्जति ।
तेनानुभूतिर्भवति नान्यथा काष्ठयोरिव ॥ १० ॥
सजातीयैकताभावाद् यद्वत्काष्ठं न चेतते ।
दारु तद्वदपि द्रष्टा दृश्यं नाज्ञास्यदाजडम् ॥ ११ ॥
यादृक्सत्तानि काष्ठानि तादृग्रूपं त्वचेतनम् ।
जानन्ति नेतरत्तस्माद्दृश्यं चिद्दृश्यचेतनम् ॥ १२ ॥

जगत्का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थसे सिद्ध होता है, यह अर्थतः निकलता है ॥ ८ ॥

द्रष्टा और दृश्यकी एकतामें अनुकूल तर्क बतलाते हैं—'द्रष्टृदृश्ये' इत्यादिसे ।

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षीमें एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खानेमें प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थरके सदृश उसके स्वाद या माधुर्यका अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रसका अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ॥ ९ ॥

जब दृश्य और द्रष्टाको चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करनेवाली चितिमें ही चेत्यका (विषयका) अनुभव होगा । जलमें गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जलमें प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चितिमें विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसीसे 'ईखका माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटीका चेतनमें प्रवेश होकर ही अनुभव होता है—इस प्रकारको छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि जड़ होनेपर दो काठके सदृश अनुभव नहीं होगा ॥ १० ॥

'दो काठके सदृश' यह जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया है, उसकी समानता दार्ष्टान्तिकमें बतलाते हैं—'सजातीय०' इत्यादिसे ।

एक काठ दूसरे काठको, अपना जातीय होनेपर भी, चेतनकी एकता न होनेपर जैसे नहीं जान सकता, वैसे ही द्रष्टा भी चेतनकी एकतासे शून्य दृश्यको नहीं जान सकता ॥ ११ ॥

द्रष्टा और दृश्यकी जड़ता मान लेनेपर कोई भी दो काठकी अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते, यह कहते हैं—'यादृक्' इत्यादिसे ।

काठकी जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है, इससे

महाचिदात्मनैवास्ति जलानिलधराश्मतम् ।
नैतेषु स्पन्दबुद्ध्यादि प्राणजीवाद्यभावतः ॥ १३ ॥
प्राणबुद्ध्यादयः सत्तां भावनावशतो गताः ।
भावना चिच्चमत्कारः स यथेच्छमुदेति च ॥ १४ ॥
जगत्तया शान्ततया ब्रह्मसत्ताऽवतिष्ठते ।
पुंस्तया गत एवात्मा रेतो वटकबीजयोः ॥ १५ ॥
सर्वाग्राणुमये बीजे योऽस्मादग्रगतोऽणुकः ।
स स तद्धाद्भवत्यग्रं बीजं स्वात्मनि संस्थितः ॥ १६ ॥

अतिरिक्त दूसरे किसी रूपको कोई नहीं जानते । अतः कथित तर्कके आधारपर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूपसे ही चिदभिन्न है, यह सिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

यों द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध हुए, तब दृश्यात्मक जगत्‌में पृथिवी, वायु, जल आदिका भेद निकल गया और द्रष्टामें स्पन्दन, बुद्धि आदिका भेद निकल गया, इस स्थितिमें समस्त जगत्‌की ब्रह्मके साथ एकता ही सिद्ध हो गई, यह कहते हैं—'महा०' इत्यादिसे ।

दृश्योंमें जल, वायु, पृथवी, पत्थर आदि तथा द्रष्टामें जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतनरूपसे है ही नहीं, क्योंकि महाचेतनमें उनका तीनों कालमें अस्तित्व नहीं है ॥ १३ ॥

भावनामात्रसे कल्पित होनेके कारण प्राण आदि भेद मिथ्या हैं, यह कहते हैं—'प्राण०' इत्यादिसे ।

भद्र, प्राण, बुद्धि आदि जो कुछ अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावनाके बलपर ही । भावना तो एक चितिका चमत्कार है, वह इच्छाके अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं ॥ १४ ॥

जगत्-रूपसे एवं सुषुप्ति-प्रलयरूपसे ब्रह्मसत्ता ही स्थित है । आत्मा ही प्रसवशक्तिसे आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूपमें मानो बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्मके विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥ १५ ॥

वटके बीजमें प्रसवशक्तिसे युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्तावाला भाग और उसमें वटादिविवर्त दिखलाते हैं—'सर्वाग्रा०' इत्यादिसे ।

सबके सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भागसे सम्पन्न बीजमें जो-जो सारभूत अति-

ब्रह्म सर्वपराण्वात्मा यो यस्मादर्थतोऽणुकः ।
स स तत्तद्भवेद्वस्तु वस्तु ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ १७ ॥
द्रव्यमेव यथा द्रव्यं तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सर्वमेव तथा ब्रह्म येन तेन यथा तथा ॥ १८ ॥
हेमत्वमेव नान्यत्वं हेमरूपशते यथा ।
शान्तत्वमेव शान्तस्य सर्गाहन्त्वगणे तथा ॥ १९ ॥
पार्श्वस्थस्वप्नमेघौघा यथा तव न काश्चन ।
सर्गप्रलयसंरम्भास्तथा खात्मान एव मे ॥ २० ॥

सूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है। इसी सारभूत वस्तुसे शाखा आदिमें तत्-तत् उत्तरोत्तर कार्यमें अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १६ ॥

जो-जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूपसे प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्मकोटिमें है और जो स्थूल होकर कार्यरूपसे प्रसिद्ध है, वह मायाकोटिमें है तथा मिथ्या है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ।

ब्रह्म ही सबसे परम अणुरूप है, इसलिए जो-जो जिस-जिस अर्थसे अत्यन्त अणु है, वह सब तत्-तत् सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है, ऐसी स्थितिमें सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है ॥ १७ ॥

जैसे घट आदि एक-एक द्रव्य अगल-बगलसे, ऊपरसे-नीचेसे यानी सभी ओरसे द्रव्यरूप ही है, उससे तनिक भी भिन्न पदार्थ नहीं है, वैसे ही सभी पदार्थ यानी जगत् जिस पुरुषके द्वारा जिस किसी रीतिसे परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप ब्रह्मरूप ही देखा गया, दूसरे रूपका नहीं ॥ १८ ॥

अविकारितामें दृष्टान्त कहते हैं—'हेमत्व०' इत्यादिसे ।

सैंकड़ों सुवर्णके रूपोंमें जैसे सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही शान्तब्रह्मके सैंकड़ों जगद्भाव और जीवभावोंमें शान्तब्रह्मरूपत्व ही रहता है ॥१९॥

सत् ब्रह्मका सर्गरूप विवर्तोंसे अलोप नहीं होता, यह बतलाते हैं—'पार्श्व०' इत्यादिसे ।

समीपस्थ पुरुषके स्वप्नके मेघ जैसे आपके कुछ नहीं हैं यानी उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि

पङ्कता कल्पिता व्योम्नो या पुत्रकपताकिनी ।
सा यथा शान्ततामात्रं खमेवेदं तथा जगत् ॥ २१ ॥
सङ्कल्पभ्रम एवान्तः पुष्पीभूय जगत्स्थितम् ।
जलावनितलक्लिन्नबीजं कल्प इव द्रुमः ॥ २२ ॥
अनहन्तात्मनो ज्ञस्य सत एकत्वमासतः ।
जरत्तृणलवायन्ते ननु नामाणिमादयः ॥ २३ ॥
त्रैलोक्ये तन्न पश्यामि देवासुरमानुषम् ।
एकरोमांशविश्वस्य यल्लोभाय महात्मनः ॥ २४ ॥
यथा तथा स्थितस्यापि यत्र तत्र गतस्य च ।
द्वैतसङ्कल्पसंदोहा न सन्त्यधिगतात्मनः ॥ २५ ॥

महारम्भ कुछ भी नहीं हैं, यानी आत्मामें कुछ भी उनसे नहीं होता ॥ २० ॥

आकाशमें कल्पित मलिनता और उसीमें कल्पित गन्धर्वपुत्रोंकी सेना जैसे आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

जैसे जलसे भूमितलमें आर्द्र वट आदिका बीज महान् वट आदिके वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही हृदयके भीतर सङ्कल्परूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्-रूप फल बनकर स्थित हो जाता है ॥ २२ ॥

यदि परम सूक्ष्म ब्रह्म है और ब्रह्मभावमें स्थिति ही मोक्ष है, तो अणिमा आदि सिद्धियोंके सदृश ही मोक्ष हुआ, इस शङ्कापर कहते हैं—'अनहन्ता०' इत्यादिसे ।

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकोंके दूर हो जानेपर आविर्भूत हुए निरतिशया-नन्दरूप, एकत्वभावापन्न, सत् ज्ञानीकी दृष्टिमें ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण-शीर्ण तृणके टुकड़ेके सदृश तुच्छ भासती हैं ॥ २३ ॥

तीनों लोकोंमें देवता, असुर और मनुष्यसे युक्त ऐसी किसी वस्तुको मैं नहीं देखता, जो एक रोमांशके सदृश सारे विश्वको समझनेवाले महात्माके लोभके लिए होवे ॥ २४ ॥

जिस किसी तरहकी स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जानेवाले आत्मतत्त्व-विद् पुरुषको किसी तरहके द्वैतसङ्कल्प होते ही नहीं ॥ २५ ॥

विश्वमेव नभो यस्य शून्यं सर्वं महात्मनः ।
कुतः कस्य कथं तस्य भवत्विच्छा निरात्मनः ॥ २६ ॥
शान्ताशेषविशेषस्य निरेषणविशेषतः ।
सत्तामसत्तां सदृशौ क आकलयितुं क्षमः ॥ २७ ॥
मारैर्न किञ्चिन्म्रियते जीवैः किञ्चिन्न जीवति ।
शुद्धसंविन्मयस्यास्य समालोकस्य खस्य च ॥ २८ ॥
मिथ्यालोकस्य कचतो भ्रान्त्या मरणजन्मनी ।
असत्यपि भ्रान्तिभाजि मृगतृष्णानदीतटे ॥ २९ ॥
सम्यक्परीक्षितं यावन्न भ्रान्तिर्न परीक्षकाः ।
न नाम जन्ममरणे केवलं शान्तमव्ययम् ॥ ३० ॥
इत्याद्यो विरतिं यात आत्मारामः शमं गतः ।
स सन्नेवासदाभासः परितीर्णभवार्णवः ॥ ३१ ॥

जिस महामतिकी दृष्टिमें सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्तसे शून्य विद्वान्‌को किस निमित्तसे किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ॥ २६ ॥

जिसको अशेष विशेषोंसे शान्ति हो चुकी है, तथा जो इच्छाओंसे रहित हो गया है, ऐसे वैभव एवं दरिद्रता—दोनोंको समान देखनेवाले पण्डितराजकी महिमा कौन जान सकता है ॥ २७ ॥

भाई, पुत्र आदिके मरणजीवनसे इसको हर्ष या शोक नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'मारै०' इत्यादिसे ।

विद्वान् न मरण-साधनोंसे मरता है और न जीवन-साधनोंसे कुछ जीता है। परन्तु विशुद्ध संविस्स्वरूप, आत्मप्रकाशसम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप हुए इस महात्माके असत् भी मरण-जनन अज्ञानी जनोंकी ही भ्रान्तिसे मृगतृष्णानदीके तटोंके सदृश भ्रान्त आत्मामें भासते हैं ॥ २८, २९ ॥

उत्तम परीक्षा कर लेनेके बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म-मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञानी परीक्षकके उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इसपर कहते हैं—'इत्याद्यो' इत्यादिसे ।

दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तङ्गतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ ३२ ॥
आबुध्यादि जगद्दृश्यं यस्मै न स्वदते स्वतः ।
आकाशस्येव शान्तस्य तमाहुर्मुक्तमुत्तमाः ॥ ३३ ॥
अहमस्त्यविचारेण विचारेणाहमस्ति नो ।
अभावादहमर्थस्य क्व जगत् क्व च संसृतिः ॥ ३४ ॥
संवित्संवेदनादेव बुद्ध्याद्याकारवत् स्थितम् ।
रूपालोकमनोरूपं जगद्वेत्ति चिदम्बरम् ॥ ३५ ॥

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चसे वैराग्यको प्राप्त होकर उपशमको प्राप्त हो गया है, संसारसागरसे पार हुआ वह ब्रह्मभावसे विद्यमान भी देह, इन्द्रिय आदिसे युक्त परीक्षकरूपसे असत्के ही (अविद्यमानके ही) समान भासता है ॥ ३१ ॥

जिसके मनकी गति अस्त हो चुकी है और जो आत्मामें शान्त है उसके ब्रह्मरूपसे विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाणकी नाईं उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥ ३२ ॥

इसीलिए उसको यह संसार नहीं रुचता, यह कहते हैं—'आबुध्यादि' इत्यादिसे ।

बुद्धि आदिसे लेकर सम्पूर्ण यह जगद्दृश्य जिसे स्वतः नहीं रुचता, आकाशके सदृश शान्त उस पुरुषको उत्तम लोग मुक्त कहते हैं ॥ ३३ ॥

यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाणके सदृश आप निर्वाणस्वरूप हैं, आप वसिष्ठरूपसे कैसे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'अहमस्त्य' इत्यादिसे ।

अविचारसे अहं है, विचारसे अहं नहीं है । तात्पर्य यह कि अविचारसे ही मैं वसिष्ठरूपसे प्रतीत हो रहा हूँ, विचारसे कदापि नहीं । अहंभावके अर्थका अभाव होनेसे कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्ममरण आदिरूप संसृति ? ॥ ३४ ॥

अहमर्थका अभाव कैसे ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूपके अन्यथाज्ञानसे ही बुद्धि आदिके आकारसे युक्त हो स्थित है और वही रूपालोकमनोरूप (बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत्को जानता है ॥ ३५ ॥

सर्वार्थरिक्तमनसः सतः सर्वात्मनस्तव ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वमाचरणं शिवम् ॥ ३६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि हंस्येषि तत्सर्वं शिवमव्ययम् ॥ ३७ ॥
यदहं यत्त्वमाशा यद्यत्क्रियाकालखादयः ।
यल्लोकालोकगिरयस्तच्चिद्व्योम शिवं ततम् ॥ ३८ ॥
यद्रूपालोकमननं यत्कालत्रितयं जगत् ।
यज्जरामरणार्त्यादि तन्महाचिन्नभः शिवम् ॥ ३९ ॥
निश्चिकित्सो निराभासो निरिच्छो निर्मना मुनिः ।
भूत्वा निरात्मा निर्वाणस्तिष्ठ संतिष्ठसे यथा ॥ ४० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे ही समान यथार्थवस्तुके ज्ञानसे भ्रान्तिका नाश हो जानेपर आपका मन भी जब सम्पूर्ण पदार्थोंसे शून्य हो जायगा, तब सद्रूप सर्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिवस्वरूप ही (निर्वाणरूप ही) अवभासित होगा ॥ ३६ ॥

समस्त आचरणका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'यत्करोषि' इत्यादिसे ।

जो कुछ आप कर्म करते हैं, जो कुछ भक्षण करते हैं, जो कुछ हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन-गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझिये ॥ ३७ ॥

आचारग्रहण समस्त जगत्का उपलक्षण है, यह कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ और दिशाएँ हैं, जो जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ३८ ॥

जो कुछ बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल हैं तथा जो जरा, मरण, पीडा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥ ३९ ॥

दुःखशान्तिके उपायोंकी अन्वेषणासे रहित, भ्रमशून्य, इच्छारहित, मनवर्जित, मुनि एवं अहंभावरहित होकर जिस प्रकारसे मोक्षरूप बनकर आपसे स्थित रहा जा सकता है, उस तरहसे स्थित रहिए ॥ ४० ॥

गतेच्छमननं शान्तमनन्तस्थमभावनम् ।
व्यवहारोऽस्तु ते मा वा स्पन्दास्पन्दैर्यथाऽनिलः ॥ ४१ ॥
निर्वासना निष्कलना शान्ता पुरुषताऽस्तु ते ।
शास्त्रेण यन्त्रवाहेन वाह्या दारुमयी यथा ॥ ४२ ॥
भूतालोकस्तु मा स्नेहो मा वा स्नेहश्च बाह्यगः ।
अनिर्देशधरालोकश्चित्रदीपवदास्यताम् ॥ ४३ ॥

निर्वासनस्य विरसस्य निरेषणस्य
शास्त्रादृते क इव तत्त्वविनोदहेतुः ।

हे श्रीरामभद्र, जिस तरह पवनका स्पन्दन और अस्पन्दनके द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है, उसी तरह आपका भी इच्छा-मननसे रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्ममें स्थित तथा भावनारहित ही व्यवहार हो या न हो ॥ ४१ ॥

भद्र, जैसे काठकी पुरुषोचित चेष्टाका यन्त्ररूपी घोड़ेसे निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, सङ्कल्पशून्य एवं उपद्रवरहित होती है, उसी तरह शास्त्ररूपी घोड़ेसे आपकी वैसी ही पुरुषोचित चेष्टाका निर्वाह होवे ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामजी, माता, पिता, बन्धुजन आदिके साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेहसे पूर्ण हो या न एकदम स्नेहसे रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालोंको यह पता न लगे—है या नहीं, यानी अनिर्वचनीय हो। आप चित्रदीपके सदृश रहिए। चित्रगत दीप चित्रगत तेलसे पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेलसे पूर्ण नहीं है, अतः उसका प्रकाश स्नेह (तेल) से पूर्ण है या नहीं, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥ ४३ ॥

'निर्वासना निष्कलना' इस श्लोकसे पहले जो कहा गया है, उसीको अनुवाद द्वारा दृढ़ कर रहे महाराजवसिष्ठजी उपसंहारके रूपमें दर्शाते हैं—'निर्वासनस्य' इत्यादिसे।

भद्र, जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगोंमें कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगोंकी तृष्णा भी निकल गई—ऐसे विद्वान्के लिए उत्तम शास्त्रके सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुखमें विश्रान्ति देनेवाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। शरीरधारणतक अगत्या प्राप्त होनेवाले आवश्यक व्यवहार-कालमें उत्तम शास्त्रोंका अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण तथा

शास्त्रार्थसञ्जनमतोऽप्यमलस्य तस्य
संवेदनेष्वनभिसन्धिमतः स्वरूपम् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संजाताकृत्रिमक्षीणसंसृतिप्रत्ययः　　पुमान् ।
असङ्कल्पो न सङ्कल्पं वेत्ति तेनासदेव सः ॥ १ ॥

विवेकादिके उद्बोध द्वारा तत्त्वज्ञानमें प्रतिष्ठाकारक है। इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ताका प्रारब्धप्राप्त व्यवहारिक प्रसंगोंमें वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनोंमें भलीभाँति लगा रहना ही—असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण ॥ ४४ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

[प्रबुद्ध आत्मामें विश्रान्त तत्त्वज्ञानीका जो स्वरूप रहता है उसका तथा जगत् जिस रूपका रहता है, उसका वर्णन]

यदि विद्वान्‌के ऊपर शास्त्रानुसरणका नियन्त्रण रक्खा जाय, तो उसमें शास्त्रानुसरणका सङ्कल्प भी उठने लगेगा, ऐसी आशङ्काकर कहते हैं—'संजात०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जिसे संसारको क्षीण कर देनेवाले सत्य अर्थका स्वाभाविक प्रत्यक्ष हो गया है, वह पुरुष शास्त्रीय व्यवहारमें भी सङ्कल्परहित होकर ही स्थित रहता है, क्योंकि तत्-तत् व्यवहारोंको अपनी आत्मा समझकर यह विद्वान् सङ्कल्पको पृथक् जानता ही नहीं, ज्ञानके बिना तो किसीका अस्तित्व माना नहीं जा सकता, अतः सङ्कल्पाभास असत् ही है ॥१॥

श्वासान्म्लानिरिवादर्शे कुतोऽप्यहमिति स्थिता ।
विद्धि साऽकारणं दृष्टा नश्यन्त्याशु न लभ्यते ॥ २ ॥
यस्य क्षीणावरणता शान्तसर्वेहतोदिता ।
परमामृतपूर्णात्मा सत्तयैव स राजते ॥ ३ ॥
सर्वसन्देहदुर्ध्वान्तमिहिकामातरिश्वना ।
भाति भास्वद्धिया देशस्तेन पूर्णेन्दुनेव खम् ॥ ४ ॥
विसंसृतिर्विसन्देहो लब्धज्योतिर्निरावृतिः ।
शरदाकाशविशदो ज्ञेयो विज्ञायते बुधः ॥ ५ ॥

'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस उक्तिका विवरण करनेके लिए 'तत्त्वद्रष्टामें समस्त सङ्कल्पका बीजभूत अहन्ताध्यास भी बाधित हो गया है, इससे भी उसको सङ्कल्प नहीं उठता', यह कहते हैं—'श्वासान्' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानके पहले किसी अनिर्वचनीय कारणसे (अविद्यासे), दर्पणमें श्वाससे उत्पन्न मलिनताके सदृश, आत्मामें अहन्ता स्थित थी, परन्तु वह तत्त्वज्ञानीमें बिना कारण ही नाशको प्राप्त हो गई । बहुत अन्वेषण करनेपर भी वह कहीं प्राप्त नहीं हो रही है ॥ २ ॥

दूसरी बात यह है कि कामनासे सङ्कल्प उठते-रहते हैं, वह तो तत्त्वदर्शीमें है नहीं, क्योंकि उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिसके आवरणका स्वरूप क्षीण हो चुका है तथा जिसकी समस्त इच्छाएँ नष्ट हो गई हैं, निरतिशय आनन्दामृतसे पूर्ण स्वरूपवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष केवल निरतिशय आनन्दस्वरूपकी सत्तासे ही शोभित होता है ॥ ३ ॥

जैसे एक वस्तुके लाभसे सब वस्तुओंका लाभ हो जानेसे फिर लाभयोग्य वस्तुसङ्कल्प नहीं होता, वैसे ही एक वस्तुके विज्ञानसे सब वस्तुओंका विज्ञान हो जानेसे ज्ञातव्य विषयमें भ्रम आदि दोष रहते नहीं हैं, इससे भी तन्निमित्तक सङ्कल्प विद्वानको नहीं होता, यह कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जैसे पूर्णचन्द्रसे आकाश जगमगाता-रहता है, वैसे ही सर्वविध आवरणोंसे रहित प्रकाशमय बुद्धिवाले तथा समस्त सन्देहरूप कुटिल अन्धकारात्मक ओसके लिए वायुस्वरूप उक्त विद्वान्से सारा देश जगमगाता-रहता है ॥ ४ ॥

संसारशून्य, सन्देहनिर्मुक्त, आत्मप्रकाश प्राप्त कर लेनेवाला, आवरणासक्त

निःसङ्कल्पो निराधारः शान्तः स्पर्शात्पवित्रताम् ।
अन्तःशीतल आधत्ते ब्रह्मलोकादिवानिलः ॥ ६ ॥
असद्रूपोपलम्भानामियं वस्तुस्वभावता ।
यत्स्वर्गवेदनं स्वप्नवन्ध्यापुत्रोपलम्भवत् ॥ ७ ॥
अविद्यमानमेवेदं जगद्यदनुभूयते ।
असद्रूपोपलम्भस्य सैषा वस्तुस्वभावता ॥ ८ ॥
असत्येष्वेव संसारेष्वास्तामर्थः कुतो भवेत् ।
स्वर्गापवर्गयोः शब्दादेव वन्ध्यासुतोपमौ ॥ ९ ॥

अज्ञानसे शून्य तथा शरदाकाशके सदृश अत्यन्त विशद तत्त्वज्ञ ज्ञेयरूप आत्मा ही है, यह श्रुतियोंमें जाना जाता है ॥ ५ ॥

सङ्कल्पमुक्त, पराधीनतासे रहित, भीतरी शीतलतासे युक्त शान्त तत्त्वदर्शीकी प्रणति, शुश्रूषा आदि द्वारा सङ्गति करनेसे वह पुरुषोंको ऐसे पवित्र (निष्पाप) कर देता है जैसे ब्रह्मलोकसे आया हुआ पवन ॥ ६ ॥

'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस पूर्वोक्त अंशका स्पष्टीकरण करके अब 'तेनासदेव सः' इस बचे अंशका स्पष्टीकरण करनेके लिए असद् वस्तुकी प्राप्तिका स्वरूप बतलाते हैं—'असद्रूपो०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

प्रत्येक पुरुषमें जो सद्रूप वस्तुके अज्ञान हैं, उनके स्वभावका वास्तविक स्वरूप स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञानकी तरह असत् सृष्टिके ज्ञानको उत्पन्न कर देना ही है ॥ ७ ॥

यह जगत् तो वास्तवमें असत् ही है, परन्तु उसकी जो उपलब्धि होती है, यही सद् आत्मस्वरूपके अज्ञानका असली स्वभाव है ॥ ८ ॥

'स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञानकी तरह' यह जो दृष्टान्त दिया गया है, इसकी समानता बतलाते हैं—'असत्ये०' इत्यादिसे ।

असत्यरूप ही संसारमें अर्थ रहे, यदि यह मान लिया जाय, तो इसपर प्रश्न यह है कि वह किससे उत्पन्न होगा ? अर्थात् क्या सत्य वस्तुसे या असत्य वस्तुसे । पहला पक्ष तो युक्त नहीं, क्योंकि सत्य वस्तु कूटस्थ है, अतः उससे अर्थकी उत्पत्ति हो नहीं सकती । यदि असत्य वस्तुसे मान लिया जाय, तो असत्यसे जो असत्यकी उत्पत्ति होगी, वह भी असत्य ही होगी । इस स्थितिमें उक्त अर्थका

जगद्ब्रह्मतया सत्यमनिर्मितमभावितम् ।
अनिष्ठितं चान्यथा तु नाहं नावगतं च तत् ॥ १० ॥
आत्मस्वभावविश्रान्तेरियं वस्तुस्वभावता ।
यदहन्तादिसर्गादि दुःखाद्यनुपलम्भता ॥ ११ ॥
क्षणाद्योजनलक्षान्तं प्राप्ते देशान्तरं चितः ।
चेतने यस्य यद्रूपं मार्गमध्ये निरञ्जनम् ॥ १२ ॥
अस्पन्दवातसदृशं खकोशाभासचिन्मयम् ।
अचेत्यं शान्तमुदितं लताविकसनोपमम् ॥ १३ ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य तत्स्वभावं विदुर्बुधाः ।
सर्गोपलम्भो गलति तत्रस्थस्य विवेकिनः ॥ १४ ॥

आधार कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य कूटस्थ है और असत् आश्रय नहीं है। इससे संसारके असत्यभूत होनेसे जब बन्ध और मोक्ष शब्द ही वन्ध्या-पुत्रके सदृश हैं, तब उनके अर्थोंकी सिद्धिकी तो कथा ही क्या ! ॥ ९ ॥

भद्र, यह जगत् ब्रह्मरूपसे सत्य है, वह न तो उत्पन्न हुआ है, न भावनाका विषय है और न किसी आधारमें स्थित ही है। जगत्को यदि ब्रह्मरूपसे सत्य न माना जाय, तो न मैं ही सत्य ठहर सकता हूँ और न देखा गया यह जगत् ही सत्य ठहर सकता है ॥ १० ॥

सत्-रूप वस्तुके अज्ञानका स्वभाव बतलाकर अब आत्मज्ञानमें प्राप्त विश्रान्तिका जो असली चिह्न है, उसे बतलाते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे ।

अहम्भाव आदि, सृष्टि आदि तथा दुःख आदिका ज्ञान न होना ही यानी अहम्भाव आदिकी निर्विषय चैतन्यमात्ररूपता ही आत्माके स्वभावमें प्राप्त हुई विश्रान्तिका असली चिह्न है ॥ ११ ॥

चितिकी निर्विषयता प्रसिद्ध नहीं है, यों शङ्का करनेवालेके प्रति 'देशाद् देशान्तरप्राप्तौ' इत्यादि श्लोकमें बतलाई गई चितिकी निर्विषयताप्रसिद्धिका स्मरण कराते हैं—'क्षणाद्' इत्यादिसे ।

शाखा आदि प्रदेशसे लेकर चन्द्रप्रदेश तकके लाखों योजनपर्यन्त विस्तृत प्रदेशमें जब चक्षुके द्वारा चाक्षुष वृत्तिका चैतन्य क्षणभरमें चला जाता है तब मार्गके बीचमें व्याप्त चितिका—अनावृत, स्पन्दशून्य वायुकी तरह निष्क्रिय, आकाशको जगमगानेवाला, चिन्मय, शान्त, लताविकासके सदृश सुन्दर जो सभी प्राणियों

सुषुप्ते स्वप्नधीर्नास्ति स्वप्ने नास्ति सुषुप्तधीः ।
सर्गनिर्वाणयोर्भ्रान्ती सुषुप्तस्वप्नयोरिव ॥ १५ ॥
भ्रान्तिवस्तुस्वभावोऽसौ न स्वप्नो न सुषुप्तता ।
न सर्गो न च निर्वाणं सत्यं शान्तमशेषतः ॥ १६ ॥
भ्रान्तिस्त्वसन्मात्रमयी प्रेक्षिता चेन्न लभ्यते ।
शुक्तिरूप्यमिवासत्यं किल सम्प्राप्यते कथम् ॥ १७ ॥
यन्न लब्धं च तन्नास्ति तेन भ्रान्तेरसंभवः ।
स्वभावादुपलम्भोऽन्यो नास्ति कस्य न कस्यचित् ॥ १८ ॥

अनुभवसे सिद्ध—विषयशून्य स्वभाव है, उस स्वभावको, पण्डित लोग जानते ही हैं, उस स्वभावमें स्थित विवेकीका सृष्टिज्ञान चूर-चूर हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

सुषुप्ति और स्वप्नमें जैसे एक दूसरेकी विषयता नहीं है, वैसे ही तुरीयमें भी जाग्रत् आदिकी विषयता नहीं है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यह कहते हैं—'सुषुप्ते' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिमें स्वप्नकी बुद्धि नहीं है और स्वप्नमें सुषुप्तिकी बुद्धि नहीं है, यह जैसे सबको ज्ञात है, वैसे ही सृष्टिमें मोक्षबुद्धि और मोक्षमें सृष्टिबुद्धि नहीं है यानी सुषुप्ति और स्वप्नकी बुद्धिके सदृश सर्ग और मोक्षकी बुद्धि है अर्थात् तुरीय मोक्षमें चितिकी सर्गादिविषयता रह ही नहीं सकती ॥ १५ ॥

सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिमूलक ही है, इसलिए वह परमार्थ नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'भ्रान्ति०' इत्यादिसे ।

यह स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिका ही एक स्वभाव है, इसलिए न तो स्वप्न, न सुषुप्ति, न सृष्टि और न मुक्ति ही है, किन्तु अशेष विभागोंसे शान्त परब्रह्म ही असली तत्त्व है ॥ १६ ॥

स्वप्नादि क्यों नहीं हैं, इसपर कहते हैं—'भ्रान्तिस्त्व०' इत्यादिसे ।

जो भ्रान्ति है उसका असली स्वरूप असदात्मक ही है, विचार करनेपर यदि उसका शुक्तिरूप्यके सदृश लाभ नहीं होता, तो स्वप्नादि असत्य पदार्थ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १७ ॥

भ्रान्तिका अर्थ यद्यपि भ्रान्तिसे भले ही न प्राप्त किया जा सकता हो, परन्तु

स्वभाव एव सर्वस्मै स्वदते किल सर्वदा ।
अनानैव हि नानेव किं वादैः संविभाव्यताम् ॥ १९ ॥
अस्वभावे महद्दुःखं स्वभावे केवलं शमः ।
इति बुद्ध्या विचार्यान्तर्यदिष्टं तद्विधीयताम् ॥ २० ॥
सूक्ष्मे बीजेऽस्त्यगः स्थूलो दृष्टमित्युपपद्यते ।
शिवे मूर्ते जगन्मूर्तमस्तीत्युत्तमसंकथा ॥ २१ ॥

दूसरे किसी उपलम्भसे तो प्राप्त किया जा सकता है, इसपर कहते हैं—'यभ्र०' इत्यादिसे ।

जो किसी कालमें लब्ध नहीं होता वह है ही नहीं, इसलिए भ्रान्तिका तीनों कालमें अस्तित्व नहीं है । भ्रान्तिका अर्थ भ्रान्तिभिन्न किसी अन्य उपलम्भ (ज्ञान) से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा उपलम्भ प्रमारूप ही होगा, परन्तु वह किसी भ्रान्तिविषय अर्थके साक्षीके स्वभावको छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

ऐसी स्थितिमें खूब विचार करनेपर अकेला साक्षिस्वभाव ही अपनेमें त्रिपुटीकी कल्पना कर प्रकाशित होता है दूसरा कुछ भी नहीं, यह कहते हैं—'स्वभाव' इत्यादिसे ।

स्त्रीके लिए उसका स्वभाव ही निरन्तर उत्तम प्रेमका भाजन बनकर प्रकाशित होता है । इसीसे एक ही वस्तु वह अनेक-सी भासती है । इसलिए अनेक वादोंसे समर्थन ही क्या किया जाय ॥ १९ ॥

उसको स्वभावभिन्न मानना ही संसाररूप दुःख है और कल्पनारहित अपनी आत्मामें स्थित रहना मोक्षरूप सुख है, यह कहते हैं—'अस्वभावे' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, साक्षिस्वभावसे अतिरिक्तकी कल्पना करनेपर ही संसारात्मक महान् दुःख है और साक्षिस्वभावमें निरन्तर स्थिति रखना मोक्षरूप सुख है । इसलिए आप अपनी बुद्धिसे अपनी आत्मामें विचारकर जिसे अपना इष्ट समझें, उसे ग्रहण करें ॥ २० ॥

इष्ट वस्तुके ग्रहणमें उपाय क्या है ? इस प्रश्नपर अध्यस्त संसारमें आत्म-रूपताका अवलोकन ही उपाय है, इस आशयसे सृष्टिके आरम्भसे ही सृष्टि और आत्माकी अभिन्न सत्ता बतलाते हैं—'सूक्ष्मे' इत्यादि ।

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यहन्तादयः परे ।
स्वरूपभूताः सलिले द्रवत्वमिव खात्मकाः ॥ २२ ॥
मूर्तो यथा स्वसदृशैः करोत्यवयवैः क्रियाः ।
आत्मभूतैस्तथा भूतैश्चिदाकाशमकर्तृ सत् ॥ २३ ॥
आत्मस्थादहमित्यादिरस्मदादेरसंसृतेः ।
शब्दोऽर्थभावमुक्तो यः पटहादिषु जायते ॥ २४ ॥
यद्भातं प्रेक्षया नास्ति तन्नास्त्येव निरन्तरम् ।
जगद्रूपमरूपात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २५ ॥

बाहर बड़ा जो वृक्ष दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्मभूत बीजमें है, ऐसा माननेमें जैसे प्रत्यक्षतः युक्ति है, ठीक इसी तरह अमूर्तिमान् शिवरूप आत्मामें भी मूर्त जगत् है, ऐसा माननेमें वेदादि शास्त्र और मुनियोंकी उक्ति है ॥ २१ ॥

इस तरह प्रत्यगात्मामें विद्यमान आध्यात्मिक भावोंकी भी पृथक् सत्ता नहीं है, इसका अपनेमें ही सब अनुभव करते हैं, यों कहते हैं—'रूपा०' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें विद्यमान जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही परब्रह्ममें विद्यमान बुद्धि अहन्ता आदि विषय जो हैं, वे सब आत्मरूप तथा चिदाकाशस्वरूप ही हैं ॥२२॥

जैसे अवयवी (घटादि) अपने सदृश यानी अपने अस्तित्वसे अलग अस्तित्व न रखनेवाले अवयवोंसे ही क्रिया करता है, वैसे ही स्वरूपभूत पृथ्वी आदि भूतोंसे ही यानी अपनी सत्तासे अलग सत्ता न रखनेवाले भूतोंसे ही चिदाकाश यह सब कुछ करता है, वास्तवमें तो वह सत् और अकर्ता ही है ॥ २३ ॥

अर्थव्यवहारके सदृश शब्दप्रयोग आदि व्यवहार भी आत्मसत्तासे पृथक् सत्ता न रखकर ही चेतनाधिष्ठित देह, वाक् आदिसे होता है, यह कहते हैं— 'आत्मस्थात्' इत्यादिसे ।

हम लोगोंके शरीर, जीभ आदि जड़ होनेके कारण किसी तरहका व्यवहार करनेके समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उनसे 'अहमादि' अर्थोंका प्रकाशक जो शब्द जीभ आदिके व्यापारसे होगा, वह चेतनसे अधिष्ठित जीभ आदिसे ही होगा, यह उस तरह मानना चाहिए; जिस तरह नर्तकीके पैरोंका संचालन एवं तालोंके ज्ञाता वादक पुरुषसे अधिष्ठित मृदङ्ग आदिमेंसे शब्द होता है ॥ २४ ॥

उक्त रीतिसे सम्पूर्ण व्यवहारका चैतन्यके साथ अभिन्नतासे जब निर्वाह

येषामस्ति जगत्स्वप्नस्ते स्वप्नपुरुषा मिथः ।
न सन्ति ह्यात्मनि मिथो नास्मास्वम्बरपुष्पवत् ॥ २६ ॥
मयि ब्रह्मैकरूपं ते शान्तमाकाशकोशवत् ।
वायोः स्पन्दैरिवाभिन्नैर्व्यवहारैश्च तन्मयि ॥ २७ ॥
अहं तु सन्मयस्तेषां स्वप्नः स्वप्नवतामिव ।
ते तु नूनमसन्तो मे सुषुप्तस्वप्नका इव ॥ २८ ॥

किया जा सकता है, तब वह अभेद आत्यन्तिक ही मानना चाहिए; अविचारसिद्ध अर्धजरतीय जड़तारूपभेद माननेसे फायदा ही क्या, यह कहते हैं—'यज्ज्ञातम्' इत्यादिसे ।

जो यह आपाततः देखा जाता है, वह विचारसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे निरन्तरके लिए अस्तित्व ही खो देता है । इसलिए जड़तारूप जो जगत्‌का रूप है, वह स्वरूपरहित है, इस स्थितिमें ब्रह्म आत्मा ही अपने स्वरूपमें स्थित है, यही स्वरूपावस्थिति है ॥ २५ ॥

असंसारी ब्रह्म अपने स्वभावमें भले ही रहे, इससे संसारियोंको क्या लाभ पहुँचा, इस तरहकी आशङ्का कर उनकी पुरुषार्थचिन्ता, वन्ध्याको अपने पुत्रके लिए राज्यप्राप्तिकी चिन्ता करनेके सदृश मिथ्या है, इस आशयसे कहते हैं—'येषाम०' इत्यादिसे ।

जिनकी दृष्टिमें जगत्-रूप स्वप्न भासता है, उन पुरुषोंका एक दूसरेकी भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिसे भी, जागरण और स्वप्नमें तत्-तत् स्वरूपमें अस्तित्व रहता ही नहीं और एक दूसरेके आत्मस्वरूप हुए हम लोगोंमें तो आकाशकुसुमके सदृश उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं है ॥ २६ ॥

हम लोगोंमें ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार जड़ अंशको लेकर तो आकाश-पुष्पके सदृश हैं और सच्चिद् अंशको लेकर तो हम लोगोंमें ब्रह्मस्वभावतासे विद्यमान हैं, यह कहते हैं—'मयि' इत्यादिसे ।

वायुके स्पन्दनके सदृश अपनेसे अभिन्न उन-उन स्वकीय व्यवहारोंके साथ वे स्वप्नपुरुष हममें विद्यमान हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार—ये दोनों शान्त परब्रह्मैकरूप ही हैं और वह ब्रह्म प्रत्यगात्म-स्वभाव मुझमें है ॥२७॥

दूसरा विशेष बतलाते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

तैस्तु यो व्यवहारो मे तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
ते यत्पश्यन्ति पश्यन्तु तत्तैरलमलं मम ॥ २९ ॥
अहमात्मनि नैवास्मि ब्रह्मसत्तेयमातता ।
त्वदर्थं समुदेतीव तथारूपैव वागियम् ॥ ३० ॥
अविरुद्धविरुद्धस्य शुद्धसंविन्मयात्मनः ।
न भोगेच्छा न मोक्षेच्छा हृदि स्फुरति तद्विदः ॥ ३१ ॥
स्वभावमात्रायत्तेऽस्मिन् बन्धमोक्षक्रमे नृणाम् ।
कदर्थनेत्यहो मोहाद्गोष्पदेऽप्युदधिभ्रमः ॥ ३२ ॥
स्वभावसाधने मोक्षेऽभावोपशमरूपिणि ।
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न च क्रियाः ॥ ३३ ॥

जैसे स्वप्नवालोंको स्वप्न सन्मय प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे मेरी देह भी सन्मय प्रतीत होती है। परन्तु ज्ञानियोंकी दृष्टिसे वे उस प्रकार असद्रूप हैं, जिस प्रकार सुषुप्तिस्थ पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्न ॥ २८ ॥

अनुग्रह, उपदेश आदि जो मेरा व्यवहार उनके साथ होता है, वह मेरी दृष्टिमें स्वस्वरूपमें स्थित परब्रह्मस्वरूप ही है। वे जो कुछ देखते हैं, उसे भले ही देखें, उनसे हमें किसी तरहके प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ॥ २९ ॥

भद्र, मैं वसिष्ठादिभावमें नहीं हूँ, किन्तु स्वस्वरूपसे परब्रह्म परमात्मामें ही हूँ। आपके लिए यह वसिष्ठ आदिके आकारसे व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो उदित हुई है। यह मेरी वाणी आदि भी आपके लिए ब्रह्मसत्ताविवर्तरूप ही है, परन्तु मेरी दृष्टिसे तो बिलकुल कुछ है ही नहीं ॥ ३० ॥

सभी वस्तुओंमें आनन्दैकरसात्मताके दर्शनसे विरुद्ध दुःखादि पदार्थ भी जिसको अविरुद्ध प्रतीत होते हैं ऐसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानीके हृदयमें न तो भोगोंकी इच्छा उठती है और न मोक्ष ही स्फुरित होता है ॥ ३१ ॥

मनुष्योंका बन्धनसे जो यह मुक्तिक्रम है वह तो केवल अपने अधीन है, फिर भी मोहसे (अविरुद्ध निरतिशयानन्दात्माके अपरिज्ञानसे ही) यह संसारपीड़ा उत्पन्न हुई है। आश्चर्य है कि गौके खुरमें ही समुद्रका भ्रम हो रहा है ॥ ३२ ॥

असत् दुःखोंके उपशमरूप तथा सुखरूप आत्मसाधनभूत मोक्षमें न तो धन

तैलबिन्दुर्भवत्युच्चैश्चक्रमप्पतितो यथा ।
तथाऽऽशु चेत्यसङ्कल्पे स्थिता भवति चिज्जगत् ॥ ३४ ॥
जाग्रति स्वप्नवृत्तान्तस्थितिर्यादृग्रसा स्मृतौ ।
तादृग्रसाऽहंत्वजगज्जालसंस्था विवेकिनः ॥ ३५ ॥
तेनैवाभ्यासयोगेन याति तत्तनुतां तथा ।
यथा नाहं न संसारः शान्तमेवाऽवशिष्यते ॥ ३६ ॥
यदा यदा स्वभावार्कः स्थितिमेति तदा तदा ।
भोगान्धकारो गलति न सन्नप्यनुभूयते ॥ ३७ ॥
मोहमहत्तारहितः
स्फुरति मृतौ भवति भासते च तथा ।

उपकार कर सकते हैं और न मित्र एवं न क्रियाएँ ही कुछ उपकार कर सकती हैं ॥ ३३ ॥

जैसे तेलका बिन्दु जलमें गिरकर नाना वर्णोंके चक्ररूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही विषयोंके संकल्पमें स्थित चिति तत्काल ही जगद्रूपमें परिणत हो जाती है ॥ ३४ ॥

ज्ञानसे बाधित हुआ संसार तो स्वप्नकी तरह स्मृतिकी एकमात्र लकीर बन जाता है, यह कहते हैं—'जाग्रति' इत्यादिसे ।

जाग्रतकालमें स्वप्नमें भासित वृत्तान्तकी स्थिति जिस तरहकी स्मृतिमें रहती है, उसी तरहकी स्थिति विवेकीको भी अज्ञानकालमें भासित अहङ्कारके साथ समस्त जगतकी ज्ञानदशामें होती है ॥ ३५ ॥

उक्त भूमिकाके अभ्यासरूप योगसे वह जगत्-जाल ऐसे क्षीणताको प्राप्त करता है, जैसे कि फिर न अहंकार और न संसार ही उत्पन्न हो सकता है, केवल शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ३६ ॥

तत्त्वदृष्टिसे परीक्षा करनेपर इस समय भी उसका विनाश और बाध जाना जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'यदा यदा' इत्यादिसे ।

जब-जब आत्मारूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशरूपमें स्थिति करता है, तब-तब यह संसाररूप अन्धकार बाधित हो जाता है, उसका अस्तित्व रहनेपर भी परिज्ञान नहीं होता ॥ ३७ ॥

भोगान्धकारकी (संसारान्धकारकी) निवृत्ति हो जानेपर बुद्धि आदि करणोंका

बुद्ध्यादिकरणनिकरो

यस्माद्दीपादिवालोकः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासुखभावविश्रान्तियोगोपदेशोनाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

—०—

चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य वस्तुनः ॥ १ ॥
अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिरातता ।
यदोदेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥ २ ॥

दल अज्ञानरूप आवरणसे एवं स्थूल अध्याससे (भ्रान्तिसे) रहित बन जाता है तथा ब्रह्माकारवृत्तिसे चमके हुए बोधसे चमकिला बन जाता है। यही कारण है कि उस समय स्फुरणसे, दीपके प्रकाशके सदृश, चारों ओर व्याप्त होकर ब्रह्मभूत होकर भासने लग जाता है ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

[न तो संसारदशामें ब्रह्मका भान होता है और न ब्रह्मदशामें संसारका ही भान होता है, परन्तु जीवन्मुक्तिमें क्रमशः दोनोंका भान होता है, यह वर्णन]

विद्वानोंका यह अनुभव है कि स्वतः स्वरूपसे शून्य बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओंका वास्तविक स्वरूप उसका साक्षिचैतन्य ही है, यह कहते हैं— 'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य और आभ्यन्तर विषय तथा बुद्धि आदि इन्द्रियोंके प्रकाशक निर्मल साक्षी चैतन्यको ही विद्वान् लोग स्वरूपशून्य जगद्-वस्तुका स्वरूप समझते हैं ॥ १ ॥

उसमें अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति बतलाते हैं—'अस्वभाव०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

यदा स्वभावविश्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥ ३ ॥
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनर्थायार्थसम्पत्तिरात्मनाऽऽत्मनि शाम्यताम् ॥ ४ ॥
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥ ५ ॥
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवाऽस्मि निरामयः ॥ ६ ॥

जब अपरिच्छिन्न वस्तु (ब्रह्म) स्वभावकी स्थिति अविद्याकृत परिच्छेदसे तथा उसके शरीररूपसे उदित हो जाती है, तब* यह सृष्टि भ्रमके सदृश प्रतिभासित होने लग जाती है ॥ २ ॥

व्यतिरेक दिखलाते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शान्तिरूप आत्म-विश्रान्ति अपनी स्थिति प्राप्त करती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपमें जब शान्तिरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह जगद्-रूप दृश्य ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्तिमें स्वप्न ॥ ३ ॥

यही कारण है कि ब्रह्मस्वरूपमें विश्रान्तिके विरोधी भोग आदि सबके सब अनर्थरूप ही हैं, यह, कहते हैं—'भोगा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये जितने भोग हैं वे सबके सब संसाररूप महारोग हैं, बन्धु लोग दृढ़ बन्धन हैं तथा यह सारी अर्थसम्पत्ति तो महान् अनर्थकी कारण है । इसलिए अपने-हीसे अपनी आत्मामें शान्ति लीजिये ॥ ४ ॥

ब्रह्मस्वरूपसे विरुद्ध भावना करना सृष्टि है तथा स्वभावात्मक ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कल्याण है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परम चिदाकाशरूप हो जाइये, शान्ति प्राप्त कीजिये ॥५॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभवका अभिनयकर पुरुषकी स्वायत्तता दिखलाते हैं—'नात्मानम०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं अपनेको यानी द्रष्टा आदि त्रिपुटीके भीतर सर्वप्रथम वसिष्ठसंज्ञक जीवको नहीं जानता और न दृश्य तथा इस जगत्के भ्रमको ही

* यह अन्वयोक्ति है ।

त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं स त्वंशब्दार्थजृम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाऽहं केवलं परमं नभः ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।
विभ्रमास्तव संजातकल्पाः स्पन्दा इवानिले ॥ ८ ॥
ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥ ९ ॥
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव ।
रूपं जानाति भारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ १० ॥

जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्ममें प्रविष्ट हो चुका हूँ। हे श्रीरामजी, मैं निर्विकार ब्रह्म ही हूँ ॥ ६ ॥

हे श्रीरामजी, 'तुम वसिष्ठ हो' इस 'त्वम्' शब्दके अर्थसे घटित त्वन्ताको भी 'त्वम्' शब्दार्थघटित आप ही देख रहे हैं, और मैं तो सबको केवल शान्त, परम चिदाकाशरूप ही देख रहा हूँ ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वायुमें स्पन्दनकी नाईं, परम चिदाकाशरूप ही ब्रह्ममें ये शब्दर्थादिरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थ आपमें भी विभ्रमस्वरूप ही उत्पन्न हैं, परमार्थतः वे उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उत्पन्न हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

द्वैतके साथ विद्वेष होनेके कारण मुझे द्वैतका अदर्शन है, ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु द्वैतदर्शन और द्वैतादर्शन दो एक साथ नहीं हो सकते, यह कहते हैं—'ब्रह्मात्मा' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मस्वरूपमें स्थित पुरुष सृष्टिको नहीं जानता और सृष्टिमें स्थित पुरुष ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानता। जैसे कि सुषुप्त पुरुष स्वप्नको नहीं जानता तथा स्वप्नमें स्थित पुरुष सुषुप्तिको नहीं जानता ॥ ९ ॥

जिसका कभी दर्शन नहीं होता, ऐसे पदार्थके विषयमें उपदेशकी प्रसिद्धि कैसे ? इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रबुद्धो' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी प्रशान्तचित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म और जगत्के प्रकाशस्वरूप रूपको क्रमशः ऐसे जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नके द्रष्टा पुरुष क्रमशः उनका रूप जानते हैं, इसीलिए वह उपदेष्टा होता है ॥ १० ॥

यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
संशाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥ ११ ॥
स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च सङ्गरः ।
सदसद्भ्रान्ततामात्रस्तथाहन्त्वजगद्भ्रमः ॥ १२ ॥

आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।
न च शून्यं नाशून्यं
भ्रान्तिरियं भासते सेति ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासु आत्मविश्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥



वह भी उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें क्रमशः द्वैतादर्शनसे आगे चलकर बिलकुल प्रशान्त हो जाता है, यह कहते हैं—'यथाभूतम्' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सम्पूर्णजगत्को यथास्थित ही जानता है। तथा शरत्कालके मेघके तुल्य शुद्धात्मा हो बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिसे द्वैत उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता है, यह दो दृष्टान्तोंसे कहते हैं—'स्मृतिस्थः' इत्यादिसे ।

जैसे किसीके कहनेपर स्मृति या कल्पनामें स्थित युद्ध भासता है वैसे ही विवेकी पुरुषको सत् और असत्की एकमात्र भ्रान्तिरूप अहन्ता आदि जगद्-भ्रम भासता है ॥ १२ ॥

जो भलीभाँति दिखाई दे रही जगत्की माया परमार्थसत्यरूप आत्मामें तथा अत्यन्त असद्रूप शून्यमें नहीं है एवं जिसका द्रष्टा कोई जीव भी नहीं है, ऐसी शून्य और अशून्यसे विलक्षण यह भ्रान्ति अनिर्वचनीय ही भासती है ॥ १३ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त



एकचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्वभावस्वभावोऽयं सर्वोहन्तादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥ १ ॥
यत्रादित्यो भवेत्तत्र यथाऽऽलोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥ २ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
जगदग्राह्यसंभारमभित्तौ चित्तमुत्थितम् ॥ ३ ॥

इकतालीसवाँ सर्ग

[अविद्याके स्वभावसे त्रिलोकीरूपी कठपुतलीके नृत्य तथा एकमात्र आत्मस्वभावसे निर्वाणकी प्राप्तिका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या-स्वभावसे युक्त हुआ यह आत्मा ही सम्पूर्ण जगत्का रूप धरकर अहंकार आदिको जाननेवाला बन जाता है। इस तरह अनिर्वाण-स्वरूप हुए इस आत्माको आप स्वयं ही शास्त्रीय उपायों द्वारा उत्पन्न हुई विद्यासे आविर्भूत अद्वितीय, स्वप्रकाश पूर्णानन्दस्वरूप आत्माके स्वभावसे निर्वाण-स्वरूप बना दीजिये ॥ १ ॥

वह विद्या तो विद्वानोंके साथ निरन्तर समागम रखनेसे उत्पन्न विवेकज्ञान जनित वैराग्यसे ही सिद्ध होती है, इस आशयसे कहते हैं—'यत्र' इत्यादि।

जैसे जहाँ सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्य होगा, यह जैसे अकाट्य सिद्धान्त है, वैसे ही जहाँ विषयोंसे पूर्णतया वैराग्य होगा, वहाँ अवश्य तत्त्वज्ञान-रूप प्रकाश होगा ॥ २ ॥

वैराग्यसिद्धिके लिए 'अविद्यास्वभावसे ही शुद्ध ब्रह्ममें जगत्-रूपी चित्रका अध्यास होता है', यह वर्णन करते हैं—'अकर्तृ०' इत्यादिसे।

कर्ता, कर्म तथा करण आदि सामग्रीसे शून्य ; द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य आदिसे रहित और उपादेय पदार्थोंसे शून्य यह जगत्-रूपी चित्र बिना भित्ति आदि आधारके ही आविर्भूत है ॥ ३ ॥

न चोत्थितं किञ्च न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमव्ययमेव तत् ॥ ४ ॥
चिच्चमत्कारमात्रात्मकल्पनारङ्गरञ्जनाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते खे जगच्चित्रपुत्रिकाः ॥ ५ ॥
रसभावविकाराढ्यं नृत्यन्त्यभिनयैर्नवैः ।
परमाणुप्रतिप्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरात्मिकाः ॥ ६ ॥
सर्वर्तुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
पातालपादलतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ॥ ७ ॥
चन्द्रार्कलोलनयनास्तारोत्करतनूरुहाः ।
सप्तलोकाङ्गलतिकाः परितोऽच्छाम्बराम्बराः ॥ ८ ॥

विद्या-स्वभावसे उस जगत्-रूपी चित्रका खण्डन करके अब निर्वाणका स्वरूप दिखलाते हैं—'न चो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस रूपसे स्थित यह दृश्य चित्र है, वह ब्रह्ममें न तो कभी कुछ उत्पन्न ही हुआ और न शान्त ब्रह्ममें शान्त ही हुआ । असलमें वह निर्विकार सत्य, अविनाशी परब्रह्मरूप ही है ॥ ४ ॥

त्रिजगत्-रूपी नाच रही पुतलियोंके रूपमें मुख्य अविद्या-स्वभावका वर्णन करते हैं—'चिच्चमत्कार०' इत्यादिसे ।

चितिके एकमात्र चमत्कारस्वरूप जीवोंके सङ्कल्पात्मक नृत्यमण्डपमें शृङ्गार आदि नाना रसोंसे परिपूर्ण जगत्-चित्रकी पुतलियाँ चिदाकाशमें नाच रही हैं । हे श्रीरामजी, इनकी गणना कौन कर सकता है ॥ ५ ॥

शृङ्गार आदि रसों, रति आदि स्थायिभावों तथा कम्प, स्वेद आदि सञ्चारिभावोंसे परिपूर्ण नये-नये अभिनयोंसे परमाणुकी मात्राओंके भी अन्दर विद्यमान चिदाकाशमें चिदाकाशरूप पुतलियाँ प्रायः नृत्य कर रही हैं ॥ ६ ॥

सभी ऋतुएँ इनके सिरके आभूषण हैं, जिन्हें ये धारण किये हुई हैं, दिशारूपी बाहुलतिकाओंसे वे सुशोभित हैं, पाताल इनकी पादलतिका हैं, ब्रह्मलोक इनकी कन्धराएँ हैं, चन्द्र और सूर्य इनकी चञ्चल आँखें हैं, तारोंके समूह इनके रोमसमूह हैं, सातो लोक इनकी अङ्गलतिका है, सभी ओरसे अत्यन्त निर्मल आकाश ही तो इनकी सफेद साड़ी है, सभी द्वीप तथा समुद्र ही इनके हाथके

द्वीपाम्बुराशिवलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
भूतभारचलज्जीनप्रवहत्प्राणमारुताः ॥ ९ ॥
वनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १० ॥
त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेपनम् ॥ ११ ॥
अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
असुषुप्तस्थिता स्वापे स्वाप्नस्येव सतीव सा ॥ १२ ॥
असुप्तसुषुप्तस्थः स्वभावं भावयन् भव ।
जाग्रत्यपि गतव्यग्रो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३ ॥

सुन्दर कंकण हैं, लोकालोक पर्वत इनकी करधनी है, भौतिक शरीरोंके धारण-पोषण आदि निमित्तसे चल-फिर रहे जीव ही इनके बह रहे प्राणमारुत हैं, वन तथा उपवनोंकी विचित्र रचनारूपी हारों और केयूरोंसे ये खूब भूषित हैं, पुराण और वेद ही तो इनके वचन हैं तथा तत्-तत क्रियाओंके फलरूप सुख और नानाविध दुःख ही इनके विलास हैं। हे श्रीरामजी, इस तरहकी त्रिलोकी-रूपी पुतलियोंका जो नृत्य आपके सामने दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मरूपी जलका द्रवत्व या ब्रह्मरूपी वायुका संचलन ही है ॥ ७—११ ॥

सुषुप्तिके अवसरमें सुषुप्ति-स्वभावमें स्थित न हुई चिति स्वप्नकी जैसे कारण बन जाती है वैसे ही अस्वभावमें (अविद्यामें) स्थित हुई यह चिति ही इस नृत्यकी कारण बन गयी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरहका कारणात्मक ब्रह्म श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥

इस तरह अविद्याके स्वभावका वर्णन करके अब ब्रह्मात्मैक्यस्वभावसे निर्वाण-रूप बनानेमें उपाय बतलाते हैं—'असुषुप्त०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सांसारिक व्याकुलता छोड़कर आप पारमार्थिक स्वभावकी भावना करते हुए, जाग्रत्कालमें भी असुषुप्त-सुषुप्त पदमें यानी अज्ञानके नाशसे असुषुप्तरूप तथा सम्पूर्ण द्वैतका उपसंहारसे सुषुप्तरूप जो तुर्यपद है उसमें स्थित हो जाइये, इस जगद्रूपी स्वप्नका आश्रय मत कीजिये ॥ १३ ॥

यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।
तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तया ॥ १५ ॥
कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णे पूर्णं व्यवस्थितम् ।
द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६ ॥
सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्गात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥ १७ ॥
सुरत्नजठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
प्रतिबिम्बमिव क्षुब्धमप्यक्षुब्धमसच्च सत् ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानसे जाग्रत् कालमें जो राग तथा वासनासे शून्य सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, उसीको तत्त्वज्ञानी लोग ब्रह्मस्वभाव कहते हैं तथा उसी स्वरूपमें भलीभांति परिनिष्ठित हो जानेको मुक्ति कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्रह्मस्वरूपमें निष्ठा होनेपर व्यवहारकालमें भी ज्ञानी पुरुषको यह सारा जगत् चिदेकरसरूप ही भासता है, यह कहते हैं—'अकर्तृकर्म०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मरूपमें भलीभांति निष्ठा प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुषको व्यवहारकालमें जगत्-रूपसे स्थित कर्ता, कर्म और करणसे शून्य; दृश्य, दर्शन, और द्रष्टासे रहित तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे रहित ब्रह्मरूप ही है ॥ १५ ॥

उस अवस्थामें ज्ञानीको प्रकाशमान वस्तुमें स्थित प्रकाशमान ही वस्तु, पूर्णमें स्थित पूर्ण ही वस्तु तथा द्वित्व और एकत्वसे रहित (शोधित) प्रत्यगात्मामें द्वित्व-एकत्व रहित (शोधित) ब्रह्मरूप वस्तु ही अखण्ड एकरसरूपसे ही भासित होती है ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः सृष्टिरूपमें स्थित होनेपर भी आकाशकोशके सदृश शान्त एवं सत्य आत्मा ही अपने सत्यस्वरूपमें पत्थरके उदरके सदृश स्वयं स्थित है ॥ १७ ॥

पत्थरके उदरके सदृश, ऐसा कहनेसे उसमें अप्रकाशस्वभावताकी जो भ्रान्ति हो रही है, उसका खण्डन करते हैं—'सुरत्न०' इत्यादिसे ।

भविष्यन्नवनिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
ब्रह्म बृंहितभारूपमभेदीकृतमानसम् ॥ १९ ॥
यथा सङ्कल्पनगरं सङ्कल्पान्नैव भिद्यते ।
तथाऽयं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥ २० ॥
हेमपीठमिवाऽनेकभविष्यत्सन्निवेशवत् ।
लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥ २१ ॥
अजस्रनाशोत्पादाढ्यमेकरूपमनामयम् ।
अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥ २२ ॥
ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सुन्दर रत्नशिलाके उदराकृतिके सदृश प्रकाशमय है, घन होनेपर भी आकाशकी तरह है, जगत्-प्रतिबिम्बको पाकर क्षुब्ध-सा स्थित होनेपर भी वस्तुतः वह अक्षुब्ध है तथा जगद्-रूपसे असत् प्रतीत होनेपर भी वह सत्स्वरूप ही स्थित रहता है ॥ १८ ॥

भविष्यमें जिस नगरका नवीन निर्माण करना होता है, उसका पहले चित्तमें ही कल्पनारूपसे अस्तित्व रहता है, इस तरहका नगर जैसे चित्तस्वरूप है, वैसे ही सामने स्थित यह जगत् पूर्ण प्रकाशात्मक अपने स्वरूपमें ब्रह्मरूप ही है, जिसमें कि मनको एकरस बना दिया गया है ॥ १९ ॥

जैसे सङ्कल्पका नगर सङ्कल्पसे भिन्न नहीं है, वैसे ही यह जगत्का आभास भी परमार्थरूप परब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ २० ॥

भविष्यमें होनेवाली अनेक तरहकी जिसमें नूतन-नूतन रचनाएँ विद्यमान हैं ऐसे चौकोण सुवर्णपिण्डके समान अनेक तरहके विस्तारोंसे परिपूर्ण दिखाई दे रहा भी यह जगत् शान्त अविनाशी ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

यह निरन्तर नाश और उत्पत्तिसे पूर्ण रहते हुए भी नाश और उत्पत्तिसे वर्जित है, अनेक-सा भासित हो रहा भी एकरूप है यानी अजर, भास्वर तथा परब्रह्म परमात्मरूपसे स्थित है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब यह उदित सृष्टिरूप वस्तु

व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रबुद्धे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वरूपविश्रान्त्यर्थमुपदेशकरणं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्तवत्कचनं शान्ते यत्तत्तस्मान्न भिद्यते ।
अव्याकृतामलतया क्वातः सर्गादिसम्भवः ॥ १ ॥

उत्पत्ति-विनाशसे रहित हो जाती है यानी तत्त्वज्ञको उस समय यह भान होता है कि सृष्टि न तो कभी उत्पन्न हुई और न नष्ट ही हुई । उस दशामें उसे पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और अकेला आनन्दघन ब्रह्म ही अपने अद्वैतस्वभावके प्रभावसे भासने लग जाता है । जैसे आकाशमें भ्रमवश प्रतीत हो रहे केशोण्ड्रक, गन्धर्वनगर, तलमलिनता आदिके स्वभावका जब बाध हो जाता है, तब पुरुषको हठात् वह शून्यस्वभावसे भासने लग जाता है, ऐसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए ॥ २३ ॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

[पुनः विश्व और विश्वेश्वरकी एकताका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा स्वात्मभूत परमेश्वर ही विवेक द्वारा पूजनीय हैं, यह कथन]

'जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इस पूर्वोक्तका अनुभव करानेके लिए जगत्की भिन्नता-प्रतीतिमें हेतुभूत चित्त तथा चितिके भेदका निरास करते हैं— 'चित्तवत्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शान्त कूटस्थ आत्मामें जो चित्त-सा प्रकाश होता है वह उस प्रकाशरूप चिदात्मासे भिन्न नहीं है, अतः

चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्तिखे स्थिते ।
रूपालोकमनस्कारसंविदोऽम्बुद्रवोर्मयः ॥ २ ॥
निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥ ३ ॥
द्रवत्वमिव कीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥ ४ ॥

जगत् आदि किसीका कहीं संभव नहीं है। यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यही है कि वह अव्याकृत और निर्मल है। सार यह है—नाम और रूपोंके भेदसे ही तो इस संसारमें भेदकी प्रसिद्धि है। परन्तु यह भेद नाम और रूपोंके निर्माणके पहले ही उत्पन्न हुए जीवभावके उपाधिभूत चित्तमें हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय बना ही नहीं है। सूक्ष्म तेज, जल, तथा पृथ्वीरूप लिङ्ग-सृष्टिके अनन्तर 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिमें उसका निर्माण सुना जाता है। अपिच, चित्तके निर्मल होनेके कारण भी उसका चितिसे भेद नहीं है। चिदात्मा और चित्त दोनों निर्मल हैं। प्रभा और आकाशमें जैसे कोई प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, वैसे ही निर्मल इन दोनोंमें कोई भी प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, ऐसी स्थितिमें चिति एवं चित्तका भेद ही कहां ॥ १ ॥

इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'चित्तदीपे' इत्यादिसे।

कूटस्थ प्रत्यगात्मारूप आकाशमें जो बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका प्रकाशन होता है, वह एक तरहसे मानो जलरूप द्रवकी लहरें हैं, वे मृगतृष्णाजलकी नाईं मिथ्या ही भासित होती हैं। चित्तरूपी सूर्यके अस्त हो जानेपर वे भी विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

जगत्को अपनी सत्तामें चितिसे अतिरिक्त दूसरे किसी कारणकी अपेक्षा ही नहीं है, इससे भी यह जगत् चितिरूप ही है, इसका दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

किसी कारणकी अपेक्षा किये बिना जैसे वायुमें स्पन्दन होता है या जैसे प्रभाका प्रसार होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें यह जगत है ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे जलमें द्रवत्व, आकाशमें शून्यता और वायुमें स्पन्दता

महाचिति महाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
तच्चित्त्वमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥ ५ ॥

यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
यथा प्रस्पन्दनं वायौ महाचिति तथा जगत् ॥ ६ ॥

वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चितिः ।
न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र सम्भवः ॥ ७ ॥

अविवेकविवेकाभ्यां भासुरं भङ्गुरं जगत् ।
बोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभङ्गुरम् ॥ ८ ॥

है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें यह कोई अनिर्वचनीय आत्माका विवर्तरूप जगत् है ॥ ४ ॥

जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें जैसे चित्त आदिका आत्मामें हुआ प्रकाश आत्मासे अभिन्न है, वैसे ब्रह्ममें मायाधीन आकाशादिका हुआ प्रकाश भी ब्रह्मसे अभिन्न है, इस आशयसे उन्हीं उपर्युक्त दृष्टान्तोंके द्वारा फिर अभेदका उपपादन करते हैं—'महाचिति' इत्यादिसे ।

महाचिद्रूप महाकाशमें जो यह जगत् भासता है वह चिद्रूप ही, मणिमें निर्मलताकी नाईं, स्फुरित होता है ॥ ५ ॥

जैसे जलमें द्रवता, आकाशमें शून्यता, वायुमें स्पन्दता है, वैसे ही महाचितिमें यह जगत् है ॥ ६ ॥

स्फुरणमें भी चितिसे अतिरिक्त किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी उसका चितिसे अभेद है, इस आशयसे कहते हैं—'वेत्ति' इत्यादिसे ।

जैसे वायु स्पन्दनको स्वस्वरूप जानती है वैसे ही चिति भी जगत्को अपना स्वरूप ही समझती है । इसलिए द्वैत और ऐक्य आदि भेदोंका यहां तनिक भी अवसर नहीं है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी, यह सारा संसार अविवेकसे चमकीला तथा विवेकसे नश्वर है । परमार्थ वस्तुका बोध हो जानेपर तो न यह चमकीला दीखता है और न विनश्वर ही प्रतीत होता है । उस समय तो यह एकमात्र सद्रूप परब्रह्म ही बनकर अवशिष्ट रह जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात् ।
नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥ ९ ॥
तत्कस्य चिच्छिवं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिज्ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १० ॥
तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
स्वसंस्थमेव ज्ञेयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥ ११ ॥
चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥ १२ ॥

तत्त्वज्ञानसे जो निर्णीत हुआ, उसका वर्णन करते हैं—'ज्ञप्तिमात्रा०' इत्यादिसे ।

ज्ञानमात्र, शुद्ध, आदि-मध्य और अन्तसे रहित महाचिन्मात्ररूपी परब्रह्मके सिवा और कुछ दूसरा रहता ही नहीं, यह तत्त्वज्ञानसे निर्णीत हुआ है ॥ ९ ॥

उस स्वरूपके विषयमें वेदोंका अनुसरण करनेवाले और न करनेवाले विचारशील वादियोंकी यथार्थ और अयथार्थरूपोंसे अनेक कल्पनाएँ हैं, यह कहते हैं—'तत्कस्यचिच्छिवम्' इत्यादिसे ।

वह किसीके मतमें शान्त शिव, किसीके मतमें शाश्वत ब्रह्म, किसीके मतमें शून्यतारूप और किसीके मतमें वह ज्ञानरूप है ॥ १० ॥

उसीमें अनादि अविद्या आदि दृश्यप्रपञ्चका अध्यास होता है, यह कहते हैं—'तदनन्ता०' इत्यादिसे ।

अनन्तस्वरूप चेतनात्मक वही अपने आपको विषयस्वरूप-सा समझता हुआ यानी भावना करता हुआ स्वस्वरूपमें स्थित ही विषयरूप एवं अज्ञानी-सा बन जाता है ॥ ११ ॥

जितने पदार्थ अध्याससे प्रतीत होते हैं उनका प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्यके बलसे ही होता है, इसलिए विषयोंकी सत्ता अधिष्ठानभूत चेतनके बिना नहीं हो सकती और सत्ताके बिना विषयात्मक चित्तरूपता नहीं हो सकती, जैसे शून्यस्वरूप कूटस्थ आकाशके बिना दूसरा कोई वायुका कारण नहीं है और वायुके बिना स्पन्दनोंका दूसरा कोई कारण नहीं है, ठीक ऐसे ही यहां भी बात है ॥ १२ ॥

तथा महाचितीच्छायाः सर्गसंविचिवृत्तिषु ।
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥ १३ ॥

इत्यत्रार्थो भविष्यत्सद् द्वित्वैकत्वास्तितावशात् ।
कोऽत्र कल्पयिता द्वित्वमेकत्वं वा महाम्बरे ।
विष्वग्विश्वमपारैकपरमाकाशकोशता ॥ १४ ॥

यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शाब्दमेव न वास्तवम् ।
विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवासन्मयात्मकम् ॥ १५ ॥

सदेवासम्भवद्द्वित्वं महाचिन्मात्रकं च यत् ।
विश्वाभासं तदेवेदं न विश्वं सन्न विश्वता ॥ १६ ॥

तथा महाचैतन्यके सङ्कल्पसे जायमान एवं निरन्तर ब्रह्मसत्ताके बलपर अपनी सत्ता रखनेवाले सृष्टि-भ्रमोंमें महाधिष्ठानभूत ब्रह्मकी अपेक्षासे सदा सत्ता है, और स्वरूपतः असत्ता है । इस तरहका निरूपण 'सदेव सोम्येदम०' इत्यादि श्रुतिमें है । इस विषयमें दूसरे किसी तर्ककी अपेक्षा नहीं है ॥ १३ ॥

चित् और जड़का द्वैत एवं द्वैतका कारण एकत्व—इनका स्वतः अस्तित्व तथा इसी अस्तित्वके आधारपर सृष्टि-भ्रमोंका अस्तित्व मानना चाहिए, यह बात मानी जा सकती है, परन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाशमें द्वित्व-एकत्वका कोई समर्थन करनेवाला नहीं है और जड़ वस्तुओंमें तो वैसा समर्थन करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता । [इन सब तर्कोंसे निचोड़ यह निकला कि आकाशके द्वैतकी अप्रसिद्धिके सदृश तथा स्पन्दन एवं वायुके भेदकी अप्रसिद्धिके सदृश विश्व और विश्वेश्वरके भेदकी भी अप्रसिद्धि है, यह कहते हैं—'विष्वक्'से] सम्पूर्ण विश्व असीम, एक परमात्माका स्वरूपभूत ही है ॥१४॥

जैसे वायु और स्पन्दनका भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वरका भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं, असलमें असदात्मक ही है ॥ १५ ॥

जिसमें द्वैतकी संभावना नहीं है, जो तीनों कालमें सत्स्वरूप ही है और महाचेतनरूप है, वही विश्वके रूपमें भासता है, असलमें न विश्व है और न विश्वका कोई स्वरूप ही है ॥ १६ ॥

देशकालादिमत्त्वेन कदाचिद्धेम्नि सत्यता ।
कटकत्वस्य भिन्नस्य विश्वस्य च तथा परे ॥ १७ ॥
द्वित्वैक्यासम्भवे चात्र कार्यकारणता कुतः ।
स्याच्चेत्तत्कल्पनामात्रमेवैतन्नान्यवस्तुता ॥ १८ ॥
शून्यता नभसीवात्र द्रवत्वमिव चाम्भसि ।
खे खलेखाप्यभिन्नेव किलास्ति जगदादिता ॥ १९ ॥
यद्रूपं ब्रह्म तद्रूपं जगत्क्वाऽत्र द्वितैकते ।
यद्रूपं व्योम तद्रूपमेवं शून्यं किलाखिलम् ॥ २० ॥

अथवा ब्रह्मदृष्टिसे असत्य भी विश्वकी उसके कार्यभूत छोटे-छोटे देश-कालकी अपेक्षा बड़े-बड़े देश-कालके सम्बन्धसे सत्ता है, इस आशङ्काका परिहार करते हैं—'देशकालादि०' इत्यादिसे ।

कोई लोग कहते हैं कि कार्यरूपसे भिन्न कटकरूपकी अपेक्षा अधिक देश-कालके सम्बन्धसे सुवर्णमें जैसे कादाचित्क सत्यता है, वैसे ही कार्यकी अपेक्षा अधिक देशकालके सम्बन्धसे विश्वमें भी सत्यता हो सकती है ॥ १७ ॥

परन्तु यह तब होता, जब कि कार्य और कारणका भेद सिद्ध होता, लेकिन वही सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'द्वित्वैक्या०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वित्व और ऐक्यके ही असम्भवसे यहां न कोई कार्यरूप है और न कोई कारणरूप ही है । [यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लिया जाय, तो भी काल्पनिक भेदसे सत्यताका निर्वाह नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'स्याच्चेत्'से ।] यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लें तो भी परमात्मासे भिन्न यह संसार एकमात्र काल्पनिक ही सिद्ध होगा; इससे उस परमात्मासे भिन्न दूसरी वस्तु सिद्ध नहीं होगी ॥ १८ ॥

जैसे कि आकाशमें शून्यता है और जैसे जलमें द्रवत्व है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मामें विश्व है । [अत्यन्त अभेदमें भी जैसे 'आकाशमें आकाशकी रेखा है' इस तरहकी भेदकल्पना देखी जाती है वैसे ही इस जगत्‌के विषयमें भी होगी, यह कहते हैं—'खे खलेखा०' से ।] अत्यन्त अभेद होनेपर भी जैसे आकाशमें आकाशकी रेखा अज्ञानदृष्टिसे देखी जाती है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मामें जगदादिका रूप अज्ञानियोंकी दृष्टिसे देखा जाता है ॥ १९ ॥

ब्रह्मका जो रूप है वही रूप जगत्‌का भी है, इससे द्वैत और ऐक्यकी यहां

एकात्मनि तते स्वच्छे चिन्मात्रे सर्वरूपिणि ।
शिलापुत्रकसेनायां पाषाणत्व इवास्थिते ॥ २१ ॥
कार्यकारणवैचित्र्यं कथं सम्भवति क्व वा ।
कथमव्योमता व्योम्नि द्वितीयासम्भवाद्भवेत् ॥ २२ ॥
प्रतिभात्मैव भारूपो भाति सर्गो महाचिति ।
पुत्रिकेवोपलोत्कीर्णा तन्मयत्वात्तदात्मिका ॥ २३ ॥
साधो यथास्थितस्यैवं बुद्ध्वा विश्वं प्रलीयते ।
काष्ठमौनदशाभासं संसारमवशिष्यते ॥ २४ ॥
यथा निमीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २५ ॥

आपत्ति ही नहीं हो सकती । आकाशसे भिन्न-सी कल्पित शून्य आकाशकी रेखा जिस रूपकी रहती है यानी रेखाशब्दसे वाच्य आकाश जिस रूपका रहता है, ठीक उसी रूपका यह सारा जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न-सा कल्पित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थितिमें एकात्मा, व्यापक, स्वच्छ, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्माके, पत्थरमें खुदी गई सेनाके सदृश पत्थर-रूपसे स्थित रहते, कार्य-कारणकी विचित्रता कहाँ कैसे संभव हो सकती है । द्वितीयका संभव न होनेसे चिदाकाशमें उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तुकी संभावना नहीं हो सकती ॥ २०–२२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रतिभारूप ही यह सृष्टि प्रतिभारूपसे महाचेतनमें ऐसे भासती है, जैसे पाषाणमें खुदी हुई प्रतिमा पाषाणरूप होनेके कारण पाषाणमय भासती है । हे साधो, यथार्थभूत वास्तविक ब्रह्मका तत्त्वज्ञान हो जानेसे इस विश्वका विलय हो जाता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर सब चेष्टाओंसे शून्य अवस्थाके द्वारा स्फुरित हो रहा ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारभ्रमको नष्ट करके अवशिष्ट रह जाता है ॥२३,२४ ॥

भावनारूप मनकी एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न संसारभ्रम भावनात्याग एवं कल्पनारहित स्थितिसे ही विनष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

यद्यपि न तो कुछ वस्तु है और न कोई सामने पदार्थ ही है, तथापि एकमात्र

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

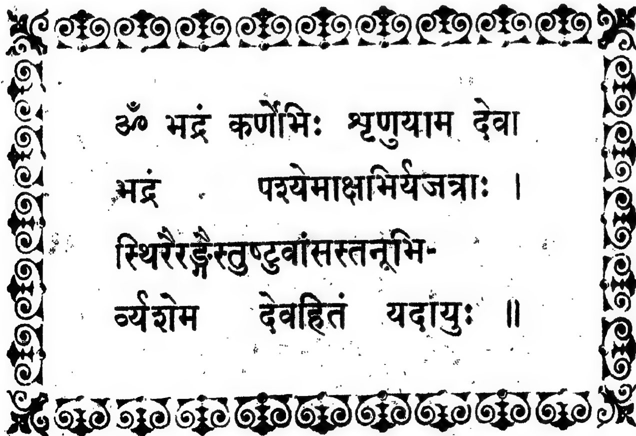




अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १४ } चैत्र, वैशाख २००४ { अङ्क ३,४



ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीभगवत्स्तुतिः

जय देव चिदानन्द सुधासिन्धो जगत्पते ।
सदासद्भावनासङ्कल्लोलानन्तवैभव ॥ १ ॥
अद्वैतवासनामत्या मलत्रयविवर्जित ।
जितेन्द्रियपराधीन समाधिप्राप्यविग्रह ॥ २ ॥
निरुपाधे विनिर्मुक्त निराकार निरामय ।
निःसीम निरहङ्कार निरावरण निर्गुण ॥ ३ ॥
शरणागतसंत्राणप्रवीणचरणाम्बुज ।
भीमभालमहाव्यालज्वालादग्धमनोभव ॥ ४ ॥
कुठारभिन्नदैत्येन्द्र गण्डूषितमहाविभो ।
त्रिपुरप्रमदाभालसिन्दूरोद्धूलिमार्जन ॥ ५ ॥
कात्यायनीकुचाम्भोजवरकुङ्कुमचर्चित ।
नमः प्रमाणदूराय नमः प्रामाण्यरूपिणे ॥ ६ ॥
नमश्चैतन्यनाथाय नमस्त्रैलोक्यरूपिणे ।
बन्दे तव पदाम्भोजं योगिप्रवरचुम्बितम् ॥ ७ ॥
अपारभवपापाब्धिपारावतरणाद्भुतम् ।
वाचस्पतिरपि स्तोत्रे भवतो न प्रगल्भते ॥ ८ ॥
सहस्रवदनस्यापि फणीन्द्रस्य न चातुरी ।
त्वद्वर्णने महादेव कोऽहमल्पमतिः खगः ॥ ९ ॥

—श्रीपद्मपुराणान्तर्गता ।

योगवासिष्ठ

अनुवादक—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

विषय-सूची

(

तथैवोन्मीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २६ ॥

भावनोपशमं कृत्वा शिलीभूय यथास्थितम् ।
अशिलीभूतमेवान्तः स्वभावं सममास्यताम् ॥ २७ ॥

आविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः ।
बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः ॥ २८ ॥

विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ।
रुद्रोपेन्द्रादिपूजाऽत्र जरत्तृणलवायते ॥ २९ ॥

विचारशमसत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः ।
सद्यो मोक्षफलः साधो स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ ३० ॥

भावनाके बलपर आँखें बन्द कर पड़े हुए पुरुषको स्वप्नके जाग्रत्कालमें जैसे बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका भ्रम होता है वैसे ही यद्यपि न कुछ वस्तु है न सामने कोई पदार्थ ही है तथापि भावनाके बलपर आँखें खुली रखकर बैठे हुए पुरुषको जाग्रद्रूप स्वप्नमें बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयोंका भ्रम होता है ॥२५,२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भावनाको शान्त करके पाषाणके समान निश्चल होकर तथा चिदेकरस होनेसे शिलासे विलक्षण भीतरके अशिलाभूत यथास्थित आत्म-स्वभावका अवलम्बन करके एकरूपसे स्थित रहिये ॥ २७ ॥

उस तरहकी स्थिति बनानेके लिए अनुकूल विवेक-वैराग्य आदि साधनोंका अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वरकी सर्वश्रेष्ठ पूजा है, यह कहते हैं—'आविवेको-पहारेण' इत्यादिसे।

हे श्रीरामभद्र, पूर्णविवेकरूप उपहारसे पूजनसाधन प्रारब्धप्राप्त अर्थोंके द्वारा बोधके लिए बुद्धिपूर्वक आत्मस्वभावरूप परमेश्वरकी पूजा कीजिये ॥ २८ ॥

विवेकसे पूजित स्वात्मभूत परमात्मा तुरत ही पूजा करनेवालेको निरतिशय आनन्दरूप वर प्रदान करता है। इस पूजामें रुद्र, उपेन्द्र आदिकी पूजा तो, जीर्ण-शीर्ण तिनकेके टुकड़ेके सदृश, हलकी पड़ जाती है ॥ २९ ॥

विचार, शम और सत्संगरूपी बलिदान-पुष्पोंसे पूजित हुआ परमेश्वर शीघ्र मोक्षफल प्रदान करता है। हे साधो, यह स्वात्मा ही परमेश्वर है ॥ ३० ॥

सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः ।
यत्राऽस्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाश्रयेत् ॥ ३१ ॥
सत्सङ्गशमसन्तोषविवेकापूजितात्मनः ।
शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्राहिविषवह्नयः ॥ ३२ ॥
देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिकृतान्यपि ।
भस्मायन्ते निरर्थत्वादविवेकामहात्मनाम् ॥ ३३ ॥
एतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् ।
विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्तर्न साध्यते ॥ ३४ ॥

केवल यथार्थ अवलोकनरूप अकेली पूजन सामग्रीसे जिसकी पूजा की गई हो, ऐसे सर्वोत्तम फलप्रदान करनेवाला यह ईश्वररूप आत्मा जहाँ उपस्थित हो, वहाँ भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो किसी दूसरेका (अनात्मभूत तटस्थ ईश्वरका*) आश्रयण करेगा ॥ ३१ ॥

पूजन द्वारा प्रसन्न हुआ तटस्थ ईश्वर तो इस जीवकी शस्त्र, सर्प, अग्नि आदिसे भलीभाँति रक्षा कर सकता है, परन्तु कूटस्थ आत्मा भला क्या कर सकता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सत्सङ्ग०' इत्यादिसे ।

सत्संग, शम, सन्तोष और विवेक द्वारा जिसने आत्माकी पूर्ण रीतिसे पूजा की है ऐसे पुरुषके लिए शस्त्र, सर्प, विष और अग्नि—ये सब शिरीष (सिरस) के फूल बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

किञ्च, अविवेकियों द्वारा किये गये देवतापूजन आदि सत्कर्मोंमें अपराध होनेकी अवश्य संभावना है, ऐसी स्थितिमें वे निष्फल या अनर्थ देनेवाले हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि उन कर्मोंमें देश, काल, पात्र, द्रव्य, कर्ता आदिकी विशुद्धि तथा उनके परिज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, शान्ति आदिकी यदि आवश्यकता पड़ जाती है, तो सर्वविध क्लेशोंसे रहित महाफलवाले आत्मदर्शनमें ही उनका उपयोग क्यों न किया जाय ? यह कहते हैं—'देवार्चन०' इत्यादिसे ।

जिनको देश, काल, पात्र आदिका विवेक नहीं है, ऐसे दुरात्माओं द्वारा अत्यधिक किये गये देवपूजन, तप, तीर्थाटन, दान आदि सबके सब

* देखिये श्रुति क्या कहती है—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' ।

यथाभूतार्थविज्ञानाद्वासनोपरमे परे ।
यत्ने विवेकशब्दाख्यो भवत्यात्मप्रसादतः ॥ ३५ ॥
तथातथा विवेकोऽन्तर्वृद्धिं नेयः शमामृतैः ।
यथायथा पुनः शोषमुपयाति न विभ्रमैः ॥ ३६ ॥
देहसत्तामनादृत्य यथाभूतार्थदर्शनात् ।
लज्जां भयं विषादेर्ष्ये सुखं दुःखं जयेत्समम् ॥ ३७ ॥
जगदादि शरीरादि नास्त्येवादौ कुतोऽद्य तत् ।
कार्यं चेत्कारणस्यैतत्तथापि ब्रह्ममात्रकम् ॥ ३८ ॥

तत्त्वशून्य होनेके कारण भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए यदि सब विवेकसे सफल किये जायँ, तो अपने अन्तःकरणमें विवेककी ही स्पष्टरूपसे साधना क्यों नहीं की जाय ? ॥ ३३, ३४ ॥

वह कौन-सा विवेक है, जिसकी आप साधना बतला रहे हैं, इसपर उसे कहते हैं—'यथाभूतार्थ०' इत्यादिसे ।

वास्तविक पदार्थके विज्ञानके अनन्तर वासनाके आत्यन्तिक उच्छेदमें जो प्रयत्न है, वही विवेकशब्दका अर्थ है, यह निष्काम यज्ञ तथा दान किया गया आदि कर्मोंसे जनित चित्तकी प्रसन्नतासे ही होता है। वैराग्य आदि सब साधन-रूप ही यह यत्न है ॥ ३५ ॥

अपने भीतर शमरूपी अमृतसे विवेकको ऐसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, जैसे कि विषयभ्रान्तियोंसे वह फिर नष्ट न होने पावे ॥ ३६ ॥

मनुष्य देहकी सत्ताका अनादर कर उसमें स्थित तात्त्विक वस्तुका प्रत्यक्ष करे, फिर उससे होनेवाले लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदिके ऊपर बराबर विजय प्राप्त करे ॥ ३७ ॥

देहकी सत्ताके अनादरमें उपायभूत विचार दिखलाते हैं—'जगदादि' इत्यादिसे ।

शरीरका कारण जगत् और जगत्का भी कारण पहले ही नहीं रहा, फिर आज वह कहाँसे रहेगा। यदि कहो कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें बतलाया गया ब्रह्मात्मक कारण तो पहलेसे ही है, तो यह भी युक्त नहीं है,

प्रतिभामात्रमेवाच्छं न तु ज्ञप्तेर्घटादि सत् ।
ज्ञानात्मिकैव प्रतिभा ज्ञप्तिरेवाखिलं जगत् ॥ ३९ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मतत्त्वश्रीः परिज्ञातोपशाम्यति ।
ज्ञेयाभावे त्वनिर्वाच्या शिष्यते शाश्वतं शिवम् ॥ ४० ॥
अशरीराद्यविश्वात्म सर्वं शान्तमिदं ततम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञप्तिमुक्तं दृषन्मौनमिव स्थितम् ॥ ४१ ॥
शान्तान्तःकरणाः स्वस्थाः शिलापुत्रककोशवत् ।
चलन्तश्चालयन्तश्च ज्ञरूपा एव तिष्ठत ॥ ४२ ॥

क्योंकि ऐसा माननेपर कार्य यदि कारणका ही रूप है, तो आखिरमें वह ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है, अन्यरूप नहीं ॥ ३८ ॥

समस्त विकल्पोंसे निर्मुक्त विशुद्ध प्रतिभामात्र ही ब्रह्मका स्वरूप है । विकल्प-प्रतिभा भी चिदाभासरूप ज्ञानरूपा ही है, इसलिए ज्ञानसे पृथक् घट आदिका अस्तित्व नहीं है, किन्तु समस्त जगत् ज्ञानरूप ही है ॥ ३९ ॥

जिसमें आत्मतत्त्वरूप श्री प्रतिबिम्बित है ऐसी ज्ञप्ति यानी चिदाभासरूप ज्ञान तब होता है, जब कि आत्माका तत्त्वज्ञान पहले नहीं रहता, इसलिए उसको प्रत्यगात्ममात्रस्वरूप जान लेनेपर वह स्वयं नष्ट हो जायगी, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्वसे अलग करनेवाली कोई उपाधिभूत वस्तु अलग नहीं रहेगी । ठीक ही है, दर्पणमें देखी गई मुखशोभा दर्पणके हट जानेपर स्वयं ही शान्त हो जाती है । जब उपाधि शान्त हो जाती है तब ज्ञप्तिका स्वरूप नहीं कहा जाता । उस समय सदा स्थायी शिवस्वरूप एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । यह शिवस्वरूप वस्तु शरीर आदि अवयवोंसे रहित जगद्रूपसे निर्मुक्त पूर्ण, शान्त, ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञप्तिरूप त्रिपुटीसे शून्य, पत्थरकी चट्टानोंके सदृश वाणीके व्यापारोंसे वर्जित है । और यह सारा प्रपञ्च तद्रूप ही है ॥ ४०, ४१ ॥

आप सब लोगोंको वह शिवस्वरूप स्थिति ही प्राप्त करनी चाहिये, यह कहते हैं—'शान्ता०' इत्यादिसे ।

इसलिए आप लोग जैसे पाषाण-प्रतिमाएँ शान्त रहती हैं, वैसे ही अपने अन्तःकरणको शान्त बनाकर स्वस्थ होइए एवं सांसारिक सब व्यवहारोंको करते तथा कराते हुए भी ज्ञानीके रूपमें ही स्थित रहिये ॥ ४२ ॥

अज्ञेयज्ञत्वसद्रूपाः सदसत्साररूपिणः ।
आकाशकोशविशदा भवताऽभवभूमयः ॥ ४३ ॥
यथास्थितं च तिष्ठन्ति गच्छन्तश्च यथागतम् ।
यथाप्राप्तैककर्माणः सम्पद्यन्ते बुधाः परम् ॥ ४४ ॥
अथवा सर्वसंत्यागशान्तान्तःकरणोज्ज्वलाः ।
एकान्तेष्वेव तिष्ठन्तु चित्रकर्मार्पिता इव ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पशान्तौ सङ्कल्पपुरवत् सर्वदाऽखिलम् ।
स्वप्नवच्च प्रबुद्धस्य सदैवास्तं गतं जगत् ॥ ४६ ॥
सनेत्ररूपानुभवं जातितोऽन्ध इव भ्रमैः ।
निर्वाणं वर्णयन्नज्ञस्ताप्यतेऽन्तर्न शाम्यति ॥ ४७ ॥

ज्ञेय और ज्ञानसे शून्य सद्रूप, सत् और असत्के सारभूत, आकाशगोलकके समान विशद तथा संसारके अकारणभूत आप लोग हो जाइये ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ चाहे स्थित रहते हैं और जहाँ जानेकी इच्छा होती है, बड़े आनन्दसे वहाँ चले जाते हैं। वे एकमात्र प्रारब्ध-प्राप्त अपना कर्म करते हुए परब्रह्म परमात्माके स्वरूपभूत बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

अथवा निरन्तर समाधिमें ही स्थित रहिये, यह कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे।

अथवा समस्त इच्छाओंके उत्तम त्यागसे शान्त हुए अन्तःकरणसे युक्त होकर आप लोग, चित्रकर्ममें लिखित मूर्तियोंके सदृश, निश्चलवृत्ति हो एकान्त स्थानोंमें ही स्थित रहिये ॥ ४५ ॥

भद्र, सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेपर जैसे सङ्कल्पनगर शान्त हो जाता है अथवा जाग्रत्-पुरुषके लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही समाधि और व्यवहार दशामें निरन्तर आत्मज्ञानसे सम्पन्न पुरुषके लिए सम्पूर्ण जगत् सदाके लिए ही विनष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

वही तत्त्वज्ञान निर्वाणमें उपयोगी है, जो नेत्रवाले पुरुषको हुए रूपानुभवके सदृश प्रत्यक्ष एवं पूर्णानन्दानुभवतक स्थिर रह सकता है, जन्मान्ध पुरुषकी रूप-कल्पनाके सदृश परोक्ष-सा तत्त्वज्ञान निर्वाणमें उपयोगी नहीं है, यह कहते हैं—'सनेत्र०' इत्यादिसे।

कुछ वेदान्तवाक्योंके श्रवणसे ही 'मैं तत्त्वज्ञ हो गया'—इस प्रकारके भ्रममें

कल्पनांशोपदेशेन लोकोऽविद्यामयात्मना ।
येन केनचिदज्ञत्वात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते ॥ ४८ ॥

अकृतार्थः कृतार्थत्वं जानन् मौर्ख्यविमोहितः ।
विज्ञास्यत्यकृतार्थत्वं क्षणान्तरकदर्थनैः ॥ ४९ ॥

उपायं कल्पनात्मानमनुपायं विदुर्बुधाः ।
दुःखदत्वान्निमेषेण भावाभावैषणभ्रमैः ॥ ५० ॥

जगद्भ्रमं परिज्ञाय यदवासनमासितम् ।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ ५१ ॥

पढ़कर मोक्षका वर्णन कर रहा अज्ञानी पुरुष, देखनेवाले पुरुषको हुए रूपानुभवका वर्णन कर रहे जन्मान्ध पुरुषके सदृश, अपने भीतर मान-अपमान आदि दुःखोंसे सन्तप्त रहता है। तत्त्वज्ञके सदृश भीतर सुखका अनुभव नहीं करता ॥ ४७ ॥

अन्धगोलाङ्गूल न्यायसे असत् उपदेशसे ठगे गये पुरुषोंमें भी कृतार्थताकी भ्रान्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'कल्पनांशो०' इत्यादिसे।

अविद्यास्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेशसे कोई पुरुष 'मैं कृतार्थ हूँ' यों यदि मानता है, तो वह अज्ञानी होनेके कारण असलमें अकृतार्थ ही है। अपनेमें कृतार्थता जान रहा वह मूर्खतासे अत्यन्त मोहित है। ऐसा पुरुष दूसरे क्षणमें अनेकविध यातनाओंके कारण अपनी अकृतार्थता ही जान पायेगा ॥ ४८,४९ ॥

इससे कल्पनात्मक ज्ञान मोक्षका उपाय नहीं है, पण्डितोंके इस अनुभवको लेकर उपसंहार करते हैं—'उपायम्' इत्यादिसे ।

जो काल्पनिक उपाय है वह निमेषभरमें ही भाव, अभाव तथा इच्छा भ्रमोंसे दुःखदायी होनेके कारण मोक्षका उपाय नहीं है, यह विद्वानोंका मत है ॥५०॥

इसलिए पूर्वोक्त तत्त्वज्ञानको ही वासनाविनाशपर्यन्त दृढ़ करना चाहिये। वही तत्त्वज्ञान निर्वाणरूप बन जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'जगद्भ्रमम्' इत्यादिसे ।

जगद्रूप भ्रमका अच्छी तरह ज्ञानकर जो वासनाशून्य स्थिति होती है वही, हिरण्यगर्भस्थानतकके समस्त विषय जिसकी अपेक्षा नीरस हैं, निर्वाण कहा जाता है ॥ ५१ ॥

आख्यायिकार्थप्रतिमानमेत्य
संवेत्स्यचिद्वारि भराद्द्रवात्म ।
अवेद्यचिद्रूपमशेषमच्छं
पश्यन्विनिर्वासि जगत्स्वरूपम् ॥ ५२ ॥

जात्यन्धरूपानुभवानुरूपं
यदागमैर्बुद्धमबोधरूपम् ।
अधस्पदीकृत्य तदन्तरेऽस्मिन्
बोधे निपत्याऽनुभवो भवाभूः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
· निर्वाणोपदेशो नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इसलिए हे श्रीरामभद्र, मैंने जिस अर्थका उपदेश दिया है उसे लौकिक या पौराणिक कथार्थके सदृश कल्पनामात्ररूप बहिर्मुखवृत्तिसे जानकर आप कृतार्थ मत होंगे, किन्तु एकमात्र वासनाओंके भयंकर बाढ़से चारो ओर बह रहे जगद्रूपी अचित् जलको ही देखेंगे, अतः जब आप आत्मदृष्टिसे समस्त जगत्स्वरूपको पूर्ण शुद्ध अवेद्य चिद्रूप, प्रत्यक्ष करेंगे तभी मोक्षमें स्थित रहेंगे यानी कृतार्थ होंगे ॥५२॥

उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं—'जात्यन्ध०' इत्यादिसे ।

हे भद्र, उपदेशवचनोंसे जन्मान्ध पुरुषके रूपानुभवके सदृश परोक्षरूप यदि आपने जाना, तो वह आपका न जानना ही है यानी अज्ञान ही है, क्योंकि अपरोक्ष वस्तुके विषयमें हुआ परोक्षज्ञान केवल भ्रमात्मक ही होता है । इसलिए ऐसे ज्ञानको तिरस्कृत कर प्रत्यगात्मस्वरूप इस नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञानमें पड़कर आप जन्मादिशून्य आत्मानुभवरूप ही बन जाइये, यही निर्वाण है ॥ ५३ ॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त



त्रिचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहन्तादि जगच्चेदं परिज्ञानादसत्यताम् ।
याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवाऽन्यथाधियाम् ॥ १ ॥
अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतलितात्मनः ।
एतदेव भवेच्चिह्नं यद्भोगाम्बु न रोचते ॥ २ ॥
अलमन्यैः परिज्ञानैर्वाच्यवाचकविभ्रमैः ।
अनहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥ ३ ॥

तेंतालिसवाँ सर्ग

[अज्ञानकल्पित मनरूप यक्षनगर-जैसे इस जगत्‌का शुद्ध तत्त्वज्ञानसे विनाश हो जानेपर एकमात्र ब्रह्ममें ही स्थिति हो जाती है—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, भोक्ता और भोग्यरूप यह जो सम्पूर्ण आन्तर अहन्तादि और बाह्य जगत् है वह सब तत्त्वज्ञानसे (जगदनुभवरूप भोगके स्वरूपज्ञानसे) असत्य बन जाता है। जो भोग होता है उसका अवसान चितिसे ही होता है। वह भोक्ता और भोग्यके सम्बन्धका अनुभव है। उसी अनुभवसे मोहके द्वारा आत्मा और अनात्माके धर्मोंको एक दूसरेमें समझनेवाले यानी भोक्तामें ही आत्मबुद्धि रखनेवाले मूढ़ोंको बाह्य जगत्‌का भोग होता है, स्वतः नहीं। इसलिए परमार्थदशामें बाह्य और आभ्यन्तर जगत्‌का अनुभव ब्रह्मरूप ही है ॥ १ ॥

इसीलिए तत्त्वज्ञानियोंको भोग्यवर्गोंमें रुचि नहीं होती, यह कहते हैं—'अज्ञान०' इत्यादिसे।

जो पुरुष अज्ञानसे भलीभाँति मुक्त हो गया है तथा जिसकी आत्मा बोधसे शीतल हो चुकी है, ऐसे महानुभावका यही चिह्न है कि उसे भोगजल रुचता नहीं ॥ २ ॥

इस प्रकार भोग्यवस्तुओंसे जो विरक्त हो गये हैं उनके लिए भोक्तामें अहंकाररूपी अंशका एकमात्र त्याग कर देनेसे विशुद्ध चिन्मात्ररूपसे अवशिष्ट निर्वाण सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'अलम०' इत्यादिसे।

परिज्ञाता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो ।
न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगदिदं भ्रमे ॥ ४ ॥
यथा स्वभावनाद्यक्षस्तरौ सस्वजनं पुरम् ।
पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥ ५ ॥
विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः ।
सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाऽहन्त्वजगद्भ्रमौ ॥ ६ ॥
अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः ।
यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥ ७ ॥

भद्र, नामरूपात्मक विषयोंके भ्रमस्वरूप दूसरे-दूसरे ज्ञानोंका सम्पादन करना निरर्थक ही है । केवल अहंबुद्धिका अभाव ही मोक्ष है, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

भोगजल नहीं रुचता, यह जो कहा गया है, उसीको पुनः विशदरूपसे कहते हैं—'परिज्ञाता' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जगे हुए पुरुषको किसी तरहका आनन्द प्रदान नहीं करते और न उसकी दृष्टिमें वे अपना अस्तित्व ही रखते हैं वैसे ही 'मैं' 'यह जगत्' इत्यादि भ्रममें देखे गये पदार्थ न तो तत्त्वज्ञानीको आनन्द प्रदान करते हैं और न उसकी दृष्टिमें अपना अस्तित्व ही रखते हैं ॥ ४ ॥

इस विषयमें गन्धर्व-मायाकल्पित नगर दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे यक्ष अपनी भावनासे वृक्षमें अपने स्वजनसे युक्त असत्य नगरको देखता है वैसे ही जीव अपनी अविद्यासे असत्य ही इस विशाल संसारको देखता है ॥५॥

यद्यपि भ्रान्तिकल्पित भोक्तारूप होनेसे विभ्रमरूप यक्ष तथा भ्रान्तिकल्पित भोग्यस्वरूप होनेसे उसका नगर भी नहीं है, तथापि परस्पर उपभोगरूप अर्थ-क्रियाकारी होनेसे जैसे वे दोनों सद्रूपकी तरह स्थित हैं वैसे ही मिथ्या अहन्ता और जगत्का भ्रम भी स्थित है ॥ ६ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनोंमें असत्के भी सत्यरूपसे प्रतिभासमें आवरण-शून्य साक्षीका अध्यास ही निमित्त है, इस आशयसे कहते हैं—'अनावरणतो' इत्यादिसे ।

जैसे जंगलमें यक्ष आदि विभ्रमरूप ही स्फुरित होते हैं वैसे ही आवरण न

भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्ध्वा विभावयन् ।
यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्त्वतामिदम् ॥ ८ ॥
निरस्तकलनाशङ्कं त्यागग्रहणवर्जितम् ।
अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्व यथास्थितम् ॥ ९ ॥
असत्तासम्भवं दृश्यं द्रष्ट्रात्मकमिदं ततम् ।
अथवा नैव द्रष्ट्रात्म सदवाच्यं किमास्यते ॥ १० ॥
वसन्तरसपूरस्य यथा विटपगुल्मता ।
स्वरूपमात्रभरितसंविदः सर्गता तथा ॥ ११ ॥

रहनेसे ये चौदह भुवन भी स्फुरित होते हैं। तात्पर्य यह कि आवरणरहित साक्षीमें अध्यासके कारण ही ये चौदह भुवन स्फुरित होते हैं ॥ ७ ॥

यक्षके अपने कल्पित देह, नगर आदिके उपसंहारकी तरह जगद्भ्रमके बाधमें भी उसे एकमात्र मिथ्यारूप देखना ही हेतु है, यह कहते हैं— 'भ्रममात्रम०' इत्यादिसे ।

जैसे यह सब कुछ एकमात्र मेरा भ्रम है, और कुछ नहीं—यों विचार करता हुआ यक्ष अयक्ष हो जाता है वैसे ही अहमादि सब जगत् मिथ्या ही है—यों जानकर यह चित्त चिद्रूप तात्त्विकभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण कल्पनाओं तथा आशङ्काओंसे रहित, त्याग तथा ग्रहणसे शून्य, बहुत दूरतक जानेवाली समस्त इच्छाओंसे रहित तथा शान्त होकर हे श्रीरामजी, जैसे आप स्थित हैं स्थित रहिये ॥ ९ ॥

विचारपूर्वक देखनेसे यह दृश्य एकमात्र द्रष्टारूप या तुच्छरूप ही पर्यवसित होता है, यह कहते हैं—'असत्ता०' इत्यादिसे ।

यह सब दृश्य द्रष्टारूप ही व्याप्त है अथवा सत्ताकी उत्पत्तिसे शून्य द्रष्टारूप भी यह नहीं है, क्योंकि सत् परमार्थ चिद्रूप द्रष्टृतत्त्व जो अवाच्य है वह क्या तुच्छ दृश्यरूप स्थापित हो सकता है ? कदापि नहीं। कोई भी सत्को असत्-रूप नहीं बना सकता, यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

द्रष्टाके दृश्यस्वरूप न होनेपर भी व्यवहारमें दृश्यसत्ताकी स्फूर्तिका निर्वाहक द्रष्टा हो सकता है, यह दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—'वसन्तरसपूरस्य' इत्यादिसे।

जैसे वसन्त ऋतुके रसका प्रवाह ही वृक्ष, गुल्म आदिरूप है वैसे ही एकमात्र अपने स्वरूपसे ही परिपूर्ण बना देनेवाली आत्मसंवित् ही सृष्टि है ॥ ११ ॥

यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम् ।
काऽत्रैकता द्विता का वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥ १२ ॥
भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
स्थीयतां विगताशङ्कं निर्वाणानन्दनन्दने ॥ १३ ॥
किमेतास्वतिशून्यासु संसारारण्यभूमिषु ।
मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तबुद्धयः ॥ १४ ॥
जगत्त्रयमरीच्यम्बुविप्रलब्धान्धबुद्धयः ।
मा धावत गतव्यग्रमाशयोपहताशयाः ॥ १५ ॥
रूपालोकमनस्कारमृगतृष्णाम्बुपायिनः ।
व्यर्थमायासमायूंषि मा मा क्षपयतैणकाः ॥ १६ ॥
जगद्गन्धर्वनगरगुरुगर्वेण नश्यथ ।
सुखरूपाणि दुःखानि नाशनायैव पश्यथ ॥ १७ ॥

परन्तु परमार्थमें तो द्रष्टाके साथ ऐक्यकी सम्भावना भी नहीं है, यह कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

जो यह जगत्का आभास है वह सब विशुद्ध चिन्मात्र वेदनरूप ही है । इसमें क्या एकत्व या क्या द्वित्व हो सकता है । इसलिए हे श्रीरामजी, आप पूर्णरूपसे निर्वाणस्वरूपसे स्थित रहिये ॥ १२ ॥

अब भगवान् वसिष्ठजी सबके प्रति दयासे हितकारक बातें उद्घोषित करते हुए उपदेश देते हैं—'भूयताम्' इत्यादिसे ।

हे सज्जनो, आप सबके सब चिन्मय आकाश हो जाइये, परम रसका—निरतिशयानन्दका पान कीजिये तथा निर्वाणरूप नन्दन बनमें सभी आशङ्काओंसे शून्य हो स्थित रहिये ॥ १३ ॥

हे मनुष्यो, आप सबके सब बिलकुल शून्य इस संसाररूपी महाजंगलकी मरुभूमियोंमें भ्रान्तचित्त मृगोंकी नाईं क्यों भटकते-फिरते हैं ॥ १४ ॥

हे त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाजलसे ठगे गये अतएव नष्टबुद्धि जीवो, आप लोग तृष्णासे चञ्चलहृदय होकर व्यग्रतापूर्वक इधर-उधर मत दौड़ते फिरें ॥१५ ॥

हे बाह्य तथा आभिमानिक भोगरूपी मृगतृष्णाजलका पान करनेवाले मृगो, तुम लोग व्यर्थका परिश्रम उठाकर अपनी आयु मत गवाओ, मत गवाओ ॥१६॥

हे सभ्यपुरुषो, जगद्रूपी गन्धर्वनगरमें विवेकको नष्ट कर देनेवाले गर्वसे

जगत्केशोण्डूकभ्रान्त्यै मा महाम्बरमध्यगम् ।
अवलोकयताभ्रान्ते स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८ ॥
मानवा वातलोलोच्चपत्रप्राप्ताम्बुभङ्गुर- ।
मानवासु न चाऽऽस्वन्धगर्भशय्यासु सुप्यताम् ॥ १९ ॥
अविराममनाद्यन्ते स्वभावे शान्तमास्यताम् ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषादस्वभावाद्विनश्यताम् ॥ २० ॥
अज्ञावबुद्धः संसारः स हि नास्ति मनागपि ।
अवशिष्टं च यत्सत्यं तस्य नाम न विद्यते ॥ २१ ॥
त्रोटयित्वा तु तृष्णायःशृङ्खलावलितं बलात् ।
संसारपञ्जरं तिष्ठ सर्वस्योर्ध्वं मृगेन्द्रवत् ॥ २२ ॥
आत्मात्मीयग्रहभ्रान्तिशान्तिमात्रा विमुक्तता ।
यथातथा स्थितस्यापि सा स्वसत्तैव योगिनः ॥ २३ ॥

आप लोग नष्ट न हो जायँ । अपनेको नष्ट कर देनेके लिए ही स्थित इन सुख-स्वरूप सांसारिक पदार्थोंको आप लोग दुःखरूप ही देखें ॥ १७ ॥

जगद्-रूपी केशोण्डूककी भ्रान्तिके लिए ब्रह्माकाशके मध्यमें अज्ञानरूपी नीलिमाका आप लोग अवलोकन न करें, किन्तु अभ्रान्त अपने स्वरूपमें परिणत हो जायँ—विश्राम करें ॥ १८ ॥

हे मनुष्यो, ऊँची शाखाओंमें स्थित पीपलके पत्तोंपर गिरे तथा वायुद्वारा कम्पित हुई ओसकी बूँदोंके सदृश क्षणभंगुर मनुष्यशरीरोंवाली इन संसाररूपी अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओंपर आप शयन मत करें ॥ १९ ॥

आदि और अन्तसे शून्य पारमार्थिक ब्रह्मभावमें आप लोग शान्त हो निरन्तर स्थित रहें । द्रष्टा और दृश्य इत्यादि विरुद्धस्वभावरूपी दोषसे नष्ट न हो जायँ ॥ २० ॥

अज्ञानीजन ही इस संसारको सत्य समझते हैं । वस्तुतः वह कुछ भी नहीं है । अवशिष्ट जो सत्यवस्तु है उसका तो नाम भी नहीं है ॥ २१ ॥

तृष्णारूपी लोहेकी श्रृङ्खलासे वेष्टित संसाररूपी पिंजरेको आत्मज्ञानबलसे जबर्दस्ती तोड़कर सिंहके समान सबके ऊपर स्थित रहिये ॥ २२ ॥

'मैं' और 'मेरा' इस अभिमानरूपी भ्रान्तिकी एकमात्र शान्ति ही मुक्ति है ।

निर्वाणताऽवासनता पराऽपतापताज्ञता ।
संसाराध्वनि खिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ॥ २४ ॥

तज्ज्ञज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
विद्यते जगदर्थोऽसाववाच्यार्थमयो मिथः ॥ २५ ॥

विश्वता भ्रान्तिसंशान्तौ संस्थितैव न लभ्यते ।
महार्णवाम्बुवलिता पुत्रिकेव पयोमयी ॥ २६ ॥

भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ॥ २७ ॥

इसके सिवा और कोई दूसरी वस्तु मुक्ति नहीं है। तथा जिस किसीरूपसे स्थित योगीकी वह अपनी सत्ता ही है ॥ २३ ॥

अपार संसारमार्गमें निरन्तर चलते रहनेके कारण खिन्न हुए पथिकोंके लिए वही विश्रान्तिका एक अलग स्थान है, वह विश्रान्तिका स्थान है, यों उसीकी कल्पनाकर कहते हैं—'निर्वाणता' इत्यादिसे ।

इस संसाररूपी मार्गमें लगातार चलते रहनेसे खिन्न हुए पथिकके लिए निर्वाणता, वासनाशून्यता और उत्कृष्ट त्रिविधतापशून्यता—ये तीनों ही शान्त विश्रामकी भूमिका हैं ॥ २४ ॥

परस्पर कथनके अयोग्य अर्थोंसे भरे ये जगत्के पदार्थ हैं। इन्हें तत्त्वज्ञ जैसा समझते हैं वैसा मूर्ख नहीं समझते और मूर्ख जैसा समझते हैं वैसा तत्त्वज्ञ नहीं समझते ॥ २५ ॥

जैसे महासमुद्रसे वेष्टित हो समुद्ररूपसे स्थित हुई गङ्गा, गोदावरी और नर्मदा आदि नदीरूप आकृति समुद्रवासियोंको उपलब्ध नहीं होती, वैसे ही भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जानेपर यह संसारकी आकृति भी ज्ञानियोंको उपलब्ध नहीं होती ॥ २६ ॥

फिर इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'भ्रान्तिशान्तौ' इत्यादिसे ।

भ्रमके शान्त हो जानेपर सांसारिक स्वरूपसे स्थित ही जीवन्मुक्त ज्ञानीके लिए यह संसाररूप भी उपलब्ध नहीं होता। उसके लिए तो अपने स्वरूपमें स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान रहता है ॥ २७ ॥

निर्दग्धतृणभस्माली क्वापि याति यथाऽनिलैः ।
सतां स्वभावविश्रामैः क्वापि याति तथा जगत् ॥ २८ ॥
जगद्ब्रह्मपदार्थस्य सन्निवेशः स तूत्तमः ।
ब्रह्मशब्दार्थरूपात्मा न जगच्छब्दकार्यभाक् ॥ २९ ॥
अविज्ञातस्य बालस्य पदार्था यादृशा इमे ।
विदुषस्तादृशा एव तिष्ठतः क्षीणवासनम् ॥ ३० ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३१ ॥

जैसे खूब जला दिये गये तृणोंके भस्मका ढेर वायुसे उड़कर न जाने किस जगहपर चला जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूपमें विश्राम करनेवालोंकी संगतिसे ज्ञान प्राप्तकर सज्जन पुरुषोंका यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है ॥ २८ ॥

ब्रह्मपदका जो बृंहणरूप (वर्द्धनशील) अर्थ है उसीका आकारविशेष जगत् है। वह आकारविशेष यदि ब्रह्मशब्दका मुख्यार्थरूप आत्मा ही यानी निर्विकल्प-स्वप्रकाश-निरतिशयानन्द प्रत्यगात्मा ही है, तब तो वह 'जगत्' शब्दका अर्थ बहुत उत्तम है। किन्तु 'गच्छति—षड्विधविकारैः परिवर्तते—इति जगत्' यानी छः तरहके विकारोंसे जो सदा परिवर्तित होता है उसे जगत् कहते हैं। इस तरहकी व्युत्पत्तिसे 'जगत्' शब्दका अर्थ यदि विकारात्मक कार्योंका भागी किया जाता है, तो फिर वह अर्थ उत्तम नहीं है ॥ २९ ॥

इस संसारमें निर्विकल्पका अनुभव बच्चेको भी होता है, उसका साम्य दिखलाते हैं—'अविज्ञातस्य' इत्यादिसे।

जिस बच्चेको अभी विशेष ज्ञान नहीं हुआ है उसको ये संसारके पदार्थ जिस तरहके भासते हैं, ठीक उसी तरहके वासनाशून्य स्थित विद्वान्‌को ये सभी संसारके पदार्थ भासते हैं ॥ ३० ॥

इन सांसारिक पदार्थोंका अनुभव तत्त्वज्ञानियोंको जैसा होता है वैसा मूर्खोंको नहीं और मूर्खोंको जैसा होता है वैसा तत्त्वज्ञानियोंको नहीं' यह जो ऊपर कहा गया है, उसका गीतामें प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्णके वचनसे मेल दिखलाते हैं—'या निशा' इत्यादिसे।

भद्र, आत्माका यथार्थज्ञान अज्ञानियोंके लिए एक तरहकी रात ही है,

स्थितमेवाऽविरामी यज्जाग्रदस्य सुषुप्तवत् ।
चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषणाः ॥ ३२ ॥
जात्यन्धरूपानुभवसमं भुवनवेदनम् ।
भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च ॥ ३३ ॥
विमूढदुःखं त्रिजगद्विमूढविषयं न सत् ।
स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते रूपालोकमनःक्रियाः ॥ ३४ ॥

क्योंकि जैसे अन्धेरी रात प्रकाशरूप नहीं रहती, वैसे ही अज्ञानियोंके प्रति आत्माका ज्ञान भी प्रकाशरूप नहीं रहता । इस तरहकी जो आत्मविद्यारूपी रात है उसमें जितेन्द्रिय तत्त्वज्ञ पुरुष जागता रहता है यानी आत्मविद्याके लिए तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर ऐसे सावधान रहता है कि उसमेंसे क्षणभरके लिए भी च्युत नहीं होता । और जिस द्वैतबुद्धिरूप अज्ञानदशामें प्राणी व्यवहार करते हैं वह तत्त्वज्ञ-मुनिके लिए रात है, क्योंकि ज्ञानीके प्रति उसका प्रकाश ही नहीं रहता ॥३१॥

इसीकी व्याख्या करते हैं—'स्थितमेवा०' इत्यादिसे ।

चूँकि अज्ञानरूप अन्धकारसे सभी प्राणी आवृत हैं, इसलिए सुषुप्तकी तरह स्थित आत्मतत्त्व ही इस तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए अविरत जागरणरूप है, इसी दृष्टिसे 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह कहा गया है । और चूँकि मूढ़ जनोंमें जाग्रद्रूपसे प्रसिद्ध शब्दादिविषयास्वाद चित्रमें देखे गये युद्धादिकी तरह सामने स्थित रहते हुए भी इस तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं रहते, इसलिए 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' यह कहा गया है ॥ ३२ ॥

उत्तरार्धकी पुनः व्याख्या करते हैं—'जात्यन्ध०' इत्यादिसे ।

जन्मान्ध पुरुषको हुए रूपोंके अनुभवके सदृश ज्ञानी पुरुषको जगत्‌का अनुभव यदि होता है, तो वह रात्रिस्वप्नवत् होता है और यदि नहीं होता, तो निशासुषुप्तके समान होता है ॥ ३३ ॥

मूढ़ पुरुषोंको दुःखरूपसे प्रसिद्ध ये तीनों जगत् उन्हींके लिए हैं, तत्त्वज्ञानीके लिए नहीं, क्योंकि ये सत् नहीं हैं । [यदि ज्ञानीके लिए विषयोपभोग नहीं है, तो फिर वह ज्ञानी किससे तृप्त होकर जीवित रहता है, इसपर कहते हैं—'स्वप्ने'से] स्वप्नरूपसे स्वप्नका ज्ञान हो जानेपर स्वप्नके बाह्य और आभ्यन्तर विषय जागे हुए पुरुषको जैसे नहीं रुचते, वैसे ही यद्यपि जाग्रत्-स्वप्नके भोग नहीं रुचते,

न स्वदन्ते यथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ।
निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः ॥ ३५ ॥
आशीतलान्तःकरणो निर्वाणो ज्ञोऽवतिष्ठते ।
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः ।
निम्नं विनैव तोयस्य न सम्भवति काचन ॥ ३६ ॥
अर्थ एव मनस्कारो मन एवार्थरञ्जनम् ॥ ३७ ॥
एष एवैष आभासः सबाह्याभ्यन्तरात्मकः ।
आसमुद्रं नदीवाहशतसंघमयात्मकम् ॥ ३८ ॥
यथैकश्लेषपिण्डात्म वहत्यम्बु तरङ्गिणाम् ।
सबाह्याभ्यन्तराकारमर्थानर्थमयात्मकम् ॥ ३९ ॥
मन एव स्फुरत्यर्थनिर्भासं व्याततं तथा ।
नास्त्यर्थमनसोर्द्वित्वं यथा जलतरङ्गयोः ॥ ४० ॥

फिर भी वह सारे भेदोंसे रहित, सबके विश्वासके—श्रद्धाके भाजन परम ऐक्यको प्राप्त, निर्वाणस्वरूप होकर सर्वदा मनमें पूर्ण शान्तिका अवलम्बन कर ही अवस्थित रहता है। भोगोंकी वासनाओंद्वारा चित्तका बाहर आकर्षण न होनेके कारण ज्ञानीकी स्थिति ध्यानके (चित्तनिरोधके लिए किये जानेवाले प्रयत्नके) बिना भी समान ही रहती है [इसका दृष्टान्तद्वारा उपपादन करते हैं—'निम्नम्'से] ठीक ही है—नाली आदि निम्नमार्गके बिना तालाब आदिके जलकी प्रवाह आदि क्रिया कुछ हो नहीं सकती ॥ ३४–३६ ॥

बाह्य अर्थोंका बाध होनेपर बाह्य इन्द्रियोंका निरोध हो सकता है, परन्तु मनका निरोध कैसे हो सकता है, यह कहते हैं—'अर्थः' इत्यादिसे ।

अर्थ (विषय) ही मन है और मन ही अर्थ है। जो बाह्य और आभ्यन्तररूप विषयाभास है, वह मन ही है ॥ ३७ ॥

जैसे नदियोंके जल जबतक समुद्रमें नहीं पहुँचते तबतक नदी, प्रवाह आदि नानाविध आकारोंमें भासित होते हैं, किन्तु जब वे समुद्रमें जाकर मिल जाते हैं तब तो एकमात्र जलरूप ही भासते हैं, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण अर्थ तथा अनर्थोंका समुदाय जो स्फुरित होता है वह सब सर्वत्र व्याप्त मन ही स्फुरित होता है, उसीसे अर्थोंका निर्भास होता है। मन तथा संसारके पदार्थोंमें भेद ऐसे

एकाभावे द्वयोः शान्तिः पवनस्पन्दयोरिव ।
नूनमेकोपशान्त्यैव निःसारे परमार्थतः ।
एकत्वादर्थमनसी सममेवाऽऽशु शाम्यतः ॥ ४१ ॥
अर्थः सङ्कल्परूपात्मा नेहितव्यो विजानता ।
मनश्च सम्यग्ज्ञानेन शान्तिरेवं भवेत्तयोः ॥ ४२ ॥
अनष्टे नश्यतश्चैते ज्ञस्यार्थमनसी स्वतः ।
मृन्मये द्विषति ज्ञानात् द्विषद्भावमये यथा ॥ ४३ ॥
यथासंस्थं स्थिते एव ज्ञस्यार्थमनसी सदा ।
किमप्यपूर्वमेवान्यत्सम्पन्ने भावरूपिणि ॥ ४४ ॥

नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें भेद नहीं है। [ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'एकाभावे' से।] इसलिए मन तथा सांसारिक पदार्थ—इन दोनोंमेंसे किसी एकका बाध हो जानेपर दोनोंका ही बाध हो जाता है, जैसे कि पवन तथा उसके स्पन्दनका। इसलिए इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमार्थदृष्टिसे निःसार इस जगत्में एकरूप होनेके कारण अर्थ और मन दोनों ही किसी एककी शान्तिसे शान्त हो जाते हैं। इससे तत्त्वज्ञानसे जब अर्थका बाध हो जाता है तब मन भी बाधित हो ही जाता है ॥ ३८–४१ ॥

संसारके सब अर्थ सङ्कल्परूप ही हैं, बुद्धिमान् व्यक्तिको उसकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए, मनकी भी यही स्थिति है, इसलिए तत्त्वज्ञानसे अर्थोंकी एवं मनकी निवृत्ति अवश्य हो जायगी ॥ ४२ ॥

संसारके पदार्थों और मनका जो यह बाध है वह स्वप्नमें हुए व्याघ्रनाशके समान अनष्टका ही नाश है, यह कहते हैं—'अनष्टे' इत्यादिसे।

भद्र, ज्ञानी पुरुषके अर्थ और मन अनष्ट ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब अर्थ और मनकी कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब उनका नाश ही क्या ? इसलिए वे अनष्ट ही हैं। जैसे कि किसी एक मिट्टीकी मूर्तिमें भ्रान्तिसे कोई एक पुरुष अपने शत्रुकी कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्ञानसे जब उसको मिट्टीकी मूर्ति मालूम पड़ जाती है, तब वह मूर्ति न शत्रुरूप ही रहती है और न शत्रु-जनित भयकी कारण ही होती है, बस वही स्थिति यहांपर भी है ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अर्थ और मन दोनों पारमार्थिक ब्रह्म-स्वभावसे ही

संहितार्थजगत्कालोऽप्यज्ञो ज्ञविषयोऽप्यसत् ।
पार्श्वसुप्तनरस्वप्न इव क्लीबाग्रयक्षवत् ॥ ४५ ॥
ज्ञस्य साज्ञं जगन्नास्ति वीरस्येव पिशाचधीः ।
ज्ञमज्ञो भावयत्यज्ञं चिरं वन्ध्याऽपि वर्द्धते ॥ ४६ ॥
विनैव ज्ञातशब्दार्थमर्थभावमिवागतम् ।
स्थितं बोधमनाद्यन्तं स्वभावं सर्गगं विदुः ॥ ४७ ॥
मनःशब्दार्थरहितं विभागान्तविवर्जितम् ।
बोधवारिमनोबुद्धितरङ्गमिव निर्मलम् ॥ ४८ ॥

स्थित हैं। वे जिस सांसारिक मिथ्यारूपसे स्थित थे उस रूपसे विलक्षण पूर्णानन्दात्मक पारमार्थिक सत्स्वरूपसे ही स्थित हैं ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे सुखादि भोग एवं जगत्को कार्य-कारणरूपसे जुटा देनेमें समर्थ काल, कालकृत जन्मादिविकार, भोगकर्ता एवं अज्ञोंके शब्दादि विषय—ये सब ऐसे असत् हैं, जैसे समीपमें सोये हुए पुरुषका स्वप्न और अधीर बालकको सामने भास रहा यक्ष ॥ ४५ ॥

जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टिमें पिशाचबुद्धि अस्तित्व नहीं रखती, वैसे ही ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अज्ञानियोंके समस्त जगत् भी अस्तित्व नहीं रखते। अज्ञानी पुरुष ज्ञानीको भी बहुतकालतक अज्ञानी समझता है। ठीक ही है, अज्ञानीकी दृष्टिसे तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्र आदि परम्परासे बढ़ती-रहती है ॥ ४६ ॥

तब तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत्का स्वभाव कैसा मानते हैं, इसपर कहते हैं—'विनैव' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी लोग तो ज्ञेयरूप न होते हुए भी स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे ही अर्थाभासकी तरह स्थित यानी भासमान (ज्ञेयरूप) तथा आदि और अन्तसे शून्य ब्रह्मरूप बोधको संसारका असली स्वभाव कहते हैं ॥ ४७ ॥

बाह्य अर्थोंमें कहे गये जाननेके प्रकारको आभ्यन्तर मानसिक अर्थोंमें भी समझना चाहिए, यह कहते हैं—'मनःशब्दार्थरहितम्' इत्यादिसे।

और मनके शब्दार्थसे रहित (मानसिक ज्ञानके अविषय) कालादि विभागकृत परिच्छिन्नतासे वर्जित बोधरूपी जल मन एवं बुद्धिरूपी तरङ्गोंसे युक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्मल ही है और इसीको प्रपञ्चगत स्वभाव समझते हैं ॥ ४८ ॥

क सम्भवत एवान्तः के वार्थमनसी किल ।
निरर्थिकैव विभ्रान्तिः स्वभावमयमास्यताम् ॥ ४९ ॥
शुद्धबोधस्वभावस्थैराकाशमिव शारदैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्तैर्मनस्त्वं नानुभूयते ॥ ५० ॥
विधूयानन्तनानात्वमसद्भावमनामये ।
ज्ञेयं रज्जुरिवाशेषं स्वभावे तिष्ठ चिद्घने ॥ ५१ ॥
ज्ञप्तिरेवान्तरं बाह्यं चार्थत्वमधितिष्ठति ।
बीजं शाखाफलानीव क्वातोऽर्थमनसी वद ॥ ५२ ॥

इस तरह विस्तारके साथ अज्ञानी और तत्त्वज्ञानियोंके जगत्-ज्ञानके जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, उनमें यथार्थरूप होनेके कारण द्वितीय प्रकार ही उपादेय है, यह कहते हैं—'क सम्भवत०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध आत्माके भीतर संसारके पदार्थों तथा मनका संभव कहां है अथवा वे ही क्या हैं ? इस मन तथा जगत्के विषयमें उत्पन्न हुई भ्रान्ति बिलकुल निरर्थक है । इसलिए आपसे यही कहना है कि आप ब्रह्मस्वभावमें स्थित रहिये ॥ ४९ ॥

अपनी असली स्थिति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ एकमात्र तुरीय बोधरूप बन जाती हैं तदनन्तर मनको मनन करनेका कोई विषय ही नहीं रह जाता, इससे मन भी शान्त हो जाता है, यह कहते हैं—'शुद्धबोध०' इत्यादिसे ।

शरत्कालके कमलों, तारों या मनुष्योंको आकाशकी नाईं शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्मस्वभावमें स्थित पुरुषोंको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे मनका अनुभव नहीं होता ॥ ५० ॥

जिसमें अनन्त नानात्व (भेद) उपस्थित है, ऐसे सम्पूर्ण ज्ञेयका विधूनन करके हे श्रीरामचन्द्रजी, रज्जुमें अध्यस्त सर्पका विधूनन कर अपने स्वरूपमें स्थित रज्जुकी नाईं आप भी अपने चिद्घन स्वभावमें स्थित हो जाइये ॥ ५१ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके स्वरूपको ज्ञप्ति ही धारण करती है, जैसे कि बीज शाखा तथा फल आदिके स्वरूपको धारण करता है । अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, बतलाइये तो सही, ऐसी स्थितिमें अर्थ और मन कहां रहे ॥ ५२ ॥

ज्ञेयासम्भतो ज्ञप्तिरप्यनाख्यं पदं गता ।
शान्ताशेषविशेषात्मा तेन शेषोऽस्ति सत्स्वभाः ॥ ५३ ॥
अर्थ एव मनस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ।
मन एवार्थसंस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ॥ ५४ ॥
सर्वात्मत्वादजस्यैतदप्यकारणकं मनः ।
भ्रमानुभवतोऽर्थश्च मिथ्यैवास्तीव भासते ॥ ५५ ॥
अकारणकमेवार्थनिर्भासं भासते मनः ।
विद्युद्विलसिताकारमस्थिरं तरलायते ॥ ५६ ॥
त्वं मनस्कारमात्रात्मा संसृतौ विभ्रमायसे ।
स्वभावैकपरिज्ञानान्नासि नापि भ्रमायसे ॥ ५७ ॥

ज्ञेय पदार्थोंके अभावसे ज्ञप्ति (बुद्धि या वृत्ति) भी अनिर्वचनीय पदको प्राप्त हो चुकी है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण विशेषोंसे शून्य स्वयंप्रकाश सद्रूप आत्मा ही शेष है ॥ ५३ ॥

पदार्थ और मन दोनोंका निरूपण एक-दूसरेके अधीन होनेसे इनमें कोई भेद न रहनेपर आखिरमें एकमात्र भ्रान्ति ही इनमें सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'अर्थ एव' इत्यादिसे ।

अर्थ ही मन है और वह अभावरूप भ्रम है तथा मन ही जगत्‌के पदार्थ-रूपसे परिणत होता है और वह भी अभावरूप भ्रम ही है ॥ ५४ ॥

तब ऐसी दशामें जगत्‌के पदार्थ और मन—वे दोनों तत्त्वतः क्या हैं ? इसपर कहते हैं—'सर्वात्मत्वात्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मके सम्पूर्ण वस्तुओंकी आत्मा होनेसे कारणशून्य इस मनरूपसे वही भासता है । और भ्रमके अनुभवसे पदार्थ भी मिथ्या ही भासता है ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे कारणरहित अर्थोंका प्रकाश होता है वैसे ही कारणरहित ही मन भी भासता है । बिजलीकी चमकके तुल्य अस्थिर यह मन इधर-उधर अपनी चंचलता प्रकट करता है ॥ ५६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र मनका स्वरूप होकर आप भी इस संसारमें भ्रान्त-से हो रहे हैं । एक आत्मस्वभावका यदि आप परिज्ञान कर लेते हैं, तब तो आप न मनरूप हैं और न भ्रान्त-से ही हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

मनसैव हि संसार आत्मबोधेन शाम्यति ।
शुक्तिरूप्यभ्रमाकारो जनो मिथ्यैव ताम्यति ॥ ५८ ॥
अभावभावस्तु परं बोधरूपमसंसृतिः ।
निर्वाणादितरा सत्ता दुःखायाहमिति भ्रमः ॥ ५९ ॥
मृगतृष्णाम्बुरूपोऽहमसच्छून्यस्वरूपकः ।
इत्येवात्मपरिज्ञानादहमित्येव शाम्यति ॥ ६० ॥
ज्ञात्वा ज्ञानमयो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरार्थताम् ।
गतं स्वमत्यजद्रूपं तरङ्गत्वं यथा पयः ॥ ६१ ॥
मूलशाखाग्रपर्यन्ता सत्ता विटपिनो यथा ।
निर्विकारमलं ज्ञप्तेर्ज्ञेयान्तैकैव भासते ॥ ६२ ॥

यह निश्चित है कि मनसे ही यह संसार उत्पन्न होता है और आत्मज्ञानसे शान्त हो जाता है। सीपमें चाँदीके भ्रमके आकारका मनुष्य झूठ-मूठमें दुःख उठाता है ॥ ५८ ॥

परन्तु ज्ञान ही परमात्माका असली स्वरूप है और संसारका अभाव भी ज्ञानरूप ही है। निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता तो एकमात्र दुःखके लिए ही है ॥ ५९ ॥

तब निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता किस उपायसे शान्त होती है, वह उपाय बतलाते हैं—'मृगतृष्णा०' इत्यादिसे।

मृगतृष्णाजलके सदृश इस अहङ्कारका रूप असत् और शून्य ही है, इस तरहके आत्माके परिज्ञानसे यह अहङ्कार बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ६० ॥

ऐसा कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—'ज्ञात्वा' इत्यादिसे।

सृष्टिके प्रारम्भमें ज्ञानमय ब्रह्मा सर्वज्ञ होनेके कारण सृष्टि करने योग्य सभी पदार्थोंको आत्मस्वरूप ही जानकर स्वयं उस तरहके ज्ञानसे युक्त हिरण्यगर्भ होकर उसके सङ्कल्पके अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थरूपताको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका परित्याग न करते हुए ही ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तरङ्ग-रूपताको जल ॥ ६१ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'मूलशाखा०' इत्यादिसे।

यथा योजनलक्षाभमेकमेवामलं नभः ।
एकमेव तथा ज्ञानं ज्ञेयान्तं भात्यखण्डितम् ॥ ६३ ॥
शून्यत्वादेकममलं यथा सर्वगमेव खम् ।
तथैकममलं ज्ञात्वा ज्ञानज्ञेयदशास्वपि ॥ ६४ ॥
घृतेनात्मा घनीभूय पाषाणीक्रियते यथा ।
चिता चेत्यतयाऽऽत्मैव स्वचित्तीक्रियते तथा ॥ ६५ ॥
देशकालं विनैवाऽऽत्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ।
अबुद्धो नीयते न्यायैरेकमेवैष सुस्थितः ॥ ६६ ॥
अत्र यद्यप्यबोधादेः सम्भवो नास्ति कश्चन ।
तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय परस्परम् ॥ ६७ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि मूलसे लेकर शाखाके अग्रभाग तक वृक्षकी जैसे एक ही सत्ता है वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप जगत्में भी अत्यन्त निर्विकारभावको प्राप्त ज्ञेयपर्यन्त एक ही ज्ञप्तिकी (ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी) सत्ता सर्वत्र भास रही है, दूसरी सत्ता नहीं है ॥ ६२ ॥

सत्ताकी एकतामें दूसरा दृष्टान्त देकर उसका उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे लाखों योजनपर्यन्त दूर एक ही निर्मल आकाश भासता है, वैसे ही ज्ञेयपर्यन्त एक ही अखण्डित निर्मल ज्ञान भासता है ॥ ६३ ॥

ज्ञानकी निर्मलतामें भी यही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'शून्यत्वा०' इत्यादिसे ।

जैसे सर्वत्र विद्यमान एक आकाश शून्यरूप होनेसे निर्मल है, वैसे ज्ञान-ज्ञेयदशामें भी विद्यमान ब्रह्म निर्मल है, यह जानकर स्थित रहिये ॥ ६४ ॥

जैसे शरीरको आत्मा घीके साथ मिलकर पाषाण-सा बना देता है, वैसे ही चेत्यरूप बनकर चिति ही आत्माको स्वचित्तरूप बना देती है ॥ ६५ ॥

बोधरूप आत्माके अज्ञानसे ही देश, काल आदि सामग्रीके विना यह अज्ञानी आत्मा चित्तरूप बन गया है । वस्तुतः उक्त तर्कोंसे यह आत्मा एक ही स्थित है ॥ ६६ ॥

शुद्ध चिदात्मामें यद्यपि अज्ञान आदिका कोई संभव नहीं है, तथापि अज्ञान-कालमें एक दूसरोंको बोध देनेके लिए यह सब कल्पना की जाती है ॥ ६७ ॥

महानुभावा विगताभिमाना
विमूढभावोपशमे गलन्ति ।
निर्भ्रान्तियोऽनन्ततयैव शान्ता
नित्यं समाधानमया भवन्ति ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मैकतानतोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

क्रमात्समाधानतरोराजीवफलशालिनीम् ।
सलताकुसुमां ब्रूहि सत्तां विश्रान्तिदां मुने ॥ १ ॥

चूँकि अविद्या आदिका स्वरूप सर्वथा असंभव है, इसलिए तत्त्वज्ञानका उदय हो जानेपर अविद्याके साथ सब पदार्थ गल जाते हैं। इस तरह उपसंहार करते —'महानुभावा' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञानसे मूलाज्ञानके शान्त हो जानेपर महानुभाव लोग अभिमानरहित हो घीकी तरह अपने स्वरूपमें ही गलित हो जाते हैं तथा गल जानेसे वे निरतिशयानन्दपूर्णभावसे शान्त होते हुए विक्षेपरहित हो निरन्तर समाधिरूपी विश्रान्तिमें तत्पर होते हैं ॥ ६८ ॥

तेंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

[समाधिरूपी कल्पद्रुमको हरतरहसे बढ़ाना चाहिये, ताकि उसके नीचे जीवका श्रान्त मनरूपी मृग अच्छी तरह विश्रान्ति पा सके, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, समाधिरूपी वृक्षकी सत्ताका (स्थितिका) क्रमशः वर्णन कीजिये, जो विवेकी पुरुषोंके जीवनके उपयोगी सब तरहके फलोंसे

वसिष्ठ उवाच

आजीवमुद्यदुत्सेधं विवेकिजनकानने ।
पत्रपुष्पफलोपेतं समाधानतरुं शृणु ॥ २ ॥
यथाकथंचिदुदितं दुःखेन स्वयमेव च ।
संसारवननिर्वेदं बीजमस्य विदुर्बुधाः ॥ ३ ॥
शुभजालहलाकृष्टं रसासिक्तमहर्निशम् ।
प्रवहच्छ्वसनाकुल्यं क्षेत्रमस्य विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
समाधिबीजं संसारनिर्वेदः पतति स्वयम् ।
चित्तभूमौ विविक्तायां विवेकिजनकानने ॥ ५ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं ध्यानबीजं महाधिया ।
सेकैरमीभिर्यत्नेन संसेक्तव्यमखेदिना ॥ ६ ॥

सुशोभित है तथा जो लता, पुष्प आदिसे युक्त मनरूपी मृगको विश्रान्ति प्रदान करनेवाली है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, सुनिये, मैं आपसे ऐसे समाधिरूपी वृक्षका वर्णन कर रहा हूँ, जो विवेकीजनरूपी जङ्गलमें पैदा हुआ है, जिसकी ऊँचाई अभी भी बढ़ती ही जा रही है, जो अपने पत्र, पुष्प एवं फलोंसे खूब लदा है और जो विवेकी पुरुषोंको सब तरहसे जीवन प्रदान करनेवाला है ॥२॥

शत्रुओं तथा सगे-सम्बन्धियों द्वारा हुए अपमान आदिसे जन्य दुःखसे या भाग्यवशात् अपने-आप अथवा साधुओं या मित्रों आदिके उपदेशसे या और किसी दूसरे निमित्तसे तात्पर्य यह कि जिस किसी तरहसे उत्पन्न हुआ जो संसाररूपी वनमें परम वैराग्य है, उसीको विद्वान् लोग समाधिरूपी वृक्षका बीज कहते हैं ॥३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तको ही विद्वान् लोग इस बीजका खेत बतलाते हैं, जो शुभकर्मसमूहरूपी हलोंसे खूब जोता गया है, शान्ति आदि जलसे रात-दिन खूब सींचा गया है तथा निरन्तर बह रहे प्राणायामरूपी नहरसे जो युक्त है ॥ ४ ॥

यह संसारका परम वैराग्यरूप समाधिका बीज विवेकीजनरूपी जंगलमें विवेकज्ञानसे परिष्कृत चित्तरूपी भूमिमें अपने ही जाकर गिरता है ॥ ५ ॥

अपनी चित्तरूप भूमिमें गिरे हुए पूर्वोक्त वैराग्यरूपी समाधिबीजको

ः स्निग्धैः पवित्रैश्च मधुरैरात्मनो हितैः ।
सत्सङ्गमनवक्षीरैरैन्दवैरमृतैरिव ॥ ७ ॥
अन्तःशून्यप्रदैः पूर्णैः स्वच्छैरमृतशीतलैः ।
विसृतैरमृताकुल्याशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥ ८ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं परिज्ञाय महाधिया ।
बीजं संसारनिर्वेदो रक्ष्यं ध्यानस्य यत्नतः ॥ ९ ॥
तपःप्रकारदानेन पदार्थघटनेशितैः ।
तीर्थायतनविश्रान्तिवृत्तिविस्तारकल्पनैः ॥ १० ॥

बढ़ानेकी इच्छासे दृढ़बुद्धि रखनेवाले खेदशून्य पुरुषको निम्नलिखित जलोंसे यत्नपूर्वक निरन्तर उसे सींचते रहना चाहिये ॥ ६ ॥

सर्वप्रथम बुद्धिमान् पुरुषको सज्जनोंकी सङ्गतिरूपी नवीन क्षीरसे, तदनन्तर शास्त्ररूपी अमृतसे उसे सींचना चाहिये, यह कहते हैं—'शुद्धैः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शुद्ध, स्नेहयुक्त, पवित्र, मधुर और आत्माके लिए हितकारक, चन्द्रमाके अमृतके सदृश सत्संगम-रूपी नूतन क्षीरसे समाधिके बीजको सबसे पहले सिक्त करे । उसके बाद 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सम्पूर्ण द्वैतके निषेधसे अन्तःकरणको सांसारिक पदार्थोंसे शून्य बना देनेवाले, पूर्ण, स्वच्छ, सब तरहके तापोंकी शान्ति हो जानेसे अमृतकी तरह स्वादु और शीतल तथा अमृतप्रवाहके नहरके तुल्य तत्त्वज्ञानके द्वारभूत श्रवण-मननादिरूप शास्त्रार्थोंके निर्मल जलोंसे समाधिके बीजको सिक्त करे ॥ ७, ८ ॥

संसारको त्याग देनेकी प्रबल इच्छारूप समाधिबीजको अपनी चित्तरूपी भूमिमें गिरे जानकर बुद्धिमान् पुरुषको उसकी अनेक यत्नोंसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

वे यत्न कौन हैं, इसपर कहते हैं—'तपःप्रकारदानेन' इत्यादिसे ।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप एवं दानसे और अभिमान आदिसे शून्य पदार्थोंके संघटनसे समर्थित—पुण्यमय तीर्थ स्थानोंमें निवासरूपी वृत्तिके विस्तारकी नानाविध—कल्पनाओंसे इस बीजकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १० ॥

कर्तव्योऽङ्कुरितस्यास्य रक्षिता शिक्षिताशयः ।
सन्तोषनामा प्रियया नित्यं मुदितयाऽन्वितः ॥ ११ ॥
पश्चात्स्थिताशाविहगान्परप्रणयपक्षिणः ।
अस्मादापततः कामगर्वगृध्रान्निवारयेत् ॥ १२ ॥
मृदुभिः सत्क्रियाकुन्तैर्विवेकार्कातपैरपि ।
अचिन्त्यालोकदैरस्मान्मार्जितव्यं रजस्तमः ॥ १३ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गाभोगभङ्गुराः ।
पतन्त्यशनयस्तस्मिन् दुष्कृताभ्रसमीरिताः ॥ १४ ॥
धैर्योदार्यदयामन्त्रैर्जपस्नानतपोदमैः ।
विनिवारयितव्यास्ताः प्रणवार्थत्रिशूलिना ॥ १५ ॥
इति संरक्षितादस्माद्ध्यानबीजात्प्रवर्तते ।
आभिजात्योन्नतः श्रीमान्विवेकाख्यो नवाङ्कुरः ॥ १६ ॥

इस तरह सींचने आदिके बाद बीजमें जब अङ्कुर पैदा हो जाय, तब इसकी रक्षाके लिए अत्यन्त निपुण सन्तोषनामक पुरुषको उसकी मुदितानामक प्रियपत्नीके साथ संरक्षक बना देना चाहिये ॥ ११ ॥

तदनन्तर पूर्ववासनाओंमें स्थित आशारूपी विहगों, आत्मासे भिन्न पुत्र, मित्र, आदिमें अनुरागरूपी पक्षियों तथा ध्यानाङ्कुरके नाशके लिए झपट रहे काम, गर्व धन आदिरूप गृध्रोंको इसी सन्तोषनामक रक्षक द्वारा दूर भगा देना चाहिए ॥१२॥

अहिंसाप्रधान होनेसे अत्यन्त कोमल, यम, नियम, प्राणायाम, ईश्वरोपासनादि सत्क्रियारूपी झाड़ुओंसे इस अंकुरके खेतसे रजको (रजोगुणको) दूर फेंक देना चाहिये तथा इसी तरह अचिन्त्य ब्रह्मलोकपद विवेकरूपी धूपसे अज्ञानरूपी अन्धकारको भी दूर भगा देना चाहिये ॥ १३ ॥

भोगों द्वारा क्षणभंगुर तथा तरङ्गोंके समान चंचल, दुष्कृतरूपी मेघोंसे प्राप्त सम्पत्ति और प्रमदारूपी अनेक वज्र इस अंकुरके ऊपर गिरते हैं ॥ १४ ॥

इसलिए धैर्य, औदार्य तथा दया आदि यत्नोंसे एवं जप, स्नान, तप और दम आदिके द्वारा प्रणवके अर्थरूप त्रिशूलको धारण करके उन वज्रपातोंका निवारण करना चाहिए ॥ १५ ॥

इस तरहसे रक्षित इस ध्यानके बीजसे विवेकनामक नवीन अंकुर उत्पन्न

तेन सा चित्तभूर्भाति सप्रकाशा विकासिनी ।
भवत्यालोकरम्या च खं यथाऽभिनवेन्दुना ॥ १७ ॥

तस्मादङ्कुरतः पत्रे उभौ विकसतः स्वयम् ।
एकं शास्त्राभिगमनं द्वितीयं साधुसङ्गमः ॥ १८ ॥

स्तम्भमेष निबध्नाति स्थैर्यं नाम समुन्नतिम् ।
सन्तोषत्वग्विवलितं वैराग्यरसरञ्जितम् ॥ १९ ॥

वैराग्यरसपुष्टात्मा शास्त्रार्थप्रावृषान्वितः ।
स्वल्पेनैव स्वकालेन परामेति समुन्नतिम् ॥ २० ॥

शास्त्रार्थसाधुसम्पर्कवैराग्यरसपीवरः ।
रागद्वेषकपिक्षोभैर्न मनागपि कम्पते ॥ २१ ॥

अथ तस्मात्प्रजायन्ते विज्ञानालङ्कृताकृतेः ।
लता रसविलासिन्य इमा विततदेशगाः ॥ २२ ॥

होता है, जो अत्यन्त पुष्ट और सौन्दर्यकी अधिकतासे उन्नत एवं श्रीसम्पन्न रहता है ॥ १६ ॥

जैसे अभिनव चन्द्रमासे आकाश सुन्दर प्रतीत होता है वैसे ही उस विवेक-नामक नवीन अंकुरसे आत्मप्रकाशयुक्त विकासशालिनी चित्तभूमि आलोक रहनेसे सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस अंकुरसे दो पत्ते अपने-आप निकलते हैं। जिनमें एकका नाम तो वेदान्तशास्त्रोंका विचार और दूसरेका साधुपुरुषोंका समागम है ॥१८॥

आगे चलकर यह अंकुर सन्तोषरूपी त्वचासे वेष्टित तथा वैराग्यरूपी रससे रञ्जित हो काण्ड, दृढ़मूलता और अपनी ऊँचाईको ग्रहण करता है ॥ १९ ॥

शास्त्रार्थरूपी वर्षाका जल पाकर वैराग्यरूपी रससे जब इसकी आत्मा खूब पुष्ट हो जाती है तब यह अंकुर अपने थोड़ेसे ही समयमें परम उन्नतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

वेदान्तशास्त्रोंके विचार, साधुओंकी सङ्गति तथा वैराग्यरूपी रससे जब यह खूब मोटा हो जाता है तब राग-द्वेषरूपी बन्दरोंके हिलाने-डुलानेसे तनिक भी कम्पित नहीं होता ॥ २१ ॥

तदनन्तर विज्ञानसे अलंकृत आकारवाले उस विवेकसे आत्मरससे

स्फुटता सत्यता सत्ता धीरता निर्विकल्पता ।
समता शान्तता मैत्री करुणा कीर्तिरार्यता ॥ २३ ॥
लताभिर्गुणपत्राभिः स ध्यानतरुरूर्जितः ।
यशःपुष्पाभिरेताभिः पारिजातायते यतेः ॥ २४ ॥
इत्यसौ ज्ञानविटपी लतापल्लवपुष्पवान् ।
भविष्यज्ज्ञानफलदो दिनानुदिनमुत्तमः ॥ २५ ॥
यशःकुसुमगुच्छाढ्यो गुणपल्लवलासवान् ।
वैराग्यरसविस्तारी प्रज्ञामञ्जरिताकृतिः ॥ २६ ॥
सर्वाः शीतलयत्याशाः प्रावृषीव पयोभरः ।
सर्वातपं शमयति सूर्यतापमिवोडुपः ॥ २७ ॥

विलास करनेवाली एवं बहुत दूर देशतक जानेवाली * ये लताएँ प्रादुर्भूत होती हैं—॥ २२ ॥

स्वात्मतत्त्वका स्पष्ट आविर्भाव, एकमात्र उसीकी सत्यता, आत्मस्वरूपसे स्थिति, धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता—ये सब लताएँ उसी एक विवेकरूपी अंकुरसे निकलती हैं ॥ २३ ॥

यशरूपी पुष्पों तथा शान्ति आदि गुणरूपी पत्तोंसे शोभित इन लताओंसे परिपुष्ट ध्यानरूपी वृक्ष संन्यासीके लिए पारिजात-सा बन जाता है—कल्पवृक्ष हो जाता है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, लता, पल्लव तथा पुष्पोंसे सुशोभित इस तरहका यह उत्तम ज्ञानरूपी वृक्ष (समाधिरूपी वृक्ष) दिन-पर-दिन भविष्यत् कालमें मूलाज्ञानके उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी ज्ञानका प्रदाता होता है, जिससे कि सप्तम भूमिकातक विश्रान्ति प्राप्त हो जाय ॥ २५ ॥

यशरूपी पुष्पोंके गुच्छोंसे भरा, गुणरूपी पत्तोंके विलाससे भूषित, वैराग्यरूपी रससे विस्तारको प्राप्त तथा प्रज्ञारूपी मञ्जरियोंसे अलंकृत यह समाधिरूपी वृक्ष सारी दिशाओंको ऐसे शीतल कर देता है; जैसे कि वर्षा ऋतुमें मेघ एवं सांसारिक तापको ऐसे शान्त कर देता है, जैसे कि सूर्यके तापको चन्द्रमा ॥ २६,२७ ॥

---

* शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत दूर देशतक जानेवाली—यह साधारण अर्थ है। इसका विशेष अर्थ 'अपरिच्छिन्न आत्म-प्रदेशमें जानेवाली' है ।

प्रतनोति शमच्छायां छायामिव घनागमः ।
निरोधमास्फारयति शमोऽनिल इवाम्बुदम् ॥ २८ ॥
निबध्नात्यात्मना पीठं कुलाचल इव स्थितम् ।
फलस्य रचयत्यूर्ध्वं घटिकामङ्गलादिताम् ॥ २९ ॥
विवेककल्पवृक्षे तु वर्द्धमाने दिनेदिने ।
छायावितानवलिते पुंसो हृदयकानने ॥ ३० ॥
प्रवर्तते शीतलता तलतापापहारिणी ।
अभ्युल्लसन्मतिलता तुषारोदरसुन्दरी ॥ ३१ ॥
यस्यामवान्तरश्रान्तो विश्राम्यति मनोमृगः ।
आजन्मजीर्णपथिकः पथि कोलाहलाकुलः ॥ ३२ ॥
सत्तामात्रात्मशारीरचर्मार्थं प्रेक्षितोऽरिभिः ।
नानातासारसाकारगोपयज्जर्जरोन्मुखः ॥ ३३ ॥

जैसे मेघ छायाका विस्तार करता है वैसे ही यह भी शमतारूपी छायाका विस्तार करता है और शम भी चित्तकी स्थिरताको ऐसे बढ़ाता है, जैसे पूर्वी हवा बादलको ॥ २८ ॥

आत्मज्ञानके मूलबन्धको यह अपनेसे ही ऐसे बाँध देता है, जैसे कुलाचल-पर्वत स्थित अपने मूलको। हे श्रीरामजी, यह वृक्ष, अपने ऊपर कैवल्यनामक फल देनेवाले शान्ति आदि माङ्गलिक गुच्छोंकी शोभा रचता है ॥ २९ ॥

पुरुषके हृदयरूपी जंगलमें छायाके वितानसे वेष्टित इस विवेकरूपी कल्प-वृक्षके दिन-दिन बढ़नेपर हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी भूमिके आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक तापोंका हरण करनेवाली उल्लसित हो रही बुद्धिरूपी लतासे तुषारगर्भके समान एक सुन्दर शीतलता प्रवृत्त होती है ॥ ३०,३१ ॥

अनेक जन्मोंके नानाविध दुःखोंसे जीर्ण, दैवात् सन्मार्ग प्राप्त हो जानेपर भी नानावादियोंके कोलाहलसे व्यग्र होकर उस मार्गसे भ्रष्ट एवं विभिन्न संसार-प्रान्तोंमें घूमते रहनेसे श्रान्त यह मनरूपी पथिक मृग इसी वृक्षकी शीतल छायामें आकर विश्राम करता है ॥ ३२ ॥

एकमात्र सत्ता ही जिसकी आत्मा है ऐसे पुरुषरूपी चमड़ेका अपहरण करनेके लिए काम, क्रोध आदि छः व्याध इसके पीछे पड़े हैं। अनेक प्रकारके

संसारारण्यविसरद्वासनापवनेरितः ।
अहन्तातापसरिता सर्वदा विप्रदारदी ॥ ३४ ॥
दीर्घादरीदूरचितसारसंचारजर्जरः ।
पुत्रपौत्रपरामर्शप्रतापात्पतितोऽवटे ॥ ३५ ॥
लक्ष्मीलताविलुठनात्सङ्कटैः कुण्ठिताङ्गकः ।
तृष्णाश्रीसरितं गृह्णन् कल्लोलैर्दूरमाहतः ॥ ३६ ॥
व्याधिदुर्व्याधवैधुर्यपलायनपरायणः ।
अशङ्कितविधिव्याधपातादिव कृताकृतिः ॥ ३७ ॥

असार शरीर आदिरूप कण्टकोंके कुञ्जोंमें बार-बार छिपकर यह अपनेको बचानेकी चेष्टा करता है। यहाँतक कि उन कुञ्जोंमें बार-बार छिपनेकी कोशिश करनेसे इस मृगका मुख उस शरीरके अन्दर वर्तमान नाना प्रकारके दोषरूपी काँटोंसे जर्जर हो गया है ॥ ३३ ॥

वासनारूपी पवनसे प्रेरित संसाररूपी जंगलमें दौड़ रहा यह मृग अहन्तारूपी मृगतृष्णाकी ओर सदा दौड़ते रहनेसे अन्तःकरणके तृष्णारूपी विषके दाहसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है ॥ ३४ ॥

यह मनरूपी मृग अनेक प्रकारके भोगोंमें आदर रखनेवाला है—थोड़ेमें कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। यही कारण है कि चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, लेकिन वहाँ भी उपजे हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयोंमें बराबर दौड़ते रहनेसे इसका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया है। [क्या कहा जाय !] यह तो पुत्र, पौत्र आदिकोंके रात-दिन परिपालनकी चिन्तामें ही व्यस्त रहनेके कारण आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन तरहके तापोंसे अनर्थरूपी गड्ढेमें जा गिरा है ॥ ३५ ॥

सम्पत्तिरूपी लताओंमें पैर फँस जानेसे जब यह उठकर भागना चाहता है तब पुनः लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, शत्रु, चोर तथा राजा आदि इसे शीघ्र पकड़कर बाँध ले जाते हैं, खूब पीटते हैं तथा नाना प्रकारके दण्ड लगाते हैं। इन सब संकटोंसे इसका शरीर अत्यन्त कुण्ठित हो गया है—किसी कामका नहीं रह गया है। तृष्णारूपी सुन्दर नदीका अवगाहन करनेवाला यह, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह आदिरूप तरङ्गोंसे दूर फेंक दिया जाता है ॥३६॥

अनेक व्याधिरूपी दुष्ट व्याधोंके दुःखोंसे पलायनमें तत्पर यह मृग दैवकी

ज्ञेयास्पदसमायातदुःखसायकशङ्कितः ।
वैरिविद्रवणव्यग्रो दृषदाहरणाङ्कितः ॥ ३८ ॥
उन्नतानतसम्पातनिपातेनातिघूर्णितः ।
विकारोपलनिर्घातैः पारम्पर्येण चूर्णितः ॥ ३९ ॥
तृष्णाचारुलताजालप्रवेशवशविक्षतः ।
स्वप्रज्ञारचिताचारः परमायास्त्वशिक्षितः ॥ ४० ॥
इन्द्रियग्राममागत्य प्रपलायनतत्परः ।
सुदुर्ग्रहगजेन्द्रोग्रविस्फूर्जनविमर्दितः ॥ ४१ ॥
विषयाजगरोदारविषफूत्कारमूर्च्छितः ।
कामुकः कामिनीभूमौ रसात्प्रायो विपोथितः ॥ ४२ ॥

संभावनासे रहित है । व्याधोंके आगमनसे मानो इसने अपने आकारको संकुचित कर लिया है ॥ ३७ ॥

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके आस्वादके विषय गीतों, घण्टाके शब्दों तथा यव आदि अङ्कुरोंके निमित्तभूत व्याधोंके खेत आदिसे उत्पन्न दुःखरूपी बाणोंसे शङ्कित, काम, क्रोध आदि शत्रुओंके आक्रमणसे व्यग्र तथा पत्थरोंके प्रहारोंके तुल्य पूर्व-पूर्वकालके दुःखोंके अनुभवरूप संस्कारोंसे युक्त यह मनरूपी मृग है ॥ ३८ ॥

स्वर्ग, नरक आदिरूप ऊँचे-नीचे स्थानोंमें क्रमशः चढ़ने-गिरनेसे इसके मस्तकमें चक्कर आ गया है तथा काम, क्रोध आदिरूप पत्थरोंकी निरन्तर चोट खानेसे यह चूर्ण-चूर्ण हो गया है ॥ ३९ ॥

तृष्णारूपी सुन्दर लताओंमें छिपते रहनेसे इसका शरीर घावयुक्त हो गया है । इसने अपनी बुद्धिसे अनेक तरहके आचारोंकी कल्पना कर रक्खी है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह परमात्माकी मायाके विषयमें अशिक्षित है ॥ ४० ॥

यह इन्द्रियरूपी गाँवमें आकर भागनेमें तत्पर है । जिसको वशमें कर लेना कोई लड़कोंका खेल नहीं है ऐसे कामरूपी गजेन्द्रकी भयानक गर्जनासे यह मर्दित हो चुका है ॥ ४१ ॥

विषयरूपी अजगरोंके भयानक विषरूपी फुफकारसे यह मूर्च्छित हो गया है तथा कामिनीरूपी भूमिमें कामुक यह मनरूपी मृग विषयरससे प्रायः मर्दित हो गया है ॥ ४२ ॥

कोपदावानलप्लुष्टपृष्ठविस्फोटदाहवान् ।
सदा गतागतानेकदीर्घदुःखप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥
स्वात्मलग्नाभिलाषांशदंशदोषैरुपद्रुतः ।
भोगलोभलसन्मोदशृगालैश्चिरविद्रुतः ॥ ४४ ॥
स्वकर्मकर्तृतोद्भ्रान्तदारिद्र्यद्वीप्यनुद्रुतः ।
व्यामोहमिहिकान्धत्वकूटावटलुठत्तनुः ॥ ४५ ॥
मानसिंहसमुल्लासहृदयोत्कम्पनातुरः ।
मरणेन रणे येन वृकपुष्पमिवेक्षितः ॥ ४६ ॥
गर्वेण गिरणायाशु दूरतो जनसेवितः ।
कामैः समन्ततो दन्तवितानितयवाङ्कुरः ॥ ४७ ॥

क्रोधरूपी दावाग्निसे यह जल गया है। यही कारण है कि इसके पीठपर मानो फोड़ा हो जानेसे इसे बाहर दाह हो रहा है। और हे श्रीरामजी, विषयोंमें बार-बार भ्रमण करते रहनेसे अनेक तरहके चिन्तारूपी दुःखोंसे इसके भीतर भी भारी दाह उठ रहा है ॥ ४३ ॥

अपनी आत्मामें संलग्न अनेक अभिलाषारूपी मच्छर इसे काट-खाये डालते हैं। भोगोंके लोभमें मनोहर प्रमोदरूपी सियार इसके पीछे चिरकालसे दौड़ रहे हैं और यह भी उनके भयसे वेगपूर्वक आगे भाग रहा है ॥ ४४ ॥

यह तो अपने ही कर्म और कर्तृताके फेरमें पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, फिर भी एक दारिद्र्यरूपी व्याघ्र इसके पीछे लगा है। स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्ति-रूपी व्यामोहमिहिकासे—अन्धा बना देनेवाले कुहरेसे अन्धा होकर कपटरूपी पर्वतकी चोटियोंपर चढ़ते समय नीचकृत्यरूपी गड्ढोंमें गिर जानेसे इसका शरीर भग्न हो गया है ॥ ४५ ॥

मानरूपी सिंहके समुल्लाससे इसके हृदयमें उत्कम्पन हो रहा है—इसकी छाती धड़क रही है, उससे यह आतुर हो गया है। तथा प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याघ्रसे प्रहार करते समय अगस्त वृक्षके पुष्पकी नाईं सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य यह दृष्ट है ॥ ४६ ॥

निर्जन जंगलमें गर्वरूपी अजगर इसको शीघ्र निगल जानेके लिए चिरकालसे ा कर बैठा है। नानाविध कामनाओंकी सिद्धिके लिए चारो ओर अपनी

तारुण्यनारीसुहृदा क्षणमालिङ्ग्यवर्जितः ।
दुःसञ्चारेषु पवनैः कुपितैरिव वर्जितः ॥ ४८ ॥
कदाचिन्निर्वृतिं याति स शमं च तरौ क्वचित् ।
मनोहरिणको राजन्नाजीवमिव भास्वति ॥ ४९ ॥
तालीतमालबकुलादिकवृक्षगुल्म-
विश्रान्तिषु प्रचुरपुष्पविलासहासैः ।
नामापि यस्य न विदन्ति सुखस्य मूढाः
प्राप्नोति तच्छमतरोः स्वमनोमृगो वः ॥५०॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोमृगविपद्वर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

दीनता प्रकटकर भीख माँगनेके निमित्त इसने दाँतोंरूपी मानो यवके अंकुर फैला रक्खे हैं ॥ ४७ ॥

स्त्रीके लिए बने हुए युवावस्थारूपी प्रियमित्रने क्षणभर इसका आलिङ्गन कर इसे फिर छोड़ दिया है। झंझावातके सदृश कुपित इन्द्रियोंने दुर्गम नरक लोक तथा स्थावर आदि योनिरूप अनेक जंगलोंमें ले जाकर इसे बार-बार फेंक दिया है ॥४८॥

हे राजन्, इस तरहका यह मनरूपी मृग अनेक जन्मोंके संचित पुण्यके उदयसे कभी अधिकारी शरीरमें शम आदि साधनोंसे युक्त होनेपर इस पूर्वोक्त समाधिरूपी वृक्षके नीचे विश्रान्तिसुखको ऐसे प्राप्त करता है, जैसे रातमें शीत तथा अन्धकारसे पीड़ित प्राणी सूर्यका उदय होनेपर ॥ ४९ ॥

हे श्रोताओ, ताली, तमाल, बकुल आदि वृक्षोंके मूलके नीचे प्राप्त होनेवाले विश्रामोंके सदृश भूलोकसे लेकर सत्यलोकपर्यन्तके निवासोंमें प्रचुर फूलोंके विकासरूपी हासोंके सदृश अनित्य भोगाभासोंके निमित्त यानी उनमें फँसे रहनेके कारण जिस निरतिशय भूमानामक सुखका नाम भी आत्मज्ञान-शून्य लोग नहीं जानते, ऐसे पुनर्जन्मसे शून्य मोक्षनामक विश्रान्तिसुखको आपका अपना मनरूपी मृग उस ध्यानरूपी कल्पवृक्षके ही नीचे आकर प्राप्त कर सकता है, जिसका मैंने अभी आप लोगोंसे वर्णन किया है ॥ ५० ॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति विश्रान्तवानेष मनोहरिणकोऽरिहन् ।
तत्रैव रतिमायाति न याति विटपान्तरम् ॥ १ ॥
एतावताऽथ कालेन स विवेकद्रुमः फलम् ।
अन्तस्थं परमार्थात्म शनैः प्रकटयत्यलम् ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलं पुण्यं तदसौ स्वमनोमृगः ।
अधःस्थितः प्रान्तगतं तस्य पश्यति सत्तरोः ॥ ३ ॥
आरोहति नरो वृक्षं तदास्वादयितुं फलम् ।
अन्यवर्गपरित्यागो विततध्यवसायवान् ॥ ४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

[ध्यानरूपी वृक्षके ऊपर मनको चढ़नेका क्रम तथा उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें आरूढ़ हो रहे मनका सुखोत्कर्ष—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, इस तरह ध्यानरूप कल्पतरुवृक्षके ऊपर विश्रान्ति ले रहा मनरूपी हरिण उसी वृक्षपर प्रेम करने लग जाता है, दूसरे वृक्षपर नहीं जाता ॥ १ ॥

अनन्तर—कुछ समयके बाद वह विवेकपूर्ण ध्यानवृक्ष पाँच कोशोंके भीतर स्थित पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफलको धीरे-धीरे पूर्णरूपसे प्रकट करता है यानी प्रत्यक्ष कराता है ॥ २ ॥

चतुर्थ भूमिकामें असंभावनादोषका थोड़ा विनाश रहता है और मन्द अन्धकारमें घट आदिकी जैसी संभावना होती है, वैसी उसमें भी आत्मतत्त्वकी संभावना होती है, इससे अब पहले चतुर्थ भूमिकाका द्वार बतलाते हैं—'ध्यान०' इत्यादिसे ।

उस उत्तम ध्यानरूपी वृक्षके नीचे विश्रान्ति ले रहा यह अपना मनरूपी मृग उस मोक्षरूप ध्यानवृक्षफलको, जो शाखाके आगे लगा हुआ है, देखता है ॥३॥

बड़े भारी अध्यवसाय (प्रयत्न) से भरा तथा अपने सब धर्मोंको छोड़ देनेवाला यानी परमविरक्त पुरुष उक्त फलका स्वाद लेनेके लिए उस वृक्षपर चढ़ता है ॥ ४ ॥

विवेकवृक्षपान्नाम वृत्तीस्त्यजति भूगताः ।
उन्नतं पदमासाद्य भूयो नाधः समीहते ॥ ५ ॥
तेनोत्तमफलार्थेन संस्कारान्प्राक्तनानसौ ।
विवेकपादपारूढस्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ६ ॥
हसत्युच्चैः पदारूढमात्मानमवलोकयन् ।
एतावन्तमहं कालं कृपणः कोऽभवं त्विति ॥ ७ ॥
करुणादिषु तेष्वस्य भ्रमञ्छाखान्तरेषु सः ।
लोभव्यालमधः कुर्वन् सम्राडिव विराजते ॥ ८ ॥
हृदयेन्दोर्गलश्रेणीदुःखाञ्जतिमिरावलिः ।
कृष्णायःशृङ्खलातृष्णा दिनानुदिनमुज्झति ॥ ९ ॥

कैसे चढ़ता है, इसे कहते हैं—'विवेक०' इत्यादिसे ।

जो अध्यवसायी चढ़ता है, वह सबसे पहले विवेक वृक्षके ऊपर अपना पैर दृढ़ जमा लेता है, फिर पहलेकी संसारवृत्तियोंका एकदम त्याग कर देता है । ऐसा करनेपर वह ऐसे ऊँचे स्थानपर अपना स्थान बना लेता है कि फिर कभी नीचे नहीं गिरता ॥ ५ ॥

उक्त उत्तम फलकी इच्छासे विवेकरूपी वृक्षपर चढ़ा हुआ पुरुष अपने पहलेके संस्कारोंको उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप अपनी केंचुलको छोड़ देता है । संस्कारोंका त्याग कर देनेसे पहलेका कुछ भी स्मरण नहीं होता, यह भाव है ॥ ६ ॥

यदि उसे कुछ पहलेका स्मरण हुआ, तो भी वह जोरसे हँसने लग जाता है और अपनेको ऊँचे विवेकवृक्षके ऊपर चढ़ा देखकर विचारता है कि इतने समयतक मैं विषय-सुखोंकी लालचसे कितना दीन बना था ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण भूतोंपर करुणा आदिरूप* इस वृक्षकी शाखाओंमें भ्रमण कर रहा यानी व्युत्थानकालमें विहार कर रहा यह मनरूपी मृग लोभ आदिरूप व्यालोंको नीचे करके पूर्णकाम सम्राट्की तरह शोभित होता है ॥ ८ ॥

सद्बुद्धिरूपी चन्द्रमाको निगल जानेवाली अमावस्याकी पङ्क्तिभूत तथा

---

* आदिपदसे यहाँ 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' इत्यादि दैवी सम्पत्तियोंका ग्रहण है ।

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तःशीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ १० ॥
शास्त्रार्थपल्लवेष्वेव निषण्णात्माऽवतिष्ठते ।
उन्नतावनतायाता अधः पश्यञ्जगद्गतीः ॥ ११ ॥
भीमद्रुमलतोत्कीर्णपुष्पप्रकरदन्तुराः ।
प्राक्तनीः स्वाः स्थलीः पश्यन् हसत्यन्तर्वराकताम् ॥ १२ ॥
तेषु तत्स्कन्धदेशेषु तथोड्डीनविडीनया ।
हारिण्या विहरज्ज्ञात्या राजेव परिराजते ॥ १३ ॥

दुःखरूपी चन्द्रमामें अनेकत्वकी भ्रान्ति पैदा कर देनेवाली तिमिररोगकी पङ्क्तिरूप लोहेकी निर्मित शृंखला-सी प्राणियोंके बन्धनकी हेतु तृष्णा दिनपर दिन † इसको छोड़ती जाती है ॥ ९ ॥

यह न तो प्राप्त वस्तुओंकी उपेक्षा करता है और न अप्राप्त वस्तुओंकी अभिलाषा करता है, बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियोंमें चन्द्रमाकी नाईं सौम्य तथा शीतल अन्तःकरणसे युक्त होकर स्थित रहता है ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रसे अतिरिक्त शास्त्रोंके अनुसार प्रवृत्ति होनेपर प्राणियोंको ब्रह्म-लोकपर्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त होते हैं तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेपर नरकपर्यन्त निम्न श्रेणीके स्थान लब्ध होते हैं—इस तरह संसारकी उन्नत और अवनत दशाओंको अज्ञानावस्थामें देख रहा यह अध्यात्मशास्त्रके विषय शम, दम, सन्तोष आदि रूप पल्लवोंमें ही अपने स्वरूपको छिपाकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

भयंकर विषवृक्षलताओंमें विकसित विषमय पुष्पसमूहरूपी दाँतोंसे युक्त अपनी पूर्वोक्त सातों अज्ञानकी भूमिकाओंको भीतर देख रहा यह, उस हीन अवस्थाको हँसता है ॥ १२ ॥

उस ध्यानरूपी वृक्षके उन स्कन्धप्रदेशोंमें यानी उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमिकाओंमें आरूढ़ हो रही ‡ मनोहारिणी चित्तवृत्तिसे यह राजाकी तरह शोभता है ॥ १३ ॥

† जिस दिन शुभेच्छा उत्पन्न होती है उस दिनसे लेकर प्रतिदिन निरन्तर क्षीण होती जा रही यह तृष्णा चतुर्थभूमिकामें पहुँच कर बिल्कुल साथ छोड़ देती है। 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान्‌ने भी कहा है।

‡ अर्थात् चिड़ियोंकी नाईं एक शाखासे उड़कर दूसरीपर जा बैठ रही।

पुत्रदारसमग्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ १४ ॥
रागद्वेषभयोन्मादमानमोहमहत्त्वया ।
नटस्येवास्य दृश्यन्ते शीतलामलचेतसः ॥ १५ ॥
उन्मत्तचेष्टिताकारा हसत्यपि पुरोगताः ।
तरङ्गभङ्गुराधाराः संसारसरितो गतीः ॥ १६ ॥
न स चेतयते काश्चिल्लोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपदविश्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ १७ ॥
केवलं केवले शुद्धे बोधात्मनि महोन्नते ।
दत्तदृष्टिः फले तस्मिन्परं समधिरोहति ॥ १८ ॥
स्मृत्वा स्मृत्वा पदः पूर्वं सन्तोषामृतपोषितः ।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥ १९ ॥
व्यवहारेषु कार्येषु भोगसम्पादकेष्वपि ।
परमुद्वेगमायाति सनिद्र इव बोधितः ॥ २० ॥

पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि सभी पदार्थोंको यह जन्मान्तरमें प्राप्त किये गये या स्वप्नमें पैदा हुएके समान देखता है ॥ १४ ॥

दूसरोंको खुश करना ही जिसमें प्रधान कार्य है ऐसी राग, द्वेष, भय, उन्माद, मान तथा मोहकी महत्तासे नटके व्यवहारकी नाईं शीतल तथा निर्मल चित्त इस ज्ञानीके सब व्यवहार दिखाई देते हैं ॥ १५ ॥

उन्मत्तके चेष्टितके समान आकारवाली, सामने स्थित भी तरङ्गके समान क्षणभङ्गुर आधारवाली संसाररूपी मृगतृष्णाकी नदीकी गतिको मिथ्या समझकर वह हँसता है ॥ १६ ॥

अपूर्व पदमें विश्रान्त जीवन धारण कर रहा भी मृतकके सदृश वह योगी स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक किसी पदार्थकी चिन्ता नहीं करता ॥ १७ ॥

किन्तु केवल शुद्ध बोधमय, महा उन्नत उस एक आत्मज्ञानरूप फलमें ही एकमात्र अपने चित्तको लगाकर पञ्चमभूमिकादि स्थानोंमें आरूढ़ होता है ॥१८॥

अपनी पूर्वावस्थाकी आपत्तियोंका बार-बार स्मरण करके सन्तोषरूपी अमृतसे परिपुष्ट होकर अनर्थरूपी अर्थोंके (धनोंके) नाशमें भी सन्तुष्ट ही होता है ॥१९॥

जैसे सोया हुआ पुरुष किसीसे जगा दिये जानेपर निद्रासुखके विच्छेदसे

दीर्घाध्वग इवोदाराममनारतमबाधिताम् ।
चिरं मौर्ख्यश्रमाक्रान्तो विश्रान्तिमभिवाञ्छति ॥ २१ ॥
निःश्वासबोधितोऽप्यग्निरनिन्धन इवात्मनि ।
श्वासमात्रसमोऽप्यन्तरतिष्ठन्नेव शाम्यति ॥ २२ ॥
आपतन्तीं बलादेव पदार्थेष्वरतिं शनैः ।
न शक्नोति निराकर्तुं दृष्टिमत्र च्युतामिव ॥ २३ ॥
तां महापदवीं गच्छन्परमार्थफलप्रदाम् ।
भूमिकामप्युपायाति वचसामप्यगोचराम् ॥ २४ ॥
कुतोऽप्यचेष्टितेष्वेव सम्प्राप्तेषु विधेर्वशात् ।
भोगेष्वरतिमायाति पान्थो मरुमहीष्विव ॥ २५ ॥
घूर्णः क्षीण इवानन्दी सुप्तः संसारवृत्तिषु ।
अन्तःपूर्णमना मौनी कामपि स्थितिमृच्छति ॥ २६ ॥

उद्वेगको प्राप्त हो जाता है वैसे ही भोगदायक अवश्य कर्तव्य व्यवहारोंमें भी वह योगी दूसरोंके द्वारा समाधिरूपी निद्रासे जगा दिये जानेपर समाधिसुखके विच्छेद-से अत्यन्त उद्वेगको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

बहुत दूरका रास्ता तय करनेवाले बटोहीकी तरह चिरकालतकके मौर्ख्य-प्रयुक्त अनेक जन्म-मरण-परम्पराओंमें चक्कर लगाते रहनेसे उत्पन्न श्रमके कारण अत्यन्त थका हुआ यह पुरुष अति उदार निरन्तर अबाधित आत्मविश्रान्ति चाहता है ॥ २१ ॥

प्राणधारणमात्रसे अन्य पुरुषोंके समान भी यह अपने भीतर अहंभावके अभिमानसे बिलकुल शून्य हो पूर्ण आत्मामें ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे निःश्वास-से बोधित होनेपर भी बिना इन्धनकी अग्नि ॥ २२ ॥

पूर्वाभ्यासके बलसे धीरे-धीरे बाह्य पदार्थोंमें हो रही विरक्तिका, यथाप्राप्त भोगोंपर पड़ी दृष्टिकी नाईं, यह निराकरण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

परमार्थरूप फलप्रदान करनेवाली उस महापदवीके ऊपर चल रहा यह ज्ञानी पुरुष वाणीके भी अगोचर छठी भूमिकामें प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

बिना प्रयत्न किये ही कहींसे यानी दूसरोंके प्रयत्नसे दैववशात प्राप्त हुए भोगोंमें यह ऐसे विरक्त हो जाता है, जैसे मरुभूमिमें पथिक ॥ २५ ॥

संसारकी वृत्तियोंमें सुप्त, क्षीण उन्मत्तकी तरह आनन्दयुक्त तथा भीतरमें

स ताद्दग्रूपतामेत्य परमार्थफलस्य तत् ।
क्रमान्निकटमाप्नोति खगोऽगपदवीमिव ॥ २७ ॥
ततस्तदखिलां बुद्धिं विहाय वियता समः ।
गृह्णात्यथास्वादयति भुङ्क्तेऽथ परितृप्यति ॥ २८ ॥
सङ्कल्पार्थपरित्यागाद्दिनानुदिनमातता ।
शुद्धस्वभावविश्रान्तिः परमार्थाप्तिरुच्यते ॥ २९ ॥
भेदबुद्धिर्विलीनार्थाऽभेद एवावशिष्यते ।
शुद्धमेकमनाद्यन्तं तद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥

पूर्ण मनवाला यह मौनी पुरुष किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो जाता है ॥२६॥

वह ज्ञानी पुरुष उस तरहके स्वरूपमें पहुँचकर क्रमशः मोक्षरूप परमार्थ-फलके निकट ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे सिद्धयोगी मेरुके शिखरपर ॥ २७ ॥

उस योगीकी सप्तमभूमिकामें कैसी स्थिति रहती है, यह बतलाते हैं—'ततस्तद०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर सप्तमभूमिकामें प्राप्त आकाशके सदृश वह योगी सम्पूर्ण बुद्धिका * परित्याग कर निरतिशय भूमानन्द ब्रह्मभावरूप फल ग्रहण करता है, उसका स्वाद चखता है, उसका भोग लगाता है और उसीसे तृप्त होता है † ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सङ्कल्पित पदार्थोंके परित्यागसे दिन-पर-दिन जो विस्तृत शुद्ध आत्मस्वभावमें विश्रान्ति होती है वही परमार्थकी प्राप्ति कही जाती है ॥२९॥

त्रिपुटीरूपी अपने अर्थको विलीन कर भेदबुद्धि अभेदरूपमें ही जो अवशिष्ट रह जाती है यानी त्रिपुटीभेदका साक्षी चेतन ही अपने अर्थोंका विलय कर जो शेष रह जाता है, उसीको विद्वान् लोग आदि और अन्तसे रहित शुद्ध एक ब्रह्म कहते हैं ॥ ३० ॥

* 'अखिलां बुद्धिं विहाय' इससे इस योगीकी आत्यन्तिक वासनाका क्षय और मनका नाश दिखलाया गया है ।

† आवरणका भङ्ग होनेसे ग्रहण करता है, विक्षेपशून्य स्फुरण होनेसे स्वाद चखता है, एकमात्र उसीमें वृत्तिके स्थित रहनेसे उसका भोग लगाता है और पूर्णस्थिति होनेसे तृप्त होता है—इस तरह चतुर्थी आदि भूमिकाओंके फलोंका 'गृह्णाति' इत्यादि पदोंसे लाभ दिखलाया गया है ।

लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदारैषणेन च ।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन् विश्रम्यते पदे ॥ ३१ ॥
परेण परिणामेन मिथश्चित्परमार्थयोः ।
तापेन हिमलेखेव भेदबुद्धिर्विलीयते ॥ ३२ ॥
तज्ज्ञस्याऽऽकृष्टमुक्तस्य स्वभावेषूपमां विना ।
स्थितिः स्रग्दामकस्येव न सम्भवति काचन ॥ ३३ ॥
यथाऽप्रकटिताङ्गान्तः संस्थिता शालभञ्जिका ।
न सती नासती स्तम्भे तथा विश्वस्थितिः परे ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा‡ से शून्य जो पुरुष है वही उस ब्रह्मपदमें विश्राम पाता है ॥ ३१ ॥

दृश्य तत्त्वके शोधनसे सन्मात्र परमार्थ और द्रष्टाके तत्त्वके शोधनसे चिन्मात्र परमार्थके—अखण्डैक्यरूप निरतिशयानन्दात्ममूत परमसाक्षात्कारवृत्तिरूप—परिणामसे अभेदबुद्धि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे तापसे हिमकी लेखा ॥ ३२ ॥

खींचकर छोड़ देनेके पश्चात् धनुषकी स्थितिकी तरह चित्तकी अखण्डाकार-वृत्तिका उपरम हो जानेपर पुनः उसकी पूर्वावस्थाकी स्थिति कदापि नहीं आ सकती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'तज्ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

आत्मसाक्षात्कार कर चुके योगीके चित्तकी स्थिति, खींचकर छोड़ देनेके बाद धनुष आदि कठोर वस्तुओंकी उपमासे रहित अत्यन्त कोमल फूलोंकी मालाकी तरह होती है, किसी दूसरी स्थितिका संभव नहीं है। पृथ्वीपर पड़ी फूलकी माला सीधी-टेढ़ी चाहे जिस किसी तरहसे स्थापित हो जानेपर वह वैसी ही ज्यों-की-त्यों स्थित रहती है। धनुषकी तरह उसकी पूर्वावस्था नहीं आती। धनुष तो खींचकर छोड़ देनेके बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है, यह तात्पर्य है ॥३३॥

जैसे पत्थर या काठके स्तम्भमें स्थित अप्रकटित अङ्गोंवाली मूर्ति न तो सद्रूप है और न असद्रूप ही है वैसे ही परमात्मामें इस विश्वकी स्थिति है ॥ ३४ ॥

---

‡ जनतामें प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी अभिलाषाका नाम लोकैषणा है, मुझे सुन्दर स्त्री प्राप्त होवे—इस इच्छाका नाम दारैषणा है तथा मैं इस संसारमें खूब धनी हो जाऊँ—इस अभिलाषाका नाम धनैषणा है। पुत्रप्राप्तिकी अभिलाषा स्त्रीप्राप्तिके अधीन है, अतः उसका पृथक् ग्रहण नहीं है। यहाँ कहनेका तात्पर्य यह कि स्त्री-अभिलाषाके परित्यागसे पुत्रप्राप्तिकी अभिलाषाका त्याग तो अर्थतः लब्ध है। इन तीन एषणाओंमें ही सबका अन्तर्भाव है।

ध्यानं न शक्यते कर्तुं न चैतदुपयुज्यते ।
अबोधेन विबुद्धस्तु स्वयमत्रैव तिष्ठति ॥ ३५ ॥
आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते ।
स बुद्धो नाप्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥ ३६ ॥
दृश्यस्य बोधताबोधो यो बोधादपरिक्षयः ।
स समाधानशब्देन प्रोच्यते सुसमाहितैः ॥ ३७ ॥

इस तरह यह निश्चित है कि बोध होनेके पहले यानी अज्ञानदशामें प्रपञ्च-सहित ब्रह्ममें निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वभावका अज्ञान होनेसे उसका ध्यान नहीं किया जा सकता। और यह उपयुक्त है भी नहीं। ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर तो स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होकर तत्त्वज्ञानी पुरुष इस ब्रह्ममें ही अवस्थित रहता है [तब भला उसका ध्यान वह कैसे कर सकता है ?] कहनेका तात्पर्य यह कि सोता या जागता हुआ कोई भी पुरुष अपनेमें यह ध्यान नहीं करता कि—मैं सो रहा हूँ या मैं सुषुप्त हूँ ॥ ३५ ॥

सोकर उठनेके बाद जैसे पुरुषको स्वाप्निक पदार्थोंमें तुच्छ बुद्धि होनेसे आत्यन्तिक विरक्ति रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सांसारिक प्रपञ्चोंमें आत्यन्तिक विरक्ति कर सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'आत्यन्तिकी' इत्यादिसे ।

दृश्य पदार्थोंमें जिस पुरुषकी आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है वही तत्त्व-ज्ञानी है, क्योंकि दृश्य प्रपञ्चोंके त्यागमें अज्ञानी समर्थ नहीं है ॥ ३६ ॥

यदि ध्यान नहीं है, तो फिर ध्यानके अविषय ब्रह्ममें समाधि कैसे ? क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका विषय एक ही निश्चित है। देखिये भगवान् पतञ्जलिके सूत्र—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा', 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्', 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' 'त्रयमेकत्र संयमः'। इसपर कहते हैं—'दृश्यस्य बोधता' इत्यादिसे ।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप जगत्का एकमात्र साक्षिस्वरूपज्ञानरूपसे जो बोध है वही यथार्थस्वभावमें उत्तम स्थितिका कारण होनेसे 'सुष्ठु-सम्यग् आधानं समाधिः'—ऐसा विग्रह करनेसे 'समाधान' शब्दसे कहा जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरहके बोधस्वभावसे ही यह सारा प्रपञ्च शाश्वत होता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टृदृश्यैकतारूपः प्रत्ययो मनसो यदा ।
स तदेकसमाधाने तदा विश्राम्यति स्वयम् ॥ ३८ ॥
स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः ।
दृश्यस्पन्दनमेवाहुरतत्त्वज्ञत्वमुत्तमाः ॥ ३९ ॥
अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः ।
न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु काञ्जिकम् ॥ ४० ॥
वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेषणात्रयमुज्झतः ।
ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥
बोधः स्फुरति तृष्णायाः सैव यस्य न विद्यते ।
तस्य स्वरूपमुत्सृज्य क्वासौ तिष्ठति कः कथम् ॥ ४२ ॥

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यं समाधिः' भगवान् पतञ्जलिके इस वचनका भी—द्रष्टा और दृश्यको एक बनाकर उसके द्वारा मनके विलयमें ही—तात्पर्य है, इस आशयसे कहते हैं—'द्रष्टृदृश्यैकतारूपः' इत्यादि ।

द्रष्टा आदि त्रिपुटीका लय होनेसे अखण्ड एक आत्माकारमें जब मनकी वृत्ति स्थित हो जाती है, तब वह ज्ञानी एक आत्मसमाधिमें स्वयं विश्रान्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

दृश्य पदार्थोंमें जो विरक्तिभाव है यानी जड़ता आदि दुःखोंके त्यागपूर्वक एकमात्र चिदानन्दैकरसकी स्थिति है वही तत्त्वज्ञानीका अपना ब्रह्मस्वभाव है । दृश्य पदार्थोंके स्पन्दनको ही—दृश्य पदार्थोंकी ओर चेष्टाशील बननेको ही—ज्ञानी महानुभाव लोग अतत्त्वज्ञता (अज्ञान) कहते हैं ॥ ३९ ॥

अज्ञानीको ही संसारके पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, तत्त्वज्ञानीको नहीं । क्योंकि जो अमृतपान कर चुका है, उस प्राणीको कटु मद्य नहीं रुचता ॥ ४० ॥

यदि बार-बार अपने स्वरूपके अनुसन्धानको (स्मरणको) ही आप ध्यान समझते हैं, तो वह जागरूक पुरुषके जाग्रदात्मामें हुए स्वरूपानुसन्धानकी तरह विद्वान् महानुभावोंको सहज-सिद्ध है, यह कहते हैं—'वितृष्णस्य' इत्यादिसे ।

तृष्णारहित, आत्मनिष्ठ होनेके कारण तीनों एषणाओंका त्याग कर चुके तत्त्वज्ञानी योगीका ध्यान इच्छा न रहनेपर भी अपने-आप स्वयं होता रहता है ॥ ४१ ॥

'वितृष्णस्य' (तृष्णारहित) इस विशेषणका तात्पर्य खोलते हैं—'बोधः' इत्यादिसे ।

ज्ञस्यानाराधको ध्येयबोधो नयतु यो भवेत् ।
अनन्ता सा वितृष्णस्य निर्विभागोदितः स्वयम् ॥ ४३ ॥
अनन्तमपतृष्णस्य स्वयमेव प्रवर्तते ।
ध्यानं गलितपक्षस्य संस्थानमिव भूभृतः ॥ ४४ ॥
शुद्धबोधात्मनि ज्ञत्वादसमाहिततोदिता ।
न जातु सुसमिद्धेऽग्नौ घृतबिन्दोरवस्थितिः ॥ ४५ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।
आहृतं येन तन्नूनं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥ ४६ ॥

आत्मस्वरूपानुसन्धानरूपी ध्यान तो तृष्णादिविक्षेपके कारण ही स्फुरित होता है—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु जिस तत्त्वज्ञानीको तृष्णा ही नहीं है उसके स्वरूपको छोड़कर उसका वह कौन ध्यान कैसे कहाँ रहता है ॥ ४२ ॥

अथवा ज्ञानीकी तृष्णा भी अनन्त है, क्योंकि यह स्वयं विभागरहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूपसे ही उदित है। इसलिए चिन्तनीय बाह्य पदार्थका जैसा बोध हो, उसे वह चाहे समाधिमें लगावे या व्यवहारमें, किन्तु उसकी तृष्णाकी पूर्तिमें वह समर्थ नहीं है ॥ ४३ ॥

पक्षरहित पर्वतकी स्थितिकी तरह बाह्य पदार्थोंमें तृष्णारहित उस ज्ञानीका अनुभवरूप अनन्त ध्यान स्वयं प्रवृत्त होता है, किसी यत्नकी उसे अपेक्षा नहीं होती ॥ ४४ ॥

एकमात्र यही कारण है कि जबतक शुद्ध बोधस्वरूप आत्माका उदय नहीं हो पाता, तभीतक समाधिके लिए यत्नकी अपेक्षा रहती है। शुद्धबोधस्वरूप आत्माके साक्षात् अनुभूत होनेपर तो ज्ञानी हो जानेसे समाधिके यत्नकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, यह तत्त्वज्ञानी महानुभावोंकी उक्ति है। ठीक ही है, अग्निके प्रज्वलित हो जानेपर उसमें घृतबिन्दुकी स्थिति कभी नहीं रह सकती ॥ ४५ ॥

विक्षेप पैदा करनेवाले रागादि दोषोंका जो आत्यन्तिक विनाश है, उसीको समाधि कहते हैं, यह तो विद्वान् पुरुषोंमें ही संभव है, अतः उन विद्वान् महानुभावोंको नमस्कार करना चाहिए, यह कहते हैं—'परम्' इत्यादिसे।

विषयोंसे जो आत्यन्तिक विरक्ति है, अर्थात् बाह्यपदार्थोंकी तृष्णाका जो

नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते ।
न शक्नुवन्ति निर्हर्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥ ४७ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥ ४८ ॥
मूर्खस्थो विश्वशब्दार्थो नामूर्खविषयस्तथा ।
तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोश्चैव विश्वविश्वेशयोस्तथा ।
यत्रैकीभूय कचनं तत्र विश्राम्यतां बुधाः ॥ ४९ ॥
बोधभूमिषु सिद्धानामर्थानां वा विवेकिनाम् ।
सत्तासत्ते द्वयैक्ये च निर्णीते नेह केनचित् ॥ ५० ॥

आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है। जिसको सांसारिक पदार्थोंमें अत्यन्त वैराग्य हो गया है, उस ब्रह्मरूपी मनुष्यको नमस्कार है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विषयोंसे वैराग्यके अत्यन्त दृढ़ हो जानेपर मनुष्यके आत्मध्यानको इन्द्रके सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते ॥ ४७ ॥

वज्रके समान दृढ़ विषयोंसे विरक्ति भी ध्यान ही है, अतः उसकी प्रशंसा करते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयोंमें उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्यको ही आप वज्रके समान दृढ़ ध्यानरूप बना लीजिये, क्योंकि आत्मज्ञानसे भेदके नष्ट हो जानेपर तृणके तुल्य दूसरे पदार्थोंके ध्यानसे कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ॥४८॥

यही कारण है कि विद्वान् पुरुषोंके लिए विश्वशब्द किसी अर्थको नहीं रखता—इसका अर्थ बाधित है, यह कहते हैं—'मूर्खस्थो' इत्यादिसे ।

संसारशब्दका अर्थ मूर्खोंके लिए ही है, तत्त्वज्ञानियोंके लिए नहीं। इसलिए हे पण्डितो, जिस भूमानन्द ब्रह्ममें संसारके विशेषज्ञान और अज्ञान, तत्त्वज्ञानी और मूर्ख एवं संसार और संसारके प्रभु परमेश्वर का अभेदरूपसे भान होता है उसीमें आप लोग विश्राम करें ॥ ४९ ॥

क्योंकि मनन आदि बोधरूप भूमियोंमें आरूढ़ हो रहे विवेकियों या आत्म-साक्षात्कारादि भूमियोंमें आरूढ़ हो चुके सिद्ध महानुभावोंमेंसे किसीने भी पदार्थोंमें आत्मासे अतिरिक्त सत्ता या असत्ता या द्वैतता या एकताका इस संसारमें आजतक निर्णय नहीं किया है ॥ ५० ॥

उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ज्ञसमागमः ।
ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ॥ ५१ ॥
जीवादर्शान् मिथोरूपं गृह्णात्येषा महद्वपुः ।
जगत्युदेति संघट्टादाविशेषं समेऽसमे ॥ ५२ ॥
ज्ञातपूर्वापराशेषजगदष्टापदस्थितेः ।
एकसिद्धौ द्वयोः सिद्धिर्बोधवैतृष्ण्यदीपयोः ॥ ५३ ॥
मतिवात्याधुतो व्योम्नि दग्धो ज्ञानाग्निनाऽखिलः ।
जगत्तूलः परे शान्ते न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५४ ॥

आत्मस्वरूपमें विश्रान्त होनेके उपाय बतलाते हैं—'उपाय' इत्यादिसे ।

इस आत्मस्वरूपमें विश्रान्ति पानेका प्रथम उपाय निरन्तर अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास और दूसरा साधु पुरुषोंकी सङ्गति है तथा तीसरा उपाय इस निर्वाणमें ध्यान है । सज्जनो, इनमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ हैं ॥ ५१ ॥

नित्य अपरोक्ष, अपरिच्छिन्न यही ब्रह्मचिति जीव नामक अपने प्रतिबिम्बके दर्पणस्वरूप अन्तःकरणभूत उपाधिके कारण परस्पर भिन्न-भिन्नरूपको ग्रहण करती है । प्रिय तथा अप्रिय विषयोंका संघटन करनेवाले ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त शेष विशेष पदार्थोंसे सम्बन्ध पाकर अपने-अपने कर्मोंकी विचित्रताके कारण सम और विषम भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उदित होती है ॥ ५२ ॥

इस तरह अनादि कालसे इस संसारमें चक्कर लगा रहे जीवोंके बीचमें भाग्य-वशात् किसी एकको ज्ञान प्राप्त करने योग्य जन्म मिल जानेपर शास्त्रोंके निरन्तर अभ्यास तथा महात्माओंकी सङ्गतिसे उपायप्राप्ति द्वारा पूर्वापर सम्पूर्ण जन्म-भ्रमणरूप जगद्रूपी शतरंज खेलनेकी बिसातकी* जानकारी हो जानेसे उस पुरुषश्रेष्ठको ज्ञान और वैराग्यरूपी दो दीपकोंमेंसे किसी एककी सिद्धि हो जानेपर दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तब ज्ञानरूपी अग्निसे भस्मीभूत हुई जगत्-रूपी सब रूई बुद्धिरूपी झंझा-वातसे शीघ्र उड़कर परम शान्त चिदाकाशमें न जाने कहाँ चली जाती है ॥५४॥

---

* शतरंज या चौपड़ आदि खेलनेके कपड़े या बिछौनेकी, जिसपर खाने बने रहते हैं ।

चित्राग्निनेव बोधेन तेन जाड्यं न शाम्यति ।
निर्मूलाऽपि जगद्भ्रान्तिर्येनाऽऽशु न विलीयते ॥ ५५ ॥
यथाऽज्ञस्य जगज्ज्ञप्तिरपज्ञानात्प्रदीप्यते ।
तथा ज्ञस्य परिज्ञानात्तदज्ञप्तिः प्रदीप्यते ॥ ५६ ॥
तज्ज्ञस्याज्ञजगज्ज्ञप्तिशब्दार्थरहिता स्थिता ।
यथास्थितैव त्रिजगज्ज्ञप्तिश्चित्र इवोदिता ॥ ५७ ॥
शून्यत्वेनैव रचिता सुप्तत्वेनेव निर्मिता ॥ ५८ ॥
भासते भामयी वाञ्छा जगज्ज्ञप्तिर्ज्ञचेतसि ।
नूनं बोधेऽविमूढस्य नाहन्ता न जगत्स्थितिः ॥ ५९ ॥

भ्रान्तिके निवारणमें समर्थ जो बोध है वही मूलाज्ञानरूप जड़ताके विनाशमें हेतु है, न कि ऊपरी ज्ञान, यह कहते हैं—'चित्राग्निनेव' इत्यादिसे ।

जिस ऊपरी ज्ञानसे निर्मूल भी जगत्‌की भ्रान्ति शीघ्र नष्ट नहीं हो जाती उस ज्ञानसे मनुष्यका अज्ञान ऐसे शान्त नहीं होगा, जैसे कि चित्रलिखित अग्निसे मनुष्यका जाड़ा ॥ ५५ ॥

अज्ञानीके अभिनिवेशरूपी अज्ञानसे जैसे संसारकी भ्रान्ति प्रतिदिनकी अभिवृद्धिसे बढ़ती ही जाती है वैसे ही तत्त्वज्ञानीके परिज्ञानकी दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धिसे उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें अज्ञान भी नित्यप्रति अधिक दग्ध होता जाता है ॥ ५६ ॥

अज्ञानके दग्ध होते समय तत्त्वज्ञानीको जगत्‌का भान कैसा होता है ? यह कहते हैं 'तज्ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

अज्ञानीको जैसा जगत्‌का ज्ञान स्थित रहता है उस अज्ञानीके जगत्-ज्ञान शब्दार्थसे रहित ही, स्वस्वरूपमें स्थित, चित्रमें लिखित-जैसा, सुप्त पुरुषके द्वारा निर्मितके सदृश एकमात्र शून्यरूपसे विरचित ही तीनों जगत्‌का भान तत्त्वज्ञानी पुरुषको होता है ॥ ५७,५८ ॥

ज्ञानी पुरुषके चित्तमें जगत्‌की ज्ञप्ति तथा अभिलाषा आदि चित्प्रकाशस्वरूप ही भासता है । इसमें सन्देह नहीं कि बोध होनेपर ज्ञानीका न तो अहङ्कार रहता है और न जगत्‌की स्थिति ही रहती है ॥ ५९ ॥

भासते परमाभासरूपिणः काऽप्यवस्थितिः ।
बोधाबोधात्मकं चित्तं भाति शुष्कार्द्रकाष्ठवत् ॥ ६० ॥
बोधादेकं जगद्भावैर्जाड्यान्नात्मत्वमागतम् ।
मिथोऽबोधाद्विवदति मैत्रीं भजति बोधतः ॥ ६१ ॥
य एवास्याधिको भागस्तन्मयत्वेन तिष्ठति ।
बुधः सतत्त्वं नावैति जगतोऽभावभावयोः ॥ ६२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां स्वभावमिव तुर्यगः ।
वासनैव मनः सेयं स्वविचारेण नश्यति ॥ ६३ ॥

ज्ञानीको तो परमप्रकाशस्वरूप इस संसारकी कोई अपूर्व स्थिति भासती है । और अर्धज्ञानी पुरुषका चित्त सूखे तथा गीले काठके तुल्य बोध और अबोधरूपसे स्थित रहता है ॥ ६० ॥

बोध होनेके कारण वह अर्धज्ञानी पुरुष नानाविध भावपदार्थोंसे परिपूर्ण इस जगत्को एक आत्मतत्त्वरूप समझता है । तथा जड़ताके विद्यमान रहनेसे वह इस जगत्को एक आत्मरूपसे स्थित नहीं भी देखता है । चूँकि उसमें दोनों स्वभाव उपस्थित रहते हैं, इसलिए जब उसमें बोधकी अधिकता होती है तब वह सभी प्राणियोंमें अत्यन्त मित्रताका बर्ताव करने लग जाता है—अपने ही समान उन्हें भी सुख-दुःखसे युक्त समझने लगता है । और जब उसमें अज्ञानांशकी अधिकता होती है तब वह परस्पर विवाद करने लगता है ॥ ६१ ॥

ज्ञान और अज्ञान—इन दोनोंमें जो भाग इसका प्रबल पड़ता है तद्रूप होकर यह रहता है, किन्तु जिसका ज्ञान परिपक्व हो चुका है वह तो जगत्की सत्ता और असत्ताकी यथार्थता बिलकुल ऐसे नहीं जानता ॥ ६२ ॥

जैसे कि सप्तम भूमिकामें आरूढ़ पुरुष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिको नहीं देखता । [ध्यानरूपी वृक्षके नीचे मनरूपी हरिणको विश्रान्ति प्राप्त होती है, इसीको दूसरे रूपसे परम पुरुषार्थफलकी प्राप्ति बतलानी चाहिए, लेकिन यह न कहकर मनके नाशको ही मोक्षरूपी पुरुषार्थ कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो इसपर कहते हैं—'वासनैव' से] हे श्रीरामचन्द्रजी, वह वासना ही मनरूपी मृग है और यह अपने विचारसे ही नष्ट होता है ॥ ६३ ॥

अवस्तुत्वादतो मोक्षो नात्मनाशे प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

ध्यानद्रुमात्स्वयमुपोढमनल्पपाकात्
कालेन बोधमुपयातवतः क्रमेण ।
भुक्त्वा रसायनफलं परबोधमाद्य-
मिच्छन् मनोहरिणको निगडाद्विमुक्तः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोहरिणकोपाख्यानं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥



इस मनके अवस्तुरूप होनेसे इसके विद्यमान रहते मोक्ष नहीं होता, किन्तु इसके स्वरूपका नाश होते ही वह प्राप्त होता है* ॥ ६४ ॥

इसका सारांश यह निकला कि यह मनका नाश ही मनरूपी मृगके बहाने वर्णित हुए आत्माका मोक्ष है । अब इस वर्णनका उपसंहार करते हैं—'ध्यान०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, अङ्कुर, काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प, तथा फलपर्यन्त परिणाम-रूप अनल्प (खूब) परिपाक होनेसे अपने समयसे स्वयं बढ़े हुए ज्ञानरूपी फलको प्राप्त किये हुए इस ध्यानरूपी वृक्षसे दूसरे सर्वप्रथम परम रसायन अखण्डाकार वृत्त्यभिव्यक्त परमानन्दरूपी बोधफलका—मुक्त होनेकी चाह कर रहा यह मनरूपी मृग—आस्वाद लेकर इस संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ६५ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

* इससे सिद्ध है कि कल्पित मनरूपी मृगके बहाने आत्माकी ही अनर्थनिवृत्तिरूपी विश्रान्ति-का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है ।

षट्चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते ।
बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ १ ॥
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत् ।
परमार्थदशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः ।
वज्रसारां स्थितिं धत्ते छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ ३ ॥
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता ।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥ ४ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

[ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलका आस्वाद लेनेपर मनकी जैसी स्थिति होती है तथा विषयोंसे जैसा दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है वह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थफलके साक्षात् अनुभूत होने तथा मुक्तिकी दृढ़ स्थिति होनेपर परम साक्षात्कारवृत्तिरूप बोध भी अपने उपादानभूत अज्ञानके बाधसे शीघ्र असद्रूप हो जाता है तथा मनरूपी यह मृग भी परमपुरुषार्थरूप—आत्मारूप ही हो जाता है ॥ १ ॥

तेलरहित दीपकके तुल्य पूर्वकालकी इसकी मृगता यानी विषयरूपी तृणोंके अन्वेषणकी स्वभावता न जाने कहाँ चली जाती है । उस समय तो हे श्रीरामचन्द्रजी, अनन्त आत्मस्वरूपका प्रकाश करनेवाली एकमात्र परमार्थदशा ही अवशेष रह जाती है ॥ २ ॥

ध्यानरूपी वृक्षको परमार्थरूप फलकी प्राप्ति हो जानेपर बोधरूपताको प्राप्त यह मन वज्रके समान दृढ़ स्थिति ऐसे धारण कर लेता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥३॥

बाह्य पदार्थोंके विषयमें मननस्वभावता न मालूम कहाँ चली जाती है और निर्बाध, विभागशून्य, परिपूर्ण अखर्वात्मक सद्रूप एकमात्र स्वच्छ चिन्मात्रता ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ ४ ॥

सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ ५ ॥
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलेषणम् ।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ ६ ॥
यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे ।
तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥ ७ ॥
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ ८ ॥
केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥ ९ ॥
विरसाखिलभोगस्य प्रशान्तेन्द्रियसंविदः ।
नीरसाशेषदृश्यस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ॥ १० ॥

जड़ देहादिके अविवेकसे जड़ बनी हुई-सी जो चित्तकी पहले सत्ता थी, वही अब देहादिका ठीक-ठीक परिज्ञान हो जानेके कारण निर्मलस्वरूपसे स्थित हो मानो बोधरूपसे उदित हुई है, क्योंकि वह आदि और अन्तसे शून्य, स्वच्छ आत्मप्रकाशरूपी फल प्रदान करनेवाली है ॥ ५ ॥

उस समय समस्त इच्छाओंसे शून्य रहनेके कारण कोई दूसरी गति न होनेसे वह आदि-अन्तशून्य आत्म-ध्यान ही परिशेषमें अवगत होता है ॥ ६ ॥

कबतक वह ध्यानरूपसे अवगत नहीं होता, यह कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जबतक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता तथा जबतक वह परम पदमें विश्रान्त नहीं हो जाता, तबतक विषयोंके मननरूपसे वह मन आत्मध्यानरूपसे अवगत नहीं होता ॥ ७ ॥

परमार्थ स्वरूपताको प्राप्त करके तो वह मन न जाने कहाँ चला जाता है। उस समय वासना कहाँ रहती है, कर्म कहाँ रहते हैं तथा हर्ष और क्रोध आदिकी वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं—इसका कुछ भी पता नहीं चलता ॥ ८ ॥

ऐसी दशामें योगी एकमात्र ध्यानैकनिष्ठ दिखाई देता है। वज्रके तुल्य दृढ़ समाधिमें वह ऐसे स्थिर हो जाता है, जैसे पक्षशून्य पर्वत ॥ ९ ॥

ध्यानके समान ही उस योगीकी समाधि भी अनायास सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'विरसाखिल०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

क्रमेण विगलद्वृत्तेर्बलाद्विश्रान्तिमीयुषः ।
अर्थायातं समाधानं केन नाम विचार्यते ॥ ११ ॥
तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगांश्चित्रनरो यथा ॥ १२ ॥
अपश्यञ्जागतानर्थान्निर्वासनतयाऽऽत्मवान् ।
बलाद्वज्रसमाधाने त्वन्येनेव निवेश्यते ॥ १३ ॥
प्रावृषीव नदीपूरो यः समाधिरुपस्थितः ।
बलादेव तमायातं भूयश्चलति नो मनः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण भोगोंसे शून्य, इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको शान्त किये हुए, सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें अभिरुचि न रखनेवाले, एकमात्र अपनी आत्मामें ही रमण करनेवाले, क्रमशः अपनी वृत्तियोंको गलाये हुए तथा बिना किसी प्रयासके विश्रान्ति प्राप्त कर चुके योगीकी समाधि अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इस विषयमें जब वह ब्रह्मस्वरूप हो गया तब विचार ही करने कौन चलता है ॥ १०,११ ॥

उस योगीको परम वैराग्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं— 'तावद्विषय०' इत्यादिसे ।

निर्मल अन्तःकरणवाले योगी लोग विषयोंमें नीरसताकी अनायास ही भावना करने लग जाते हैं । वे उन सभी सांसारिक भोगोंको ऐसे नहीं देखते, जैसे कि चित्रगत मनुष्य चित्रमें लिखित पुरुषोंको ॥ १२ ॥

वासनाशून्य होनेके कारण सांसारिक पदार्थोंको न देख रहा आत्मज्ञानी योगी तो वज्रके तुल्य अभेद्य समाधिमें अन्य पुरुषके द्वारा मानो जबर्दस्ती नियुक्त किया जाता है ॥ १३ ॥

वर्षाकालमें नदीके प्रवाहके तुल्य एकमात्र आनन्दरसका आविर्भाव करानेवाली जो समाधि प्रथम वृत्तिमें उपस्थित होती है उसका—गुडपिपीलिका न्यायके द्वारा * वस्तुस्वभावबलसे ही एकाग्रताको प्राप्त हो—आस्वाद लेता हुआ मन उससे फिर इधर-उधर चलायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

---

* मिठासके लोभसे जब चींटी गुड़में आकर चिपट जाती है तब फिर उससे अलग नहीं होती । ठीक वही दशा योगीके मनकी है । आनन्दैकरसका आविर्भाव करानेवाली समाधिका आस्वाद लेकर योगीका मन पुनः उससे पृथक् नहीं होता—यह तात्पर्य है ।

सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदागतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ १५ ॥
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥ १६ ॥
तदेतद्भोगवैतृष्ण्यं ध्यानमङ्कुरितं हि तत् ।
तदेव पीठबन्धेन बद्धं भवति बन्धुरम् ॥ १७ ॥
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् ।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंकी शान्ति देनेवाली हठात् प्राप्त हुई ध्यानदशामें ज्ञानबलसे जबर्दस्ती जो विषयोंके भीतर वैराग्य आ जाता है वही समाधि है, दूसरी नहीं । रागादिके कारण खूब जल रहे चित्तमें तो कभी भी किसीकी समाधि नहीं देखी गयी है ॥ १५ ॥

इस तरह ध्यानकी उपपत्ति भी विषयोंसे विरक्ति होनेपर ही होती है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं—'दृढम्' इत्यादिसे ।

विषयोंसे जो दृढ़ वैराग्य है वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जानेसे वही वज्रके तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है ॥ १६ ॥

ऐसी स्थितिमें वैराग्यरूपी बीज ही जब अङ्कुरितावस्थामें स्थित रहता है तब ध्यान और जब प्ररूढ़ हो जाता है तब समाधिनामसे कहा जाता है, यों अभेदमें भी भेद-व्यवहार हो सकता है, यह कथन फलित हुआ, यह कहते हैं—'तदेतत्' इत्यादिसे ।

भद्र, विषयोंसे जो वैराग्य है वह अङ्कुरित होनेपर ध्यान कहा जाता है और जब पीठबन्धसे यानी काण्डजनन आदि द्वारा दृढ़ बन्धसे सुन्दर बद्ध हो जाता है तब वही समाधि नामसे कहा जाता है ॥ १७ ॥

साक्षात्कारात्मक वृत्तिसे आविर्भूत ब्रह्म ही अविद्याका उच्छेदक होनेके कारण ज्ञान कहा जाता है, वासनाका उच्छेदक होनेके कारण ध्यान कहा जाता है और सर्वदुःखविच्छेदात्मक आनन्दस्वरूप होनेके कारण निर्वाण कहा जाता है, यह कहते हैं—'सम्यक्' इत्यादिसे ।

साक्षात्कारात्मक वृत्तिमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही अविद्योच्छेदकरूप होनेसे,

अस्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्दुर्ध्यानदुर्धिया ।
नास्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्ध्यानदुर्धिया ॥ १९ ॥

दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥ २० ॥

यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्बुद्ध इति स्मृतः ।
न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्बोधस्तथोदितः ॥ २१ ॥

यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥ २२ ॥

निरन्तर परित्यक्त वासनारूप होनेसे तथा आनन्दपदको प्राप्त होनेसे सम्यक् ज्ञान, ध्यान और निर्वाण रूप कहा जाता है ॥ १८ ॥

यह जो कुछ कहा वह सब विषय-वैराग्यसे ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं, इसलिए विषय-वैराग्यको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

यदि पुरुषमें भोगोंके प्रति विराग विद्यमान है, तो ध्यानरूप दुःखसाध्य बुद्धिसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा । और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्य बुद्धिसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥ १९ ॥

भद्र, जो पुरुष विषयोंके स्वादसे मुक्त है एवं विवेकज्ञानसे सम्पन्न है उस महामुनिको निर्विकल्पक समाधि निरन्तर लगी रहती है ॥ २० ॥

जिसको विषय नहीं रुचता, उसीको तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं । जब पुरुषको भोग नहीं रुचते तभी उसे सम्यक् ज्ञान उदित होता है ॥ २१ ॥

पूर्ण अद्वय स्वभावसे विरुद्ध भोग उसी समयमें हो सकता है, जिस समयमें अज्ञानके कारण आत्माका असली स्वरूप विपरीत प्रतीत होता है । जब अज्ञानका नाश हो जाता है तब, यह बात नहीं रहती, यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस महामुनिकी अपने आत्मस्वभावसे स्थिति हो चुकी उसे भोग कैसे, क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह विरुद्धस्वभावके क्षीण हो जानेपर कैसे रह सकता है ॥ २२ ॥

श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छ्रयेत् ॥ २३ ॥
निर्वाणमासीत निरस्तखेदं
समस्तशङ्कास्तमयाभिरामम् ।
सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
शरद्घनाभोगविशुद्धमन्तः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साम्यावबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

अभ्यासकालमें समाधिसे उठे हुए पुरुषको क्या करना चाहिए और कब समाधि लगानी चाहिए, इस विषयमें क्रम बतलाते हैं—'श्रुत०' इत्यादिसे ।

भद्र, पहले गुरु, सहपाठी आदिके साथ वेदान्तश्रवण करे, उपनिषदोंकी आवृत्ति करे, फिर प्रणवजप करे, इतना सब कर लेनेके बाद समाधिमें तत्पर हो जावे और समाधि टूट जानेपर समाधिश्रान्त वह पुरुष फिर श्रवण, आवर्तन एवं प्रणवजप करे ॥ २३ ॥

यह सब होनेपर भी समाधिकी ओर प्रधान लक्ष्य रखना चाहिए, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'निर्वाणम्' इत्यादि ।

हे श्रीरामजी, अपने भीतर एकमात्र निर्वाणरूप समाधिकी ओर लक्ष्य रख करके स्थित रहना चाहिए, किसी प्रकारका खेद नहीं करना चाहिए, सारी शङ्काओंको तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए । यही समाधि अतिरमणीय, सुषुप्तिके सदृश परमशान्त, शरत्कालीन विस्तृत बादलोंके सदृश निर्मल है । इसी अवस्थामें चित्त एकरूप और प्रशान्त रहता है ॥ २४ ॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त



सप्तचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारभारसुश्रान्तः संकटेषु लुठत्तनुः ।
योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥ १ ॥
पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते ।
संसारनिर्वेदमयी कारणाद्वाप्यकारणात् ॥ २ ॥
तदा श्रयन्ति सच्छायान् साधुत्वसुविशालिनः ।
अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतरूनिव ॥ ३ ॥
दूरे परिहरत्यज्ञान्यज्ञयूपानिवाध्वगः ।
स्नानदानतपोयज्ञान् करोति विबुधानुगः ॥ ४ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

[विस्तारसे प्रस्तुत मुक्तिके साधनोंके क्रममें दृढ़ वैराग्यकी प्राप्ति तकके जितने साधन हैं, उन सबका पुनः वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, जो जीव इस संसारके भारको ढोते-ढोते थक गया है तथा मरण, मूर्च्छा आदि सङ्कट-समयको झेलकर जिसका शरीर जर्जर हो गया है, वह विश्रान्ति अवश्य चाहता है। परन्तु उसके लिए जो खास क्रम है यानी विश्रान्ति पानेके लिए प्राप्त किये जानेवाले उन-उन साधनोंसे उत्तम गुणोंके लाभका जो क्रम है, उसे आप सुनिये ॥ १ ॥

सबसे पहले विवेकरूपी अङ्कुरका उदय होनेपर जिन गुणोंकी प्राप्ति होती है, उन्हें बतलाते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे।

कारणविशेषसे यानी ऐहिक यज्ञ, दान, तप आदि पापक्षयके हेतुभूत सत्कर्मोंसे या अकारणसे यानी पूर्वजन्मार्जित यज्ञ आदि सत्कर्मोंसे जभी अपने हृदयमें पहले संसारसे विरक्ति पैदा करनेवाली विवेककी मात्रा उत्पन्न हो जाती है, तभी उत्तम छाया देनेवाले तथा साधुताके रूपसे चारों ओर फैले हुए गुणोंको संसार-तापतप्त पुरुष ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे सूर्यके तापसे तपे हुए पुरुष मार्गकी थकावट हरनेवाले मार्गके वृक्षोंका आश्रयण करते हैं ॥ २–३ ॥

ऐसा होनेपर पहले अज्ञानियोंके संसर्गका त्याग, यज्ञ-दान आदिमें तत्परता तथा देवताराधन आदि गुण उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं—'दूरे' इत्यादिसे।

पेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् ।
लोकयमाह्लादनं धत्ते चन्द्रबिम्बमिवामृतम् ॥ ५ ॥
परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः ।
पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
नवनीतस्थलीवाच्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा ।
जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसङ्गतिः ॥ ७ ॥
शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः ।
इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ८ ॥
न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु ।
विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥ ९ ॥

ऐसा पुरुष पहले तो अज्ञानियोंको उस तरह दूरसे ही छोड़ देता है, जैसे पथिक यज्ञयूपको दूरसे ही छोड़ देता है। स्नान, दान, तप, यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है और निरन्तर तत्त्वज्ञोंका पदानुसरण करता है ॥ ४ ॥

जिस तरह चन्द्रमाका बिम्ब लोगोंको आनन्द देनेवाला अमृत धारण करता है, उसी तरह विद्वान् कोमल, अनुरूप, परिणाममें लोगोंके लिए हितकारक तथा आनन्ददायी अकृत्रिम व्यवहार धारण करता है ॥ ५ ॥

ऐसा विद्वान् अपने पक्षमें न अनुराग रखता है और न लोभ या अभिमान ही रखता है, सदा परके हितमें निरत रहता है, इसीसे परप्रज्ञानुग कहा जाता है। वह सभी जनोंका प्रिय होता है, पवित्र शास्त्रानुकूल कर्मोंमें रसिक बना रहता है तथा इन सब गुणोंके कारण सबसे ऊँचा होकर वह विचरण करता रहता है ॥६॥

ऐसे महापुरुषकी पहली सङ्गति ही पुरुषको सुख पहुँचाती है, उसकी सङ्गति मक्खनके आश्रय दहीके सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेहसे भरपूर, कोमल, मनोहर और स्वादु रहती है ॥ ७ ॥

विवेकी पुरुषोंके चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं, इसलिए प्रत्येक पुरुषके भीतर अत्यन्त ठंढक पहुँचाते हैं ॥ ८ ॥

जैसी साधु पुरुषके समागमसे निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पोंके ढेरोंसे भरे उद्यानखण्डोंमें भी नहीं मिलती है ॥ ९ ॥

मन्दाकिनीपयांसीव संगतानि विवेकिनाम् ।
प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति विशुद्धताम् ॥ १० ॥
विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्तरणार्थिषु ।
जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥ ११ ॥
ननु नाम रतोदारा या विवेकिनि विद्यते ।
सुरगन्धर्वकन्यासु मानवीषु न विद्यते ॥ १२ ॥
प्रज्ञा प्रसादमायाति क्रमादुचितकर्मणः ।
अन्तःकरोति शास्त्रार्थमर्थं मुकुरभूरिव ॥ १३ ॥
सत्प्रज्ञोन्नतिमायाति शास्त्रार्थरसशालिनी ।
विवेकिनि विलासेन कदलीव महावने ॥ १४ ॥
अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान्प्रतिबिम्बितान् ।
आदर्शवदशेषेण प्रज्ञा नैर्मल्यशालिनी ॥ १५ ॥

जैसे भगवती भागीरथीके निर्मल जल पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं, वैसे ही विवेकियोंके समागम भी पुरुषोंके पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

संसार पार पानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त विवेकी पुरुषोंका समागम होनेपर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसी हिम एवं पुष्पहारोंसे निर्मित घरोंमें वास करनेपर ॥ ११ ॥

भद्र, जैसी उदार प्रीति विवेकी पुरुषमें रहती है, वैसी उदार प्रीति देवता, गन्धर्व और मानवकी कन्याओंमें भी नहीं रहती ॥१२ ॥

क्रमसे किये गये उचित निष्काम कर्मसे बुद्धिका मल हट जाता है, बुद्धिका मल हट जानेपर आत्मजिज्ञासाका आविर्भाव हो जाता है और गुरुजीके मुखसे सुना गया शास्त्रका अर्थ मनुष्यके हृदयके भीतर ऐसे पैठ जाता है, जैसे दर्पणतलके भीतर प्रतिबिम्ब पैठ जाता है ॥ १३ ॥

विवेकसे पूर्ण हृदयमें शास्त्रार्थरससे पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा ऐसे बढ़ने लग जाती है, जैसे महावनमें मूलप्ररोहादिके विस्तारसे कदली बढ़ने लग जाती है ॥१४॥

आदर्शके सदृश, निर्मलतासे शोभित बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त वस्तुओंका अपने अन्दर ही मनके विलासके रूपमें पूर्ण अनुभव करती है ॥ १५ ॥

साधुसंगमशुद्धात्मा शास्त्रार्थपरिमार्जितः ।
प्राज्ञो भात्युद्धृतं वह्नेरग्निशौचमिवांशुकम् ॥ १६ ॥
कचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
भुवनं भास्करेणेव भाति साधुः स्वतेजसा ॥ १७ ॥
तथाऽनुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ ।
यथाऽत्यन्तानुषङ्गेण तावेवानुभवत्यसौ ॥ १८ ॥
क्रमात्सज्जनतामेत्य शास्त्रार्थभरभावितः ।
भाति भोगानधःकुर्वन्पञ्जरादिव निर्गतः ॥ १९ ॥
भोगाभिगमदौर्भाग्यं तेनानुदिनमुज्झता ।
तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रमिवेन्दुना ॥ २० ॥

साधुओंके समागमसे शुद्धबुद्धि हुआ तथा शास्त्रके अर्थोंसे परिमार्जित हुआ प्राज्ञ (विवेकी) पुरुष अग्निसे निकाले गये विद्युत्पुञ्जके सदृश चमकदार वस्त्र-रत्नकी नाईं भासता है ॥ १६ ॥

विवेकी पुरुष चमकीले सुवर्णके सदृश चमक रहे तथा निर्मल आलोक करनेवाले अपने आत्मप्रकाशसे सूर्यकी नाईं समस्त भुवनको प्रकाशित कर देता है ॥ १७ ॥

विवेकसम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष अभ्यास द्वारा शास्त्रका और सेवा आदिवृत्तिसे गुरुसमागमका वैसा निरन्तर अनुसरण करता है, जिससे कि गुरुके उपदिष्ट अर्थमें अत्यन्त आसक्तिके कारण स्वप्नमें भी शास्त्र एवं गुरुके चिन्तन तथा सेवनमें निरत होकर उन्हीं दोनोंका (शास्त्र और गुरुसमागमका) अनुभव करता है ॥ १८ ॥

क्रमशः राग आदि दोषोंका विनाश एवं मैत्री आदि गुणोंका संचय कर वह निर्दोष और गुणवान् बनकर शास्त्रमें—उपनिषत्में—कहे गये अर्थोंकी भावनासे पूर्ण भावुक बन जाता है । फिर पिंजड़ेसे छुटकारा पाये हुएके सदृश स्वतन्त्र होकर तथा भोगोंका तिरस्कार कर प्रकाशने लग जाता है ॥ १९ ॥

भद्र, व्यसनी बनकर विषयोंके प्रति दौड़ना बड़ा भारी दौर्भाग्य है, इस दौर्भाग्यका दिनपर दिन त्यागकर रहे उस विवेकशील पुरुषके द्वारा उसका वंश उस तरह चमकने लग जाता है, जिस तरह चन्द्रमाके द्वारा तारोंका समूह चमकने लग जाता है ॥ २० ॥

अभोगकृपणा कापि नवैवास्य प्रवर्तते ।
मुखे कान्तिरपूर्वेव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥ २१ ॥
तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
स याति कल्पविटपी नभसीव दिवौकसाम् ॥ २२ ॥
भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
भोगानामप्यसंपत्त्या परमं परितुष्यति ॥ २३ ॥
स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
खेदस्मेरमुखो जातीर्जातिस्मर इवाधमः ॥ २४ ॥
अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः ।
भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २५ ॥

इस विवेकीके मुखमें भोगलम्पटतासे निर्मुक्त कोई अनिर्वचनीय अपूर्व ही कान्ति ऐसे जगमगाने लग जाती है, जैसे राहुसे छुटकारा पा जानेपर चन्द्रमामें कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥ २१ ॥

जिन लोगोंने तीनों जगत्‌को भी तृणरूप समझ लिया है, उन महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसापदको प्राप्त होता है, जैसे स्वर्गमें देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष ॥ २२ ॥

भद्र, विवेकीको जो कुछ भोगसाधन प्राप्त होते हैं, उनका परित्याग कर वह सन्तुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है, क्योंकि उसके मनमें इस बातकी शर्म रहती है कि मैंने सभीसे जब द्वेष छोड़ दिया तब भोगोंके प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ । और यदि भोगसाधन विषय उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि इस अवस्थामें उसे द्वेष करनेका मौका ही नहीं मिलता ॥ २३ ॥

यदि अधम चाण्डाल आदिको दैववशात् अपनी पूर्वजन्मकी उच्च जातिका स्मरण हो गया, तो वह अपनी इस जन्मकी जातिको जैसे मनमें धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहलेकी राग आदिसे प्रौढ तथा भोगकी उत्कण्ठासे तरल हुई अपनी क्रियाओंका स्मरण कर खेदसे कुछ हसमुख होकर अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥ २४ ॥

इस तरहके पुरुषको एक तरहसे पृथ्वीमें उदयको प्राप्त चन्द्रमा ही समझना

नित्यानादृतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया ।
प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहु मन्यते ॥ २६ ॥
पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः ।
जायते जीर्णजाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥ २७ ॥
ततः सज्जनसम्पर्कमुदर्कश्रेयसे स्वयम् ।
करोति स्वस्थतागृध्नुर्भिषगाश्रयणं यथा ॥ २८ ॥
तेनोदारमतिर्भूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति ।
महान्महाप्रसन्नेषु सरःस्विव महागजः ॥ २९ ॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् ।
नियोजयति संपत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥ ३० ॥

चाहिए, इसे देखनेके लिए केवल परम प्रेमसे ही विस्मयसे प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं ॥ २५ ॥

सदा ही भोगोंके प्रति यह आदर नहीं रखता, इसीलिए उन सिद्ध महात्माओंके द्वारा अत्यन्त प्रसन्नतासे दिये गये अनिषिद्ध सिद्धि आदि विषयोंको भी श्रेष्ठ नहीं समझता—उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता ॥२६॥

उन भोगोंके प्रति उसे जो अधिक आदर नहीं होता, इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्रके समागमसे भोगोंके प्रति पहलेसे ही उसके मनमें नीरसता पैदा हो जाती है तथा उसकी जड़ता भी जीर्ण-शीर्ण ऐसे हो जाती है, जैसे शरद्-ऋतुका पौधा पाकसे जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ २७ ॥

अनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला पुरुष वैद्यकी शरण लेता है, वैसे ही अपने भावी अधिक कल्याणके लिए स्वयं ही वह सज्जनोंकी शरण लेता है ॥२८॥

सज्जनोंके समागमसे उसकी बुद्धि बड़ी उदार हो जाती है, उदारबुद्धि होकर वह उपनिषद्के महावाक्यार्थोंके विचारमें ऐसे डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवरोंमें महान् हाथी डूब जाता है ॥ २९ ॥

क्योंकि सज्जनका यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणीको बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे उबार कर सम्पत्तियोंमें ऐसे सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकारसे उबारकर अपनी प्रकाशमय दीप्तियोंमें सम्बन्ध करा देता है ॥ ३० ॥

परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्तते ।
विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चोपजायते ॥ ३१ ॥

परस्वादानविरतः सन्तोषामृतनिर्भरः ।
विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥ ३२ ॥

ददाति कणपिण्याकशाकाद्यपि हि याचते ।
तेनैवाभ्यासयोगेन स्वमांसानि ददात्यसौ ॥ ३३ ॥

नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
मौर्ख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥ ३४ ॥

परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥ ३५ ॥

जो विवेकी है उसकी बुद्धि पहलेसे ही दूसरेका धन लेनेसे विरत बनी रहती है और अपने ही अर्थोंसे उसे सन्तोष बना रहता है ॥ ३१ ॥

दूसरेके धनग्रहणसे विरत तथा सन्तोषरूपी अमृतसे निर्भर विवेकी पुरुष क्रमसे उत्तरोत्तर अपने स्वार्थोंकी भी उपेक्षा करनेकी इच्छा करता है, ऐसी स्थितिमें वह दूसरेका अर्थ तो चाहेगा ही कैसे ! ॥ ३२ ॥

उसके पास जो कोई याचक आ जाय, उसे कण, पिण्याक (तिल या सरसोंकी खली), शाक आदि जो कुछ भी हो दे देता है, उसी अभ्यासयोगके प्रभावसे याचकोंको अपना मांस भी दे डालता है ॥ ३३ ॥

विवेकके अनुसरणसे जिनका चित्त लीन हो गया है उनका दिनपर दिन ज्ञान बढ़ता ही जाता है और अज्ञान क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं—'नूनम्' इत्यादिसे ।

विवेकके पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्तकी विलयदशाको प्राप्त हुए पुरुषोंका अज्ञान ऐसे तुच्छ हो जाता है, जैसे दौड़ रहे घोड़ोंके लिए बड़ा भारी गड्ढा भी गोष्पदकी नाईं तुच्छ यानी अनायास उल्लङ्घनयोग्य हो जाता है ॥ ३४ ॥

विवेकीको सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक दूसरेका धन लेनेसे निवृत्त हो जाना चाहिए और इसका भली प्रकार अभ्यास कर फिर अपने विवेकसे स्वार्थोंसे भी विरक्ति ग्रहण करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

तती भोगनिरासेन सह स्वार्थनिराकृतिः ।
परमायै सुविश्रान्त्यै क्रियते कृतिभिः क्रमात् ॥ ३६ ॥
न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥ ३७ ॥
आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
आधिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥ ३८ ॥
नन्वर्था विततानर्थाः सम्पदः सन्ततापदः ।
भोगा भवमहारोगा विपरीतेन भाविताः ॥ ३९ ॥
तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥ ४० ॥

इसके बाद भोगनिवृत्तिके साथ-साथ अपने स्वार्थोंको भी क्रमशः तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञ लोग उत्तम शान्तिके लिए यही काम किया करते हैं ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी, यह बात आप निश्चित मानिये कि जीवनपर्यन्त जैसा अर्थोपार्जनके लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक पारलौकिक दुःख है, वैसा दूसरा दुःख इस जगत्में करोड़ों नरकोंमें भी विद्यमान नहीं है ॥ ३७ ॥

जो मूढ़ पुरुष हैं, उनको पारलौकिक दुःखोंका स्मरण भले ही न हो, पर ऐहिक दुःखोंका तो उन्हें स्मरण करना ही चाहिए, यह कहते हैं—'आसने' इत्यादिसे ।

भद्र, आसनके लिए, शयनके लिए, सवारीके लिए, जानेके लिए, आनन्द मनानेके लिए तथा अपने जनके लिए कितनी बड़ी पुरुषोंको मानसिक चिन्ता बनी रहती है, इसलिए अज्ञानियोंको उसे अवश्य स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जनके लिए यहां कितना दुःख है ॥ ३८ ॥

भद्र, यदि विवेकसे विचारा जाय, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियां महान् विपत्तिरूप और भोग संसारके महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं । परन्तु मोहके कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता ॥ ३९ ॥

जबतक पुरुष निन्दनीय ऐहिक या पारलौकिक अर्थोंके लिए महान् दुःखरूप अनर्थ झेलनेकी इच्छा नहीं करता, तभीतक पुरुष चिन्तित अर्थोंके कारण उत्पन्न सन्तापोंसे नहीं सूखता ॥ ४० ॥

अनुत्तमसुखं यस्मै चिराय परिरोचते ।
जगत्तृणशिखादृष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु ॥ ४१ ॥
भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।
दैन्यदौरात्म्यदाहानामर्थः सार्थ इति स्मृतः ॥ ४२ ॥
अस्मिन् जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम् ।
अजरामरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥ ४३ ॥
वसन्तो नन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः ।
इत्येकतः समुदितं सन्तोषामृतमेकतः ॥ ४४ ॥

जिस पुरुषको मोक्षका सुख ही सदाके लिए सबसे बढ़-चढ़कर जँचता हो, वह पुरुष धनको यह समझे कि वह जगत् रूपी तिनकेके अग्रिम हिस्सेके सदृश अत्यन्त तुच्छ है और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे यानी उसे प्राप्त करनेके लिए अनर्थके फन्देमें न फँसे ॥ ४१ ॥

धनमें तुच्छता दृढ़ करनेके लिए बार-बार उसकी निन्दा करते हैं—'भूरि०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह जो धन है, उसको मुनियोंने यह कहकर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारोंका, जरा, मरणके जनक दुष्ट कर्मोंका तथा दीनता, दुष्टता, जलन आदिका ढेर है ॥ ४२ ॥

सन्तोष ही वैराग्यमें बैठाकर पुरुषको सब दुःखोंसे छुटकारा दिलाता है, इसलिए अब सन्तोषकी स्तुति करते हैं—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

इस जगत्में बुढ़ौती और मरणसे आक्रान्त जन्तुओंको अजर और अमर बनानेके लिए सन्तोष ही एक रसायन (अमृत) है ॥ ४३ ॥

सभी प्रकारके सुखोंका कारण भी वही है, यह कहते हैं—'वसन्तो' इत्यादिसे ।

सुखके साधन एक ओर तो वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएँ कही गई हैं और एक ओर पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है यानी अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देनेकी जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते ॥ ४४ ॥

सरसः प्रावृषेवान्तःसन्तोषेणैव पूर्णता ।
गम्भीरां शीतलां हृद्यां प्रसन्नां रसशालिनीम् ॥ ४५ ॥
साधुरोजस्वितामेत्य सन्तोषेणैव राजते ।
सुपुष्पितवनाकारो वसन्तेनेव पादपः ॥ ४६ ॥
पादपीठपरामर्शपिष्टकीटवदीहते ।
दीनप्रकृतिरर्थार्थी दुःखाद्दुःखान्तरं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
कल्लोलविकलाः क्षुब्धसमुद्रपतिता इव ।
नाप्नुवन्ति स्थितिं स्वस्थां विकृताकृतयोऽर्थिनः ॥ ४८ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ४९ ॥
अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम् ।
यः करोति स्पृहां मूढो नृपशुं तं न संस्पृशेत् ॥ ५० ॥

जैसे सरोवर अपने भीतरकी परिपूर्णता वृष्टिसे कर सकता है, वैसे ही पुरुष भी अपने भीतर परिपूर्णता सन्तोषसे ही कर सकता है । सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसपूर्ण ओजस्विताको सन्तोषके ही द्वारा प्राप्त कर सुन्दर पुष्पोंसे युक्त वन के सदृश होकर ऐसे शोभित होने लगता है, जैसे वसन्तसे वृक्ष ॥ ४५, ४६ ॥

जो पुरुष सन्तोष धारण नहीं करता और अर्थोंके लिए लालायित रहता है, उसकी प्रकृति ठीक उस कीटकी तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतोंसे पहले आहत होकर रगड़ खा गया है । इस तरहका असन्तुष्ट जीव एक दुःखसे दूसरे दुःखकी ओर जाता ही है, दुःखोंसे छुटकारा नहीं पाता ॥ ४७ ॥

धनके लोभी जीवोंकी आकृतियाँ (आकार) विकृत ही रहा करती हैं और वे अपनी स्वस्थ स्थिति ऐसे प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे कि क्षुब्ध समुद्रमें गिरे हुए तथा तरङ्गोंसे विकल हो उठे पुरुष ॥ ४८ ॥

अर्थसम्पत्ति और प्रमदा—ये दोनों वस्तुएँ तरङ्गोंके सदृश थोड़ी ही देरमें नष्ट हो जानेवाली हैं और वे सर्पके फनरूप छत्रकी छाया ही हैं, अतः कौन विद्वान् उनसे खेल करेगा ! ॥ ४९ ॥

धनके उपार्जन और रक्षणमें जो भारी यातनाएँ होती हैं, उनको जानकर

मनसो बाह्यमारम्भमान्तरं च लुनाति यः ।
समं वैतृष्ण्यदात्रेण तस्य क्षेत्रं प्रकाशते ॥ ५१ ॥
जगत्त्वमज्ञसंबुद्धं ज्ञो विदन्नसदेव यत् ।
सतीव तत्र स्फुरति तदनभ्यासजृम्भितम् ॥ ५२ ॥
संसारनिर्वेददशामुपेत्य
सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन ।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान्
वैतृष्ण्यदार्ढ्यात्परमार्थमेति ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुमुक्षुप्रथमोपक्रमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

भी जो धनकी इच्छा करता है, वह मूढ़ और नरपशु है उसे छूनातक नहीं चाहिए ॥ ५० ॥

जो पुरुष सन्तोषरूपी हँसुआसे एक साथ बाहरकी इन्द्रियोंके वर्तनको और भीतरके सङ्कल्प आदिको काट डालता है, उसका खेत यानी ज्ञानबीजकी उत्पत्तिका स्थान हृदय प्रकाशने लगता है ॥ ५१ ॥

दृढ़ वैराग्यकी प्राप्तितकके जितने गुण अभी-अभी पीछे बतलाये गये हैं वे भलीभाँति अभ्यस्त होनेपर ही ज्ञानकी स्थिति बना देते हैं, ऊपर-ऊपरसे अभ्यस्त होनेपर नहीं, इस आशयको लेकर उपसंहारकी इच्छासे कहते हैं—'जगत्त्व०' इत्यादिसे ।

भद्र, अज्ञानियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली जगत्‌की जो विचित्रता है, वह साक्षी आत्मामें सत्यता रखती ही नहीं, यों जान रहा भी ज्ञानी जगत्‌में सत्य अर्थ समझनेवाले अज्ञके सदृश जो अपरिपक्व ज्ञानके कारण व्यवहार करता है, वह प्रस्तुत वैराग्यादिके अनभ्यासका ही परिणाम है ॥ ५२ ॥

पुरुषको सबसे पहले संसारमें विरागदशा प्राप्त करनी चाहिए, फिर सत्समागम और शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए, अनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रोंके अर्थोंकी दृढ़ भावना कर भोगोंसे विरक्त हो जाना चाहिए, इतना करनेके अनन्तर अभी कहे गये वैतृष्ण्यकी यानी सन्तोषकी दृढ़ता बन जायगी और फिर अपने असली स्वरूपको वह अवश्य प्राप्त हो जायगा ॥ ५३ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रूढे संसारनिर्वेदे स्थिते साधुसमागमे ।
शास्त्रार्थे भाविते बुद्ध्या भोगवैतृष्ण्य आगते ॥ १ ॥
जाते विषयवैरस्ये सज्जनत्वे तथोदिते ।
प्रकाशे सोन्मुखीभूते हृदये कलितोदये ॥ २ ॥
धनानि नाभिवाञ्छयन्ते तमांसीव विवेकिना ।
त्यज्यन्ते विद्यमानानि संशुष्कामेध्यपर्णवत् ॥ ३ ॥
भाराय पान्थदृष्ट्येव दृश्यन्ते दारबन्धवः ।
यथाशक्ति यथाकालमुपचर्यन्त एव च ॥ ४ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

[उत्तम वैराग्यके दृढ हो जानेपर पुरुषकी जिन लक्षणोंसे स्थिति होती है तथा ज्ञानमें निष्ठा हो जानेपर जिन लक्षणोंसे स्थिति होती है, उनका वर्णन]

सबसे पहले वैराग्यकी दृढ़ता हो जानेपर पुरुषके जो चिह्न होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—'रूढे' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जब पुरुषको संसारसे विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, जब साधु पुरुषोंका समागम प्राप्त हो जाता है, जब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका अर्थ बुद्धिद्वारा भावित हो जाता है, जब भोगोंकी तृष्णा चली जाती है, जब विषय नीरस बन जाते हैं, जब साधुताका उदय हो जाता है, जब प्रकाशमय आत्मा सामने आ जाता है तथा जब हृदयमें अपने उदयकी पूर्ण भावना हो जाती है, तब वह विवेकी पुरुष धनोंको ऐसे नहीं चाहता, जैसे अन्धकारोंको । और यदि वे पासमें विद्यमान हों, तो उनका ऐसे त्याग कर देता है, जैसे घरमेंसे एकदम सूखे उच्छिष्ट पत्तलोंका ॥ १–३ ॥

उपयोगी भी बर्तन आदि ढो ले जानेमें असामर्थ्य रखनेके कारण जैसे पथिकोंकी दृष्टिसे वे केवल भारभूत ही देखे जाते हैं, वैसे ही विवेकी पुरुषकी दृष्टिसे स्त्री, बन्धु आदि भी भारभूत देखे जाते हैं । परन्तु सहसा उनका त्याग वह नहीं करता, यथाशक्ति और यथासमय धीरे-धीरे उनका उपचार करता ही जाता है यानी छोड़ता जाता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियेष्वपि संलग्ना इन्द्रियार्थाः पुनः पुनः ।
न भोगा अनुभूयन्ते नूनं शान्तमनस्तया ॥ ५ ॥
एकान्तेषु दिगन्तेषु सरःसु विपिनेषु च ।
उद्याने पुण्यदेशेषु निजेष्वेव गृहेषु वा ॥ ६ ॥
सुहृत्केलिविलासेषु शुभोद्यानाशनादिषु ।
शास्त्रतर्कविचारेषु न तथा स्थीयते चिरम् ॥ ७ ॥
उपशान्तेन दान्तेन स्वात्मारामेण मौनिना ।
ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्तवादिना ॥ ८ ॥
एवमभ्यासवशतः परे विश्रम्यते पदे ।
निम्नेवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शान्ताऽज्ञतैवार्थतयोदिता ।
न संभवति भिन्नोऽर्थ इत्येव परमं पदम् ॥ १० ॥

इन्द्रियोंमें बार-बार लगे हुए भी भोगरूप इन्द्रियोंके विषयोंका वह अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसका मन अत्यन्त शान्त हो चुका रहता है ॥ ५ ॥

उसीका विस्तार करते हैं—'एकान्तेषु' इत्यादिसे ।

विवेकी जीव, एकान्त स्थानोंमें, दिगन्तोंमें, सरोवरोंमें, जङ्गलोंमें, उद्यानोंमें, पवित्र देशोंमें, अपने ही घरोंमें, मित्रोंकी विलासपूर्ण क्रीडाओंमें, सुन्दर बाग आदिके भोजनोंमें, शास्त्रोंके तर्कपूर्ण विचारोंमें अज्ञानीके-जैसे दीर्घकालतक आस्था बाँधकर नहीं रहता या आसक्ति न होनेके कारण दीर्घकालतक स्थित नहीं रहता ॥ ६, ७ ॥

अथवा कदाचित् प्रारब्धवश उन स्थानोंमें रह गया, तो भी वहाँ रहकर तत्त्ववित् पुरुषकी ही अन्वेषणा करता है, क्योंकि वह पूर्णशान्त, दान्त, अपनी आत्मामें रमनेवाला, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूप ब्रह्मकी कथामें निरत रहता है ॥ ८ ॥

यों निरन्तर अन्वेषण करनेपर अवश्य आत्माका दर्शन होता है और इससे शान्ति मिलती है, यह कहते हैं—'एवम०' इत्यादिसे ।

इस तरह अभ्यासके बलसे शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जलमें निम्न (नीचेके) भागके सदृश—परम पदमें विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

वह परमपद कैसा है ? जहाँपर विवेकी विश्रान्ति पाता है और किस

नार्थोपलब्धिर्नो शून्यमस्ति बोधात्मतां विना ।
इत्यन्तरनुभूतिस्थमाहुस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥
एकबोधातिसम्बन्धपरिणामान्न बोधता ।
न शून्यता नार्थतेति विद्धि तत्परमं पदम् ॥ १२ ॥
स्वसंविन्मात्रविश्रामवतामनसां सताम् ।
न स्वदन्ते हि विषयाः पयांसि दृषदामिव ॥ १३ ॥

तरहका निश्चय विश्रान्तिरूप बन जाता है ? इसपर कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

एकमात्र अज्ञान ही इन बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य पदार्थोंके रूपमें परिणत हो गया है, अज्ञान कोई अलग पदार्थ है नहीं, इसलिए अज्ञानकी शान्ति ही परमपद है, यह आप जानिए । अथवा बाह्य और आभ्यन्तर जितने अर्थ दिखाई पड़ते हैं, वे आत्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, इस प्रकारका अन्तिम साक्षात्कारात्मक जो निश्चय है, वह यदि अपने स्वरूपभूत आत्मामें—दग्ध लकड़ीकी आगके सदृश—शान्त हो गया, तो वही परमपद है ॥ १० ॥

बोधरूप आत्माके सिवा न तो अर्थोंका ज्ञान हो सकता है और न शून्य ही सिद्ध हो सकता है, इस प्रकारके भीतरी अनुभवमें विद्यमान सर्वबाधोंकी अवधिभूत जो वस्तु है, वही परमपद है ॥ ११ ॥

परमपदरूप जो वस्तु है, वह न बोधरूप है, न शून्यरूप है और न तो अर्थरूप ही है, यह आप जान लीजिए, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अद्वय बोधके साथ एकरस होकर ही परिणत हैं । तात्पर्य यह निकला कि यदि बोधके विषय पदार्थ होते, तो उनको लेकर बोधरूपता कह सकते, परन्तु बोधविषय कोई पदार्थ तो त्रिकालमें भी नहीं है, इसी तरह अर्थ न होनेके कारण अर्थरूपता भी नहीं है । अर्थोंकी शून्यताको लेकर परमपदमें शून्यता कैसे हो सकती है ॥ १२ ॥

परमपदमें विश्रान्ति पा जानेपर विषयोंकी विरक्ति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'स्व०' इत्यादिसे ।

मनःशून्य (मनकी विलयदशाको प्राप्त) तथा आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप परमपदमें विश्राम किये हुए महात्माओंको विषय ऐसे अच्छे नहीं लगते, जैसे मनःशून्य पत्थरोंको दूध ॥ १३ ॥

निरोधपदमापन्नो निर्मना मौनमन्थरः ।
स्वभावे स्थित एवास्ते चित्रे कृत इवात्मवान् ॥ १४ ॥
सर्वार्थमर्थरहितं महदेव पराणुवत् ।
अशून्यमेव शून्यात्मा हृदयं वेद्यवेदिनः ॥ १५ ॥
अहन्त्वं जगदीहादि दिक्कालकलनादि च ।
ज्ञस्य ज्ञानादि शून्यादि स्थितमेव न विद्यते ॥ १६ ॥
ज्ञेनामलपदस्थेन दीपेनेव निरस्यते ।
तमो हार्दं तथा बाह्यं रागद्वेषभयादि च ॥ १७ ॥
रजोरहितसर्वांशं सत्त्वात्पारमुपागतम् ।
असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥ १८ ॥

निरोधपदको प्राप्त यानी बहिर्मुख पुरुषोंको आत्मनिष्ठामें रुकावट डालनेवाले तथा अन्तर्मुख पुरुषोंको बाह्यनिष्ठामें रुकावट डालनेवाले परमपदमें प्राप्त हुआ, मनसे रहित, मुनिके धर्मोंसे पूर्ण शारीरिक कार्योंमें शिथिल आत्मज्ञानी महात्मा अपने स्वभावमें ऐसे निश्चल होकर स्थित रहता है, जैसे चित्रमें अङ्कित पुरुष ॥ १४ ॥

उस समय उसका मन किस तरहका रहता है ? इसपर कहते हैं—'सर्वार्थम्' इत्यादिसे ।

भद्र, अवश्य जानने लायक आत्मवस्तुको जाननेवाले उस महात्माका मन अर्थरहित है, और सम्पूर्ण अर्थोंसे पूर्ण भी है, क्योंकि तत्त्वतः सभी तद्रूप हो गये हैं । अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप हो जानेके कारण महान् ही है और दुर्लक्ष्य होनेके कारण परमाणुरूप भी है, अशून्यरूप होता हुआ भी शून्यात्मक है, कारण कि अहन्ता, जगत्‌की इच्छा आदि, दिशा और कालकी कल्पना आदि तथा ज्ञाताके ज्ञान आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब उसीसे तो हुए हैं, अतः तद्रूप होनेके कारण शून्यरूप नहीं हो सकता और शून्य आदि भी उसीसे हुए हैं, अतः अशून्यरूप भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें तत्-तद्रूपसे स्थित हुआ भी नहीं है, यह कहा जा सकता है ॥ १५, १६ ॥

सम्पूर्ण मलोंसे रहित आत्मपदमें स्थिति करनेवाला ज्ञानी अपने हृदयमें स्थित अज्ञानरूपी अन्धकारको तथा बाहरके अन्धकारको एवं राग, द्वेष, भय आदिको, दीपककी तरह निकाल देता है ॥ १७ ॥

भद्र, ऐसे पुरुषरूपी भास्करको (सूर्यको) प्रणाम करना चाहिए, जिसका

भेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते।
या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न वाग्गोचरमेति सा ॥ १९ ॥
ददात्येतन्महाबुद्धे निर्वाणं परमेश्वरः।
अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ईश्वरः को मुनिश्रेष्ठ कथं भक्त्या प्रसाद्यते।
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि सर्वतत्त्वविदांवर ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः।
महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ २२ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः।
सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ २३ ॥

कि समस्त अंश रजोगुणसे शून्य है, सत्त्वगुणके प्रभावसे जो अज्ञानसागरसे पार पा चुका है और जिसमें तमोगुणका सर्वथा अभाव है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, मैं आपसे क्या कहूँ, जब भेद हट जाता है, चित्त अदृश्य बन जाता है, तब ज्ञानीकी जो स्थिति हो जाती है उसका वाणीसे कथन हो ही नहीं सकता ॥ १९ ॥

हे महाबुद्धे, रात-दिनकी उत्तम भक्तिसे चिरकालके बाद प्रसन्न किया गया परमात्मा वर्णित परमपदरूप निर्वाण देता है, दूसरा नहीं। तपके प्रभावसे या ईश्वरके प्रसादसे मोक्ष मिलता है, ऐसी श्रुतिकी उक्ति भी है ॥ २० ॥

श्रीरामजीने कहा—हे समस्त तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ मुनिवर, कौन ईश्वर है ? और वह भक्तिसे कैसे प्रसन्न किया जाता है, यह बात मुझसे आप ठीक-ठीक कहिए ॥ २१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महामते, ईश्वर न तो दूरीपर ही है और न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोधरूप, एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है ॥ २२ ॥

ईश्वर उसे कहते हैं, जो सबका नियन्त्रण करनेमें स्वतन्त्र हो, इस तरह स्वतन्त्र सबके प्रति सभी प्रकारसे अपनी आत्मा ही है, इस विषयमें युक्ति कहते हैं—'तस्मै' इत्यादिसे।

तस्मादिमाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
अकारणं कारणतो गतयः पवनादिव ॥ २४ ॥
अनिशं पूजयन्त्येताः सर्वाः स्थावरजङ्गमाः ।
यथाभिमतदानेन सर्वे ते भूतजातयः ॥ २५ ॥
सुबहुन्येष जन्मानि यथाभिमतयेच्छया ।
यदा संपूजितस्तेन प्रसादमधिगच्छति ॥ २६ ॥
प्रसन्नः स महादेवः स्वयमात्मा महेश्वरः
बोधाय प्रेरयत्याशु दूतं पूतं शुभेहितैः ॥ २७ ॥

सब कुछ आत्माके लिए ही है । रथ, घर, महल आदि जितने अचेतन पदार्थ हैं, वे सब चेतनके लिए ही हैं, आत्मासे अतिरिक्त कोई चेतनवस्तु है नहीं, इसलिए सर्वभोक्तृतारूप स्वतन्त्रता आत्मामें ही आ गई । उसीसे सब कुछ हुआ है यानी सबका कर्ता वही है, वही सब कुछ है यानी आत्मा ही सबका उपादान और अधिष्ठान है, सभी ओर जहां दृष्टि डालें वहांपर वही नजरमें आता है यानी सम्पूर्ण शक्तियां उसीमें हैं । वही भीतर है यानी सूक्ष्म है, वही सर्वमय-सर्वगत है, वही सनातन है, उस आत्मरूप परमात्माको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

इसीलिए श्रुतिमें बतलाई गई जन्मादिकारणता उसमें है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

यद्यपि वास्तवमें आत्मा कारण नहीं है, तथापि कारणरूप हुए उसी आत्मासे, पवनसे पवन-गतियोंकी नाईं, ये सृष्टि, प्रलय आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

सबका आराध्य भी आत्मा ही है, यह कहते हैं—'अनिशम्' इत्यादिसे ।

ये जितने स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं और ये जितने प्राणी हैं, वे सब अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार उपहारसामग्री प्रदानकर उसी आत्माका निरन्तर पूजन करते हैं ॥ २५ ॥

जब अनेक जन्मों तक यह आत्मा यथाभिमत इच्छासे पूजित होता है, तब वह उससे प्रसन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

जब अनेक सत्कर्मोंसे वह महादेव, महेश्वररूप आत्मा स्वयं प्रसन्न हो जाता है, तब पूजकके पास बोध देनेके लिए अपना पवित्र दूत तत्काल भेजता है ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

आत्मना परमेशेन को दूतः प्रेर्यते मुने ।
स दूतो बोधनं वाऽपि करोति वद मे कथम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

आत्मसंप्रेरितो दूतो विवेको नाम नामतः ।
हृद्गुहायां सदानन्दस्तिष्ठतीन्दुरिवाम्बरे ॥ २९ ॥
स एष वासनात्मानं जन्तुं बोधयति क्रमात् ।
संसारसागरादस्मात्तारयत्यविवेकिनम् ॥ ३० ॥
बोधात्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः ।
अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसंमतः ॥ ३१ ॥
जपहोमतपोदानपाठयज्ञक्रियाक्रमैः ।
एष प्रसाद्यते नित्यं नरनागसुरासुरैः ॥ ३२ ॥
द्यौर्मूर्द्धा पृथिवी पादौ तारका रोमराजयः ।
भूतान्यस्थीनि हृदयं व्योमाऽस्य परमेश्वरः ॥ ३३ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, परमेश्वररूपी आत्मा कौन दूत भेजता है, और वह आकर बोध कैसे देता है, इसको मुझसे कहिए ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, आत्मदेवके द्वारा भेजा गया दूत, जिसका शब्दतः नाम विवेक है और सदा आनन्द देनेवाला है, उक्त पुण्यवान् अधिकारीकी हृदयगुहामें आकर, आकाशमें चन्द्रमाकी नाईं, स्थिर हो जाता है ॥ २९ ॥

यही विवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणीको बोध देता है और अविवेकीको इस संसार-सागरसे पार कर देता है ३० ॥

समस्त जगत्का प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप अन्दरका आत्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है, वासनारूप आत्मा नहीं। इसी परम परमेश्वरका बोधक वेदसम्मत प्रणव (ॐ कार) है ॥ ३१ ॥

जप, होम, तप, दान वेदपाठ, यज्ञ और क्रियाक्रमोंसे निरन्तर इसी आत्माको नर, नाग, देवता और दानव प्रसन्न करते हैं ॥ ३२ ॥

इसी परमपिता परमात्माका द्यौ मस्तक है, पृथ्वी पैर है, तारे रोम हैं भूत अस्थि हैं, आकाश हृदय है और यही सबका अन्तरात्मा है ॥ ३३ ॥

सर्वत्रैष चिदात्मत्वाद्याति जागर्ति पश्यति ।
तेनैष सर्वतो लक्षकरकर्णाक्षिपादभृत् ॥ ३४ ॥
विवेकदूतमुद्बोध्य हत्वा चित्तपिशाचकम् ।
आत्मनः पदवीं स्फारां जीवः कामपि नीयते ॥ ३५ ॥
त्यक्त्वा सर्वविकल्पौघान्विकारानर्थसङ्कटान् ।
पौरुषेणात्मनैवात्मा स्वयमेव प्रसाद्यताम् ॥ ३६ ॥
भ्रमन्मनःपिशाचेऽस्मिन् कल्लोलजलदाकुले ।
संसाररात्रितिमिरे स्वात्मैवापूर्णचन्द्रमाः ॥ ३७ ॥
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरे ।
तृष्णातरङ्गतरले स्वमनश्चण्डमारुते ॥ ३८ ॥
महाजडलवाधरे संसारविषमार्णवे ।
इन्द्रियग्राहगहने विवेकः पोतको महान् ॥ ३९ ॥

चैतन्यात्मा होनेसे यही सब जगह जाता है, जागता है और देखता है, इसलिए यही आत्मा लाखों, हाथ, पैर, कर्ण, चक्षु और पैरोंका चारों ओरसे धारण करता है ॥ ३४ ॥

विवेकरूपी दूतको जगाकर और चित्तरूपी पिशाचका विनाशकर यही चिदात्मा जीवको अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति पैदा करा देता है ॥ ३५ ॥

भद्र, समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंका, विकारोंका और अर्थसङ्कटोंका परित्याग कर अपने ही पुरुषार्थसे अपनी आत्माको स्वयं ही प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ३६ ॥

जिसमें मनरूप पिशाच घूम रहा है, काम, क्रोधरूप काले मेघोंसे जो सदा व्याकुल रहता है, ऐसे संसार रात्रिके घने अन्धकारमें अपना आत्मा ही पूर्ण चन्द्रमा है ॥ ३७ ॥

विवेक ही पार कर देनेवाला है, इस बातको बतलानेके लिए संसारका समुद्ररूपसे वर्णन करते हैं—'अगाध०' इत्यादिसे ।

अगाध, एवं मरणरूप भँवरोंके कल्लोलोंसे व्याकुल कोटरोंसे युक्त, तृष्णारूपी तरङ्गोंसे तरल, अपने मनरूपी झंझावातोंसे युक्त, स्थावर आदि बड़े-बड़े भूतरूप जलकणोंसे व्याप्त, संसाररूपी बड़े विषम सागरको पार करनेमें, जो कि इन्द्रियरूप मकरोंसे अतिगहन है, विवेक ही एक बड़ा भारी जहाज है ॥३८,३९॥

पूर्वं यथाभिमतपूजनसुप्रसन्नो
दत्त्वा विवेकमिह पावनदूतमात्मा ।
जीवं पदं नयति निर्मलमेकमाद्यं
सत्सङ्गशास्त्रपरमार्थपरावबोधैः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकमाहात्म्यं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परिपुष्टविवेकानां वासनामलमुज्झताम् ।
महत्ता महतामन्तः काप्यपूर्वैव जायते ॥ १ ॥
औदार्योदारमर्यादां मतिं गाम्भीर्यसुन्दरीम् ।
महतां नावगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश ॥ २ ॥

कहे गये प्रश्न-उत्तरोंका संक्षेपकर उपसंहार करते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे ।

पूर्व वर्णित शास्त्रविहित पूजनसे प्रसन्न हुआ आत्मा परम विवेकरूप परम-पवित्र दूत भेजकर सत्सङ्ग, शास्त्र और परमार्थ वस्तुके उत्तम बोधन द्वारा जीवको अद्वितीय, निर्मल और सर्वोच्च पद प्राप्त कराता है ॥ ४० ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

—o—

उनचासवाँ सर्ग

[दृढविवेकज्ञानसम्पन्न पुरुषोंकी जैसी महिमा होती है तथा जैसा उनको संसार भासता है, उन सबका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका विवेकज्ञान परिपुष्ट हो गया है ऐसे वासनारूपी मलका परित्याग कर रहे महात्माओंके अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

उसी महत्ताका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'औदार्यो०' इत्यादिसे ।

औदार्यकी सर्वश्रेष्ठ अवधिभूत तथा गाम्भीर्यगुणसे अतिसुन्दर महात्माओंकी

चित्तभ्रान्तिर्जगदिति प्ररूढे प्रत्यये सताम् ।
बाह्यश्चान्तश्चरन्नक्रग्रहो मोहश्च शाम्यति ॥ ३ ॥
द्वीन्दुवत्तापजलवत्केशोण्ड्रकवदम्बरे ।
विस्फुरन्त्यां जगद्भ्रान्तौ वासनाप्रत्ययः कुतः ॥ ४ ॥
वासनाप्रत्यये शून्ये शून्यं व्योमैव शिष्यते ।
साऽप्यवस्था मनोऽसत्त्वे कुतस्त्याज्या विवेकिना ॥ ५ ॥

बुद्धिको चौदह भुवन तथा उनके सभी प्राणी एवं वहांकी सारी सम्पत्तियां भी लुब्ध नहीं कर सकतीं ॥ २ ॥

यह सारा संसार चित्तकी एकमात्र भ्रान्ति है, ऐसी सज्जनोंको दृढ़ प्रतीति हो जानेपर बाहर शब्दादि विषयोंके लिए उत्पन्न होनेवाला तथा भीतर सङ्कल्प-विकल्पादि रूपोंसे भ्रमण करनेवाला अतएव हृदयके भीतर और बाहर दोनों जगह संचार करनेमें समर्थ मनसहित इन्द्रियोंका समूहरूपी एक तरहका नक्र तथा उसका मूलभूत अज्ञान एवं वासना, काम, कर्म आदि—ये सबके सब शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

जबतक भ्रान्तियोंमें सत्यत्वका अभिमान रहता है तभीतक भोगोंकी वासनाकी वृद्धि भी रहती है। भ्रान्तियोंका भ्रान्तिरूपसे स्फुरण होनेपर यानी ये जगत्की सारी भ्रान्तियां वस्तुतः भ्रान्तिरूप ही हैं, ऐसा ज्ञान हो जानेपर तो मूलका उच्छेद हो जानेके कारण उन वासनाओंका भी उच्छेद लोकमें प्रसिद्ध ही है, यह दृष्टान्त देकर दिखलाते हैं—'द्वीन्दुवत्' इत्यादिसे।

दो चन्द्रमाके तुल्य, मृगतृष्णाके जलके समान तथा आकाशमें केशोण्ड्रकके सदृश जगत्की भ्रान्ति वस्तुतः भ्रान्ति है, ऐसा तत्त्वबोध द्वारा स्फुरित हो जानेपर तत्त्वज्ञानी पुरुषको वासनाकी प्रतीति भला कहांसे हो सकती है ॥ ४ ॥

वासनाकी प्रतीति (वृत्ति) का नाश होनेपर शून्य चिदाकाश ही शेष रह जाता है और वह वासनाकी शून्यावस्था भी मनके न रहनेपर ही सिद्ध होती है। अतः वासनाशून्य मनरहित जो अवस्था सप्तम भूमिकामें विवेकी पुरुषसे प्राप्त है उसका भला त्याग कैसे किया जा सकता है? उसके त्यागमें कोई हेतु नहीं दीखता, यह भाव है ॥ ५ ॥

त्रयमेतत्तु याऽवस्था त्रयेणानेन वर्जिता ।
पश्यन्तीवाप्यपश्यन्ती साऽवस्था परमोच्यते ॥ ६ ॥
विचित्ररत्नरश्म्योघ इव नानात्मकं जगत् ।
आभासमात्रं न त्वात्मा न घनं न च पार्थिवम् ॥ ७ ॥
रूपालोकनमात्रं हि शून्यमेव जगत्स्थितम् ।
खे विचित्रमणिव्यूहकरजालमिवोत्थितम् ॥ ८ ॥
नेह सत्यानि भूतानि न जगत्ता न शून्यता ।
इदं ब्रह्माख्यरत्नेशप्रभाजालं विजृम्भितम् ॥ ९ ॥
सृष्टयोऽसृष्टयो ब्राह्मयो नानाता च न नाशताः ।
अमूर्ता एव भासन्ते कल्पनार्कगणा घनाः ॥ १० ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये जो तीन अवस्थाएँ हैं ये तो सभीको भलीभाँति ज्ञात हैं। परन्तु इन तीनोंसे शून्य जो चौथी अवस्था है वह तो दर्शन आदि व्यवहारोंके मूलका बाध हो जानेपर सांसारिक पदार्थोंको न देखती हुई भी एकमात्र जीवनके हेतुभूत प्रारब्धके शेष रह जानेसे देखती हुई-सी अन्यकी दृष्टिमें अवभासती है। तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो वह परमावस्था ही कहलाती है ॥ ६ ॥

सप्तम भूमिकामें स्थित तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह जगत् व्युत्थानकालमें भी नहीं भासता और न आत्मा, न घन तथा पृथिवी आदिसे घटित कोई पदार्थ ही भासता है, बल्कि विचित्र तरहका एक रत्नोंका किरण-जाल-सा—निबिड़ित प्रभा-पुञ्ज-सा आभासमात्र भासता है ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानी महानुभावोंकी दृष्टिमें यह सारा जगत् रूपोंका आलोकमात्र, आकाशमें विचित्र मणिसमूहके किरणजाल-सा उत्थित, एकमात्र शून्यस्वरूप ही स्थित है ॥ ८ ॥

इस संसारमें न तो ये सब नाना प्रकारके जीव सत्य हैं, न यह जगत्-रूप सत्य है और न कहीं शून्यता ही है, किन्तु ब्रह्मनामक रत्नेशका प्रभाजाल ही वह सर्वत्र विजृम्भित है—उसीका चारों ओर विलास हो रहा है ॥ ९ ॥

चूँकि अनेकता नहीं है, अतः ब्रह्मकी सृष्टियाँ भी नहीं हैं। चूँकि नाशता नहीं है, अतः प्रलय भी नहीं हैं, किन्तु मूर्तिशून्य कल्पनारूपी अनेक सूर्योंकी ही किरणें एकत्रित होकर यहाँ भासित हो रही हैं ॥ १० ॥

एवं तावद्घनीभूतः पिण्डग्राहो न विद्यते ।
सङ्कल्पिते च व्योम्नीव शून्यतैवावगम्यते ॥ ११ ॥
तस्यामवस्तुभूतायां कथं भावनिबन्धनम् ।
भविष्यदाकाशतरौ विश्रान्तः को विहङ्गमः ॥ १२ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यता च न विद्यते ।
चित्तमप्यत एवास्तं शेषं सत्तत्र चास्थिति ॥ १३ ॥
अनाना सममेवास्ते नानारूपं विबोधवान् ।
अन्तरालीननानार्थो यथा कनकपिण्डकः ॥ १४ ॥

मनोराज्य आदिमें सङ्कल्पकल्पित मूर्ताकार पदार्थोंकी तो शून्यता ही प्रसिद्ध है, पिण्डरूपसे उनका ग्रहण प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'एवं तावत्' इत्यादिसे ।

सच पूछिये तो इस प्रकार कल्पना ही मूर्तिमान् जगद्रूपसे भासती है । वास्तवमें यहां घनीभूत कोई पिण्डग्रहण नहीं है, क्योंकि जैसे आकाशमें एकमात्र शून्यता अवगत होती है वैसे ही सङ्कल्पकल्पित मनोराज्य आदिमें एकमात्र शून्यता ही अवगत होती है ॥ ११ ॥

शून्यताप्रसाधनका फल कहते हैं—'तस्याम०' इत्यादिसे ।

अवस्तुभूत उस शून्यतामें विवेकी पुरुषको अहन्ता, ममता, राग-द्वेष आदि भावोंका बन्धन भला कैसे हो, क्योंकि भविष्यत् आकाशरूपी वृक्षमें किस पक्षीने विश्रान्ति प्राप्त की है ॥ १२ ॥

इस तरह संसारमें पिण्डत्वादिका खण्डन हो जानेपर साररूपसे सन्मात्र ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं—'पिण्डत्वम्' इत्यादिसे ।

इन सांसारिक जीवोंकी कोई पिण्डता नहीं है—वस्तुतः कोई मूर्ति नहीं है और न शून्यता ही विद्यमान है । यही कारण है कि चित्त भी अस्त हो चुका है और एकमात्र सद्रूप ही शेष रह गया है, उसका किसी तरह अपलाप नहीं हो सकता—वह सदा स्थित है ॥ १३ ॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष जाग्रदवस्थामें भी सुषुप्तिमें ही स्थित रहता है, क्योंकि उस समय भी उसे भासित हो रहे पदार्थोंकी अनेकता सन्मात्र आत्मामें ही लीन हुई रहती है, यह दृष्टान्त देकर बतलाते हैं—'अनाना' इत्यादिसे ।

यथास्थितस्य साहन्त्वं विश्वं चित्तं विलीयते ।
ज्ञस्याऽवाच्यमचित्त्वं सत्स्वरूपमवशिष्यते ॥ १५ ॥
क्लिश्यते केवलं बुद्धिरुत्तराधरदर्शनैः ।
स्तोकयाऽभ्यस्तया युक्त्या सत्योऽर्थो ह्यवगम्यते ॥ १६ ॥
विराडोजोविरहितं कार्यकारणतादिभिः ।
भूतभव्यभविष्यस्य जगदङ्गस्य सम्भवम् ॥ १७ ॥

जाग्रदवस्थामें नाना प्रकारके रूपोंसे सम्पन्न होनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष एकरूप हो समानभावसे सुषुप्तिमें ही स्थित रहता है, क्योंकि उसकी अनेकता सन्मात्र आत्मामें ऐसे लीन हुई रहती है, जैसे नाना प्रकारके सुवर्णके आभूषण सुवर्णके पिण्डमें ॥ १४ ॥

ज्ञानीका वह अवशिष्ट सन्मात्र चित्तरूप ही क्यों नहीं होगा, क्योंकि चित्तके रहनेपर ही चितिकी अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है, चित्तका नाश होनेपर उसकी स्थिति नहीं रहती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'यथास्थितस्य' इत्यादिसे।

यदि अयथास्वभाव जाड्यमें स्थित ज्ञानीका अहङ्कारसहित सारा विश्व और चित्त विलीन हो जाता, तब तो वह ज्ञानी जड़सन्मात्ररूपसे अवशिष्ट रह जाता, किन्तु यह बात नहीं है। यहां तो बात यह है कि यथाभूत चिदेकस्वभावमें स्थित ज्ञानीका अहङ्कारसहित सारा संसार और चित्त तत्त्वज्ञानसे विलीन हो जाता है इसलिए वह सत्स्वरूपसे ही अवशिष्ट रह जाता है। उस समय ज्ञानीका परिशिष्ट चिदेकरस अचिद्रूप है, यह नहीं कहा जा सकता अतः उस समय चिदेकरस सन्मात्रके परिशेषकी ही सिद्धि हो जाती है ॥ १५ ॥

यदि सन्मात्ररूप सबका स्वरूप है, तो फिर वह सबको सुलभ क्यों नहीं है ? यदि यह आशङ्का हो, तो उसका उत्तर यही है कि ऊँच-नीच विषयोंमें बुद्धिकी चंचलताके कारण स्थिरताका अभाव होनेसे ही वह स्वरूप सबको सुलभ नहीं है, यह कहते हैं—'क्लिश्यते' इत्यादिसे।

ऊँच-नीच विषयोंकी ओर दौड़नेसे बुद्धि क्लेश पाती है, इसलिए वह सन्मात्र-स्वरूप सबको सुलभ नहीं है। हाँ, धीरे-धीरे युक्तिका अभ्यास करनेसे सत्य अर्थ अवगत हो जाता है ॥ १६ ॥

वह कौन-सी युक्ति है, यह दिखलाते हुए उस युक्तिका फल ज्ञान है, यह बतलाते हैं—'विराडोजो०' इत्यादिसे।

येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते ।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ १८ ॥
पूर्वोक्ताः सर्व एवैते उपदेशा विशेषणाः ।
ज्ञस्यानुभवमायान्ति सतः साधुकथा इव ॥ १९ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यत्वं चाप्यसम्भवात् ।
अत एव मनो नास्ति शेषं सत्तत्त्व स्थितिः ॥ २० ॥
चेत्योन्मुखत्वमेवान्तश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
उदितं तदनर्थाय श्रेयसेऽनुदितं भवेत् ॥ २१ ॥

जिस अधिकारी पुरुषने भूत, भविष्य और वर्तमान इस जगद्रूपी अङ्गके जन्मको कार्य-कारणता आदिसे विचार कर वाचारम्भण श्रुतिमें दिखलाये न्याय द्वारा स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चसे रहित परिशिष्ट सन्मात्र अखण्ड बोधरूपसे जान लिया है वही सचमुच तत्त्वज्ञानी है तथा उस द्वैतशून्य उपशान्त ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें यह संसार है ही नहीं ॥ १७, १८ ॥

सभी उपदेशोंका, जो तत्-तत् असंभावनाशके व्यावर्तक हैं, उस तरहके अनुभवमें ही पर्यवसान है, यह कहते हैं—'पूर्वोक्ताः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त ये सभी मेरे विशेष रूपके उपदेश, साधु पुरुषोंकी कथाकी तरह, ज्ञानीके अनुभवमें स्वतः आ जाते हैं ॥ १९ ॥

दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'पिण्डत्वम्' इत्यादिसे ।

चार तरहके प्राणिसमूहों तथा पृथिवी आदि महाभूतोंका एक-एक अवयव तथा एक-एक गुणसे विवेचन करके देखनेपर इन पदार्थोंकी, जो दिखाई दे रहे हैं, परमाणुभावमें भी विश्रान्ति न होनेसे इन सभी जीवोंमें न तो पिण्डता है और न प्रत्यक्षादिके असंभवसे शून्यता ही है अर्थात् न तो इन सब जीवोंकी कोई मूर्ति है और न ये सब शून्यरूप ही हैं। इन दोनोंके न रहनेसे सम्पूर्ण विकल्पोंका नाश हो जानेके कारण विकल्पोंके अधीन स्थितिवाला मन भी नहीं है। इसलिए निर्विकल्पक सन्मात्ररूप स्फुरण ही अवशेष है। हे श्रीरामचन्द्रजी, वही आपका पारमार्थिक रूप है और वही आपकी अन्तिम स्थिति है ॥ २० ॥

अन्य युक्ति बतलाते हैं—'चेत्योन्मुखत्वम्' इत्यादिसे ।

इस प्रत्यगात्माका (साक्षी चेतनका) विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही

उदितं बाह्यतामेति तत्र गच्छति पिण्डताम् ।
स्वयं संवेदनादेव जाड्यादम्बिवव शैलताम् ॥ २२ ॥
स्वप्नाद्यर्थवदादत्ते बोधोऽबोधेन पिण्डताम् ।
तद्ग्राहकतया चित्तं भूत्वा बध्नाति देहकम् ॥ २३ ॥
एतावतीष्ववस्थासु बोधस्योदेति नान्यता ।
शब्दकल्पनया भेदः केवलं परिकल्पितः ॥ २४ ॥
बहिरन्तश्च बोधस्य भात्यात्मैवार्थदृष्टिभिः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन नैवास्य मनसो यथा ॥ २५ ॥
बोधस्याऽऽकाशकल्पत्वात् कालाकाशादि तद्वपुः ।
पदार्थाश्चैव खात्मानः स्वप्नवन्नार्थरूपि खम् ॥ २६ ॥

संसाररूपसे बोध है । यह अनर्थके लिए ही उदित होता है, कल्याणके लिए उदित नहीं होता ॥ २१ ॥

यह अनर्थके लिए कैसे उदित होता है, यह कहते हैं—'उदितम्' इत्यादिसे।

संसाररूपसे उदित हुआ वह बोध बाह्यरूपताको प्राप्त करता है और बादमें स्वयं संवेदनके कारण वह साकारपिण्डरूपताको ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे जड़ताके कारण जल ही जम करके पत्थररूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

वह चिदात्मा ही अपने स्वरूपके अज्ञानसे स्वप्नकालके पदार्थोंके समान पिण्डरूपताको यानी पदार्थोंके मूर्तिमान् आकारको धारण करता है तथा उसके ग्राहकरूपसे चित्त बनकर फिर शरीर धारण कर लेता है ॥ २३ ॥

इस तरहके हजारों विवर्तोंसे भी चितिमें अणुमात्र भी विकार नहीं आता, क्योंकि वे सभी नाममात्रके ही रहते हैं, यह कहते हैं—'एतावतीष्व०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी अवस्थाओंमें चिदात्मा अपने स्वरूपसे अन्य-भावको तनिक भी प्राप्त नहीं होता । शब्दमात्रकी केवल कल्पनासे ही भेदकी कल्पना की गई है ॥ २४ ॥

स्वप्नमें मनसे पदार्थोंका अवलोकन होनेपर मनके ही बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान रहनेसे एकमात्र मन ही जैसा विकृतरूपसे भासता है, वैसा विकृतरूपसे यह बोधात्मा अर्थदृष्टियोंसे बाहर-भीतर भासमान होनेपर नहीं भासता ॥ २५ ॥

आत्मा विकृत क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'बोधस्य' इत्यादिसे ।

बाह्यार्थता नान्तरत्वं तद्वद्बोधवशाद्व्रजेत् ।
नासादृश्यं हि बोधत्वं गन्तुं शक्तं जडं क्वचित् ॥ २७ ॥
बोधो दृश्यदशां नैति प्राप्तो वापि च तां स्थितिम् ।
स यथास्थितमेवास्ते मनागप्येति नान्यताम् ॥ २८ ॥
अत्यर्थं शुद्धबोधैकपरिणामे कृतोदये ।
बोधाबोधार्थशब्दानां श्रुतिरप्यस्तमेष्यति ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहानां चित्तानामेव जायते ।
आधिभौतिकताबोधो दृढभावनया स्वया ॥ ३० ॥

आकाशके सदृश होनेसे चिदात्मा भी आकाश और कालके समान अविकृत ही रहता है तथा उसका शरीर भी काल और आकाशरूप ही है। सभी पदार्थ चिदाकाशस्वरूप हैं। वह चिदाकाश स्वप्नके समान अर्थाकारसे परिणत नहीं होता ॥२६॥

जड़स्वरूप बाह्य पदार्थोंके आकारसे चिति भले ही विकृत न हो सके, किन्तु जड़का तो विकार हो सकता है। तत्त्वबोधके वश भीतर स्थित चिदाकाररूपसे वह विकृत क्यों न हो जाय, इसपर कहते हैं—'बाह्यार्थता' इत्यादिसे।

जैसे जड़ बाह्य पदार्थोंके आकारसे चिति विकृत नहीं हो सकती वैसे ही जड़ बाह्य पदार्थता भी तत्त्वबोधवश भीतर स्थित चिदाकाररूपसे विकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा असदृश जड़ पदार्थ कहीं भी बोधरूप नहीं हो सकता ॥२७॥

चिदात्मा दृश्यदशाको प्राप्त नहीं होता। अथवा विवर्तवश उस दृश्य स्थितिको यदि प्राप्त हो जाता है, तो भी वह अविकृत ही बना रहता है। तनिक भी अन्यरूपताको नहीं प्राप्त होता ॥ २८ ॥

सर्वथा शुद्धबोधस्वरूप एक आत्माका सप्तम भूमिकामें परिणतिरूप उदय हो जानेपर बोध और अबोधरूपी अर्थ और शब्दका भी श्रवण समाप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

जिस मनकी भावनासे यह सारा दृश्यप्रपञ्च दृढ हो जाता है उसी मनकी भावनासे यह सारा दृश्यप्रपञ्च शिथिल भी हो जाता है, यह कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे।

मनकी दृढ भावनासे ही चित्तस्वरूप सूक्ष्म शरीरोंकी स्थूलदशा प्राप्त हो जाती है यानी दृढभावनासे ही चित्तरूप लिङ्ग शरीरोंमें आधिभौतिकरूपताका बोध होता है ॥ ३० ॥

आकाशविशदैश्चित्तैर्भावितैषाऽऽतिवाहिकैः ।
आधिभौतिकता मिथ्या नटैरिव पिशाचता ॥ ३१ ॥
भ्रान्तिरभ्रमणाभ्यासात्प्रज्ञातैषोपशाम्यति ।
नोन्मत्तोऽस्मीति सम्बोधाच्छाम्यत्युन्मत्तता किल ॥ ३२ ॥
भ्रान्तिः स्वयं परिज्ञानाद्वासना विनिवर्तते ।
स्वप्ने स्वप्नतया बुद्धे कस्य स्यात्किल भावना ॥ ३३ ॥
वासना तानवेनैव संसार उपशाम्यति ।
वासनैव महायक्षिण्येतच्छेदपरा बुधाः ॥ ३४ ॥
अज्ञानोन्मत्तता पुंसां यथाऽभ्यासेन भाविता ।
तथैव बोधात्स्वभ्यासात्सा कालेनोपशाम्यति ॥ ३५ ॥

आकाशके सदृश विशद इन सूक्ष्म चित्तोंके द्वारा यह मिथ्या आधिभौतिक-रूपता ऐसे भावित हुई है, जैसे कि पिशाचवेषका अभिनय करनेके लिए नटों द्वारा मिथ्या पिशाचरूपता भावित होती है। तात्पर्य यह कि पिशाचवेषका अभिनय करनेके लिए जैसे मिथ्या पिशाचवेषको नट धारण करते हैं वैसे ही इन चित्तोंने यह मिथ्या भौतिकरूप धारण किया है ॥ ३१ ॥

अभ्रमताके अभ्याससे यानी सत्यस्वरूपके अभ्याससे भलीभाँति स्वरूपतः ज्ञात हुई यह सांसारिक भ्रान्ति ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि 'मैं उन्मत्त नहीं हूँ' इस दृढ़ ज्ञानसे उन्मत्त पुरुषकी निःसन्देह उन्मत्तता शान्त हो जाती है ॥३२॥

भ्रान्तिका परिज्ञान होनेसे वासना स्वयं निवृत्त हो जाती है। ठीक ही है, स्वप्नका स्वप्नरूपसे ज्ञान हो जानेपर भला किस पुरुषको स्वाप्निक पदार्थोंमें सत्यत्वकी वासना हो सकती है ॥ ३३ ॥

एकमात्र वासनाके क्षयसे ही यह संसार उपशान्त हो जाता है। यह वासना ही महायक्षिणी है। विवेकी महानुभाव लोग इसके नाशमें लगे हुए रहते हैं ॥ ३४ ॥

पुरुषोंके अभ्याससे अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे उत्पन्न हुई रहती है वैसे ही ज्ञान हो जानेपर अपने उस ज्ञानके अभ्याससे धीरे-धीरे समय पाकर वह नष्ट भी हो जाती है ॥ ३५ ॥

आतिवाहिकदेहोऽयमाधिभौतिकतां यथा ।
नीयते भावना तज्ज्ञैर्बोधसत्ताप्रसादतः ॥ ३६ ॥
आतिवाहिकदेहोऽपि नीत्वा जीवपदं तथा ।
दृढेन बोधाभ्यासेन नेतव्यो ब्रह्मतामपि ॥ ३७ ॥
स्ववस्तुवच्चेदुत्पत्तिर्बुध्यते बोधरूपिणी ।
तदाऽऽतिवाहिकी बुद्धिः कथमित्यपि बुध्यते ॥ ३८ ॥

जैसे भावनाके बलसे यह सूक्ष्म शरीर स्थूलरूपताको प्राप्त होता है वैसे ही विवेकी पुरुष लोग अभ्यास द्वारा दृढ़ की गई स्थितिके प्रसादसे इस सूक्ष्मशरीरको ब्रह्माहंभावकी एकमात्र वासनामें पहुँचा देते हैं ॥ ३६ ॥

तथा इस सूक्ष्म शरीरको भी ब्रह्माहंभावकी एकमात्र वासनामें ले जा करके वहाँसे जीवरूपताको प्राप्त करा देते हैं और फिर उस जीवको भी अपने दृढ़बोधके अभ्याससे ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचा देते हैं ॥ ३७ ॥

ज्ञानी महानुभाव लोग कैसे इस सूक्ष्म शरीरको जीवरूपता तथा ब्रह्मरूपता प्राप्त करा देते हैं, यह कहते हैं—'स्ववस्तुवत्' इत्यादिसे ।

उत्पन्न हुए बाह्य तथा आध्यात्मिक भावोंके प्रति जो आत्माका अतिवहन करता है उस वासनासमूहका नाम अतिवाह है तथा उससे उत्पन्न हुआ जो लिङ्गशरीर है उसको 'आतिवाहिक' कहते हैं । समस्तभाव पदार्थोंके प्रथम विकार-का नाम उत्पत्ति है । वह यदि विचारके बाद कूटस्थ बोधमात्रस्वरूपिणी ज्ञात हो जाय, तो फिर वह सूक्ष्मशरीरविषयक बुद्धि कैसी है, यह भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय * ॥ ३८ ॥

* परन्तु कूटस्थ बोधस्वभावसे अलग किसी भावपदार्थकी उत्पत्तिका निरूपण हो नहीं सकता । देखिये, विचार कीजिये—क्या वह उत्पत्ति पहले स्वयं उत्पन्न होकर भावोंको अपनेसे विशिष्ट बनाकर स्थित होती है या बिना स्वयं उत्पन्न हुए ही ? इसमें यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, तो उस पक्षमें हमारा आपसे यह कहना है कि तब तो सींग भी खरहेको अपनेसे विशिष्ट बना सकता है । रह गया पहला पक्ष । इसमें तो यह समझ लीजिये कि स्वयं उत्पत्त्यादिसे विशिष्ट हुई वह भावपदार्थरूप ही होगी, न कि भावविकार । इसी तरह उसकी उत्पत्ति भी समझ लीजिये । इस रीतिसे अनवस्थादोष माननेपर तो निर्विकार भावोंकी अनवस्था ही बनी रहेगी, अतः यह निश्चित है कि किसीके उत्पत्ति आदि विकारोंका कोई भी विद्वान् किसी तरहसे निरूपण नहीं कर सकता । इसलिए जब यों ज्ञान हो गया कि जितने भाव-

नो चेत्तत्प्रतिवाक्यार्थात्तद्ग्रन्थिर्विनिवर्तते ।
भूतोत्सादनमन्त्रस्य प्रतिपत्तृपदं यथा ॥ ३९ ॥
जगद्बोधैकतां बुद्ध्वा बोद्धव्या तावदव्रणम् ।
अत्यन्तपरिणामेन यावत्साऽपि न बुध्यते ॥ ४० ॥
स बाह्याभ्यन्तरे चित्ते शान्ते भाति स्वभावता ।
शीतलां व्योमनिर्भासां तामेवाश्रित्य शाम्यताम् ॥ ४१ ॥

इसी रीतिसे 'तत्' और 'त्वं' पदार्थका शोधन होनेपर सम्पूर्ण महावाक्य अखण्ड अर्थके बोधन द्वारा सम्पूर्ण सन्देहोंके ग्रन्थिभेदनमें समर्थ होते हैं। अन्यथा वे भूत-प्रेतोंको भगाते समय पढ़े जा रहे मन्त्रोंके भीतर आये हुए 'हुं' 'फट्' आदि पदोंकी तरह बिलकुल अनर्थक सिद्ध होंगे। वे सभी महावाक्य एकमात्र श्रवणके बलसे प्राणीको इस संसारसे छुटकारा दिला देते हैं, ऐसी हमें कल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'नो चेत्तत्' इत्यादिसे।

यदि ऐसी बात न हो, तो फिर ब्रह्मप्रतिपादक महावाक्योंके अर्थसे संसारकी ग्रन्थि निवृत्त हो जाती है, यह कहना भी वैसे ही बिना अर्थका सिद्ध होगा, जैसे कि भूत-प्रेतादिको दूर भगानेवाले मन्त्रोंके अन्तर्गत 'हुं', 'फट्' आदि पद ॥३९॥

'तत्' पदार्थके शोधनके लिए पहले 'वाचारम्भण' न्यायसे जगत् तथा इसके कारणभूत ईश्वरके स्वरूपकी एकता जान करके उसके बाद 'त्वं' पदार्थके शोधनके लिए 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इस श्रुति द्वारा दिखलाये गये मार्गसे प्रत्यक् चैतन्यको भी असङ्ग अद्वय समझना चाहिए [कबतक इन दोनों पदार्थोंके शोधनमें मनुष्यको लगे रहना चाहिए, इसपर कहते हैं—'अत्यन्त०' से] जबतक इन दोनों पदार्थोंके अखण्डैकरसवाक्यार्थरूप अत्यन्तपरिणाम द्वारा वह अखण्डाकारवृत्ति भी नहीं जान ली जाती, तबतक साधक मनुष्यको इन दोनों पदार्थोंके शोधनमें तत्पर रहना चाहिए ॥ ४० ॥

बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्तके बिलकुल शान्त हो जानेपर अपनी चित्स्वभावता प्रकाशित होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रत्येक पुरुषको चाहिए कि वह

पदार्थ हैं वे सबके सब कूटस्थ बोधरूप ही हैं तब कहिये ! कौन किसके लिए किसका अतिवहन करे या वह अतिवहन भी किस रूपका हो अथवा कौन-सी उसकी अन्य बुद्धि है। वह भी तत्त्वतः ज्ञात हो ही जाती है, यह तात्पर्य है।

ज्ञानवान् ज्ञानयज्ञस्थो ध्यानयूपं विरोपयन् ।
जगद्विजित्य जयति सर्वत्यागैकदक्षिणः ॥ ४२ ॥
पतत्यङ्गारवर्षे च वाति वा प्रलयानिले ।
भूतले व्रजति व्योम्नि सममास्ते ज्ञ आत्मनि ॥ ४३ ॥
वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधमलमीयुषः ।
स्थितिर्वज्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥ ४४ ॥
यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्येनोपशाम्यत्यलं मनः ।
न तथा शास्त्रसन्दर्भैर्नोपदेशतपोदमैः ॥ ४५ ॥

आकाशकी नाईं पूर्ण स्वच्छ तथा शीतल उसी चित्स्वभावताका आश्रयण कर शान्त होवे ॥ ४१ ॥

वही मुख्य 'विश्वजित्' नामक ज्ञानयज्ञ है, यह कहते हैं—'ज्ञानवान्' इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी यज्ञशालामें उपस्थित होकर ध्यानरूपी अत्यन्त दृढ़ और लम्बे यज्ञस्तम्भको नीचे दूरतक जमीन खोदकर गाड़ता है तथा सारे संसारको जीतकर सर्वत्यागरूप मुख्य दक्षिणा दे करके सबसे उत्कृष्ट बनकर विराजता है ॥ ४२ ॥

उसके सर्वोत्कर्षका—'समस्त विपत्तियोंमें अकम्पितरूपसे'—पहले वर्णन करते हैं—'पतत्य०' इत्यादिसे ।

चाहे भले ही अङ्गारोंकी वृष्टि हो, प्रलयकालकी वायु बहे, या यह भूतल आकाशमें उड़कर चला जाय, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमें ही समरूपसे स्थित रहता है ॥ ४३ ॥

वज्रकी तरह दृढ़ वैराग्य एवं शान्ति सुखोत्कर्षकी स्थिरतासे भी उसका वर्णन करते हैं—'वैतृष्ण्य०' इत्यादिसे ।

पूर्ण वैराग्यसे सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोधको प्राप्त पुरुषकी वज्रतुल्य, दृढ़ समाधिके अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति नहीं उपपन्न होती ॥ ४४ ॥

शान्ति आदि साधनोंमें वैराग्यको ही सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

बाह्य पदार्थोंसे वैराग्य होनेपर जैसा मन पूर्णरूपसे शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रोंके विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियोंके निग्रहसे भी नहीं होता ॥ ४५ ॥

मनस्तृणस्य सर्वार्थवैतृष्ण्याग्निर्विबोधितः ।
सर्वत्यागानिलैः सम्पदत्यापदिति भावनात् ॥ ४६ ॥
बहिरन्तश्च मोहश्च पिण्डग्राहोऽर्थवेदनम् ।
ज्ञप्तिरेवेति कचति ज्ञात्वा मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ४७ ॥
नरनागासुरागारगिरिगह्वरदृष्टिभिः ।
चितिरेवेति विसृता धूमोऽम्बुदतयेव खे ॥ ४८ ॥
वेपन्ते चिद्द्रवत्वेन ब्रह्माण्डजडभाण्डगाः ।
स्वविवर्ततरङ्गिण्यो जीवशक्त्या पतद्रसाः ॥ ४९ ॥
जीवकाजीर्णशफरी व्योमवारिविहारिणी ।
मोहजालेन वलिता न स्मरत्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५० ॥

'सारी सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं'—इस तरहकी भावनासे मनरूपी महा-तृष्णाके बीचमें सर्वत्यागरूप अनिलसे विबोधित सब पदार्थोंसे उत्पन्न वैराग्यरूपी अग्नि परमब्रह्मसाक्षात्काररज्वालारूपसे प्रज्वलित होकर—बाहर और भीतर सर्वत्र प्रसिद्ध जो मोहान्धकार तथा मोहान्धकारप्रयुक्त जो चोर, यक्ष आदिकी कल्पनाके तुल्य ब्रह्माण्डका भूत-भौतिक मूर्तरूपी पिण्ड है यानी ब्रह्माण्डका साकार ज्ञान है एवं चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूप, रस आदि पदार्थोंका जो अनुभव है, वह सब चिदात्मा ही है—यों एकमात्र अखण्ड-अद्वय स्वभाव सबको बनाकर—ऐसे देदीप्यमान होती है, जैसे कि वज्रादिमणि अपनेमें प्रतिबिम्बित हुई वस्तुओंको अपने स्वरूपमें बिलकुल मिलाकर उन्हें प्रकाशित करते हुए स्वयं देदीप्यमान होते हैं ॥ ४६, ४७ ॥

मनुष्य, नाग तथा असुर एवं उनके स्थान पर्वत तथा गुफा आदिके रूपोंसे वह चिति ही नाना प्रकारके वैचित्र्यको वैसे प्राप्त है, जैसे आकाशमें मेघोंके रूपसे धूम ॥ ४८ ॥

ब्रह्माण्डके भाण्डके अन्तर्गत सभी वस्तुओंमें—चिद्व्याप्तिके अधीन स्पन्दन होनेसे—चिद्विवर्तमात्रता है, इस आशयसे कहते हैं—'वेपन्ते' इत्यादिसे ।

चित्-रूप द्रवताके कारण ब्रह्माण्डरूपी जडपात्रके अन्दर चली गईं तथा जीवरूप प्राणशक्तिसे सरस बनी हुईं ये चिद्विवर्तस्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंकी देहरूपी नदियाँ निरन्तर बह रही हैं ॥ ४९ ॥

इन चार प्रकारके शरीररूपी चितिके विवर्तस्वरूप नदियोंके अन्दर रहने-

घनीभूता घनत्वेन चिद्घना गगनाङ्गणे ।
नानापदार्थरूपेण स्फुरति स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५१ ॥
सर्व एव समा जीवा वासनामन्तरेण च ।
शुष्कपर्णवदुड्डीना जडाः श्वसनवेणवः ॥ ५२ ॥

आहृत्य पौरुषबलान्यवजित्य तन्द्री-
मुत्थाय तर्जितसमर्जितवासनौघम् ।

वाली जीवरूपी मछलियाँ मोहजालमें फँस जानेके कारण स्वतत्त्वका स्मरण नहीं करतीं, यह कहते हैं—'जीवका०' इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूपी जलमें विहार करनेवाली बेचारी जीवरूपी जीर्ण मछली मोह-जालमें फँस जानेके कारण अपनी आत्मामें स्थितिका स्मरण नहीं करती ॥ ५० ॥

अपने स्वरूपभूत आकाशरूपी आँगनमें अपनेसे ही घनीभूत हुई यह चिति मानो मेघ बनकर स्थित हो पृथिवी आदि मूर्ताकार नाना पदार्थोंके रूपसे स्फुरित हो रही है ॥ ५१ ॥

सभी जीवोंका स्वभाव एक-सा रहनेपर भी वासनाकी विचित्रतासे उन्हें सांसारिक दुःख भी विचित्र प्रकारके ही प्राप्त होते हैं, और कोई दूसरा कारण नहीं है, यह कहते हैं—'सर्व एव' इत्यादिसे ।

वासनावैचित्र्यके सिवा, अन्य अंशमें सभी जीव समान हैं । विषयवासना रहनेसे ही सूखे पत्तोंकी नाईं उड़-उड़कर वे विचित्र तरहकी स्वर्ग, नरक आदि भोगभूमियोंमें जा गिरते हैं, स्वतः नहीं । क्योंकि वायुभरे बाँस जैसे अङ्गुलि व्यापारके बिना भी विचित्र ध्वनि पैदा करनेमें समर्थ होते हैं वैसे ही सबमें बराबर जडोपाधिके कारण वासनाके बिना भी जड़ पदार्थ प्राणयुक्त रहनेपर विचित्र तरहके शब्द करनेमें समर्थ होते ही हैं ॥ ५२ ॥

इसीलिए वज्रतुल्य वासनारूपी पिंजड़ेको तोड़ देनेके लिए मनुष्यको आलस्य-शून्य होकर अपने पौरुषप्रयत्नको बढ़ाना चाहिए, उसीसे परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इसी अभिप्रायसे अब उपसंहार करते हैं—'आहृत्य०' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वप्रथम अपने पौरुषबलका यानी श्रवण, मनन आदिरूप साधनचतुष्टयका सम्पादनकर तदनन्तर ध्यानमें विघ्नस्वरूप तन्द्राको आसन, प्राणायाम आदिके अभ्यास द्वारा जीतकर संप्रज्ञात समाधिसे उठ करके

संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसैव
भङ्क्त्वाऽभ्युदेयमभितो ज्ञसमेन भाव्यम् ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वोपशान्तिनामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥



पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इमे ये जीवसंघाता दृश्यन्ते दशदिग्गताः ।
नरनागसुरागेन्द्रगन्धर्वाद्यभिधानकाः ॥ १ ॥
ते स्वप्नजागरा केचित्केचित्सङ्कल्पजागराः ।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिराजाग्रत्स्थिताः परे ॥ २ ॥

निर्विकल्पक असंप्रज्ञात समाधिमें प्रवेशके बाद अपने पूर्वजन्मके संचित वासनासमूह-भूत संसारपाशरूपी मजबूत पिंजड़ेको तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओरसे पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूपसे आपको उदित होना चहिए, अज्ञानीके समान संसारके भीतर आपको पड़े नहीं रहना चाहिए ॥ ५३ ॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त



पचासवाँ सर्ग

[वासनाकी दृढ़ता और शिथिलताके कारण जीव सात प्रकारके हो जाते हैं, यह बोधार्थ वर्णन]

'वासना यदि न रहे तो सब जीव एक ही हैं' इस उक्तिसे अन्तमें जो एकमात्र विचित्रवासनाके प्रभावसे जीवोंके सात प्रकार बतलाये गये हैं, उनका लक्षणोंसे निरूपण करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'इमे' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ये जो दसों दिशाओंमें नर, हाथी, देवता, वृक्ष, इन्द्र, गन्धर्व आदि नाम धारणकर तत्-तत् विचित्र देहसे जीव दिखाई पड़ते हैं, वे कोई तो स्वप्नजागर (स्वप्नको जाग्रत् समझनेवाले), कोई

घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये　जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे ।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

एतेषां भगवन् भेदो बोधाय मम कथ्यताम् ।
जीवानां　सप्तरूपाणां　जलानामर्णवेष्विव ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः ॥ ५ ॥
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत् ।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीवकाः स्वप्नजागराः ॥ ६ ॥
क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः ।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा वयम् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पको जाग्रत् समझनेवाले, कोई केवल जाग्रत्में स्थिति रखनेवाले और कोई दीर्घकालिकी जाग्रत्में स्थिति रखनेवाले हैं । कोई घनीभूत जाग्रत्में स्थित हैं, कोई जाग्रत् और स्वप्नमें स्थित हैं, कोई क्षीण जाग्रत् अवस्थामें स्थित हैं, यों सात तरहके विभागोंसे उनका परिगणन किया गया है ॥ १–३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जैसे क्षीरसागर आदि सात समुद्रोंमें क्षीर आदिके रससे युक्त जल ही सात तरहके हैं, वैसे ही सात प्रकारके रूपोंको धारण कर रहे इन जीवोंका जो स्वरूप है, वह जाननेके लिए मुझसे कहिए ॥४॥

पहले जीवटकी आख्यायिकामें प्रदर्शित रीतिको लेकर उनका लक्षण करते हैं—'कस्मिंश्चित्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, किसी एक पूर्वकल्पमें किसी एक जगत्में कहींपर कोई जीव सुषुप्ति अवस्थामें ही स्थित थे, वे जीव अपनी-अपनी देहोंके कारण जीवित ही रहे, मरे हुए नहीं थे ॥ ५ ॥

गाढ़ी नींदमें सोये हुए उन जीवोंमें जो जीव स्वप्न देखते हैं, उन्हींका स्वप्न यह जगत् है, यह आप जानिए । उन्हींका नाम स्वप्नजागर कहा जाता है ॥६॥

कहींपर सोये हुए उन जीवोंको जो स्वप्न हुआ है, वही जब समान-कर्म-वासनाके कारण हम लोगोंका विषय बन जाता है, तब हम उनके स्वप्ननर बन जाते हैं ॥ ७ ॥

तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः ।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः ॥ ८ ॥
सर्वज्ञत्वात्सर्वगस्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।
येन स्वप्नवतां तेषां वयं स्वप्ननराः स्थिताः ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

येषु कल्पेषु ते जाताः क्षीयन्ते कल्पकल्पनाः ।
यदि तास्तत्कथं तेषां प्रबुद्धानामवस्थितिः ॥ १० ॥

दीर्घकालके प्रभावसे जब उनका स्वप्न जाग्रत्-रूप बन जाता है, तब उनके स्वप्नके वे जीव स्वप्नजाग्रत् कहे जाते हैं, वास्तवमें वे उन्हींके स्वप्नमें ही स्थित हैं ॥ ८ ॥

'उनके हम स्वप्ननर हैं' यह जो बात कही गई, इसका उपपादन करते हैं—'सर्वज्ञत्वात्' इत्यादिसे ।

हमारा देह आदि प्रपञ्च यदि वासनारूपसे उस सोये हुएके चित्तमें होता, तो हमारा देहादिप्रपञ्च उसके चित्तमें उत्पन्न हो जाता और हम लोग उसके स्वप्नके मनुष्य होते, परन्तु यह तो कभी संभव नहीं है, इस तरहका कोई यदि प्रश्न करे, तो उसका वैसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि सबको सत्ता देनेवाला मायाशबल ब्रह्म सर्वत्र रहता है और वह सर्वज्ञ है, इसी हेतुसे सब जगह रह सकता है, अतः हमलोग उनके स्वप्ननर हैं यानी वासनारूपसे उन्हींके अन्तःकरणमें स्थित हैं और वासनाकी समानताके कारण उनके स्वप्नमें एक साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ॥ ९ ॥

महाराज, ठीक है, देशको लेकर सब वस्तुओंकी सर्वत्र स्थिति भले ही हो जाय, पर कालको लेकर नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकालकी वस्तु वर्तमानकालमें कैसे रह सकती है, यदि भिन्न-भिन्नकालकी वस्तुओंकी स्थिति एक कालमें मानी जाय, तो सब कल्प एक साथ ही होने लग जायँगे और उनका पार्थक्य भी नहीं रह जायगा, इस आशयसे श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'येषु' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—गुरुवर, जिन कल्पोंमें हम लोगोंके प्रपञ्चोंके स्वप्नोंके द्रष्टा उन जीवोंने जन्मधारण किया था, उन कल्पोंकी कल्पनाएँ यदि उनके शरीरोंके साथ इस समय नष्ट हो चुकीं, तो इस वर्तमान स्वप्नसे जागे हुए उन लोगोंकी

वसिष्ठ उवाच

इह स्वप्नभ्रमान्ते ते मुच्यन्ते वा विनिद्रताम् ।
प्राप्य सङ्कल्पतो देहांस्तथैवान्यान् श्रयन्त्यलम् ॥ ११ ॥
तथैवान्यं प्रपश्यन्ति जगत्कल्पं च कल्पितम् ।
कल्पनाभासनभसो नहि सङ्कटता भवेत् ॥ १२ ॥
सङ्कल्पनात्मकजगज्जीर्णोदुम्बरकीटकाः ।
स्वप्नजागरकाः प्रोक्ताः शृणु सङ्कल्पजागरान् ॥ १३ ॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
अनिद्रालव एवान्तः सङ्कल्पैकपराः स्थिताः ॥ १४ ॥

भूतकालके कल्पमें स्थिति नहीं हो सकती। जो आज नींदसे जागा है, वह पूर्व दिनका जागरण जब नहीं जान सकता, तब पूर्वकल्पकी तो बात ही क्या ! ॥१०॥

यदि वे जीव प्रपञ्चात्मक स्वप्नमें दैववश तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें, तो वे मुक्त हो ही जायँगे, ऐसी स्थितिमें आपका दोष नहीं हो सकता। यदि उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो उनका अवशिष्ट कल्प तो व्यतीत हुआ है नहीं, इसलिए कुछ समयके बाद तत्त्वज्ञान हो ही जायगा। जो व्यतीत हो चुके हैं, वे तो दूसरेकी कल्पनासे कल्पित पदार्थ हैं। उसके मनमें तो प्रत्येकका कल्पशेष ऐन्दव आख्यानकी पद्धतिसे विद्यमान ही है, इस आशयसे. महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'इह' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इसी स्वप्नके प्रपञ्चमें यदि ज्ञान हुआ तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं। यदि न हुआ, तो निद्रा प्राप्त कर वे सङ्कल्पानुसार उसी प्रकारकी दूसरी ही देह प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

उसी प्रकारका कल्पित दूसरा जगत्-कल्प देखते हैं, क्योंकि कल्पनाभास-रूपी आकाशकी कहीं निरवकाशता नहीं रहती ॥ १२ ॥

स्वप्नजागर जीवोंका उपसंहार करते हुए अब सङ्कल्पजागरोंका निरूपण करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे।

भद्र, यह तो मैंने स्वप्नजागर जीवोंका, जो सङ्कल्परूप जगदात्मक जीर्ण उदुम्बर वृक्षके कीट हैं, निरूपण आपसे किया, अब आप सङ्कल्पजागर जीवोंके विषयमें सुनिये। इस प्रकारके जीव किसी एक पूर्वकल्पमें किसी एक जगत्में

ध्यानाद्विलुठिता वाऽथ मनोराज्यवशानुगाः ।
सङ्कल्पदार्ढ्यमापन्ना गलिताग्रानुभूतयः ॥ १५ ॥
सङ्कल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयांशतः ।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि सङ्कल्पजागराः ॥ १६ ॥
सङ्कल्पोपशमे भूयस्तमन्यं वा श्रयन्ति ते ।
देहे तेषां वयमिमे सङ्कल्पपुरुषाः स्थिताः ॥ १७ ॥
सङ्कल्पजागराः प्रोक्ता एते सङ्कल्पशायिनः ।
जीवा जीवितगा लोकाः शृणु केवलजागरान् ॥ १८ ॥
प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः ।
प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पत्त्यविकासिनः ॥ १९ ॥

कहींपर अपने भीतर तनिक भी निद्रा न लेकर एकमात्र सङ्कल्पमें तत्पर होकर स्थित हैं ॥ १३–१४ ॥

जीवट आख्यानमें वर्णित भिक्षुके समान ये जीव ध्यानसे विचलित होकर स्थित हैं । मनोराज्यके वशमें पड़कर उसके पीछे दौड़ते हैं । दृढ़ सङ्कल्प धारण करते हैं और पूर्वावस्थाकी स्मृतिसे शून्य हैं ॥ १५ ॥

जिन जीवोंका जागराभिमान दीर्घकालके अभ्याससे घनीभूत सङ्कल्पमें है और जिनकी सङ्कल्पजनित अर्थोंमें ही पूर्वापरस्मरणसे रहित मनकी चेष्टा है, ये ही स्वप्नजागर जीव कहलाते हैं ॥ १६ ॥

वे सङ्कल्पका विनाश हो जानेपर फिर पूर्वके व्यवहारको उससे विलक्षण बनाकर करने लग जाते हैं । उनकी दृष्टिसे ये हम उन्हींके शरीरमें सङ्कल्पपुरुष ही स्थित हैं, क्योंकि समानसङ्कल्पसे उत्पन्न हैं ॥ १७ ॥

भद्र, सङ्कल्पके ऊपर निर्भर रहनेवाले ये सङ्कल्पजागर जीव हमने आपसे कहे । ये दृश्यमान जीव उन्हींके सङ्कल्पजीवनमें प्रवेश करते हैं और हम लोगोंके लोक भी ऐसे ही हैं । यानी उनका यदि सङ्कल्प है, तो दृश्यमान जीव हैं और हम लोगोंके लोक भी हैं । अब आप केवलजागर जीवोंको सुनिए ॥ १८ ॥

सृष्टिका सङ्कल्प करनेके कारण हलचलसे युक्त हुए, आगे कहे जानेवाले ब्रह्माके रूपसे वे जीव इस कल्पमें पहलेसे ही शरीरधारी होकर रहते हैं और उस जन्ममें स्वप्न न होनेके कारण केवल जागर कहे जाते हैं । चूँकि वे पहलेके उत्पत्तिविकासरूप स्वप्नसे रहित हैं और पहलेका जाग्रत्संस्कार भी जाग्रत-

भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः ।
कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः ॥ २० ॥
त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ २१ ॥
ये तु शास्त्रार्थसत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ २२ ॥
ते तु सम्प्राप्तसम्बोधा विश्रान्ताः परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ २३ ॥
इति सप्तविधो भेदो जीवानां कथितस्तव ।
समुद्राणामिव मया बुद्ध्वा श्रेयःपरो भव ॥ २४ ॥

स्थितिको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो गया है, इसलिए इस कल्पमें वह स्वप्नका कारण हो भी नहीं सकता ॥ १९ ॥

फिर ये जीव जब उत्तरोत्तर जन्मपरम्परा लेते-जाते हैं और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिमें विचरण करते-रहते हैं, तब वे ही चिरजागर कहे जाते हैं ॥ २० ॥

पांचवें प्रकारके जीवोंको कहते हैं—'त एव' इत्यादिसे ।

पापरूप दुष्कर्मोंके आवेशसे जड़-स्थावररूप होकर तथा जाग्रत् अवस्थाओंमें भी घन अज्ञानसे पूर्ण होकर वे चिरजागर जीव ही घनजाग्रत् कहे जाते हैं । श्लोकमें 'जाग्रत्सु' इस विशेषणसे यह भाव व्यक्त किया है कि स्थावर जीवोंको भी स्वप्न आदिमें मनुष्यभाव आदिका अपनेमें परिज्ञान होता है ॥ २१ ॥

अब अवशिष्ट जो दो प्रकार हैं, वे दोनों ही जीवन्मुक्तोंमें हैं, यह बतलानेकी इच्छा रख रहे महाराजवसिष्ठजी, छठे प्रकारके जीवोंका उल्लेख करते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

चतुर्थ, पञ्चम और छठी भूमिकामें अवस्थित जो जीव हैं, वे शास्त्रार्थ एवं सत्सङ्गके द्वारा उपदेश ग्रहणकर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके जाग्रत्को स्वप्नके सदृश देखते हैं, वे जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं ॥ २२ ॥

सातवीं भूमिकामें आरूढ हुए पुरुष ही सातवें प्रकारके जीव हैं, यह कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

जिन महापुरुषोंको ज्ञान प्राप्त हो चुका है और परमपदमें विश्रान्ति ले रहे हैं, वे क्षीणजाग्रतजीव कहलाते हैं, ये जीव सप्तम भूमिकामें स्थित हैं ॥ २३ ॥

भद्र, समुद्रोंकी तरह सात प्रकारके जीवोंका भेद मैंने आपसे कहा । आप

भ्रान्तिं परित्यज जगद्भ्रणनात्मिकां त्वं
बोधैकरूपघनतामलमागतोऽसि ।
शून्यत्ववर्जितमशून्यतया च मुक्तं
तेन द्वयैक्यकविमुक्तवपुस्त्वमाद्यम् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

कथं केवलजाग्रत्स्वमकारणमनर्थकम् ।
पराद्विकसति ब्रह्मन्गगनादिव पादपः ॥ १ ॥

इनका भलीभाँति परिज्ञान करके कल्याणरूप वस्तुमें तत्पर हो जाइए ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, आप सब भ्रम छोड़ दीजिए, यही भ्रम जगत्का द्वैतादि-वस्तुबुद्धिसे ज्ञान कराता है; क्योंकि अब आप ज्ञानरूप आत्मभावसे एकरस बन गये हैं, द्वैत और ऐक्यसे मुक्तशरीर होकर आप शून्यत्व और अशून्यत्व धर्मसे रहित हो गये हैं तथा सब कल्पनाओंके पूर्ववर्ती अधिष्ठानभूत हो गये हैं ॥२५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

[ब्रह्मदृष्टिमें कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ और आत्मदृष्टिमें मिथ्या उत्पन्न जगत् तत्त्वज्ञानसे जिस तरह निवृत्त हो जाता है, उस तरहका वर्णन]

पहलेके सर्गमें १९वें श्लोकसे एक यह बात कही गई है कि ब्रह्मसे पहले उत्पन्न जीव केवलजागर जीव हैं। इस विषयमें यह शङ्का होती है—वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म पहले जीवभाव धारण कर उत्पन्न हो ही नहीं सकता, ऐसा करनेमें न तो उसको कोई प्रयोजन है और न कोई बीज है; अपिच, काम, कर्म आदिकी वासनाएँ जीवभावके बाद ही होती हैं, इस प्रकारकी आशङ्का श्रीरामभद्र करते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

अकारणं महाबुद्धे न कार्यमुपलभ्यते ।
तज्जाग्रतः केवलस्य न कश्चिदिह सम्भवः ॥ २ ॥
तस्यातो सम्भवादन्ये जीवभेदाः सजीवकाः ।
सर्वे न सम्भवन्त्येव कारणाभावविक्षताः ॥ ३ ॥
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चन नश्यति ।
उपदेश्योपदेशार्थं शब्दार्थकलनोदयः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कः करोति शरीराणि मनोबुद्ध्यादिचेतनैः ।
को मोहयति भूतानि स्नेहरागादिबन्धनैः ॥ ५ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—ब्रह्मन्, कूटस्थ अद्वय परब्रह्मसे केवलजागर नामके जीव अर्थ और बीजके बिना, आकाशसे वृक्षकी नाईं, कैसे उत्पन्न होते हैं ॥१॥

श्रीरामजी, आपकी शङ्का तो बहुत ही साधारण है कि कूटस्थ अद्वय ब्रह्मसे केवलजागर जीव तो उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि अन्य जीवोंकी और जगतकी भी उत्पत्ति तन्मूलक नहीं हो सकेगी, इसलिए कूटस्थ ब्रह्ममें जीव और जगद्भावका अपलाप किये बिना ठीक-ठीक उपदेश नहीं हो सकता, अतः उपदेशार्थ ही ब्रह्ममें जीव-जगद्भावकी कल्पना श्रुति, स्मृति आदिमें की गई है, ऐसा उत्तर महाराज वसिष्ठजी देते हैं—'अकारणम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—महामते, कोई भी कार्य किसी कारणके बिना उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है, इसलिए केवल जगत्का यहाँ कोई संभव ही नहीं है ॥ २ ॥

कूटस्थसे उसका यदि संभव है, तो उससे अन्य जीव सजीव हो सकते हैं, परन्तु कारणके अभावसे वे सब निरस्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

भद्र, यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट ही होता है, केवल उपदेश और उपदेशयोग्य वस्तुके लिए शब्दार्थकी एकमात्र कल्पना की गई है ॥ ४ ॥

यह बात आपकी हम मानते हैं, पर भोगके आधार शरीर आदिका कर्म आदि द्वारा या साक्षात् कोई निर्माण करनेवाला तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्ता द्वारा ही बनता है । अतः उस देहमें जीवको बैठाकर विषयोंसे मोहित करनेवाला कोई दूसरा रहना ही चाहिए, क्योंकि मोहित करनेवालेको

वसिष्ठ उवाच

न कश्चिदेव कुरुते शरीराणि कदाचन।
न मोहयति भूतानि कश्चिदेव कदाचन ॥ ६ ॥
अनाद्यन्तावभासात्मा बोध आत्मनि संस्थितः।
नानापदार्थरूपेण कमूर्म्यादितया यथा ॥ ७ ॥
बाह्यं न विद्यते किञ्चिद्बोधः स्फुरति बाह्यवत्।
उदेति बोधहृदयाद्बीजादिव वरद्रुमः ॥ ८ ॥

छोड़कर चेतनमें मोह हो नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें मोहित होनेवाला और मोहित करनेवाला—यों दो भिन्न-भिन्न जीव एवं ईश्वरनामक चेतन सृष्टि आदिकी प्रतिपादक श्रुतियोंके आधारपर मानना चाहिए—इस प्रकार फिर रामजी शङ्का करते हैं—'क करोति' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, मन, बुद्धि, चेतन आदिसे युक्त इन शरीरोंकी रचना करनेवाला कौन है और प्राणियोंको स्नेह, राग आदि बन्धनोंके द्वारा कौन मोहित करता है ? यह हमसे कहिए ॥ ५ ॥

हाँ, यह बात ठीक होती, यदि शरीरादिका कर्ता, मोहित होनेवाला, मोहक आदि—ये सब श्रुति आदि प्रमाणोंसे सत्यरूप ठहरते, परन्तु 'वाचारम्भणम्' आदि श्रुतियोंके द्वारा वे सब मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थितिमें प्रतिभासमात्र-स्वरूप उन सबका कूटस्थ ब्रह्मके द्वारा विवर्तमात्रसे भी निर्वाह हो सकता है, इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, कोई कभी भी शरीर आदिकी रचना नहीं करता और न कभी कोई प्राणियोंको मोहित ही करता है ॥ ६ ॥

अनादि, अनन्त अवभासस्वरूप जो बोधात्मा है, वह अपने ही स्वरूपमें स्थित होकर ऐसे नाना पदार्थोंके रूपमें भासता है, जैसे अपने स्वरूपमें स्थित जल तरङ्ग आदिके रूपोंमें ॥ ७ ॥

बाह्य पदार्थ कैसे भीतरी चेतनके विवर्त हो सकते हैं, क्योंकि दोनोंके आधार अलग-अलग हैं, इस शङ्कापर कहते हैं—'बाह्यम्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजी, असलमें तो बाहरके कोई पदार्थ ही नहीं हैं, ज्ञानरूप आत्मा ही बाहरके सदृश भासता है, वह बोधरूप हृदयसे ही बाहर ऐसे उदयको प्राप्त होता है, जैसे बीजसे बड़ा वृक्ष ॥ ८ ॥

बोधस्यान्तरिदं विश्वं स्थितमेव रघूद्वह ।
स्तम्भस्यान्तर्यथा शालभञ्जिका प्रकटीकृता ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरात्मैकमनन्तं देशकालतः ।
बोधामोदप्रसरणं जगदेव प्रबुध्यताम् ॥ १० ॥
अयमेव परो लोको भाव्यतां वासनाक्षयः ।
शाम्यतां परलोकस्थं काः किलाऽऽयान्ति वासनाः ॥ ११ ॥

बीजसे वृक्ष बाहर निकलता है, यह दृष्टान्त विषम है, इस प्रकारकी आशङ्का-कर समान दृष्टान्त बतलाते हैं । अथवा यदि विश्व भीतर ही उत्पन्न होता, तो वह भीतर ही रहता, पर वह तो बाहर रहता है, इसपर कहते हैं—'बोधस्या०' इत्यादिसे ।

रघुकुलको ढोनेवाले (रघुश्रेष्ठ) हे श्रीरामजी, बोधात्माके भीतर स्थित ही यह विश्व बाहरके रूपमें ऐसे प्रकट हुआ है, जैसे खंभेके भीतर ही स्थित कठपुतली ॥९॥

वस्तुतस्तु चेतन नामकी वस्तु न भीतर है और न बाहर है, किन्तु अनन्त है, उसीके भीतर आमोद और पुष्पकी नाईं बाह्य-आभ्यन्तरकी एकमात्र कल्पना की गई है, यों कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर जिसमें विद्यमान है और जो देश एवं कालके परिच्छेद-से अलग है, उस बोधस्वरूप आत्माका ही यह जगत् एक तरहसे सुगन्ध-विस्तार है, यह आप जानिए ॥ १० ॥

यदि शङ्का हो कि समस्त जगत्की कल्पना यहींपर है, तो ब्रह्मलोक आदि परलोक, जिसमें अर्चि आदि मार्गोंसे गमन किया जाता है, दूर क्यों माने जाते हैं, इसका समाधान यह है कि वैसी ही लोगोंकी अनादिकालसे वासना है, इसलिए जब वासनाका विनाश हो जायगा, तो सभी लोग एकमात्र अपने आत्मरूपसे अत्यन्त निकट हो जायँगे, इस आशयसे कहते हैं—'अयमेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, वासनाका विनाश हो जानेपर यह आत्मा ही परलोक है, दूसरा नहीं, यह आप जानिए । जो महापुरुष सब उपद्रवोंसे निर्मुक्त होकर शान्त हो रहे हैं, उनके—परलोकके रूपमें यहींपर स्थित—आत्माकी ओर दूरत्वादि-वासनाएँ आ ही नहीं सकतीं ॥ ११ ॥

देशकालक्रियालोकरूपचित्तात्मसत्पदम् ।
देशकालादिशब्दार्थरहितं न च शून्यकम् ॥ १२ ॥

पदे पदविदामेव तस्मिन् बोधगतिर्भवेत् ।
द्रष्टृणां शान्तदृश्यानामेवान्येषां न राघव ॥ १३ ॥

ये वै तरलगम्भीरमहन्तागर्तमाश्रिताः ।
पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥ १४ ॥

चतुर्दशविधानन्तभूतजातघुंघुमा ।
जगद्दृष्टिरियं ज्ञस्य शरीरावयवोपमा ॥ १५ ॥

यदि प्रत्यगात्मा ही परलोक देश, काल आदिरूप है, तो देश, काल आदिका बाध हो जानेपर वह शून्यरूप ही क्यों न हो जायगा ? इसपर कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

चूँकि देश, काल, क्रिया, आलोक, रूप, चित्त, आत्मा, सत्—इन सबका अधिष्ठान तथा इन शब्दोंसे बोधित होनेवाला ब्रह्म देश, काल आदि शब्दार्थोंसे रहित है, इसलिए वह शून्यरूप नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

यदि वह शून्यरूप नहीं है, तो दूसरे लोग भी एकमात्र प्रपञ्चका अपलाप कर उस पदमें अपनी बोधगति क्यों नहीं कर लेते, इसपर कहते हैं—'पदे' इत्यादिसे ।

हे राघव, जो तत्त्वद्रष्टा हैं और जो विषयोंसे मुक्त हो गये हैं, ऐसे आत्मपदको जाननेवाले मुनियोंको ही उस पदमें ज्ञानगति होगी, दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

भद्र, जो पुरुष तरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढेमें गिरे हुए हैं, वे कोई भी उस आत्मपदरूप प्रकाशको कभी देख नहीं सकते ॥ १४ ॥

आत्मप्रकाश देखनेवालोंको जगत्का ज्ञान कैसा रहता है, इसपर कहते हैं—'चतुर्दश०' इत्यादिसे ।

चौदह प्रकारके ये जो भूतसमूह हैं, उनके घुंघुं शब्दोंसे परिपूर्ण जगत्-दृष्टि ज्ञानीके लिए तो देहावयव-जैसी है, यानी अपनेसे भिन्न उसे भासती ही नहीं ॥ १५ ॥

कारणाभावतः सृष्टिर्नोदिता न च शाम्यति ।
यादृशं कारणं वा स्यात्तादृग्भवति कार्यकम् ॥ १६ ॥
यदि स्यात्कारणे कार्यं स्थितं कारणताऽस्य का ।
कार्यमेवोपलम्भात्तदसद्द्वयमवेदनात् ॥ १७ ॥
सौम्यस्यान्तर्यथाम्भोधेरूर्म्यावर्तादयः स्थिताः ।
ब्रह्मण्यसम्भवक्षोभे जगच्चित्तादयस्तथा ॥ १८ ॥
सर्वात्मैवामलं ब्रह्म पिण्ड एक इव स्थितम् ।
नानाभाण्डात्म हेमैव यथाऽन्तःस्थितरूपकम् ॥ १९ ॥
स्वप्नकाले स्वप्न एव जाग्रद्द्वयग्रापरिग्रहात् ।
जाग्रत्काले जाग्रदेव स्वप्नः सत्यावबोधतः ॥ २० ॥

ज्ञानीको समाहितदृष्टि और व्यवहारदृष्टिसे जगत् जैसा भासता है, उसे बतलाते हैं—'कारणा०' इत्यादिसे ।

सृष्टिका असलमें तो कोई कारण नहीं है, इसीलिए न तो सृष्टि उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है, यह ज्ञान ज्ञानीको समाहितदृष्टिसे है । और व्यवहारदृष्टिसे तो जैसा कारणका स्वरूप होगा, वैसा ही कार्य भी होगा यानी जैसा कारण कल्पित अतएव मिथ्या है, वैसा ही उससे जनित कार्य भी कल्पित और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान व्यवहारदृष्टिसे भी उसे रहता है ॥ १६ ॥

यदि कारणमें कार्यकी स्थिति होगी, तो उसकी कारणता ही कैसी, क्योंकि वह तो कार्यरूप ही ज्ञात होता है, अतः कार्य और कारण दोनों ही असत् हैं, कारण कि दोनोंका ही अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

प्रशान्त महासमुद्रमें जैसे तरङ्ग, भँवरे आदि स्थित हैं, वैसे ही क्षोभशून्य परब्रह्ममें ये सब आपके बाह्य जगत् और भीतरके चित्त आदि स्थित हैं ॥१८॥

जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनोंको रखनेवाला एक ही मृत्पिण्ड रहता है, ठीक वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डोंको अपने उदरमें रखनेवाला सबका स्वरूपभूत निर्मल ब्रह्म भी एक पिण्ड ही है । जैसे अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि आकारोंसे युक्त तथा नाना बर्तनोंका स्वरूपभूत सुवर्ण स्थित है, वैसे ही सुवर्णरूप ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

पिण्डदशामें घट पिण्डरूप और घटदशामें पिण्ड घटरूप है, यों घटके स्वरूप-

चित्तमात्रतया बुद्धं मृगतृष्णाम्बुवत् स्थितम् ।
जाग्रत्स्वप्नत्वमायाति विचारविकलीकृतम् ॥ २१ ॥
सम्यग्ज्ञानेन भूतानि ज्ञस्य देहतया सह ।
पीठबन्धं विमुञ्चन्ति गतकाल इवाऽम्बुदाः ॥ २२ ॥
यथा गलितुमारब्धो घनो गगनतामियात् ।
तथा सत्यावबोधेन शाम्येत्सात्मग्रहं जगत् ॥ २३ ॥
शरदभ्रवदालूना मृगतृष्णाम्बुवत्तथा ।
पुनः संस्पृश्यमानैव बोधाद्गलति दृश्यता ॥ २४ ॥

वेत्ताओंको जैसे एकका ही व्यवस्थित ज्ञान होता है, वैसे ही प्रपञ्चमें भी स्वप्नदशामें जाग्रत् स्वप्नरूप और जाग्रत्कालमें स्वप्न जाग्रद्रूप व्यवस्थित जगत्के एकरूपका ही तत्त्वज्ञोंको ज्ञान होता है, यह कहते हैं—'स्वप्नः' इत्यादिसे ।

स्वप्नकालमें स्वप्न ही जाग्रद्रूप ज्ञानियों द्वारा जाना जाता है, क्योंकि वासनाओंके विस्तारसे व्यग्र मन उनके पास नहीं है, और जाग्रत्कालमें जाग्रत्-को स्वप्नरूप जानते हैं, क्योंकि उनको सत्य आत्माका परिज्ञान हो चुका है ॥२०॥

जाग्रत्-दशामें यदि हम लोग यह विचार करें कि यह जगत् केवल चित्तरूप ही है, तो वह स्वप्नतुल्य ही बन जायगा । इसी वास्तविकताको लेकर विद्वान्की सृष्टिको उसके शरीरके अवयवोंकी उपमा दी गई है, यों उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जानेपर उसका भी समूल बाध हो जाता है, यह कहते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

भद्र, वास्तवमें मृगतृष्णाके जलके सदृश असद्रूपसे स्थित तथा विचारसे विकल किया गया—यह जाग्रत् जगत् केवल चित्तरूप यदि समझ लिया जाता है, तो फिर वह स्वप्नरूप बन जाता है ॥ २१ ॥

सम्यक् ज्ञानसे यानी आत्माके सत्यज्ञानसे देहरूपके साथ ये सब भूत ज्ञानीके पिण्डको समूल ऐसे छोड़ देते हैं, जैसे वर्षाकालके जानेपर मेघ ॥ २२ ॥

जैसे विनाशकी ओर उन्मुख हुआ मेघ तत्काल ही गगनरूप बन जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानसे यह अहङ्कारसहित जगत् शान्त हो जाता है यानी तत्काल आत्मरूप बन जाता है ॥ २३ ॥

शरत्कालके मेघके सदृश चारों ओरसे छिन्न-भिन्न हुआ मृगतृष्णाजलके सदृश

यथा दीप्तानले लीनं सुवर्णं घृतमिन्धनम् ।
एकतां याति विज्ञाने तथा भुवनचित्तदृक् ॥ २५ ॥
बोधेन तनुतामेति पिण्डबन्धो जगत्त्रये ।
पिशाचबुद्धिः सदने बोधितस्य यथा शिशोः ॥ २६ ॥
बोधस्याऽनन्तरूपस्य स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
जगच्चित्तादिता भाता पिण्डबन्धः किलात्र कः ॥ २७ ॥
बोधाबोधनमेवेदं जगच्चित्तमिवोदितम् ।
तदेवास्तं गतं बोधात्पिण्डबन्धस्य काऽस्तिता ॥ २८ ॥

मिथ्या प्रतीयमान तथा बार-बार स्पर्श आदिसे जाना गया भी जगत् आत्मज्ञानसे तत्काल जल जाता है ॥ २४ ॥

जैसे धधक रही अग्निमें विलीन सोना, घी और इन्धन एकरूप बन जाता है, वैसे ही विज्ञानकालमें भी जगत्-चित्त द्रष्टा आदि सब एकरूप बन जाते हैं ॥ २५ ॥

तीनों जगत्में जो एक प्रकारका रूप कल्पित किया गया है, वह तत्त्वज्ञानसे धीरे-धीरे ऐसे विलीन होता जाता है, जैसे घरमें समझाये गये बालकका वृक्षादिमेंसे पिशाचज्ञान धीरे-धीरे विलीन होता जाता है ॥ २६ ॥

अग्नि आदि कारण जबतक लाखके पास रहते हैं, तबतक उसमेंकी कठिनताका विलय रहता है। यदि अग्नि आदि पासमें न रहते, तो कठिनताका विलय भी हट जाता है, क्या इसी तरहका यह जगद्विलय तत्त्वज्ञानसे होता है, यदि ऐसा विलय हुआ, तो निमित्तके हट जानेपर फिर जगत् ज्योंका त्यों बना रहेगा, ऐसी आशङ्कापर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान असत्पक्षका विरोधी होनेके कारण उससे हुआ विलय फिर लौटकर नहीं आता, जैसे कि शुक्तिके तत्त्वज्ञानसे बाधित शुक्तिरूप-ज्ञान फिर नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'बोधस्या०' इत्यादि।

देश, काल और वस्तुकी परिच्छिन्नता (स्वरूपरूपता) से रहित साक्षी चेतनमें किसी कारणके बिना ही जगत्, सङ्कल्पकारक चित्त, अज्ञान आदि भासते हैं, अतः साक्षी चेतनमें रूपादिका अवसर ही कैसे ॥ २७ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्याभूत जगत्, चित्त आदिके रूपमें मिथ्या अज्ञान ही नृत्य करता है, यह कहते हैं—'बोधा०' इत्यादिसे।

स्वप्नादिव परिज्ञाताद्रसो दृश्याभिवर्तते ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषग्रन्थिच्छेदः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥
नीरसः शान्तमननो निर्वाणाहंकृतिः कृती ।
वीतरागो निरायासः शान्तस्तिष्ठति बुद्धधीः ॥ ४० ॥
रसे नीरसतां याते वासना प्रविलीयते ।
शिखायां प्रविलीनायां प्रदीपस्यांशवो यथा ॥ ४१ ॥
बोधाद्दीपांशुजालाभमघनं व्योम दृश्यते ।
भ्रान्तिरूपं जगत् कृत्स्नं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ४२ ॥
नैवात्मानं न चाकाशं न शून्यं न च वेदनम् ।
अत्यन्तपरिणामेन पश्यन् पश्यति तत्पदम् ॥ ४३ ॥

भला ऐसा कौन पुरुष है, जो स्वप्न जानकर भी स्वप्न-सुवर्णको लेनेके उसकी ओर दौड़ता हो ॥ ३८ ॥

भद्र, स्वप्नके सदृश दृश्य पदार्थोंको जब जान लिया जाता है, तब उससे प्रेम मनुष्यका निकल जाता है और द्रष्टा, दृश्यकी अवस्थाओंके दोषसे जनित जो बड़ी भारी गाँठ है, वह विच्छिन्न हो जाती है ॥ ३९ ॥

इसकी निवृत्ति हो जानेपर यह कैसे स्थित रहता है ? यह कहते हैं—'नीरसः' इत्यादिसे ।

दृश्यपदार्थ जिसको नीरस हो गये हैं या बन्धु आदिमें जिसको प्रेम नहीं रह गया है, जिसकी मननशक्ति शान्त हो गई है, जिसका अहङ्कार चला गया है, जो तत्त्वविद्यासे परिपूर्ण वीतराग, प्रयासरहित और निर्मलबुद्धि हो चुका है, वह सदा शान्त ही रहता है ॥ ४० ॥

दीपकी शिखा (लऊ) जब नष्ट हो जाती है, तब उसकी किरणें जैसे नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही जब रस नीरसरूप बन जाता है, तब ज्ञानीकी वासना नष्ट हो जाती है ॥ ४१ ॥

ज्ञानसे पूर्व गन्धर्वनगरके सदृश प्रतीत हो रहा सम्पूर्ण जगत् तत्त्वज्ञानसे दीपककी किरणोंके सदृश एकमात्र प्रकाशरूप एवं अघन होकर आकाशके सदृश भासने लगता है ॥ ४२ ॥

तब सप्तम भूमिकाकी स्थितिसे वह किस तरहका होता है, इसे बतलाते हैं—'नैव' इत्यादिसे ।

यत्र नात्मा न शून्यं च न जगत्कलना न च ।
न चित्तदृश्योदयधीः सर्वं चास्ति यथास्थितम् ॥ ४४ ॥
भूम्यादिताऽज्ञसंबुद्धा ज्ञानादस्तमुपागता ।
ज्ञस्य शून्यैव सम्पन्ना संस्थिताऽपि न विद्यते ॥ ४५ ॥
भवत्येकसमाधानसौम्यात्मा व्योमनिर्मलः ।
तिष्ठत्यपगतासङ्गः स्थित एवाप्यसत्समः ॥ ४६ ॥
अस्तङ्गतमना मौनी निरोधपदवीं गतः ।
तीर्णः संसारजलधेः कर्मणामन्तमागतः ॥ ४७ ॥
तनुभुवनगगनगिरिगणकरणपरम्परमज्ञानम् ।
विगलति गलिते तस्मिन् सकलमिदं विद्यमानमपि ॥ ४८ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष सप्तम भूमिकामें स्थितिकर न आत्माको, न आकाशको न शून्यको, न वृत्तिको देखता है, किन्तु केवल आत्मपदको ही (ब्रह्मरूपताको ही) देखता है ॥ ४३ ॥

भद्र, जो तत्पद वस्तु है, उसमें न आत्मा है, न शून्य है और न जगत्की कल्पना ही है, अधिक क्या कहें, उसमें न चित्त है, न दृश्यबुद्धि है और न यह यथास्थित सब कुछ ही है ॥ ४४ ॥

अज्ञानियोंके द्वारा पिण्डरूपसे जाना गया जो यह पृथ्वी आदिका स्वरूप है, वह ज्ञानीके प्रति तो ज्ञानसे अस्त हो जाता है और शून्यरूप बन जाता है, अतः विद्यमान रहते भी नहीं ही है ॥ ४५ ॥

ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मसमाधिमें चित्तको लगाकर आकाशके सदृश निर्मल बन जाता है, सब आसक्तियोंसे रहित होकर ही अपनी स्थिति बनाता है और स्थित रहकर भी असत्के तुल्य बना रहता है ॥ ४६ ॥

श्रीरामजी, जिसका मन मर गया है और जो सर्वबाधावधि आत्मपदको प्राप्त हुआ है, ऐसा मननशील मौनी संसाररूपी समुद्रको तैर गया है और सब कर्मोंके अन्तको भी प्राप्त हो गया है, यह अवश्य जानिए ॥ ४७ ॥

राघव, चूँकि जो सम्पूर्ण शरीर, शरीरोंके आधार भुवन, भुवनाधार गगन तथा विहारस्थान पर्वत हैं, उनके साधन और करणोंका एकमात्र कारण मूक अज्ञान ही

संशान्तान्तःकरणो
गलितविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृततृप्त-
स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥५१॥

—o—

द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

बोधो जगदिवाऽऽभाति मुने येन क्रमेण ह ।
तं क्रमेण क्रमं ब्रूहि भूयो भेदनिवृत्तये ॥ १ ॥

है, दूसरा नहीं, इसलिए ज्ञान द्वारा अन्तःकरणसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर यह शरीर आदि जगत्, अज्ञानियोंकी दृष्टिसे विद्यमान रहते भी, विनष्ट हो जाता है यानी असद्रूप बन जाता है ॥ ४८ ॥

विद्वान् पुरुषका अन्तःकरण शान्त रहता है, उसके विकल्प विनष्ट हुए रहते हैं, वह अपने स्वरूपभूत आत्मरसमें तन्मय रहता है, परम शान्तिरूपी अमृतरससे तृप्त रहता है, उसको आवरण (अज्ञान) भी नहीं रहता । इस प्रकार उसकी उत्तम स्थिति होती है ॥ ४९ ॥

इक्यावनवां सर्ग समाप्त



बावनवाँ सर्ग

[तार्किकोंके तर्कोंसे उत्पन्न हुई अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका खण्डन कर कूटस्थ परमात्माके अनिर्वाच्य जगद्भावका समर्थन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, कूटस्थ चिदात्मा जिस क्रमसे जगत्-सा भासता है, वह क्रम—भेदकी निवृत्तिके लिए अन्य वादियोंकी कल्पनाओंका खण्डनकर अपने मतके समर्थनक्रमसे—फिर कहिये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वृक्षस्येव विमूढस्य यद्दृष्टौ तत्स्वचेतसि ।
यन्न दृष्टौ न तच्चित्ते भवत्यल्पतरस्मृतेः ॥ २ ॥
भव्यः पश्यति शास्त्रार्थमेव पूर्वापरान्वितम् ।
न दृष्टिविषयं वस्तु यत्पश्यति करोति तत् ॥ ३ ॥
भावानुष्ठाननिष्ठः सन् शास्त्रार्थैकमना मुनिः ।
भूत्वोपदेशं त्वमिमं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ ४ ॥

'चिदात्माका यह जगद्भाव अनिर्वचनीय ही है' इस अपने मतका समर्थन करनेके लिए पहले दृष्टिसृष्टिपक्षका अवलम्बन करके दृष्टिके अन्वय और व्यतिरेकके अनुसार उसकी स्थिति दिखलाते हैं—'वृक्षस्येव' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, शाखा, पत्र, पुष्प, पल्लव आदि नाना प्रकारके आकारोंसे युक्तके समान अज्ञ आत्माकी दृष्टिमें जो जगद्भाव है वही उसके चित्तमें भी है और जो उसकी दृष्टिमें नहीं है वह उसके चित्तमें भी नहीं है । यही कारण है कि देखी गई अत्यन्त छोटी भी वस्तुका स्मरण होता है, किन्तु न देखी गई बड़ी भी वस्तुका स्मरण नहीं होता ॥ २ ॥

शास्त्र और अशास्त्रके अनुसार सम्पादित हुई विद्वान् और अविद्वान्की क्रियाओंमें भी वैलक्षण्य दिखाई देता ही है, अतः जगत्की सत्ता भी भिन्न-भिन्न दृष्टिके अनुसार ही व्यवस्थित प्रतीत होती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'भव्यः' इत्यादिसे ।

जो विवेकी पुरुष है वह पूर्वापर शास्त्रके अनुसार ही देखता और करता है । आँखोंके सामने पड़ी भी शास्त्रनिषिद्ध वस्तुको भोग्यरूपसे नहीं देखता और न तो उसके लिए कुछ करता ही है ॥ ३ ॥

यही कारण है कि मैं भी शास्त्रीय दृष्टिका व्यवस्थापन करते हुए ही श्रवण आदिमें आपको नियुक्त कर रहा हूँ, इस आशयसे कहते हैं—'भावा०' इत्यादि ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए आपसे मैं कहता हूँ कि आप भी अपने चित्तकी शुद्धिके अनुकूल कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर हो शास्त्रानुकूल अर्थोंमें अपने चित्तको लगाकर श्रवणभूषण मेरे इस उपदेशका श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते ।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ ५ ॥
उपदेश्योपदेशार्थमेनां मदुपरोधतः ।
सत्यामिव क्षणं तावदाश्रित्य श्रूयतामिदम् ॥ ६ ॥
कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ ७ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ ८ ॥
अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः ।
बिन्दुना बिन्दुना बोधे उद्धृतस्याऽस्ति हि क्षयः ॥९॥

यह दृश्यसमूहकी भ्रान्ति ही अविद्या कही जाती है । वास्तवमें तो यह अविद्या भी ऐसे नहीं है, जैसे मृगतृष्णा नदीमें जल ॥ ५ ॥

जब ऐसी बात है, तब कैसे शास्त्रोंके उपदेश तथा उनकी फलसिद्धि होगी, इसपर कहते हैं—'उपदेश्यो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपदेशयोग्य वस्तुके उपदेशके निमित्त मेरे अनुरोधसे क्षण भरके लिए आप इसे सत्य-सा मानकर यह मेरा कथन सुनिये ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्यानामक भ्रान्ति कैसी है और कहांसे आई— इस तरहके विकल्प न करते हुए आप मेरे इस उपदेशको सुनिये । फिर तो पीछे ज्ञान हो जानेसे आप स्वयं जान जायँगे कि न तो यह जगत् है और न यह अविद्या ही है ॥ ७ ॥

अनुभवमें आरूढ़ इस विवर्त पक्षको दिखलाकर अन्य पक्षोंमें दोष बतलानेकी अभिलाषा कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'सत्य प्रपञ्चका ही ब्रह्मके साथ वृक्षशाखा-न्यायसे अभेद माननेवाले महानुभावोंके पक्षमें'—ब्रह्मकी अविनाशिता नष्ट होगी— यह दोष दिखलानेके लिए जगत्में विनश्वरत्वकी प्रतिज्ञा करते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक यह सब तरहसे परिपूर्ण जगत दिखाई देता है वह सब कल्पके अन्तमें नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

जिसकी महाराज वसिष्ठजीने प्रतिज्ञा की है, उसका अब साधन करते हैं— 'अस्य' इत्यादिसे ।

एवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्मणस्तन्मयत्वतः ।
नानन्तत्वं न चास्तित्वं न च वै सम्भवत्यलम् ॥ १० ॥
मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति ।
देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः ॥ ११ ॥

विचार कर देखनेसे यह निश्चित होता है कि इस जगत्‌का विनाश, जो कि पृथिवी आदि अवयवोंका विभागस्वरूप है, अवश्य होगा, क्योंकि पृथि आदि सावयव है, अतः उनके विनाशका कोई प्रतीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि एक-एक बूंद निकाल लेनेसे घड़ेके जलका नाश अवश्य ही हो जाता है ॥ ९ ॥

ठीक है, नाश हो जाय, क्या दोष है, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थितिमें तो द्रव्यका नाश होनेपर ब्रह्मकी अनन्तता और अस्तिता भी नहीं रह सकती, क्योंकि ब्रह्म जगन्मय ही तो ठहरा और चिदेकरस निरवयव ब्रह्मका जगत् अवयव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जैसे शाखा आदि अवयवोंका नाश होनेपर वृक्षका भी नाश हो जाता है, वैसे ही यदि पृथिवी आदि द्रव्यका नाश होनेपर ब्रह्मके नाशका प्रसङ्ग माना जाय, तो श्रुतिमें कहे गये ब्रह्मके अनन्तत्वकी सिद्धि न हो सकेगी। इतना ही नहीं और भी सुनिये—विचारकर देखनेपर तो अवयवोंसे पृथक् किये गये अवयवीकी सत्ता न रहनेसे उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता और चिदेकरस निरवयव ब्रह्मका यह जगत् अवयव भी नहीं बन सकता ॥ १० ॥

चिदात्माका अवयव जड़ जगत् न हो, किन्तु मदिराके अवयवोंमें स्थित मदशक्तिकी तरह शरीररूपमें परिणत पृथिवी आदि पञ्चभूतरूप जड़ोंका ही धर्म चैतन्य क्यों न हो, इस चार्वाक मतको उठाकर उसमें दोष दिखलाते हैं—'मदशक्तिरिव' इत्यादिसे।

मदिराकी शक्तिके समान ज्ञानरूप धर्म हम आस्तिकोंमें नहीं सिद्ध हो सकता—पृथिवी आदिरूप हम लोगोंकी देहमें ही चार्वाक ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि हम लोगोंके मतमें इस देहकी सिद्धि विज्ञानके ही अधीन होनेसे यह देह स्वप्नके समान है, तात्त्विक नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक लोगोंके मतमें देहकी सत्ताका साधक विज्ञानके सिवा और कोई दूसरा नहीं है। यह तो कोई नहीं कह सकता कि, मदशक्तिकी तरह देह न रहनेपर भी विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ११ ॥

नश्यत्येव च दृश्यश्रीः सैव नान्यैव नैव च ।
इत्थं भवेत्सम्रुचितं कृतं शास्त्रं च नान्यथा ॥ १२ ॥
सैवैतीत्यसमुल्लेखं कथं नष्टस्य संभवः ।
तद्रूपान्येति युक्तं स्यादनुभूतानुगा वयम् ॥ १३ ॥
सैव व्योमतयैवाऽऽसीदित्यसत्सैव सा कथम् ।
तथैव व्योमसंस्था चेन्नाशं तर्हि न सा गता ॥ १४ ॥

किञ्च, जगत् और ब्रह्मका अभेद स्वीकार करनेसे तो दृश्यप्रपञ्चका नाश होनेपर ब्रह्मके नाशकी भी शङ्का हो सकती है। यदि वह भेद आध्यासिक मान लिया जाय, तब तो प्रतियोगीकी तरह उसके नाशका भी वस्तुतः ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण यह दोष नहीं आता और शास्त्र भी सफल हो जाते हैं, इसी आशयसे कहते हैं—'नश्यत्येव' इत्यादिसे।

यह दृश्यकी शोभा बार-बार नष्ट होती और उत्पन्न होती ही रहती है, अतः यह कोई नहीं कह सकता कि यह वही है या दूसरी। इस तरह अनिर्वचनीय अविद्यामात्रसिद्ध यह दृश्यश्री नष्ट अवश्य ही होती है। ऐसी स्थितिमें अविद्याके बाध द्वारा जगत्का बाध होनेपर शास्त्र सफल होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १२ ॥

प्रलयकालमें जगत्-रचनाके नष्ट हो जानेपर उसके बाद पुनः उत्पन्न हो रही जगत्की शोभाका यह कभी निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह वही है या दूसरी, इस तरह भी इसमें अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'सैव' इत्यादिसे।

इस सृष्टिसे पहले जो संसारकी शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही पुनः आविर्भूत हो रही है, इसका उल्लेख करना अशक्य है। हां, यदि वही पुनः आविर्भूत होती, तो वही यह है या अन्य, यह कहा जा सकता था, किन्तु नष्टकी उत्पत्ति केवल अनुभवके अनुगामी हम अनुभवविरुद्ध अणुमात्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि नष्टकी उत्पत्ति हो कैसे सकती है ॥ १३ ॥

यह अनुभवमें आरूढ़ नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—'सैव' इत्यादिसे।

मूर्तरूपा जगत्की शोभा प्रलयमें आकाशरूपसे—अमूर्तरूपसे ही विद्यमान

कार्यकारणयोरेकरूपतैवं यदा तदा ।
कार्यकारणताभावादैक्यमेवास्मदागमः ॥ १५ ॥
शून्यत्वमुपलम्भत्वं यद्गतं नष्टमेव तत् ।
अन्यस्तर्हि भवेन्नाशः कीदृशः किल कथ्यताम् ॥ १६ ॥
नष्टं भूयस्तदुत्पन्नमिति यत्प्रत्ययेति कः ।
नश्यत्यवश्यं तेनेदं पुनरन्यत्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

थी, यह कहना बिलकुल असत् है, क्योंकि जो मूर्तरूप ही थी, वह भला अमूर्तरूप कैसे हो सकती है । यदि यह कहिये कि आकाशमें स्थित ही वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हुई, तो आपसे हमें यही कहना पड़ेगा कि वह फिर प्रलयमें भी नष्ट नहीं हुई । कहनेका तात्पर्य यह है कि इस तरह आपका प्रलयवाद उच्छिन्न हो गया ॥ १४ ॥

इस तरह तो सृष्टिमें भी प्रलयावस्थाकी भी तुल्यन्यायसे प्रसक्ति हो सकती है । ऐसी स्थितिमें तो प्रलयावस्थामें स्थित अव्याकृतसे कार्यरूप सृष्टिकी एकता होनेपर कूटस्थवादके ऊपर आपत्ति आने लगेगी, यह कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे ।

और इस तरह जब सृष्टिमें भी प्रलयावस्थाकी प्रसक्ति हो सकती है, तब तो कार्यरूप सृष्टिकी प्रलयावस्थामें स्थित उस अव्याकृत कारणके साथ एकरूपता ही सिद्ध हो गई, क्योंकि कार्य और कारणभावसे ऐक्य बतलाना ही तो हमारा सिद्धान्त है, सो इस तरह सिद्ध हो गया ॥ १५ ॥

जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्यदशाको प्राप्त हो जाती है वह नष्ट ही है, क्योंकि उपलब्धिकालमें भी उसकी असत्ता मानी जा चुकी है । हे श्रीरामजी, असत्त्वापत्तिका ही नाम तो नाश है । हां, आपके मतमें किसी दूसरे तरहका नाश होता हो, तो फिर निःसन्देह बतलाइये वह कैसा है ? ॥ १६ ॥

पुनः उत्पत्तिके अवलोकनसे यदि मध्यमें नष्ट हुएकी सत्ताकी जो कल्पना करते हैं, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेदसे भी तो उत्पत्तिकी सिद्धि हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा आदिका भी तो अवलोकन नहीं होता, यह कहते हैं—'नष्टं भूय०' इत्यादिसे ।

जो नष्ट हुआ है वही पुनः उत्पन्न हुआ है, यह प्रत्यभिज्ञा किसको होती

मध्ये मध्ये यदुत्सेधफलाद्यवयवैकिका।
आदेहं बीजसत्ताऽस्ति कार्यकारणता कुतः ॥ १८ ॥
देशकालक्रियात्मैकं यथादृष्टमिह स्थितम्।
बीजमेवैककर्मातो न घटः पटकार्यकृत् ॥ १९ ॥

है, इसलिए नष्ट अवश्य होता है तथा पुनः पुनः दूसरा ही प्रवृत्त भी होता है, यही कहना उचित होगा ॥ १७ ॥

जैसे एक ही वृक्षके ऊपर बीच-बीचमें कोटर, स्कन्ध, शाखा आदिका विचित्रभेद रहनेपर भी मूलसे लेकर शाखापर्यन्त वृक्षशरीरकी तो सत्ता एक ही है। हाँ, शाखा आदि उस वृक्षके कार्य हैं उनमें भेद अवश्य है; वैसे ही उत्पत्ति आदि विकारोंका भेद होनेपर भी प्रलयके बाद पुनः उत्पन्न होनेसे इस दृश्यप्रपञ्चकी भी सत्ता एक ही क्यों न हो, इस शङ्कापर कहते हैं—'मध्ये' इत्यादिसे।

वृक्षके बीच-बीचमें स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप जो अवयव हैं उनमें सारे वृक्षरूपी शरीरको व्याप्त करके स्थित बीजसत्ता तो अखण्ड एकरूप ही है। अतः जब सर्वत्र एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है तब शाखा आदिकी पृथक् सत्ता सिद्ध न होनेसे कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥

दृष्टान्तमें कहे गये कार्यकारणभावोच्छेदको दार्ष्टान्तिकमें दिखलाते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

यदि प्रलय, सृष्टि आदि तथा देशकाल एवं क्रियात्मक यथादृष्ट एक सन्मात्र ही बीजको स्वस्वरूपमें स्थित स्वीकार करेंगे, तब तो वह एक स्वयं ही क्रिया और उसका फल होता हुआ कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करनेमें वह असमर्थ है—पटकार्य करनेमें असमर्थ घट पटरूप कार्य नहीं करता* ॥१९॥

---

* अथवा देशात्मक, कालात्मक या क्रियात्मक तत्-तत् पदार्थोंमें अनुगत बीजको एक-स्वभाव ही बतलाना उचित है, यह संभव नहीं है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभावकी हो। यदि स्वभावभेद स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर एकत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती। देखिये—यदि वस्तु देशैकस्वभाव है, तो फिर वह कालका कार्य नहीं कर सकती। यह भी कहीं नहीं देखा गया कि घटस्वभाव वस्तु पटका कार्य करती हो।

सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति भेदो न वस्तुनि ।
परमार्थमये तेन विवादेन किमत्र नः ॥ २० ॥
इदं शान्तमनाद्यन्तं तद्रूपत्वाद्विचारतः ।
व्योमाभं बोधतामात्रमनुभूतिप्रमाणतः ॥ २१ ॥
यथैतन्नानुभूतं सद्यथैतदनुभूयते ।
यथैतत्सिद्धिमाप्नोति तदिदं कथ्यते क्रमात् ॥ २२ ॥
महाकल्पान्त उन्नष्टे सर्वस्मिन् दृश्यमण्डले ।
आमहादेवपर्यन्तं समनोबुद्धिकर्मणि ॥ २३ ॥

नाना स्वभावकी एक ही वस्तु है, यह कहनेवाला तो सभी दर्शनोंके सिद्धान्तका उल्लंघनकारी होनेसे वितण्डा करनेवाला ही होगा, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वदर्शन०' इत्यादि ।

सभी दर्शनोंके सिद्धान्तमें यह निश्चय किया गया है कि वस्तुके एक रहते हुए कार्योंका भेद नहीं है तथा परमार्थमय वस्तुस्वभावमें भी नानात्व नहीं है । इसलिए सभी दर्शनोंसे विरुद्ध बोलनेवालेके साथ विवाद करनेसे हमें मतलब ही क्या ॥ २० ॥

परिशेषात् वस्तु एकस्वभाव है, यह मान लेनेपर तो उपजीव्य एक चित्स्वभावका ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाणसे यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाशके सदृश निर्मल केवल बोधमात्र परमात्मा ही अवशेष रहता है । अनुभवरूप प्रमाण ही सभी कल्पनाओंका सार (बल) है, अतः उस बोधमात्र परमात्मवस्तुके स्वभावका अपलाप न हो सकनेसे परिशेषात् जड़ स्वभावकी ही हानि है, यह भाव है ॥ २१ ॥

अब एकस्वभाव उस परमात्मवस्तुके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा करते हैं—'यथैतत्' इत्यादिसे ।

यह परमात्मस्वरूप जिस रीतिसे अनुभूत नहीं होता और अनुभूत न होता हुआ भी जैसे अनुभूत होता है तथा जिस रीतिसे मनुष्यको इस परमात्मस्वरूपानुभवकी सिद्धि प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सब मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ ॥ २२ ॥

एकमात्र यही कारण है कि महाकल्पके अन्तमें समस्त भेदोंका लय हो

व्योमन्यपि शमं याते कालेऽप्यकलितस्थितौ ।
वायावपि त्वपगते तेजस्यत्यन्तमस्थिते ॥ २४ ॥
तेजस्यपि गते ध्वंसं वार्यादौ सुचिरं क्षते ।
अलमन्तमनुप्राप्ते सर्वशब्दार्थसञ्चये ॥ २५ ॥
शिष्यते शान्तबोधात्म सदच्छं बाध्यवर्जितम् ।
अनादिनिधनं सौम्यं किमप्यमलमव्ययम् ॥ २६ ॥
अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ।
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ २७ ॥
तन्न वायुर्न चाऽऽकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम् ।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ २८ ॥

जानेपर भी लयको प्राप्त न हुआ अनुभवात्मा ही अवशेष रह जाता है, यह कहते हैं—महाकल्पान्त०' इत्यादि पांच श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महाकल्पके अन्तमें महादेवपर्यन्त मन, बुद्धि और समस्त कर्मोंके साथ जब यह सम्पूर्ण दृश्यमण्डल नष्ट हो जाता है, आकाश तथा अकलित स्थिति काल भी शान्त हो जाता है, वायु चली जाती है तथा तेजकी स्थिति बिलकुल डँवाँडोल हो जाती है एवं तेज भी जब ध्वस्त हो जाता है, जल, पृथिवी आदिका भी दीर्घकालके लिए नाश हो जाता है, जब कि सम्पूर्ण शब्दार्थसमूह बिलकुल अन्तदशाको प्राप्त हो जाता है, तब आदि और अन्तसे रहित सौम्य, अविनाशी, बाध्यशून्य, वाणीका अविषय, स्वच्छ सन्मात्र, केवल निर्मल शान्त बोधस्वरूप कोई अनिर्वचनीय आत्मा ही शेष रह जाता है ॥ २३–२६ ॥

वह परमपद वाणीका अविषय, अनभिव्यक्त, इन्द्रियोंका अविषय, नामरूप-शून्य, सर्वभूतस्वरूप, शून्यरूप, सत् एवं असत् भी है ॥ २७ ॥

महाकल्पके अन्तमें अवशिष्ट वह सद्रूप परमात्मवस्तु वायु आदिस्वरूप ही क्यों न हो, इसपर कहते हैं—'तन्न' इत्यादिसे ।

सद्रूप वह परमात्मवस्तु न वायुस्वरूप है, न आकाशरूप है, न मन, बुद्धि आदिरूप है, न शून्यरूप है, वह कुछ भी नहीं है, सर्वस्वरूप वह अनिर्वचनीय चिदाकाश है ॥ २८ ॥

तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनाऽनुभूयते ।
अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते ॥ २९ ॥
न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक् ।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ ३० ॥
किमप्येव तदत्यच्छं बुध्यते बोधपारगैः ।
शान्तसंसारविसरैः परां भूमिमुपागतैः ॥ ३१ ॥
प्रतिषिद्धा मयैते तु येऽर्थाः सर्वत्र ते स्थिताः ।
अस्मद्बुद्ध्या परिच्छेद्याः सौम्याम्भोधेरिवोर्मयः ॥ ३२ ॥

उस समय भी वह विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है, यह कहते हैं—'तद्विदा' इत्यादिसे ।

उस परमपदमें स्थित समस्त कल्पनाओंसे निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी ही इस परमात्म-वस्तुका अनुभव करता है, और दूसरे तो केवल वर्णित आगमोंसे इसका वर्णन-मात्र करते हैं ॥ २९ ॥

उन आगमोंमें 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्यादि आगमका अर्थरूपसे अवलोकन कराते हैं—'न कालो' इत्यादिसे ।

यह आत्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न देश और कालका मध्य है, न अन्त है, न बोध-स्वरूप है और न बोधाभावरूप ही है ॥ ३० ॥

एवं 'तद्यथात्मविदो विदुः' इस आगमको भी उद्धृत करते हैं—'किम-प्येव' इत्यादिसे ।

किन्तु बोधपारङ्गत, संसारविस्तारसे शून्य तथा पञ्चम एवं षष्ठ भूमिकाओंको प्राप्त हो चुके महानुभाव लोग इस अनिर्वचनीय अतिस्वच्छ आत्माका स्वयं अनुभव करते हैं ॥ ३१ ॥

श्रुतिके अनुकूल अनुभवका आश्रयण करके मैंने भी उन पदार्थोंका बार-बार निषेध किया है, यह कहते हैं—'प्रतिषिद्धाः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आत्मबोधके लिए आपसे उन्हीं पदार्थोंका निषेध किया है, जो सर्वत्र श्रुतियोंमें प्रतिषेध्यरूपसे स्थित, हमारी बुद्धिसे परिच्छिन्न एवं शान्त समुद्रके तरङ्गोंके सदृश हैं ॥ ३२ ॥

यथास्थितं स्थिताः सर्वे भावास्तत्र यथा तथा ।
अनुत्कीर्णा महास्तम्भे विविधाः शालभञ्जिकाः ॥ ३३ ॥
एवं तत्र स्थिताः सर्वे भावा एवं च न स्थिताः ।
असर्वात्मैव सर्वात्म तदेव न तदेव च ॥ ३४ ॥
पदं यथैतत्सर्वात्म सर्वार्थपरिवर्जितम् ।
यथा तत्र च पश्यन्ति तत्रैकपरिणामिनः ॥ ३५ ॥
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ।
सर्वार्थपरिपूर्णं च तदाद्यं परिदृश्यते ॥ ३६ ॥

तब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियोंका क्या अभिप्राय है, उसे कहते हैं—'यथास्थितम्' इत्यादिसे ।

जैसे महास्तम्भमें (बड़े खम्भेमें) बिना खुदी हुई अनेक तरहकी प्रतिमाएँ स्थित हैं वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वस्वरूपमें स्थित परमात्मामें सभी पदार्थ स्थित हैं * ॥ ३३ ॥

इसीलिए 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंके अविरोधसे एक ही का दोनों तरहसे कथन होता है, इस आशयसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादि ।

इस तरह सभी पदार्थ उस परमात्मामें अधिष्ठानरूपसे स्थित हैं तथा अपने स्वरूपसे नहीं भी स्थित हैं । वह परमात्मा असर्वात्मक होता हुआ भी सर्वस्वरूप है । वह परमार्थरूप भी है और परमार्थरूप नहीं भी है ॥ ३४ ॥

पत्थरमें न खुदी गई नाना प्रकारकी प्रतिमाओंकी तरह योगियोंको अपनी इच्छाके अनुसार स्वस्वरूपमें स्थित उस परमपदमें 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों तरहसे जगत्का दर्शन होता है, यह कहते हैं—'पदम्' इत्यादिसे ।

योगी लोग अपनी इच्छानुसार सर्वात्मक वह परमपद जैसे समस्त अर्थोंसे युक्त है तथा जैसे समस्त अर्थोंसे रहित है, वैसे उसे देखते हैं ॥ ३५ ॥

उस आद्य पदको योगी लोग सर्वरूप, सर्वात्मक, सम्पूर्ण अर्थोंसे रहित तथा सम्पूर्ण अर्थोंसे परिपूर्ण भी देखते हैं ॥ ३६ ॥

---

* ब्रह्मस्वभावस्थिति ही अविकल्पित जगत्की भी सत्ता है, यही उन श्रुतियोंका अभिप्राय है ।

तवैतावन्महाबुद्धे सर्वार्थोपशमात्मकम् ।
न सम्यग्ज्ञानमुत्पन्नं संशयोऽत्र निदर्शनम् ॥ ३७ ॥
यः प्रबुद्धो निराभासं परमाभासमागतः ।
स्वच्छान्तःकरणः शान्तस्तं स्वभावं स पश्यति ॥ ३८ ॥
अयं त्वमहमित्यादित्रिकालगजगद्भ्रमः ।
तत्रास्ति हेमपिण्डान्तरिव रूपकजालकम् ॥ ३९ ॥
हेमपिण्डाद्यथा भाण्डजालं नानोपलभ्यते ।
तथा न लभ्यते भिन्नं परमार्थघनाज्जगत् ॥ ४० ॥
सर्वदैव हि भिन्नात्मा स्वाङ्गभूतोपलम्भदृक् ।
स जगद् द्वैतमेवेदं हेमेवाङ्गदरूपकम् ॥ ४१ ॥

हे महाबुद्धे, पूर्वोक्त समाधिकालपर्यन्त सम्पूर्ण अर्थोंका उपशमरूप वह सम्यग् ज्ञान आपको नहीं उत्पन्न हुआ। इसमें सन्देह होना ही सबसे जबर्दस्त प्रमाण है * ॥ ३७ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सब दृश्योंके आभाससे निर्मुक्त, परम प्रकाशरूपको (परम साक्षात्कारको) प्राप्त है तथा स्वच्छ अन्तःकरण एवं शान्त है, वह उस प्रकाशस्वरूप शान्तस्वभावको देखता है ॥ ३८ ॥

जैसे सुवर्णपिण्डके भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदिका समूह कल्पनासे स्थित है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अयं, त्वम्, अहम् इत्यादि त्रैकालिक जगत्-भ्रम भी उस परमात्मामें कल्पनासे स्थित है ॥ ३९ ॥

तब क्या अलङ्कारोंकी तरह भेदसे भी जगत् सत् है ? इसका 'नहीं' यह उत्तर देते हैं—'हेमपिण्डा०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह सुवर्णके आभूषण तथा पात्र आदि सुवर्ण-पिण्डसे पृथक्-भिन्नसद्रूपसे उपलब्ध होते हैं, उस तरह यह जगत् परमार्थघन परमात्मासे भिन्न सद्रूपसे उपलब्ध नहीं होता ॥ ४० ॥

अपने अङ्गरूप जगतसे द्रष्टा परमात्मा मिथ्या नाम-रूपात्मक द्वैत जगतसे सर्वदा ऐसे भिन्न है, जैसे कल्पित अङ्गदादि आभूषणात्मक मिथ्या नाम-रूपसे सुवर्ण ॥४१॥

* यदि आपको निश्चित तत्त्वज्ञान हो गया होता, तो आपके मनमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं उठता। सन्देहका होना ही बतलाता है कि अभी आपको निश्चित तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है। देखिये, 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादि श्रुतियाँ क्या कहती हैं।

रिक्तं देशादिशब्दार्थैर्देशकालक्रियात्मकम् ।
यथास्थितमिदं तत्र सर्वमस्ति न वाऽस्ति च ॥ ४२ ॥
यथोर्म्यादि समे तोये चित्रं चित्रकृदीहते ।
भाण्डवृन्दं मृदः पिण्डे तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ४३ ॥
तथैतदत्र नो भिन्नं नाभिन्नं नास्ति चास्ति च ।
नित्यं तन्मयमेवाच्छं शान्ते शान्तमिदं तथा ॥ ४४ ॥
अनिखातैव भातीयं त्रिजगच्छालभञ्जिका ।
स्वरसस्येव दृश्यत्वमिता ब्रह्मणि दारुणि ॥ ४५ ॥
निखाता दृश्यतां यान्ति स्तम्भस्थाः शालभञ्जिकाः ।
अस्मिन्नक्षोभ्य एवान्तस्तरङ्गाः सृष्टिदृष्टयः ॥ ४६ ॥
सरस्यतिरसे भान्ति चिद्घनामृतवृष्टयः ।
अविभागे विभागस्था अक्षोभे क्षुभिता इव ।
अविभाता विभान्तीव चिद्घने सृष्टिदृष्टयः ॥ ४७ ॥

देश, काल, क्रिया आदि शब्दोंके अर्थोंसे यानी प्रवृत्तिनिमित्तसे (जाति, गुण, क्रिया आदिसे) रहित तथा देश, काल एवं क्रियामय वह आत्मा है। यथा-स्थित यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानसे उसमें है और स्वस्वरूपसे नहीं भी है ॥४२॥

जैसे चित्रकार शान्त जलमें तरङ्ग आदिरूप चित्र बनानेकी इच्छा करता है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्तब्रह्ममें स्थित इस जगत्‌की आप भी इच्छा कीजिये। तथा जैसे मिट्टीके पिण्डमें मिट्टीके बने अनेक पात्रोंका समूह स्थित है वैसे ही ब्रह्ममें यह जगत् स्थित है ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टीके पिण्डमें जैसे अभिन्नरूपसे ये सब पात्र हैं और भिन्नरूपसे नहीं भी हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानसे शान्त, नित्य आत्मामें तन्मय शान्त यह जगत् अभिन्नरूपसे है और भिन्नरूपसे नहीं भी है ॥ ४४ ॥

महास्तम्भमें अनुत्कीर्ण प्रतिमाकी नाईं, ब्रह्मरूपी काठमें यह त्रिलोकीरूपी प्रतिमा साक्षीरूपी शिल्पीकी आँखोंमें प्राप्त हुई-सी है ॥ ४५ ॥

स्तम्भमें स्थित जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होती हैं वे ही दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु ब्रह्ममें तो उसके शान्त क्षोभरहित स्थित रहनेपर ही उसके भीतर सृष्टिके विवर्तरूप तरङ्गें दृष्टिगोचर होती हैं ॥ ४६ ॥

नित्य निरतिशयानद जलपरिपूर्ण चितिरूपी सरोवरमें चिन्मय मेघकी अमृतमय

परमाणौ परमाणावत्र संसारमण्डलम् ।
विभाति भासुरारम्भं न विभाति च किञ्चन ॥ ४८ ॥

आकाशकालपवनादिपदार्थजात-
मस्याऽङ्गमङ्गरहितस्य तदप्यनङ्गम् ।
सर्वात्मकं सकलभावविकारशून्य-
मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥



वृष्टिके सदृश ये सृष्टिकी दृष्टियाँ भासित हो रही हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, विभाजक धर्मोंसे शून्य रहनेपर भी उस चिद्घन ब्रह्ममें ये सबके सब विभक्त तथा क्षोभ-रहित रहनेपर भी क्षुभितके समान, भासित न हुई भी ये सब अविद्याके कारण एक तरहसे भासित हो रही हैं ॥ ४७ ॥

इस चिद्घन ब्रह्ममें परमाणु-परमाणुमें चमकीले समारोहोंसे युक्त यह संसार-मण्डल भासता है और वास्तवमें कुछ भी नहीं भासता ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, निरवयव इस परमात्माके जिस आकाश, काल, पवन आदि पदार्थसमूहरूप अङ्गका मैंने आपसे वर्णन किया है, वह भी मिथ्या तथा अधिष्ठान-मात्र शेष होनेसे अवयवशून्य ही है । इस प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण भावविकारोंसे शून्य यह अजर, परमार्थभूत आत्मतत्त्व है तथापि इसको सभी श्रुतियाँ सम्पूर्ण पदार्थोंके अध्यारोपसे सर्वस्वरूप बतलाती हैं ॥ ४९ ॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

यथा चेत्ये चेतनता यथाकाले च कालता ।
यथा च व्योमता व्योम्नि यथा च जडता जडे ॥ १ ॥
यथा वायौ च वायुत्वमभूतादावभूतता ।
यथा स्पन्दात्मनि स्पन्दो यथा मूर्ते च मूर्तता ॥ २ ॥
यथा भिन्ने च भिन्नत्वं यथाऽनन्ते ह्यनन्तता ।
यथा दृश्ये च दृश्यत्वं यथा सर्गेषु सर्गता ॥ ३ ॥
एतत्क्रमेण हे ब्रह्मन् वद मे वदतां वर ।
आदितः प्रतिपाद्यैव बोध्यन्ते ह्यल्पबोधिनः ॥ ४ ॥

तिरपनवाँ सर्ग

[अपनी-अपनी अलग-अलग भिन्नताको लिये हुए ये जो आत्मामें आरोपित विषय हैं, इनकी सत्ता यानी त्व, तल् आदि प्रत्ययोंका अर्थ साक्षात् ब्रह्मरूप ही है—यह वर्णन]

अभीतक यह क्रम बतलाया कि ब्रह्म ही आरोपित अनिर्वचनीय जगत्के रूपमें विवर्तित होता है, अब इस विषयमें रामजी यह जानना चाहते हैं कि त्व, तल् आदि प्रत्ययोंसे बोधित होनेवाली पृथक्-पृथक् जो घटत्व, मनुष्यत्व आदि जातियाँ हैं, उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसलिए यह प्रश्न करते हैं—'यथा' इत्यादि ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, जैसे स्मरणके योग्य विषयोंमें स्मरणकी विषयता, जैसे कालमें कालता, जैसे आकाशमें आकाशता, जैसे जड़में जड़ता, जैसे वायुमें वायुता, जैसे वर्तमानमें या भविष्यत्में वर्तमानता या भविष्यत्ता, जैसे स्पन्दात्मामें स्पन्दात्मता (स्पन्द), जैसे मूर्तमें मूर्तता, जैसे भिन्नमें भिन्नता, जैसे अनन्तमें अनन्तता, जैसे दृश्यमें दृश्यता और जैसे सर्गमें सर्गता असाधारण धर्म है, ऐसे ही सब वस्तुओंमें भावरूप धर्म हैं । अतः इनका परिज्ञान करनेके लिए जो बोधक उपाय हों, उनको क्रमशः मुझसे कहिए, क्योंकि हे उपदेश देनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मन्, जो अल्पज्ञ शिष्य हैं, उनको आरम्भसे ही प्रतिपादनकर समझाना चाहिए ॥१—४॥

वसिष्ठ उवाच

तदनन्तं महाकाशं महाचिद्घनमुच्यते ।
अवेद्यचिद्रूपमयं शान्तमेकं समस्थिति ॥ ५ ॥
ब्रह्मविष्ण्वीश्वराद्यन्ते महाप्रलयनामनि ।
शब्दार्थेऽरूढिमापन्ने यच्छुद्धमवशिष्यते ॥ ६ ॥
सर्गस्य कारणं तत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
मलमाकारबीजादि मायामोहभ्रमादिकम् ॥ ७ ॥
केवलं शान्तमत्यच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ।
तद्विद्यते यत्र किल खमपि स्थूलमश्मवत् ॥ ८ ॥

आपने जिन वस्तुओंका भाव (सत्त्व) पूछा है, वह चिदात्मा ही है, क्योंकि वही अपनेमें अध्यस्त पदार्थोंमें अन्योन्य तादात्म्याध्यास होनेपर तत्-तत् भावरूप बन जाता है, यों उत्तर देनेकी अभिलाषाकर उन भावोंकी नित्यसद्रूपता बतलानेके लिए कहते हैं—'तदनन्तम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जो चीज आपने पूछी है, वह चीज तो अनन्त, महाकाश, महा चेतनघन, अवेद्य चिद्रूपमय, शान्त, अद्वितीय और एकरूपसे स्थित रहनेवाली ब्रह्म ही है, यही मुनि लोग कहते हैं ॥ ५ ॥

सबका विनाश हो जानेपर जो वस्तु अन्तमें बच जाती है, वही सब वस्तुओंकी भावरूप सत्ता है, क्योंकि भूधातुसे बना हुआ भावशब्द उसी अर्थका बोधक है, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

चूँकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदिका भी जिसमें अन्त हो जाता है, ऐसे महाप्रलयमें नामरूपात्मक सृष्टिका तिरोभाव हो जानेपर वही एकमात्र शुद्ध बच जाता है, इसलिए वही सबकी सत्ता है, दूसरी नहीं ॥ ६ ॥

वह वस्तु भी अपने कारणमें लीन हो जायगी, इससे वह भी तो असत् ही ठहरेगी, इसपर कहते हैं—'सर्गस्य' इत्यादिसे ।

सत् ही जिसका स्वरूप है, ऐसे शान्त महाचिद्घन वस्तुकी उत्पत्तिका कोई भी कारण युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मल, आकार, बीज आदि तथा माया, मोह, भ्रम आदि सबकी सिद्धि उसीके अधीन है ॥ ७ ॥

अतः जिसमें आकाश भी स्थूल पत्थरके सदृश है और जो केवल, शान्त,

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा ।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ ९ ॥
निमेषे योजनशते प्राप्तायामात्मसंविदि ।
मध्ये तस्यास्तु यद्रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १० ॥
सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते वासनाविषयभ्रमे ।
सर्वचिन्ताविहीनस्य प्रबुद्धस्यार्द्धरात्रतः ॥ ११ ॥

निर्मल, आदि-अन्तसे शून्य है, वही सत्तार्थक भावशब्दका अर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

वह जब चेतन शरीररूपसे भासने लग जाता है, तब उसकी चारों ओर सत्ता होनेके कारण 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, और जब शान्तमल (अज्ञान मलादिसे वर्जित) होकर अनुभवमें आता है, तब 'वह है' यों भी वाच्यवृत्तिसे नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥

ऐसे निर्विषय चित्-स्वभावकी अत्यन्त अप्रसिद्धि है, इस शङ्काका अनुभवसे निवारण करते हैं—'निमेषे' इत्यादिसे ।

उस निर्विषय आत्मपदका स्वरूप वही है, जो कि निमेषमात्रमें सैकड़ों योजनतक प्रमातृज्ञानके पहुँच जानेपर उस ज्ञानके बीचका रूप है। [इस विषयका पहले भी अनेक स्थानोंमें निरूपण किया गया है—शाखाओंके अग्रभागमें चन्द्रदर्शनके समय एक निमिषमात्रमें चक्षुकी वृत्तिके द्वारा प्रमातृचैतन्य ऊपर प्रदेशमें सैकड़ों कोश चन्द्रदेश तक दूर चला जाता है, वह गया हुआ प्रमातृचैतन्य बीचके प्रदेशमें यानी शाखाग्रप्रदेश और ऊपरका जो चन्द्रदेश है—इन दो प्रदेशोंके मध्यप्रदेशमें एकदम विशुद्ध रहता है, उसमें कोई भी विषय रहता ही नहीं, अतः मध्यप्रदेशके चेतनका जो भी रूप आप जानिये, वही रूप निर्विषय आत्मपदका स्वरूप है] ॥ १० ॥

आधी राततक गाढ़ी नींदसे सो जानेपर मनकी निद्राकालिमा दूर हो जाती है, इस कालिमाके निकल जानेपर समाधिमें स्थित हुए योगियोंको उक्त रूपका अनुभव होने लग जाता है, यह कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

बाहरी और भीतरी जितने वासनाके विषय भ्रमरूप पदार्थ हैं, उनका

शान्तनिःसुखदुःखस्य पुरुषस्येव तिष्ठतः ।
यदस्पन्दि मनोरूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १२ ॥
तृणगुल्माङ्कुरादीनां सत्ता सामान्यमाततम् ।
यदुद्भवोद्भवं रूपं रूपं तस्य पदस्य तत ॥ १३ ॥
तस्मिन् पदे जगद्रूपं यदिदं दृश्यते स्फुटम् ।
सकारणमिवाकारं करालमिव भेदवत् ॥ १४ ॥
तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते ।
नाकारयुक्तं न जगन्न च द्वैतैक्यसंयुतम् ॥ १५ ॥
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ।
स्वयं नित्यानुभूतेऽर्थे कोऽत्रापह्नवशक्तिमान् ॥ १६ ॥

विनाश हो जानेपर सब प्रकारकी चिन्ताओंसे निर्मुक्त हुए तथा आधी रातमें निद्रासे जगे, सुख-दुःखकी वृत्तियोंसे रहित तथा शान्तिपूर्वक समाधि लगाकर बैठे हुए पुरुषका जो स्पन्दनशून्य (निश्चल) मनोरूप है, वही रूप उस पदका स्वरूप है। इस रूपका समाधिविष्ट पुरुष ही अनुभव करते हैं ॥ ११, १२ ॥

श्रीरामजी, तृण, गुल्म, अङ्कुर, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति होनेपर साथ-साथ प्रकट हुआ जो एकरूपसे सबमें रहनेवाला अनुगत सत्ता-सामान्य रूप है यानी तृणत्व, गुल्मत्व आदि है, वही त्व, तल् आदि प्रत्ययोंका अर्थ है ॥ १३ ॥

उसी सत्ता-सामान्यके स्वरूपमें तादात्म्यरूपसे मिला हुआ तथा दूसरेसे भिन्न-सा जो घट, पट आदि जगत्का स्पष्ट रूप दीखता है, वह आगन्तुक होनेसे सकारण-सा तथा कम्बुग्रीव आदि विचित्र आकृतियोंसे कराल-सा भासता है, परन्तु है वह सब अनृत यानी मिथ्या ही। इसीलिए वह सब कारणके अभावसे न तो उत्पन्न हुआ है और न अपना अस्तित्व ही रखता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पद न तो आकारयुक्त है, न जगत्-रूप है और न द्वैत एवं ऐक्यसे मिला हुआ ही है ॥ १४,१५ ॥

जो कारणसे शून्य है यानी जिसके कारणकी सत्ता ही नहीं है, उस वस्तुकी सत्ता यहां कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है। जो स्वयं सदा अनुभूत ही वस्तु है, उसका अपलाप करनेकी शक्ति कौन रख सकता है ॥ १६ ॥

न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत् ।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ १७ ॥
तस्मात् तत्र जगद्रूपं यदाभातं तदेव तत् ।
स्वयमेव तदाभाति चिदाकाशमिति स्थितम् ॥ १८ ॥
जगच्चिद्ब्रह्मभावाच्च तथा भावो भ्रमादिव ।
सर्वमेकमजं शान्तमद्वैतैक्यमनामयम् ॥ १९ ॥
पूर्णात्पूर्णं विसरति पूर्णे पूर्णं विराजते ।
पूर्णमेवोदितं पूर्णे पूर्णमेव व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

तब यह मानिये कि असत् जगत्‌का शून्य ही कारण है ? इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

हे राघव, शून्य तो अनादि और अनन्त है, वह जगत्‌का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो आदि और अन्तसे रहित होता है, वह सब तरहकी अल्पतासे निर्मुक्त ही रहता है, इस स्थितिमें सभी सब जगह सभी समयमें रहने लग जायँगे । ब्रह्म तो अमूर्त है यानी आकारसे शून्य है, अतः ब्रह्मस्वभावसे भिन्न साकार जगत्‌का वह ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इसलिए ब्रह्ममें जो जगत्-रूप भासित हो रहा है, वह ब्रह्मरूप ही है, दूसरा नहीं । ऐसी स्थितिमें त्व, तल् आदि प्रत्ययोंके अर्थके रूपमें भी जो स्वरूप भासता है, स्वयं वह चिदाकाशरूप ब्रह्म ही स्थित है ॥ १८ ॥

इस तरह यद्यपि असलमें जगत चिद्-ब्रह्मरूप ही है, तथापि जो घट, पट आदि आकार आपाततः (ऊपर-ऊपरसे) प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रमसे ही सिद्ध होते हैं । ऐसी स्थितिमें हे श्रीरामचन्द्रजी सब कुछ एक, अज, शान्त, द्वैत-ऐक्यसे रहित- निरामय ब्रह्मरूप ही है, यह आप जानिए ॥ १९ ॥

भ्रान्तिसे जीव और जगत्‌के रूपमें ब्रह्म ही है और भ्रान्तिका विनाश हो जानेपर वास्तव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, इसमें पूर्वदर्शित 'पूर्णमदः' इत्यादि श्रुतिका अनुवाद करते हैं—'पूर्णात्' इत्यादिसे ।

पूर्णरूप ब्रह्मसे पूर्णरूप ही जगत् विस्तारको प्राप्त होता है, उसी पूर्णमें पूर्णात्म जगत् विराजित है, पूर्ण ही पूर्णमें प्रकाशित होता है, अतः पूर्णमें पूर्णात्मक वस्तु ही ठीक-ठीक रूपसे अन्तमें व्यवस्थित है ॥ २० ॥

शान्तं सम समुदयास्तमयोविहीन-
माकारमुक्तमजमम्बरमच्छमेकम् ॥
सर्वं सदा सदसदेकतयोदितात्म
निर्वाणमाद्यमिदमुत्तमबोधरूपम् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगन्नाम नभः स्वच्छं सद्ब्रह्म नभसि स्थितम् ।
नभो नभसि भातीदं जगच्छब्दार्थ इत्यजम् ॥ १ ॥

श्रीरामभद्र, भावप्रत्ययोंका अर्थ यानी त्व, तल् आदिका अर्थ वही है, जो निर्वाणशब्दसे कहलानेवाला विशुद्ध आत्मा है। वह शान्त, एकरूप, उदय-अस्तसे रहित, आकारोंसे शून्य, अज, आकाशवत् व्यापक, स्वच्छ और अद्वितीय है। यह सर्वात्मक है, इसका रूप सत्-असत्‌की एकता लेकर ही निरन्तर उदित है; सबका आदि है और उत्तम बोधरूप (आत्मज्ञानरूप) है ॥ २१ ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

[सभी वस्तुएँ अपने स्वभावमें ही रहती हैं, स्वभावमें न तो कोई क्रिया है और न कोई भेद ही है, अतः स्वभावभूत सन्मात्रवस्तु अविकारी एवं अद्वितीय है, यह वर्णन]

घट, पट आदिका स्वरूप या भेद घटत्व, पटत्व आदिका उल्लेख किये बिना हो नहीं सकता। घट और घटत्वका परस्पर जो भेद है, उसका भी निरूपण किसी विशेषणको लिये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उनके पृथक्करणके लिए धर्म और धर्मीका जो कुछ विभाग आप मानेंगे, वह केवल कल्पनारूप ही होगा, क्योंकि निर्विकल्परूपसे एक-सी भासमान वस्तुओंमें असली विभाग तो होगा ही नहीं। ये जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी भावरूप (सत्तामात्र ब्रह्मरूप) ही हैं, यह तो अनेक युक्ति, श्रुति आदिका दिग्दर्शन कराकर सिद्ध कर दिया है। ऐसी स्थितिमें 'घटे घटत्वम्' (घटमें घटत्व है) इत्यादि शब्दोंका निचोड़ अर्थ

त्वमहं जगदित्यादि शब्दार्थो ब्रह्म ब्रह्मणि ।
शान्तं समसमाभासं स्थितमस्थितमेव सत् ॥ २ ॥
समुद्रगिरिमेघोर्वीविस्फोटमयमप्यजम् ।
काष्ठमौनवदेवेदं जगद्ब्रह्मावतिष्ठते ॥ ३ ॥
द्रष्टा द्रष्टैव दृश्यस्य स्वभावात्स्वात्मनि स्थितः ।
कर्ता कर्तैव कर्तव्याभावतः कारणादृते ॥ ४ ॥

यही होगा कि 'ब्रह्ममें ब्रह्म है'—यों जो पहले भाव प्रत्ययोंके अर्थका निष्कर्ष सिद्ध किया गया है, उनके फलका उपपादन करनेके लिए आरम्भ करते हैं—'जगन्नाम' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, घटत्व, पटत्व आदि भावोंसे जगत्‌का स्वरूप यदि निचोड़कर सिद्ध किया जाय, तो वह आकाशके सदृश स्वच्छ एवं भेदरूप कलङ्कसे निर्मुक्त ही सिद्ध होता है । घटत्व आदि भाव तो ब्रह्मरूप ही स्थित हैं, यह पहले ही बतला चुके हैं, इस दृष्टिको लेकर देखा जाय, तो घट, पट आदि भावोंमें किसीमें किसीके प्रति कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि उस दृष्टिमें यही ज्ञान रहता है कि आकाश ही आकाशमें भासता है, वही (नभोरूप ब्रह्म ही) जगत्-शब्द और घटादि शब्दोंका अर्थ है, वह तो जन्म आदि विकारोंसे शून्य ही है ॥ १ ॥

इसी अर्थका फिर स्पष्टीकरण करते हैं—'त्वमहम्' इत्यादिसे ।

त्वम् (तू), अहम् (मैं)' जगत्—इत्यादि जो शब्द हैं, उनका अर्थ ब्रह्म ही है, शान्त ब्रह्म सबमें एकरूपसे ही भासनेवाला है, इसलिए अलग स्थित न होकर ही वह शब्दार्थरूप ब्रह्म अपने ही स्वरूपमें स्थित है ॥ २ ॥

समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी, विस्फोट आदि पदार्थोंसे भरा जगत् भी ब्रह्म है यानी समुद्र आदि अनेक विभागोंसे युक्त तथा विचित्र कारक, क्रिया, फल आदिसे भासमान तत्-तत् धर्म और धर्मियोंका तात्त्विक स्वरूप भी निष्कर्षमें ब्रह्मरूप ही है, अतः यह समस्त जगत् काष्ठमौनके सदृश निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही ठहरता है ॥ ३ ॥

अब वह द्रष्टा आदि विभागोंसे भरपूर है, इसका विचित्र कारकोंमें तत्-तत् भावोंका निष्कर्ष निकालकर निरूपण करते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

दृश्यवस्तुके स्वभावसे पृथक् किया गया द्रष्टा चिन्मात्रस्वभावमें स्थित होकर द्रष्टा होता है, इसी प्रकारका कर्ता भी है । इसका कोई वास्तवमें तो कर्तव्य ही नहीं है,

न ज्ञत्वं न च कर्तृत्वं न जडत्वं न भोक्तृता ।
न शून्यता न चार्थत्वमिह नापि नभोर्थता ॥ ५ ॥
शिलाजठरवत्सत्यं घनमेकमजं ततम् ।
सर्वं शान्तमनाद्यन्तमेकं विधिनिषेधयोः ॥ ६ ॥
मरणं जीवितं सत्यमसत्यं च शुभाशुभम् ।
सर्वमेकमजं व्योम वीचिजालं जलं यथा ॥ ७ ॥
विभाग एव दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चैव गच्छति ।
एतच्च कल्पनं स्वप्नपुरादिष्वनुभूयते ॥ ८ ॥
एवमच्छं पराकाशे स्वप्नपत्तनवज्जगत् ।
भाति प्रथममेवेदं ब्रह्मैवेत्थमतः स्थितम् ॥ ९ ॥

जब कारण हो, तो कर्तव्य निर्धारण किया जाय, पर कारण ही कोई नहीं है ॥ ४ ॥

इसी दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्‌की विचित्रता हटाई जा सकती है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

न तो ज्ञातापन, न कर्तापन, न जडपन, न भोक्तापन, न शून्यपन, न अर्थपन और न आकाशपन ही इस ब्रह्ममें रहता है ॥ ५ ॥

यदि कोई है, तो वह शिलाके उदरके सदृश अत्यन्त घन, बाधवर्जित, अद्वितीय, जन्मरहित, सर्वात्मक, शान्त, आदि अन्तसे मुक्त तथा विधि एवं निषेधमें एकरूप ब्रह्म ही है, यही सर्वत्र विस्तृत है ॥ ६ ॥

जीवन, मरण, सत्य, असत्य, शुभ, अशुभ जो कुछ है वह सब एक, अज निर्मल चिदाकाशरूप ऐसे है, जैसे तरङ्गोंका समूह जलरूप ॥ ७ ॥

ब्रह्मका जीवरूपसे विभाग कल्पित होनेपर वह एक ही वस्तु चिदंशकी प्रधानतासे द्रष्टापन और सदंशकी प्रधानतासे चिदंशको तिरोहित (छिपा) कर दृश्यपन धारण करती है । इस प्रकारकी कल्पना स्वप्ननगर आदिमें अनुभूत होती है, वहाँपर व्यावहारिक जीवसे प्रातिभासिक जीवका विभाग करनेपर निद्रासे तिरोहित हुआ व्यावहारिक जीव स्वप्नका जीव, दृश्य, नगर आदिरूप बन जाता है ॥ ८ ॥

इस तरह जगत् स्वच्छ ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ, वही स्वप्ननगरके सदृश

तदिदं तादृशं विद्धि सर्वं सर्वात्मकं च यत् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यमनङ्कितम् ॥ १० ॥
चिद्व्योम्नः शान्तशान्तस्य मध्यमे चैवमास्थितम् ।
जगत्तथैव सलिलमेवोर्म्यादितया यथा ॥ ११ ॥
यदुदेत्युदितं यच्च यच्च नोदेति नोदितम् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यान्न भेदितम् ॥ १२ ॥
अतः किलास्य सर्गस्य कारणं शशशृङ्गवत् ।
प्रयत्नेनापि चान्विष्टं न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ १३ ॥
यदकारणकं भाति तदभातं भ्रमात्मकम् ।
भ्रमस्यासत्यरूपस्य सत्यता कथमुच्यते ॥ १४ ॥

परम चिदात्मरूप निर्मल आकाशमें भासता है, अतः प्रथम निष्प्रपञ्च जो ब्रह्म है, वही जीवात्मक विभागसे इस जगद्रूपसे स्थित है, हे श्रीरामजी, यह आप अवश्य जान लें ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, इन सब बातोंसे यह आप अच्छी तरह जान लीजिए कि यह सर्वात्म जगत्स्वरूप पहले जैसा निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप था, वैसा ही सदा रहेगा । इस तरह निष्प्रपञ्चस्वरूप शाखा और चन्द्र—दोनोंके दर्शनकालमें इनके मध्यमें दर्शनसे अभिव्यक्त चेतन प्रसिद्ध ही है ॥ १० ॥

शान्तोंमें परम शान्त चेतनाकाशका मध्यमें उक्त रीतिसे प्रसिद्ध जो निर्विषय रूप है, वही जगत्के रूपसे ऐसे भासता है; जैसे तरङ्गादिके रूपसे जल भासता है ॥ ११ ॥

सारा जगत् निर्विषय चैतन्यसे अभिन्न है; यह कहते हैं—'यदु०' इत्यादिसे ।

जो कार्यरूपसे उदित होता है और कार्यरूपसे उदित नहीं भी होता है; जो कारणरूपसे उदित है और कारणरूपसे उदित नहीं भी है, वह जगत् प्रमातृ-चैतन्यके एक देशसे दूसरे देशतक जानेपर जो उसका विषयशून्य मध्यमभाग है, उससे भिन्न नहीं है ॥ १२ ॥

इसलिए इस सृष्टिका शशशृङ्गके सदृश कोई कारण है ही नहीं, प्रयत्नसे अन्वेषण करनेपर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता ॥ १३ ॥

जो किसी कारणके बिना भासित होता है, वह भासित न हुआ ही

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १४ } ज्येष्ठ, आषाढ़ २००४ { अङ्क ५,६

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीभगवत्स्तुतिः

ध्यायन्ति देवाः सततं मुरारिं
यस्याङ्गमध्ये सकलं निविष्टम् ।
योगेश्वरं पापविनाशनं च
भजे शरण्यं मधुसूदनाख्यम् ॥ १ ॥

लोकेषु यो हि सकलेषु विबोधितोऽपि
यो लोकगश्च गुणिनो निवसन्ति यत्र ।
दोषैर्विहीनमखिलैः परमेश्वरं तं
सञ्चिन्त्य पादयुगलं सततं नमामि ॥ २ ॥

नारायणं गुणनिधानमनन्तवीर्यं
वेदान्तशुद्धमतयः प्रपठन्ति नित्यम् ।
संसारसागरमपारमनन्तदुर्ग-
मुत्तारणार्थमखिलं शरणं प्रपद्ये ॥ ३ ॥

योगीन्द्रमानससरोवरराजहंसं
शुद्धं प्रभावमखिलं सततं हि यस्य ।
तस्यैव पादयुगलं ह्यमलं नमामि
दीनस्य मेऽशुभभयात्कुरु देव रक्षाम् ॥ ४ ॥

लोकस्य पालनकृते परिणीतधर्मं
सत्यान्वितं सकललोकगुरुं सुरेशम् ।
गायाम्यहं सुरसगीतकतालमानैः
श्रीवत्समेकमखिलं भुवनस्य देवम् ॥ ५ ॥

ध्यायेऽखिलस्य भुवनस्य पतिं च देवं
दुःखान्धकारदलनार्थमिहैव चन्द्रम् ।
अज्ञाननाशकमलं च दिनेशतुल्य-
मानन्दकन्दमखिलं महिमासमेतम् ॥ ६ ॥

—श्रीपद्मपुराणान्तर्गता ।

योगवासिष्ठ

अनुवादक—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

विषय-सूची

कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ १५ ॥
यस्त्वकारणको भाति स स्वभावो विजृम्भते ।
सर्वरूपेण सङ्कल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ १६ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्यं विदो वपुः ।
स्वरूपमजहत्त्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ १७ ॥
बोध एव कचत्यर्थरूपेण स च खादणुः ।
दृष्टान्तोऽत्रानुभूतोऽन्तः स्वप्नसङ्कल्पपर्वतः ॥ १८ ॥

भासित होता है, वह भ्रमात्मक है, यह समझना चाहिए। भ्रम तो असत्यरूप है, अतः उसकी सत्यता कैसे कही जा सकती है ॥ १४ ॥

कारणके बिना कार्य ही कैसे और उसकी सत्ता ही क्या, यदि दिखाई पड़ा तो वह भ्रम ही है। पुत्ररहितको—वन्ध्यापतिको स्वप्नमें अपने अच्छे पुत्रका जो दर्शन है; वह भ्रम ही है; सत्य नहीं है ॥ १५ ॥

जो अकारण भासता है, वह द्रष्टारूप चैतन्य ही अपने स्वरूपका त्यागकर सबरूपसे उस प्रकार भासता है, जिस प्रकार सङ्कल्पसे गन्धर्वनगर आदि भासते हैं ॥ १६ ॥

द्रष्टारूप चेतन कहाँ अपने स्वरूपको छोड़कर प्रकाशता है, इसपर कहते हैं—'देशात्' इत्यादिसे।

क्षणभरमें शाखाप्रदेशसे चन्द्रमाके प्रदेशतक गये हुए प्रमातारूप चेतनके मध्यका जो स्वरूप है, वही अपने निष्प्रपञ्च स्वरूपको न छोड़कर ही प्रकाशता है, क्योंकि वहाँ बीचमें परमार्थरूप और आद्यन्त भागमें विवर्तरूप—दोनों प्रकाशते हैं ॥ १७ ॥

अर्थसत्ता न रहनेपर भी बोध अर्थाकारसे प्रकाशित होता है, इस विषयमें भी दृष्टान्त देते हैं—'बोध एव' इत्यादिसे।

बोध ही अर्थके रूपमें स्फुरित होता है, वह आकाशसे भी अतिसूक्ष्म है, इस विषयमें स्वप्न और सङ्कल्पका पर्वत दृष्टान्त है, जिसका सभीने भीतर अनुभव किया है ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

विद्यते वटबीजान्तर्यथा भावि महाद्रुमः ।
परमाणौ तथा सर्गो ब्रह्मन् कस्मान्न विद्यते ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ २० ॥
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ २१ ॥
यत्तु ब्रह्मपरं शान्तं का तत्राऽऽकारकल्पना ।
परमाणुत्वयोगोऽपि नात्र केवाऽत्र बीजता ॥ २२ ॥

बोध ही अर्थोंके रूपमें विकसित होता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हैं, वटबीजके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित वृक्षके सदृश बोधके अन्दर स्थित जड़ात्मक प्रपञ्च पहलेसे ही बोधमें रहता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते, यों श्रीरामभद्र शङ्का करते हैं—'विद्यते' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—ब्रह्मन्, जैसे वटबीजके भीतर भावी महावृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही बोधात्मक परमाणुमें भी यह सारी सृष्टि क्यों नहीं रह सकेगी ॥१९॥

साकार बीजमें पहले भीतर निराकार वट था, इसलिए वह पृथ्वी, जल आदि सहकारी कारणोंकी पासमें स्थिति हो जानेपर अङ्कुर आदि क्रमसे उत्पन्न हुआ, यह बात तो मानी जा सकती है, परन्तु जगत्का जब महाप्रलय हो जाता है, तब न तो कोई साकार वस्तु रहती है और न सहकारी कारण ही प्रतीत होते हैं, इसलिए आपका दृष्टान्त नहीं घटता, यों महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'यत्रास्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जहाँ बीज है, वहाँपर तो बड़ी-बड़ी उससे शाखाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वे विस्तृत शाखाएँ सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होती है ॥ २० ॥

परन्तु सम्पूर्ण भूतोंका जब प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज होगा और उसका सहकारी कारण कौन होगा, जिसके प्रभावसे जगत् उत्पन्न हो ॥२१॥

जगत्-शक्तिसे युक्त ब्रह्म ही बीज होगा, इसपर कहते हैं—'यत्तु' इत्यादिसे ।

कारणस्येति बीजस्य सत्यासत्यैककारिणः ।
असम्भवाज्जगत्सत्ता कथं केन कुतः क का ॥ २३ ॥
जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ २४ ॥
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क जन्यजनकक्रमः ॥ २५ ॥
अतो यत्परमं तत्त्वं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
नेह प्रथयते किञ्चिन्न च किञ्चिद्विनश्यति ॥ २६ ॥

जो ब्रह्मवस्तु है, वह तो असलमें परमशान्त है, उसमें आकारकी कल्पना ही कैसी ! उसमें परमाणुत्वका भी जब योग (सम्बन्ध) नहीं हो सकता, तब आकारकी कल्पना तो दूर ही चली गई, इसलिए ऐसी वस्तुमें बीजरूपता आ ही नहीं सकती ॥ २२ ॥

इसीलिए कारणका असंभव है, यह पहले कहा गया है, यों कहते हैं—'कारणस्येति' इत्यादिसे ।

इस रीतिसे सत्य और मिथ्याको एकरूप बनानेवाले बीजरूप कारणका सर्वथा असंभव है, इससे जगत्की सत्ता किस प्रकारकी, किससे, कहाँ और क्या होगी, क्योंकि उसको करनेवाला तो कोई है नहीं ॥ २३ ॥

'अणुः पन्थाः विततः' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे ईश्वरमें अणुत्वकी कल्पना यद्यपि हो सकती है, तथापि उसमें जगत्की स्थिति मानना अनुचित है, यह कहते हैं—'जगदास्ते' इत्यादिसे ।

परमाणुरूप आत्माके अन्दर सूक्ष्मरूपसे जगत् है, यह कहना अनुचित ही है, क्योंकि सरसोंके कणके अन्दर सुमेरु पर्वत है, यह अज्ञानियोंकी ही कल्पना है ॥ २४ ॥

यदि यह कहिए कि जगत् भी निराकार है, तब तो बीज आदिका अभाव होनेसे अनायास ब्रह्मरूपता ही फलित हो जाती है, यह कहते हैं—'सति' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

बीजकी सत्ता होनेपर ही कार्य, कारण आदिके ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु निराकार वस्तुका कौन-सा बीज और कहाँ उसमें जन्य-जनकका क्रम ॥ २५ ॥

इसलिए जो परम ब्रह्मतत्त्व है, वही यह जगद्रूप बनकर स्थित है, यह आविर्भूत

चिदाकाशश्चिदाकाशे हृदि चित्त्वाज्जगद्भ्रमम् ।
अशुद्धवदिवाशुद्धे शुद्धं शुद्धे प्रपश्यति ॥ २७ ॥
खमेवाभासते तस्य रूपं स्पन्द इवानिले ।
सर्गशब्दार्थकलना नेह काश्चन सन्ति नः ॥ २८ ॥
यथा शून्यत्वमाकाशे द्रवत्वं च यथा जले ।
अन्यतात्ममयी शुद्धा सर्गतेयं तथाऽऽत्मनि ॥ २९ ॥
भारूपमिदमाशान्तं जगद्ब्रह्मैव नस्ततम् ।
अनादिनिधनं सत्यं नोदेति न च शाम्यति ॥ ३० ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये विदो वपुः ।
यत्तज्जगदितीवेदं व्योमात्मनि व्यवस्थितम् ॥ ३१ ॥

होकर न तो कुछ स्वरूप बतलाता है और न कुछ नष्ट ही होता है ॥ २६ ॥

तब वह क्या चीज है, उसे कहते हैं—'चिदाकाश०' इत्यादिसे ।

चिदाकाश ही (आकाशवत् निर्मल चिति ही) चिदाकाशरूप हृदयमें चितिरूप होनेके कारण जगद्भ्रमको अशुद्धमें अशुद्ध-सा और शुद्धमें शुद्ध-सा देखता है ॥ २७ ॥

वायुमें स्पन्दकी नाईं चिदाकाशमें उसका स्वरूप चिदाकाशरूप ही भासित होता है, अतः हम लोगोंकी कोई भी सृष्टिशब्दार्थकी कल्पनाएँ यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखतीं ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें आकाशरूप शून्यता अथवा जैसे जलमें जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही आत्मामें आत्ममय स्वविवर्तरूप यह विशुद्ध सर्गता (सृष्टिरूप) है ॥२९॥

तब अविवर्त कैसा है, इसे कहते हैं—'भारूपम्' इत्यादिसे ।

भद्र, हम लोगोंका विस्तृत यह जो जगत् है, वह प्रकाशमय, अपरिमित शान्त ब्रह्म ही है, वह आदि और अन्तसे शून्य और त्रिकालमें भी बाधित नहीं है, न तो उसका उदय होता और न अस्त ही होता है ॥ ३० ॥

ऐसे प्रपञ्चरहित वस्तुकी अप्रसिद्धिशङ्का तो बहुत स्थानोंमें निवृत्त की है, इसका स्मरण कराते हैं—'देशा०' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें शाखादेशसे चन्द्रप्रदेशतक प्रमातृचैतन्यके जानेपर उसका बीच-

यथा स्पन्दोऽनिले तोये द्रवत्वं व्योम्नि शून्यता ।
तथा जगदिदं भातमनन्याश्लेषमात्मनि ॥ ३२ ॥
संविन्नभो ननु जगन्नभ इत्यनर्क-
मात्मन्यवस्थितमनस्तमयोदयं क्व ।
तत्त्वङ्गभूतमखिलं तदनन्यदेव
दृश्यं निरस्तकलनोऽम्बरमात्रमास्व ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥५४॥



वाला जो सर्वोपद्रवशून्य निर्विषय स्वरूप है, वही यह जगत्सा बन गया है। इससे चिदाकाशमें वह व्यवस्थित है ॥ ३१ ॥

जैसे वायुमें स्पन्दन, जैसे जलमें द्रवत्व है और आकाशमें शून्यत्व प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत आत्मामें प्रतीत होता है, इसका किसी अन्य पदार्थ-से सम्बन्ध नहीं है, यह असङ्ग अद्वय आत्मरूप ही है ॥ ३२ ॥

जगत चिन्मात्रस्वभाव है, यह जो सब तरहसे कहा गया है, उसे एकट्ठा करके उपदेश देते हुए उपसंहार करते हैं—'संविन्नभो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने परमार्थस्वभावमें स्थित हुआ जगत् सत्-स्वरूप है। चिदाकाश शून्यभावापन्न प्रसिद्ध आकाशस्वरूप ही है, यह तो किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य-रहित यानी सूर्यके उदय और अस्तसे निर्मुक्त तथा अपने स्वरूपमें अवस्थित आकाश कहाँ प्रसिद्ध है, सच्चित्स्वभाववाला या सूर्य आदिसे रहित आकाश प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि जड़ ही आकाश प्रसिद्ध है। अपिच सच्चित्स्वभावभूत जो तत्त्व है, उससे सम्बद्ध ही सम्पूर्ण दृश्योंका भान होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् उस तत्त्वका ही अङ्गभूत है, शून्यात्मक आकाशका अङ्ग नहीं है, इसलिए सच्चिदात्मासे अनन्य है। इन सब बातोंसे आप समस्त कल्पनाओंका परित्यागकर एकमात्र आकाशस्वरूप होकर ही स्थित रहिए ॥३३॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

———०———

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥ १ ॥
न त्वमूर्तो हि चिद्धातुः कारणं भवितुं क्वचित् ।
स्वात्मा शक्तः स मूर्तानां बीजमुर्वीरुहामिव ॥ २ ॥
स्वभावमेव सततं भावयन् भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिद्धातुः सर्वोऽनुभववान् स्थितः ॥ ३ ॥

पचपनवाँ सर्ग

[अन्यकी भावनासे अपनेको अन्यरूप देखती हुई जगत्के रूपमें स्थित चिति स्वभावनासे तो अनन्यरूप ही है, अतः जगत् वास्तवमें परमार्थमय है, यह वर्णन]

पूर्वोक्त युक्तियोंसे जगत् ब्रह्मसे जब अत्यन्त अभिन्न है, तब फलित यह हुआ कि उसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह कहते हैं—'भावा०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदिसे युक्त यह जगत् सृष्टिके आदिमें पहले ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि इनको पैदा करनेवाला कोई कारण उस समय रहता ही नहीं ॥ १ ॥

उत्पत्तिवादमें तो अवश्य ही बीज बतलाना चाहिए, परन्तु वह बतलाया जा ही नहीं सकता, यों जो बार-बार कहा गया है, उसीका स्मरण कराते हैं—'न त्व०' इत्यादिसे ।

आकारके बिना चितितत्त्व कहींपर भी कारणरूप नहीं हो सकता, जैसे साकार वृक्षोंको साकार बीज उत्पन्न करता है, वैसे ही साकार स्वात्मा ही मूर्त पदार्थोंको उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह साकार तो है नहीं ॥ २ ॥

इसीलिए ज्ञानी पुरुष 'सब जगत् चित्स्वभाव ही है' ऐसी भावना करता हुआ स्थित रहता है, यह कहते हैं—'स्वभावमेव' इत्यादिसे ।

जितने तत्त्वज्ञानी हैं, चितितत्त्वरूप वे सब अपनी आत्मामें ही सब कल्पनात्मक जगत्में आत्मरूपताकी निरन्तर भावना करते हुए स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

आस्वादयति यं भावं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन क्षीबः क्षुब्धतया यथा ॥ ४ ॥
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्धीदं समं शान्तमसत्समम् ॥ ५ ॥
चिन्नभश्चिन्नभस्येव पयसीव पयोद्रवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत् कृतम् ॥ ६ ॥
स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।
काचकस्येव कचति तथेत्थं सादि सर्गखे ॥ ७ ॥

अतएव अज्ञानी पुरुषने भी स्वभावकल्पनारूप ही संसारको प्राप्त किया है, यह कहते हैं—'आस्वादयति' इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूप आत्मा जिस भावका स्वाद लेता है, वही उस प्रकार सृष्टि प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार मद्यकी क्षुब्धतासे प्रलाप द्वारा अपनी आत्मासे ही मद्य पीनेवाला पुरुष अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

अतएव अनुत्पन्न अन्य वस्तुके स्वभावका साक्षात्कार हो जानेपर उसीके रूपमें स्थिति होती है, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब यह सब अनुत्पन्न ही है, है ही नहीं, और दिखाई भी देता है, तब इसे आप शान्त, एकरूप ब्रह्म ही समझिए, जो अज्ञानदशामें असत्-सा है ॥ ५ ॥

तब उसीने यह जगत् उत्पन्न किया है, यह श्रुतियोंका कथन कैसे युक्तिपूर्ण हो सकेगा, इसपर कहते हैं—'चित्त्व०' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही चिदाकाशमें चिदाकाशरूप जगत् है। चूँकि उस चिदात्माके कारण यह अध्यस्त समस्त प्रपञ्च प्रकाशित होता है, इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है और इसका निर्माण भी जगदाकार उस ब्रह्मने ही किया है, यह श्रुतियोंमें प्रवाद है ॥ ६ ॥

इस प्रवादको 'अथ रथान् रथयोगान्' इत्यादि श्रुतिमें स्वप्नदृष्टामें रथादिसृष्टिकर्तृताके प्रवादके सदृश ही समझना चाहिए, यह कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें विमल चेतन ही जगत्‌के रूपमें उदित होता है, अथवा जैसे काचदोषसे दूषित नेत्रवाले पुरुषके प्रति आकाशमें केशोण्डूक आदि प्रतीत

चित्काचकस्य कचनं यथा स्वप्ने जगद्भवेत् ।
तथैव जाग्रदविधं तत्खमात्रमिदं स्थितम् ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिशब्द्यते ।
आद्यरात्रौ चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्द्यते ॥ ९ ॥
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रूढाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥ १० ॥
यथा वारितरङ्गश्रीः सरितां रचनामिता ।
तथा चिद्व्योम्नि चिद्बीजसत्तान्तः सृष्टितामिता ॥ ११ ॥

होते हैं, वैसे ही सृष्टिरूपसे भावित चिदाकाशमें इस तरहका विचित्र सादिरूप जगत् प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नमें जगत् चितिरूप काचका प्रकाश ही है, वैसे ही जाग्रदवस्थामें भी विचित्र जगत् भी चितिरूप काचका प्रकाश 'स्फुरण' ही है, इसलिए यह जगत् चिदाकाशमात्ररूप स्थित है ॥ ८ ॥

ऐसा माननेपर जाग्रत् और स्वप्नमें क्या भेद रहा—इसपर कहते हैं—'आदि०' इत्यादिसे ।

पहले-पहल प्रवृत्त हुए हिरण्यगर्भकी सृष्टिमें जो चितिका स्वप्न है वह जाग्रत्-शब्दसे कहा जाता है और प्रबल रात्रिमें प्रवृत्त स्वव्यष्टि-अन्तःकरणमात्रके परिणामरूप सृष्टिमें जो चितिका स्वप्न है वह स्वप्नशब्दसे कहा जाता है ॥ ९ ॥

प्रथम सङ्कल्प ही महाप्रलयतक समस्त पदार्थोंके स्वभावकी व्यवस्थापक नियति है । उसीके अनुसार आज भी सुव्यवस्थित पदार्थोंकी रचना एक तरहसे पहलेकी नाईं बह रही नदियोंकी तरङ्गरेखा है वही प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ॥१०॥

ऐसी स्थितिमें जैसे तरङ्गोंकी सत्ता जलसत्तासे भिन्न दूसरी नहीं है, वैसे ही जगत्की सत्ता भी चितिकी सत्तासे भिन्न दूसरी नहीं है, इस आशयसे ब्रह्मोपादानत्वका प्रवाद है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जलतरङ्गोंकी शोभा ही नदियोंकी रचनाको प्राप्त हुई है यानी नदियोंकी सत्ता जलतरङ्गशोभाकी सत्तासे पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाशके भीतर विद्यमान चितिरूप बीजसत्ता ही सृष्टिरूपताको प्राप्त हो गई है यानी सृष्टिकी सत्ता चितिसत्तासे अतिरिक्त नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ११ ॥

मृतस्यात्यन्तनाशश्चेत्तन्निद्रासु खमेव तत् ।
भूयश्चोदेति संसारस्तत्सुखं नवमेव तत् ॥ १२ ॥
कुकर्मभ्यस्तु चेद्भीतिः सा समेह परत्र च ।
तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥ १३ ॥
मरणं जीवितं वाऽस्तु सहजे वासने तयोः ।
इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥ १४ ॥
सर्वसंवित्तिविगमे संविद्रोहति यादृशी ।
भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५ ॥

इस तरह जगत्‌की अलग सत्ता न होनेके कारण जन्म-मरणकी भीति आ ही नहीं सकती, किन्तु दोनों प्रसङ्गोंमें सुख ही सुख है, ऐसा कहते हैं—'मृतस्या०' इत्यादिसे ।

यदि मृत व्यक्तिकी आत्यन्तिक असत्ता मान ली जाय, तो भी ब्रह्मानन्दकी सत्ताके ही व्यक्ति और व्यक्तिनाशकी सत्ताके रूपसे अवशिष्ट होनेसे सुषुप्ति अवस्थामें प्रसिद्ध निरतिशयानन्दरूप सुख ही उसे प्राप्त हुआ और मर जानेके बाद फिर जो देहादिरूप संसार प्राप्त होता है, वह उसका नवीन संसाररूप सुख भी ब्रह्म-सुखरूप ही है, इसलिए सुखसत्तासे अतिरिक्त किसी सत्ताके न रहनेसे भयकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

मर जानेवाले व्यक्तिको कुकर्मजनित नरकप्राप्तिकी संभावनासे भय क्यों नहीं होगा ? इस आशङ्काको उठाकर कहते हैं—'कुकर्मभ्यः' इत्यादिसे ।

कुकर्मोंके कारण नरक आदिका जो भय है, वह तो यहाँ जीनेवालेको और परलोकमें मरनेवालेको समान ही है, नरक आदि दुःख और जीवनकी ब्रह्मसुख सत्तासे अतिरिक्त भिन्न सत्ता न होनेके कारण दुःखकी स्थिति भी सुखसत्तासे है, इसलिए उनमें विशेष (भेद) नहीं है । अतः सभीके मरण और जन्म समान-सुखवाले हैं ॥ १३ ॥

भले ही मरण हो या भले ही जीवन हो—इन दोनोंकी जो वासनाएँ हैं यानी उनकी सूक्ष्मरूपसे विद्यमान जो सत्ता है, वह ब्रह्मसुखरूप ही है, अतः वे भी ब्रह्मसुखरूप ही हैं । इसलिए ब्रह्मसुखमें विश्रान्ति पानेवाला जो धीर वीर है, वह अन्दरसे शीतलात्मा है, यह कहा जाता है ॥ १४ ॥

जितने प्रकारके भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका अस्त हो जानेपर पुरुषको

अत्यन्ताभावसंवित्त्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
उदेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥ १६ ॥
यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चितेरप्यचेतितम् ।
तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः ॥ १७ ॥
चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते ।
अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ १८ ॥
चिन्नभःस्पन्दमात्रात्म सङ्कल्पात्मतया जगत् ।
सद्भूतमयमेवेदं न पृथ्व्यादिमयं क्वचित् ॥ १९ ॥
नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम् ।
सदिवाखिलमुच्छूनं वाऽप्यनुच्छूनमप्यसत् ॥ २० ॥

जो एकरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है, इससे दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ताका विनाश हो जाता है और पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह पुरुषको जब यह ज्ञान हो जाता है कि विषयोंकी सत्ता त्रिकालमें है ही नहीं, तब उसकी दृष्टिमें ब्रह्मरूपसे सृष्टिकी पारमार्थिक सत्ता और स्वतः असत्ता बन जाती है । उस समय सब दृश्यका ज्ञान निर्विषयक ही उदित होता है, इसलिए ऐसे पुरुषमें मुक्तरूपता भलीभाँति आ जाती है ॥ १६ ॥

जो स्वयं चेत्यरूप (विषयरूप) नहीं है, जो चितिक्रियारूप नहीं है, जो चितिक्रियासे प्रकाशित भी नहीं होता, ऐसे ब्रह्मरूपताके साथ एकरूप बन गये तत्त्वज्ञानी पुरुष परमशान्तिसे युक्त होकर व्यवहारमें विद्यमान रहते हैं ॥ १७ ॥

अतिस्वच्छ चिदाकाशमें जो चितिका निरन्तर प्रकाशन होता है, वही तो जगत्-शब्दसे कहा जाता है, इसलिए उसमें बन्धन और मुक्तिकी दृष्टियाँ ही कैसे ॥ १८ ॥

भद्र, सङ्कल्पके स्वरूपसे बना हुआ यह जगत् केवल चिदाकाशका स्पन्दन-स्वरूप ही है, अतः वह त्रिकालाबाधित ब्रह्ममय है, न कि कहीं पृथ्वी आदिमय है ॥ १९ ॥

यहाँ न देश है, न काल है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न आकाश है; किन्तु प्रतिभासरूपसे ही यह सब उत्पन्न है, इसलिए सत्-सा प्रतीत होता है । प्रतिभास-रूपसे उत्पन्न भी वास्तवमें यह अनुत्पन्न है, अतः असत्य ही है ॥ २० ॥

भाति केवलमेवेत्थं परमार्थघनं घनम् ।
यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥ २१ ॥

साकारमप्यनाकारमसदेवातिभास्वरम् ।
अतिशुद्धैकचिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥ २२ ॥

निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
श्छिद्व्योम्न आविलमनाविलरूपमेव ।
नानेव न क्वचिदपि प्रसृतं न नाना
शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥



इस प्रकार परमार्थघनरूप केवल ब्रह्म ही इस जगत्‌के रूपमें भासता है, ब्रह्म न शून्यरूप है और न अशून्यरूप है, वह आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ है ॥ २१ ॥

स्वप्ननगरके सदृश साकार होता हुआ भी ब्रह्मचैतन्य वास्तवमें निराकार है, निराकार होता हुआ ही अतिभास्वर यानी प्रकाशमय है और अतिस्वच्छ एकमात्र चितिस्वरूप होनेके कारण अतिविस्पष्ट है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, चिदाकाशके अन्दर जगदात्मक जो कलुषित स्वरूप है, वह कहे गये मार्गसे अकलुषित होकर व्यापक निर्वाणरूप ही बन जाता है। यह निर्वाणरूप आत्मतत्त्व कहींपर उपलब्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र उपलब्ध होता ही है। यह जगत् नाना (भिन्न) नहीं है, किन्तु आकाशमें शून्यरूपके सदृश तथा समुद्रमें द्रवत्वके सदृश अभिन्न है यानी ब्रह्मरूप ही है ॥२३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

षट्पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये।
साधु सम्भवति स्वच्छशून्यत्वं ख इवाखिले ॥ १ ॥
यत्र चित्तत्र सर्गश्रीरव्योम्नि व्योम्निवाऽस्ति चित्।
चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित् क्वचित् ॥ २ ॥
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ ३ ॥
पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम रसायनम्।
पूर्वं मयैव यद्दृष्टं चित्रं प्रकृतमेव च ॥ ४ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

[चिति ही सब कुछ है, और सर्वत्र ही सर्वात्मक चिति है, इस निश्चयको दृढ़ बनानेके लिए पाषाणाख्यायिकाका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चिन्मय आकाशमें सर्वत्र और सदा सब कुछ किसी प्रकारके सङ्कोचके बिना विद्यमान है ही, परन्तु वह है सर्वथा स्वच्छ। ब्रह्म जगत्के मलसे ऐसे दूषित नहीं होता, जैसे नीलरूपसे भासमान शून्यता अपने मलसे आकाशमें मलिनता पैदाकर उसे दूषित नहीं करती ॥ १ ॥

इस अर्थमें युक्ति दिखलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे।

भद्र, जहाँ चिति है, वहाँपर ही जगत्की शोभा है, चाहे पृथ्वी आदि पदार्थ हों, चाहे आकाश हो सर्वत्र चित् विद्यमान है, क्योंकि सभी पदार्थ तो चितिरूप हैं, अतः कहींपर चित् नहीं है, यह नहीं हो सकता ॥ २ ॥

सबकी चिन्मात्रता स्वप्नमें प्रसिद्ध है, इसलिए उसको दृष्टान्त बनाकर जाग्रत्में भी पदार्थोंकी चिन्मात्रता सिद्ध करते हैं—'पदार्थजातम्' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्नमें पर्वत आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, वैसे ही जाग्रत्में भी ये पृथ्वी आदि पदार्थ परम चिदात्मरूप ही हैं ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, इस विषयमें प्रथम मुझसे ही दृष्ट एक पाषाणाख्यायिका है, वह सब रसोंसे पूर्ण और भ्रान्तिरूप रोगकी तो बड़ी भारी ओषधि है, बड़ी ही विचित्र तथा प्रस्तुतोपयोगी है, उसे आप सुनिए ॥ ४ ॥

अहं विदितवेद्यत्वात्कदाचित्पूर्णमानसः ।
त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ॥ ५ ॥
ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
त्यक्ताजवं जवीभाव एकान्तार्थी शमं व्रजन् ॥ ६ ॥
इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिंश्चिदमरालये ।
संस्थितो विविधाः पश्यन् भङ्गुरा जागतीर्गतीः ॥ ७ ॥
विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित् क्वचित् ॥ ८ ॥
उद्वेगं जनयन्त्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
इमा दृश्यदृशो द्रष्टुरिष्टानिष्टफलप्रदाः ॥ ९ ॥
किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्ष्यते कोऽहमेव वा ।
सर्वं शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिङ्गकम् ॥ १० ॥

श्रीरामभद्र, किसी समयकी बात है—मैंने ज्ञानयोग्य वस्तुका ज्ञान कर लिया था और मेरा मन भी पूर्ण हो चुका था, अतः उस समय मैंने घने भ्रमसे भरे इस लोकव्यवहारको छोड़ देनेकी इच्छा की ॥ ५ ॥

तदनन्तर समाधिमें एकनिष्ठा प्राप्त कर धीरे-धीरे दीर्घकाल तक विश्रान्ति पानेके निमित्त मैंने सब प्रकारकी चञ्चलताका त्यागकर एकान्त स्थानकी अभिलाषा की और शान्तिकी ओर जाने लगा ॥ ६ ॥

शान्तिकी ओर गमन कर रहा किसी देवताके स्थानमें स्थित मैं जगत्‌की विलक्षण भङ्गुर गतियोंको देखते हुए यह सोचने लगा ॥ ७ ॥

यह जो लोकोंकी अवस्था है, वह वस्तुतः नीरस ही है, केवल ऊपर-ऊपरसे सुन्दर लगती है, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह किसीको, कहीं, किसी हेतुसे किसी समय भी सुखकारक नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

लोकस्थिति सुखद नहीं है, इतनी ही बात नहीं है, किन्तु असीम दुःखदायी भी है, यह कहते हैं—'उद्वेगम्' इत्यादिसे ।

तीव्र खलबली और खेद उत्पन्नकर ये इष्ट-अनिष्ट फल देनेवाली दृश्यदृष्टियाँ द्रष्टाके भीतर उद्वेग ही उत्पन्न करती हैं ॥ ९ ॥

यह क्या दिखाई देता है, कौन देखनेवाला है और मैं ही कौन हूँ अर्थात्

तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
सुप्रदेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां निर्विकल्पसमाधिगः ।
समे स्वच्छे पदे शान्ते आसे विगतवेदनम् ॥ १२ ॥
तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
यत्रैता नानुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥ १३ ॥
शब्दकाननवार्यब्दभूतौघाभिसमाकुलाः ।
क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गिरयोऽरयः ॥ १४ ॥
नानाविधा नगेन्द्राणामन्तरा वलिता जनैः ।
देशा विषमया एव निःशेषा विषयाहिभिः ॥ १५ ॥

ये सब तुच्छ हैं। कोई नहीं है, सब कुछ शान्त, अज चिदाकाशरूप ही है, केवल चिदाकाशमें थोड़ा-सा रेंगनेवाला विवर्त बन गया है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजी, यह सब विचारकर अन्तमें उसीके कारण समस्त सिद्ध, इन्द्र, देव, दैत्य आदि द्वारा दुर्गम एक अच्छे प्रदेशमें जाकर अपनी देहको अपने आप ही अन्तर्धानके उपायोंसे छिपाकर (सुरक्षित बनाकर) मैं सब प्राणियोंकी आँखोंसे ओझल हो जाऊँ और निर्विकल्पक समाधि लगाकर एकरूप अद्वितीय स्वच्छ शान्त पदमें सब विकल्पोंसे निर्मुक्त हो स्थित हो जाऊँ ॥ ११, १२ ॥

मुझे जहाँ समाधि लगानी है; वह उत्तम प्रदेश कौन हो सकता है, क्योंकि वह प्रदेश अत्यन्त शून्यरूप और समाधिके लिए उपयोगी होना ही चाहिए। उस प्रदेशमें बाह्य अर्थोंके विज्ञान, जो पाँच इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण पाँच प्रकारके हैं, रहने भी नहीं चाहिएँ ॥ १३ ॥

पर्वत, शिखर आदि अनेक एकान्त प्रदेश समाधिके लिए हैं ही, फिर उनमें ही वास क्यों न किया जाय, इसपर कहते हैं—'शब्द०' इत्यादिसे।

विक्षेप पैदा करनेवाले शब्दोंसे आक्रान्त अरण्य, जल, मेघ एवं सिंह आदि प्राणियोंसे चारों ओर व्याकुल पर्वतोंको मैं अपना शत्रु ही समझता हूँ, क्योंकि वे उनसे स्वयं ही क्षुब्ध होकर दूसरोंको क्षुब्ध कर देते हैं, अतः वे प्रतिकूल हैं ॥ १४ ॥

बड़े-बड़े पर्वतोंके अनेक तरहके बीचवाले प्रदेश तो भील आदि जनोंसे

जनैर्जलचरैर्व्याप्ताः सागरा नीरकुक्षयः ।
विविधारम्भसंक्षुब्धैर्नगराणीव नागरैः ॥ १६ ॥
तटान्यद्र्यम्बुराशीनां लोकपालपुराणि च ।
भूताकुलानि शृङ्गाणि पातालकुहराणि च ॥ १७ ॥
गायन्त्यनिलभाङ्कारैर्नृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
पुष्पैर्हसन्त्यगेन्द्राणां गुहा गहनकोटराः ॥ १८ ॥
मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पिनालचलाम्बुजाः ।
सरस्यो विरसा एव वार्यावर्तविराविताः ॥ १९ ॥

वेष्टित हैं और वे सब विषयरूप सर्पोंसे दूषित होनेके कारण विषमय ही हैं ॥ १५ ॥

अनेक तरहके बड़े-बड़े समारोहोंसे क्षुब्ध नागरिक जनोंसे युक्त नगर जैसे समाधिके प्रतिकूल हैं, वैसे ही विविध समारम्भोंसे पूर्ण (व्याप्त) जलचरोंसे जलाधार सागर भी समाधिके प्रतिकूल हैं ॥ १६ ॥

पर्वततट, जलतट, लोकपालोंके नगर, शिखर, पातालोंके कुहर आदि सब अनेकविध प्राणियोंसे व्याकुल ही हैं ॥ १७ ॥

पर्वतोंकी गुफाओंका तब सेवन करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'गायन्ति' इत्यादिसे ।

बड़े-बड़े पर्वतोंकी गहनछिद्रवाली गुफाएँ तो वायुओंके भाङ्कारशब्दोंसे गान करती हैं, लतिकारूपी हाथोंसे नृत्य करती हैं और वनवृक्षोंके फूलोंसे हँसती हैं, अतः वे भी विक्षेपकारक ही हैं ॥ १८ ॥

तब बड़े-बड़े सरोवर ही, जिनको दक्षिणपथमें सरसी कहते हैं, अपने तटपर समाधिके कारण होंगे ? इसपर कहते हैं—'मौनि०' इत्यादिसे ।

दर्प और भयसे व्याकुल मौनी मीन एवं मुनियोंके स्पर्शसे यानी क्रीड़ा, स्नान आदिके अभिघातसे कम्पनशील नालदण्डोंके कारण चञ्चल हुए कमलोंसे युक्त सरोवर तो जलावर्तोंके द्वारा शब्द (कल्लोल) करते रहते हैं, अतः वे समाधिके भङ्गमें ही कारण हो जाते हैं, इसलिए मैं उन्हें भी नीरस ही समझता हूँ ॥ १९ ॥

पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
रटत्यनिलभाङ्कारैर्निर्झरोर्व्यप्यसंयता ॥ २० ॥
तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।
अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनन्दिताम् ॥ २१ ॥
कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
वज्रोदरदृढं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२ ॥
इति सञ्चिन्त्य यातोऽहमाकाशमसिनिर्मलम् ।
यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३ ॥
क्वचित् भ्रमत्सिद्धगणं क्वचिदुद्गर्जदम्बुदम् ।
क्वचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥ २४ ॥

तब झरनेकी भूमि आपकी समाधिमें उपयोगी होगी, इसपर कहते हैं—'पवन०' इत्यादिसे ।

भद्र, जिसमें वायुके स्पर्शसे क्षुब्ध हुए तृण और धूलिरूपी पताकाएँ विद्यमान हैं, ऐसा झरनेका प्रदेश भी विक्षेपका निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रदेश वायुके भाङ्कारशब्दोंसे निरन्तर 'झाँय्-झाँय्' शब्दका रटन करता रहता है ॥ २० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि आकाश ही सब विक्षेपोंके उत्पादक हेतुओंसे रहित है, इसलिए वही शरण है, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओरसे विक्षेपकारणोंसे रहित आकाश ही मेरी समाधिके लिए परम उपयोगी है, इस आकाशके किसी दूरवर्ती कोनेमें परम विशुद्ध आनन्दित योगयुक्तिका अवलम्बन कर मैं यहाँ स्थित रहूँ ॥ २१ ॥

इसके किसी एक कोनेमें कल्पनासे एक कुटियाका निर्माणकर उसके भीतर वासनारहित तथा वज्रके उदरके सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥ २२ ॥

उस प्रकार विचारकर तलवारकी धारके समान निर्मल आकाशकी ओर मैं जब बढ़ा, तब क्या देखता हूँ कि यह भी पूर्णरूपसे हजारों विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त पेटवाला ही है ॥ २३ ॥

कहीं तो सिद्धोंका गण घूम रहा है, कहींपर तो बड़ी-बड़ी भयङ्कर

क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
क्वचिद्द्रवज्जलधरं क्वचिदुद्वृत्तयोगिनि ॥ २५ ॥
क्वचिद्दैत्यपुरोड्डीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
क्वचिद्भ्रमद्ग्रहगणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥ २६ ॥
क्वचित्खे खगसंघृष्टं क्वचित् क्रुद्धमहानिलम् ।
क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७ ॥
क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
क्वचिदर्करथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्धुरम् ॥ २८ ॥
क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
क्वचित्क्षुद्रजनासह्यं क्वचिदग्न्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९ ॥

गर्जनाओंसे युक्त मेघमण्डल है, कहीं पर तो विद्याधारोंकी बैठक जमी है, कहीं-पर यक्षोंके द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥ २४ ॥

कहींपर सुन्दर नगरोंके नगर ही घूम रहे हैं, कहींपर युद्धका ही आरम्भ हो गया है, कहींपर मेघ ही बरस रहे हैं, कहींपर तो रौद्ररूप धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

कहीं-कहींपर आसन्न दैत्यनगरोंके कारण गन्धर्वयुक्त देवनगर उड़ रहे हैं, कहींपर ग्रहमण्डल घूम रहा है, कहींपर तो वह तारोंसे व्याकुल हो रहा है ॥ २६ ॥

कहींपर तो आकाशमें पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहींपर क्रुद्ध भयङ्कर झंझावात है, कहींपर उत्पातयुक्त स्थान है, कहींपर मेघादिमण्डलोंसे व्याप्त है ॥ २७ ॥

कहींपर अपूर्व चित्रविचित्र भूतोंका समूह (पिशाचसंघ) पड़ा है, कहींपर नगरोंके समूहके समूह पड़े हैं, कहींपर सूर्यके रथोंसे आक्रान्त है, कहींपर तो चन्द्र आदिके रथोंके कारण आक्रान्त बना है ॥ २८ ॥

कहींपर तो सूर्यकी सन्निधिके कारण दाहसे प्राणी मर रहे हैं, कहींपर तो शिशिर ऋतुकी शीतताके कारण लोग आक्रान्त हैं, कहींपर भूत-प्रेत आदिके कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहींपर अग्निकी उष्णतासे दुर्गम है ॥ २९ ॥

पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
रटत्यनिलभाङ्कारैर्निर्झरोर्व्यप्यसंयता ॥ २० ॥
तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।
अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनिन्दिताम् ॥ २१ ॥
कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
वज्रोदरदृढं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२ ॥
इति सञ्चिन्त्य यातोऽहमाकाशमसिनिर्मलम् ।
यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३ ॥
क्वचित् भ्रमत्सिद्धगणं क्वचिदुद्गर्जदम्बुदम् ।
क्वचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥ २४ ॥

तब झरनेकी भूमि आपकी समाधिमें उपयोगी होगी, इसपर कहते हैं—'पवन०' इत्यादिसे।

भद्र, जिसमें वायुके स्पर्शसे क्षुब्ध हुए तृण और धूलिरूपी पताकाएँ विद्यमान हैं, ऐसा झरनेका प्रदेश भी विक्षेपका निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रदेश वायुके भाङ्कारशब्दोंसे निरन्तर 'झाँय्-झाँय्' शब्दका रटन करता रहता है ॥ २० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि आकाश ही सब विक्षेपोंके उत्पादक हेतुओंसे रहित है, इसलिए वही शरण है, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओरसे विक्षेपकारणोंसे रहित आकाश ही मेरी समाधिके लिए परम उपयोगी है, इस आकाशके किसी दूरवर्ती कोनेमें परम विशुद्ध आनन्दित योगयुक्तिका अवलम्बन कर मैं यहाँ स्थित रहूँ ॥ २१ ॥

इसके किसी एक कोनेमें कल्पनासे एक कुटियाका निर्माणकर उसके भीतर वासनारहित तथा वज्रके उदरके सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥ २२ ॥

उस प्रकार विचारकर तलवारकी धारके समान निर्मल आकाशकी ओर मैं जब बढ़ा, तब क्या देखता हूँ कि यह भी पूर्णरूपसे हजारों विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त पेटवाला ही है ॥ २३ ॥

कहीं तो सिद्धोंका गण घूम रहा है, कहींपर तो बड़ी-बड़ी भयङ्कर

क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
क्वचिद्द्रवज्जलधरं क्वचिदुद्वृत्तयोगिनि ॥ २५ ॥
क्वचिद्दैत्यपुरोड्डीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
क्वचिद्भ्रमद्ग्रहगणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥ २६ ॥
क्वचित्खे खगसंघृष्टं क्वचित् क्रुद्धमहानिलम् ।
क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७ ॥
क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
क्वचिदर्करथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्धुरम् ॥ २८ ॥
क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
क्वचित्क्षुद्रजनासह्यं क्वचिदग्न्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९ ॥

गर्जनाओंसे युक्त मेघमण्डल है, कहीं पर तो विद्याधारोंकी बैठक जमी है, कहीं-पर यक्षोंके द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥ २४ ॥

कहींपर सुन्दर नगरोंके नगर ही घूम रहे हैं, कहींपर युद्धका ही आरम्भ हो गया है, कहींपर मेघ ही बरस रहे हैं, कहींपर तो रौद्ररूप धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

कहीं-कहींपर आसन्न दैत्यनगरोंके कारण गन्धर्वयुक्त देवनगर उड़ रहे हैं, कहींपर ग्रहमण्डल घूम रहा है, कहींपर तो वह तारोंसे व्याकुल हो रहा है ॥ २६ ॥

कहींपर तो आकाशमें पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहींपर क्रुद्ध भयङ्कर झंझावात है, कहींपर उत्पातयुक्त स्थान है, कहींपर मेघादिमण्डलोंसे व्याप्त है ॥ २७ ॥

कहींपर अपूर्व चित्रविचित्र भूतोंका समूह (पिशाचसंघ) पड़ा है, कहींपर नगरोंके समूहके समूह पड़े हैं, कहींपर सूर्यके रथोंसे आक्रान्त है, कहींपर तो चन्द्र आदिके रथोंके कारण आक्रान्त बना है ॥ २८ ॥

कहींपर तो सूर्यकी सन्निधिके कारण दाहसे प्राणी मर रहे हैं, कहींपर तो शिशिर ऋतुकी शीतताके कारण लोग आक्रान्त हैं, कहींपर भूत-प्रेत आदिके कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहींपर अग्निकी उष्णतासे दुर्गम है ॥ २९ ॥

क्वचिदुत्तालवेतालं गरुडोड्डामरं क्वचित् ।
क्वचित्सप्रलयाम्भोदं क्वचित्सप्रलयानिलम् ॥ ३० ॥
ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूराद्दूरतरं गतः ।
प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तं विस्तृतम् ॥ ३१ ॥
अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥ ३२ ॥
कल्पिताऽथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
नीरन्ध्रकुड्यनिबिडा पद्मकुड्मलसुन्दरी ॥ ३३ ॥
घुणक्षुण्णाङ्गपूर्णेन्दुबिम्बोदरमनोहरा ।
कह्लारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥ ३४ ॥
समस्तभूतागम्यत्वं तत्र सङ्कल्प्य चेतसा ।
अगम्ये सर्वभूतानामहमासं तदा ततः ॥ ३५ ॥
बद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
संवत्सरशतान्तेन निर्णीयोत्थानमात्मनः ॥ ३६ ॥

कहींपर भयङ्कर लम्बे लम्बे वेताल हैं, कहींपर गरुडोंसे भयङ्कर है, कहींपर प्रलय लिये मेघ बरस रहे हैं, कहींपर प्रलय लिये पवन बह रहे हैं ॥ ३० ॥

भद्र, यह सब तमाशा देखकर उन भूतगणोंको छोड़कर मैं दूरातिदूर एकान्त स्थानमें पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत तथा शून्य था ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, उस प्रदेशमें अत्यन्त मन्द पवन बह रहा था, स्वप्नमें भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, शुभचिह्न और अशुभ चिह्नोंसे रहित तथा संसारियोंको वह अगम्य था, यह जान लीजिये ॥ ३२ ॥

राघव, उस शून्य प्रदेशमें मैंने अपने सत्य सङ्कल्पसे एक कुटीका निर्माण किया, उसकी कोठरियाँ बड़ी ही स्वच्छ बनी थीं, छिद्ररहित भीतोंके कारण निविड़ तथा कमलकी कलीके सदृश वह सुन्दर लगती थी ॥ ३३ ॥

वह मनोहर तो ऐसी लगती थी मानो पूर्णचन्द्रबिम्बमें घुनने छेद बना दिया हो, उसे कह्लार, कुन्द और मन्दारके फूलोंकी शोभाओंसे सजाया ॥ ३४ ॥

पहले तो मैंने अपने अन्तःकरणसे उसकी समस्त भूतों द्वारा अगम्यता बना ली, फिर सब भूतोंकी अगम्य उस कुटियामें मैं प्रविष्ट हो गया ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वहाँ मैंने पद्मासन बाँध लिया, मनको शान्त कर लिया और

निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
समः सौम्यनभः स्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥ ३७ ॥
चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
चिरेण चाशापवनव्यक्तिवद्धिततं यदा ॥ ३८ ॥
तदा वर्षशतेनात्र बोधबीजं वृतान्तरम् ।
आसीन्मे हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥ ३९ ॥
संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः सम्बुद्धवेदनः ।
शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाविव रसस्तरोः ॥ ४० ॥
तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
बह्वयोऽपि कालगतयो भवन्त्येकधियो मनाक् ॥ ४१ ॥
विकासमागतो बाह्यं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥ ४२ ॥

उत्तम मौनव्रत धारण किया । फिर यह निश्चय किया कि मैं एक सौ वर्षोंके बाद अपनी समाधिसे उठूंगा । यह निश्चय कर निद्राकी मुद्राके सदृश निर्विकल्पक समाधिमें स्थित हो गया, उस समय मेरी वृत्ति एक थी, निर्मल आकाशके सदृश मैं अपने स्वरूपमें था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं आकाशसे ही चित्रित हो गया हूँ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

सौ वर्षोंके बाद समाधिसे व्युत्थानका कारण बतलाते हैं—'चिरम्' इत्यादिसे।

भद्र, दीर्घकाल तक मन जिसका स्मरण करता है, उसको वह तत्काल ही देखता है, इस अकाट्य नियमके अनुसार सौ वर्षके दीर्घकालके बाद जब चित आशा (दिशा) और पवन व्यक्तिके सदृश विशाल हुआ, तब समाधि टूटनेमें कारणभूत कर्म हृदयमें एक समय पैदा हो गया, उस बीजरूप कर्मका भीतरी भाग ढका हुआ था । अनन्तर ज्ञातव्य वस्तु जानकर मेरा जीव समाधिसे ऐसे प्रबुद्ध हो गया, जैसे शिशिरमें क्षीणशरीर हुए वृक्षका रस चैत्र मासमें (वसन्तमें) प्रबुद्ध हो जाता है ॥ ३८–४० ॥

वहाँपर वे मेरे सौ वर्ष एक निमेषमात्रके सदृश व्यतीत हो गये, क्योंकि एकाग्रचित्तवाले पुरुषके लिए बहुत भी कालकी गतियाँ अत्यन्त स्वल्प हो जाती हैं ॥ ४१ ॥

उसके बाद क्या हुआ, इसे बतलाते हैं—'विकास०' इत्यादिसे ।

मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
इच्छाङ्गनाविवलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
प्रोन्नामसन्नमनवायुरिवोग्रवृक्षम् ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने आकाशमन्दिरे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

त्वामप्युदितनिर्वाणमहङ्कारपिशाचकः ।
बाधते किमिति ब्रूहि मुने सन्देहशान्तये ॥ १ ॥

जैसे वृक्षोंके मदका यानी पल्लव आदिकी पुष्टिके हेतुभूत हर्षका कारणभूत भीतरी वसन्तकालका रस पुष्परूपसे बाहर आता है, वैसे ही धीरे धीरे विकास प्राप्त कर बुद्धि-इन्द्रियोंकी परम्परा बाहरकी ओर प्रवृत्त हो गई ॥ ४२ ॥

उसके बाद क्या हुआ, यह कहते हैं—'माम्' इत्यादिसे ।

तदनन्तर पाँच वृत्तिवाले प्राणवायुसे तथा इन्द्रियोंसे पूर्ण अतएव आविर्भूत जीवरूप चिति-अंशसे युक्त देहवाले अभ्यागत मुझको देखकर 'त्वम्' 'अहम्' रूपसे प्रसिद्ध अहङ्काररूप पिशाच, इच्छारूप अपनी पत्नी पिशाचीके साथ, किसी भी अतर्कित प्रदेशसे मेरी सन्निधिमें ऐसे शीघ्र आ धमका, जैसे उग्र शाल्मली आदि वृक्षोंकी सन्निधिमें ऊँचे वृक्षोंको नमन करानेवाला प्रचण्ड पवन आ धमकता है ॥ ४३ ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

[ज्ञानी और अज्ञानीके अहङ्कारके विशेष ज्ञानके लिए ज्ञानसे बाधित हुए दृश्यप्रपञ्चकी चिन्मात्रताका समर्थन]

'मां·······अहमिति प्रसृतः पिशाचः' इस कथन तथा 'प्रोन्नामसन्नमन-

वसिष्ठ उवाच

अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञाज्ञयोरिह ।
आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥ २ ॥
अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ॥ ३ ॥
अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनाऽमुना ।
अविद्यमान एवान्तःकल्पितस्तेन संस्थितः ॥ ४ ॥

वायुरिवोग्रवृक्षम्' इस दृष्टान्तोक्तिसे महाराज वसिष्ठको भी अहङ्काररूपी पिशाच द्वारा बाधा पहुँचायी गई, ऐसा ज्ञात हो जानेसे ज्ञानफलकी अनित्यताकी संभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'त्वाम०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, निर्वाण प्राप्त किये हुए आपको भी क्या अहङ्काररूपी पिशाच बाधा पहुँचाता है, मेरे सन्देहकी निवृत्तिके लिए यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

एकमात्र प्रारब्धशेषका भोग ही प्रयोजन होनेसे जले हुए वस्त्र-जैसे देह-धारणके निमित्त केवल अहङ्काराभासकी प्रतीति होनेसे अज्ञानियोंकी तरह ज्ञानियोंको संसारबन्धनकी प्राप्ति नहीं होती, यह दिखलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी अज्ञानीके अहङ्कारकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानीके अहङ्कारमें निर्दोषता बतलाते हुए उत्तर देते हैं—'अहंभाव०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस संसारमें अहंभावके बिना तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी देह-स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि हे श्रीरामचन्द्रजी, आधेय पदार्थकी निराधार स्थिति कभी नहीं उपपन्न हो सकती ॥ २ ॥

किन्तु इसमें शान्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुषके लिए जो यह विशेष बात है, उसे आप सुनिये, जिसके सुननेसे आपका अहंभावरूपी पिशाच शान्त हो जायगा ॥ ३ ॥

इस अज्ञानरूपी बालकने अपने अन्तःकरणमें अविद्यमान ही अहंभावरूपी पिशाचकी कल्पना कर रक्खी है, अतः इसीसे यानी एकमात्र अज्ञानके वशसे ही यह स्थित है ॥ ४ ॥

अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥ ५ ॥

यथायथा विलोक्यते तथातथा विलीयते ।
इहाज्ञता पिशाचिका तथा विचारिता सती ॥ ६ ॥

किल सत्यामविद्यायामज्ञतोदेति शाश्वती ।
बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥ ७ ॥

सति सर्गे त्वविद्यायाः सम्भवो नान्यतः क्वचित् ।
सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ॥ ८ ॥

सर्गस्त्वयमजातत्वादज्ञज्ञातो न विद्यते ।
न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खवृक्षवत् ॥ ९ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'अज्ञानमपि' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी यदि विचारकर देखे तो अज्ञान भी उसे बिलकुल ऐसे नहीं उपलब्ध होता, जैसे दीपधारी पुरुषको अन्धकारका स्वरूप ॥ ५ ॥

तथा विद्वानोंको ज्यों-ज्यों अपना अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों क्रमशः अज्ञानका नाश भी होता जाता है, यह कहते हैं—'यथायथा' इत्यादिसे ।

जैसे-जैसे यह अज्ञतारूपी पिशाचिका अनुभवमें आरूढ़ होती जाती है, वैसे-वैसे विचारित होकर नष्ट होती जाती है ॥ ६ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अविद्या रहनेपर ऐसे बारबार अज्ञता उदित होती है, जैसे रातमें बुद्धिविभ्रमस्वरूप देहशून्य यक्षी ॥ ७ ॥

अविद्याकी सृष्टि रहनेपर ही उसका अस्तित्व भी है, अन्य किसी दूसरे कारणसे कहीं नहीं है । द्वितीय चन्द्रमाके रहनेपर ही द्वितीय खरगोश दीख पड़ता है ॥ ८ ॥

ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे ।

अज्ञानी द्वारा ज्ञात यह संसार उत्पन्न न होनेसे नहीं है, क्योंकि आकाश-वृक्षके समान कारण न रहनेसे यह पहलेसे ही उत्पन्न नहीं हुआ है ॥ ९ ॥

परमाकाशकोशान्तरादिसर्गे निरामये ।
पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत् किमिव कारणम् ॥ १० ॥
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः ।
साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ॥ ११ ॥
बीजात्कारणतः कार्यमङ्कुरः किल जायते ।
न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादङ्कुरः कुतः ॥ १२ ॥
कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते ।
कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटो द्रुमः ॥ १३ ॥
सङ्कल्पेनाम्बरे यद्वद्दृश्यते विटपादिकम् ।
स सङ्कल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ॥ १४ ॥
एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ॥ १५ ॥

कारणके अभावका उपपादन करते हैं—'परमाकाश०' इत्यादिसे ।

जब चिदाकाशकोशके भीतर स्थित आदि सृष्टि ही निर्विकार ब्रह्मरूप है तब पृथिवी आदिकी प्राप्तिका कौन-सा कारण हो सकता है ? ॥ १० ॥

मनको लेकर छः इन्द्रियोंसे ज्ञात न होनेवाला निराकार ब्रह्म मनयुक्त छः इन्द्रियोंसे ज्ञात होनेवाले साकार जगत्का कारण कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

बीजरूप कारणसे अङ्कुररूप कार्य उत्पन्न होता है, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है । फिर जहाँपर बीजरूप कारण है ही नहीं, वहाँपर अङ्कुर कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ १२ ॥

कारणके बिना कार्य नहीं होता, यह तो सभीको विदित है । आकाशमें लहलहा रहे प्रत्यक्ष वृक्षका किसने कब अवलोकन या ग्रहण किया है ? ॥ १३ ॥

यदि वह सृष्टि उत्पन्न ही नहीं है, तो फिर कौन उस रूपसे भासता है, उसको दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं—'सङ्कल्पेन' इत्यादिसे ।

जैसे सङ्कल्प द्वारा आकाशमें वृक्ष आदि दिखाई देते हैं, वैसे ही सङ्कल्पमय यह संसार भी है । इसमें वस्तुतः पदार्थता नहीं है ॥ १४ ॥

एवं सृष्टिके आरम्भकालमें जो यह अर्गलाशून्य सृष्टिकी स्थिति चिदाकाशमें अनुभूत होती है, वह भी आकाशमें शून्यरूप वृक्षादिके सदृश ही है ॥ १५ ॥

सम एव चिदाकाशः कचत्यात्मनि तत्तथा ।
स्वभाव एव सर्गाख्यश्चित्त्वाच्चैतन्यमीश्वरः ॥ १६ ॥
स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ॥ १७ ॥
चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
असर्गे सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ॥ १८ ॥
अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भात्यजमव्ययम् ।
सर्गादौ यदनाद्यन्तं स्थितः सर्गः स एव नः ॥ १९ ॥
नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथ्व्यादिगणगोलकः ।
सर्वं शान्तमनालम्बं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २० ॥

तब क्या एकमात्र शून्य ही सृष्टिरूपसे भासित होता है, इसपर 'नहीं' यह उत्तर देते हैं—'सम एव' इत्यादिसे ।

विषयसृष्टिके आकारसे रहित चिदाकाश ईश्वर ही अपने स्वभावमें सृष्टि-रूपसे स्फुरित होता है । सर्गनामक चितिस्वभाव ही चिद्रूप होनेके कारण ईश्वर चैतन्य है, इसलिए चिति ही सृष्टिरूपसे भासित होती है, न कि शून्य ॥ १६ ॥

अविकृत ब्रह्म ही विकृत जगद्रूपसे जो स्फुरित होता है उसमें, स्वप्नका स्वात्मा ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

प्रतिदिन जो अनुभूत होता है वह स्वप्न-सर्ग ही इस विषयमें दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्नके विषयोंमें स्वयं आत्मा ही पर्वत, नगर आदिकी आकृतियोंमें स्फुरित होता है ॥ १७ ॥

जैसे यहाँ स्वप्नमें जो सृष्टि-सा प्रतीत होता है वह चित्स्वभाव सृष्टिरहित स्वात्मामें ही विद्यमान है वैसे ही यहाँ ज्ञानसे पूर्व सर्ग-सा जो प्रतीत होता है वह सर्गशून्य चित्स्वभाव महाचिदाकाशमें ही प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें विषयज्ञानशून्य, शुद्ध, एक, अज, अव्यय आदि और अन्तसे शून्य जो परमात्मा स्थित है वही हमारा सर्गरूपसे स्थित है ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, परब्रह्म परमात्मामें यह सृष्टि नहीं है और न ये पृथिवी आदि लोक ही हैं । सब शान्त, अवलम्बनशून्य एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है ॥ २० ॥

सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा कचति यादृशम् ।
रूपमत्यजदेवाच्छं तथा भवति तादृशम् ॥ २१ ॥
यथा स्वप्नपुरं जन्तोश्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥ २२ ॥
स्वच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो य आस्थितः ।
स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥ २३ ॥
भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
सर्वं चिन्नभ एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥ २४ ॥
एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क्व चाज्ञता ।
ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं क्वाहङ्कारादयः स्थिताः ॥ २५ ॥
अहंभावस्य संशान्तिरेषाऽसौ कथिता तव ।
अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥ २६ ॥

सर्वशक्तिसम्पन्न वह ब्रह्म जैसे जिस तरहका स्फुरित होता है, वह अपने स्वच्छरूपका परित्याग न करते हुए वैसे उस तरहका हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसे स्वप्नका नगर प्राणीके लिए चिन्मात्रका केवल विलास है, वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें यह सृष्टि भी शुद्ध चिन्मात्रका विलास ही है ॥ २२ ॥

स्वच्छ चिद्रूप परमाकाशमें जो चिदाकाश स्थित है उसीने अपने स्वभावकी सृष्टिरूपमें भावना की है वही यह सृष्टि है अर्थात् चिद्रूप जो ब्रह्म है उसका स्वभाव ही यह सृष्टि है ॥ २३ ॥

भाव्य, भावक आदि त्रिपुटीभूमियोंकी एक रसमें उत्पत्ति कैसे, इसपर कहते हैं—'भाव्य०' इत्यादिसे ।

भाव्य, भावक और भाव आदि भूमियोंकी जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही अपनी आत्मामें स्थित है ॥ २४ ॥

ऐसा स्थित होनेपर कहाँसे सृष्टि, कहाँसे अविद्या, कहाँ अज्ञता और कहाँ अहङ्कार आदि स्थित हैं सब शान्त चिद्घन ब्रह्म ही स्थित है ॥ २५ ॥

अज्ञान रहनेपर ही अहंभाव बाधा पहुँचाता है, ज्ञान होनेपर नहीं, यह कहते हैं—'अहंभावस्य' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने आपसे यह अहङ्कारकी शान्ति कही ।

मया त्वेवमहंभावः परिज्ञातो यदाऽखिलः ।
तदा मे विद्यमानोऽपि निष्फलः शरदभ्रवत् ॥ २७ ॥
चित्राग्निदाहो विज्ञातो यथा दाह्येषु निष्फलः ।
तथाऽहंभावसर्गादि ज्ञातं निष्फलतामियात् ॥ २८ ॥
इति मेऽहंकृतेस्त्यागे रागे च समता यदा ।
तदा व्योम्न इवाव्योम्नः सर्गेऽसर्गे च मे स्थितिः ॥ २९ ॥
अहंभावस्य नैवाहं नाहंभावो ममेति च ।
तेन विद्धि चिदाकाशमेवेदमिति निर्घनम् ॥ ३० ॥
यथा मम तथान्येषामपि बोधवतामिह ।
अग्नित्वमिव चित्राग्नेर्नास्त्ययं बोधविभ्रमः ॥ ३१ ॥

यह अहङ्कार भलीभाँति ज्ञात होनेसे बालकल्पित पिशाचकी तरह शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इससे आपके प्रश्नका समाधान हो गया, यह दिखलाते हैं—'मया त्वेवम०' इत्यादिसे ।

इस तरह जब इस अहङ्कारको मैं पूर्णतया जानता हूँ, तब हे श्रीरामचन्द्रजी, यह रहनेपर भी मेरे लिए शरत्कालके मेघके सदृश निष्फल ही रहता है ॥ २७ ॥

चित्रलिखित अग्निमें अध्यस्त दहनक्रिया जैसे दाह्य वस्तुओंमें निष्फल होती है, वैसे ही अहंभावकी सृष्टि आदि भी पूर्णरूपसे ज्ञात होनेपर निष्फलताको प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार समाधिकालमें अहंकारके त्याग तथा व्यवहारकालमें उसके रागमें जब मेरी समता है तब सृष्टिकी विद्यमान तथा अविद्यमान दशामें मेरी स्थिति ऐसी है, जैसी मेघ, वायु तथा आतप आदिसे अवकाशशून्य आकाशकी ॥२९॥

एकमात्र सम्बन्धत्यागसे भी यह अहम्भाव पीड़ा नहीं पहुँचाता, फिर ज्ञानसे बाधित हो जानेपर तो पूछना ही क्या, इस आशयसे कहते हैं—'अहंभावस्य' इत्यादि ।

न तो कोई मैं अहङ्कारका हूँ और न यह अहङ्कार ही मेरा कुछ लगता है—यों जानकर हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सम्पूर्ण संसारको आप निर्घन चिदाकाश ही जानिये ॥ ३० ॥

यह अहंभावादि बोधविभ्रम जिस तरह मेरी दृष्टिमें नहीं है, वैसे ही तत्त्व-

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति सर्वं नास्तीति निश्चये ।
प्रकृतव्यवहारस्त्वं शिलामौनमयो भव ॥ ३२ ॥

आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्देशवच्चिरमपह्नुतसर्वभावः ।
अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्थम् ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विदितवेद्याहङ्कारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

ज्ञानी और महानुभावोंकी दृष्टिमें भी यही नहीं है, जैसे कि चित्रगत अग्निमें दाहक्रिया किसी भी विद्वान् पुरुषकी दृष्टिमें नहीं है ॥ ३१ ॥

आप भी मेरे समान ही भीतरसे सबका बाध करके अद्वितीय बन जाइये, यह कहते हैं—'नाहम०' इत्यादिसे ।

वास्तवमें तो न मैं हूँ, न कोई अन्य है और न यह सब दृश्य प्रपञ्च ही है, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी प्रकृत व्यवहारका सम्पादन करते हुए पत्थरके समान मौनमय हो जाइये ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकालके लिए सम्पूर्णभावोंका अपह्नव करके अवकाशरहित पत्थरके सदृश बनकर आकाशकोशकी तरह निर्मल-आकारसे ही आप अपने स्वरूपमें स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह निश्चित है कि इस सृष्टिकालमें तथा इस सृष्टिके पूर्वकालमें सब कुछ चिन्मय शिव ही स्थित है । इस प्रकारसे जो दृश्यप्रपञ्च दिखाई दे रहा है वह सब कुछ नहीं है ॥ ३३ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अष्टपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

अहो न विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन् भूत्यै भूयो दृष्टिरुदाहृता ॥ १ ॥
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ॥ २ ॥
अयमस्ति मम ब्रह्मन् संशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ॥ ३ ॥

अठावनवाँ सर्ग

[सम्पूर्ण सृष्टिकी शोभा सभी जगह है और नहीं भी है, इस प्रकारका जो पाषाणाख्यायिकाका अर्थ है, उसका दृष्टिभेदसे वर्णन]

प्रासङ्गिक जो जीवन्मुक्त पुरुषके अहङ्कारकी अबाधकता थी, उसका समर्थन किया गया, अब प्रकृत 'सर्वत्र सर्वथा सर्वम्' (सब जगह सब प्रकारसे सब कुछ है) इस अर्थकी पाषाणाख्यायिका द्वारा जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूछनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अहो, आपने मेरे उत्कर्षके लिए फिर एक दृष्टिका (विज्ञानका) उपदेश दिया, यह विज्ञान व्यापक और महान् उदार है, विमल है, विपुल और अचल है ॥ १ ॥

भगवन्, सब कुछ सब जगह सभी प्रकारसे सत् है और सब कुछ सब जगह सदा ही सत् है—यह जो विषय प्रस्तुत हुआ था उसका अच्छे अनुभवसे यदि विचार किया जाय, तो सम, अविषम एवं एकरस ही पर्यवसित (सिद्ध) होता है, अतः सत्यस्वरूप ही है, क्योंकि जितने धर्म या धर्मी हैं, उनका देश, काल और वस्तुरूपसे यदि सर्वात्मकता बन जाय, तो भेद और भेदकत्व आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २ ॥

ब्रह्मन्, अब इस विषयमें मुझे जो यह सन्देह है, इसका निवारण कीजिए । भगवन् , यह पाषाणाख्यान किस अंशकी समानता लेकर कहा गया है । व्यावर्तक यानी भेदके हेतु धर्मोंसे युक्त पदार्थोंका ही साधारणधर्मसे सादृश्य माना जाता है, यह प्रसिद्धि है, अतः सन्देहका होना स्वाभाविक है ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयाऽयं तत्र कथ्यते ॥ ४ ॥
नीरन्ध्रैकघनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ५ ॥
भूताकाशे महत्यस्मिन् खशून्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ६ ॥
अन्तर्गुल्माङ्कुरादीनां प्राणवाय्वम्बुतेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, 'सब कुछ सर्वदा सभी जगह है', यह जो प्रतिपादन करना है, इसी अर्थमें पाषाणाख्यायिकाका दृष्टान्त दिया गया है, इसका किस तरह सादृश्य घटता है, इसे मैं आपसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

पाषाणाख्यायिकाका मैंने इसलिए आरम्भ नहीं किया है कि हमको पाषाणकी समानता या सब धर्मोंका सङ्कर कहना है, किन्तु पाषाण-उदरके अध्यासका अधिष्ठानभूत जो ब्रह्म है, उसमें असंकीर्णरूपसे सब जगत्‌का अध्यास हो सकता है, यों संभावना बतलानेके लिए उक्त दृष्टान्तका उपन्यास है, यह कहते हैं—'नीरन्ध्र०' इत्यादिसे ।

छिद्रोंसे रहित, अत्यन्त घनीभूत अवयवोंवाले पाषाणोदरमें (पाषाणोदराध्यासके अधिष्ठान चेतनमें) भी हजारों सृष्टियाँ हैं, यह प्रस्तुत पाषाणाख्यानके द्वारा बतलाया गया है ॥ ५ ॥

अथवा भावपदार्थोंके उदराधिष्ठानभूत चेतनमें जिस तरह हजारों सृष्टियोंका सम्भव है, उसी तरह शून्यात्मक आकाशरूप अभावाधिष्ठान चेतनमें भी असंकीर्ण रूपसे समस्त जगत्‌का आरोप संभव है, इस आशयसे कहते हैं—'भूताकाशे' इत्यादिसे ।

आकाशकी शून्यताको न छोड़नेवाले महान् भूताकाशमें यानी अभावाधिष्ठानभूत चेतनमें भी हजारों सर्गोंका आरोप हो सकता है, यह बतलानेके लिए प्रस्तुत कथा कही गई है ॥ ६ ॥

इस न्यायकी सर्वत्र योजना करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अन्त०' इत्यादि ।

श्रीराम उवाच

कुड्यादौ सन्ति सर्गौघा इति चेत्कथ्यते मुने ।
तत्खे विभान्ति सर्गौघा इति किं न प्रदर्श्यते ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते वर्णितं राम मुख्यमेव मयाऽखिलम् ।
योऽययालक्ष्यते सर्गः स ख एव खमास्थितम् ॥ ९ ॥

गुल्म, अङ्कुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, तेज आदिके उदरमें (अधिष्ठान आत्मामें) हजारों सर्ग हो सकते हैं, इस अर्थको बतलानेके लिए पाषाणाख्यान कहा गया है ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, भीत, पाषाण आदिके उदर चेतनमें अनेक सर्गोंका आरोप है, यही अभिप्राय यदि पाषाणाख्यायिकासे बतलाया जाता है, तो मैं कहता हूँ कि इसकी अपेक्षा यही अभिप्राय क्यों नहीं बतलाया जाता कि शुद्ध चिदाकाशमें हजारों सृष्टियोंका आरोप है। तात्पर्य यह है कि भीत आदि भाव और शून्यात्मक आकाशादि अभाव पदार्थोंसे युक्त चेतनमें सभी सर्गोंका आरोप असङ्कीर्णरूपसे हो सकता है, यह यदि आपकी आख्यायिकाका अभीष्ट अर्थ है, तब शुद्ध चिदाकाशमें सब जगत्का अध्यास है, यही पक्ष क्यों मान न लिया जाय, जिससे कि अध्यस्त जगत्का बाध हो जानेपर शुद्ध ही बच जाता है, यह दूसरी बात भी अनुकूल हो, इस प्रकारकी श्रीरामभद्रकी आशङ्का है ॥ ८ ॥

ठीक है, आपने जिस पक्षका शङ्कामें उल्लेख किया है, ठीक यही पक्ष मुख्यरूपसे मुझे भी अभिप्रेत है, परन्तु विशुद्ध चिदाकाशका सहसा परिचय हो नहीं सकता, इसलिए परिचयोपायरूपसे प्रत्येक भावादि-उपहित चेतनमें भी समस्त जगत्का अध्यास (आरोप) है, यह मैंने बतलाया है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'एतत्' इत्यादि।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्-तत् पदार्थोंसे उपहित प्रत्येक चेतनमें समस्त जगत्का आरोप है, यों कहते हुए मैंने आपसे वस्तुतः मुख्य चेतनमें समस्त जगत्का आरोप है, इसीका वर्णन किया है, इसलिए जो यह सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह चिदाकाशमें चिदाकाशात्मक ही स्थित है ॥९॥

आदावेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १० ॥
नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥ ११ ॥
न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १२ ॥
न वायोरणुप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १३ ॥
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १४ ॥

यों जब ब्रह्ममात्रता ही है, तब दृश्यकी अनुत्पत्ति ही फलित हुई, यह कहते हैं—'आदावेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, परमार्थदृष्टिसे दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ है और आज भी नहीं है, परन्तु जो इसका अवभास होता है, वह ब्रह्ममें स्थित ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

आरोपदृष्टिसे भूतोंके प्रत्येक परमाणुमें सबका आरोप कर सब कुछ देखा जा सकता है और अपवाददृष्टिमें उससे विपरीत भी देखा जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'नास्ति' इत्यादि ।

जो पृथ्वी सृष्टियोंसे गाढ़भरित (खूब भरी हुई) न हो, ऐसी अणुमात्र भी नहीं है यानी सारी पृथ्वी सृष्टियोंसे एकदम खचाखच भरी हुई ही है और सृष्टि भी कहीं नहीं है, किन्तु जो है, वे सब ब्रह्माकाशरूप ही है । आरोपदृष्टिसे पृथ्वीके प्रत्येक परमाणुमें सर्गके सर्ग भरे पड़े हैं तथा अपवाददृष्टिमें न कोई परमाणु है और न उसमें सर्ग ही भरे पड़े हैं, केवल ब्रह्माकाशमात्र है ॥ ११ ॥

ऐसे तेजका कोई भी अणु नहीं है, जिसमें सर्गोंकी स्थिति न हो। और वास्तवमें तो कहींपर भी सर्ग नहीं है, किन्तु सर्गरूपसे भासमान सब ब्रह्माकाशमात्र है ॥ १२ ॥

ऐसा वायुका कोई भी परमाणु नहीं है, जो सर्गोंसे भरा न हो और वे सर्ग भी वास्तवमें नहीं हैं, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र ही हैं ॥ १३ ॥

अणुमात्र भी आकाश सृष्टियोंसे रहित हो, ऐसा नहीं है, किन्तु सब

न सा महाभूतताऽस्ति सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १५ ॥
शैलानां नाणुरप्यस्ति स सर्गैर्यो न निर्घनः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मणो नाणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १७ ॥
सर्गेषु नाणुरप्यस्ति न ब्रह्मात्मैव यः सदा ।
ब्रह्मसर्गास्तथेत्येष वाचि भेदो न वस्तुनि ॥ १८ ॥
सर्गा एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता ।
मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राग्न्यर्कौष्ण्ययोरिव ॥ १९ ॥

सृष्टियोंसे परिपूर्ण है और वे सृष्टियाँ भी नहीं है, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्ररूप ही हैं ॥ १४ ॥

ऐसे मिले हुए पञ्चमहाभूत भी नहीं हैं, जो सर्गोंसे परिपूर्ण न हों, किन्तु वे सर्गोंसे परिपूर्ण हैं और कहीं सर्ग भी नहीं हैं, किन्तु वे केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥ १५ ॥

पर्वतोंका भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सर्गोंसे भरा पड़ा न हो, किन्तु सभी परमाणु सर्गोंसे भरे पड़े हैं, और उनमें कहीं सर्ग भी वास्तवमें नहीं हैं, केवल ब्रह्मरूप ही वे हैं ॥ १६ ॥

सूक्ष्मभूतरूप उपाधिसे युक्त हिरण्यगर्भका भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सृष्टियोंसे भरा हुआ न हो, लेकिन उसमें भी वही स्थिति है। वास्तवमें तो उनमें कहीं वे भी सर्ग नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥ १७ ॥

हिरण्यगर्भके निर्मित संसारोंमें ऐसे कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग नहीं हैं, जो सदा ब्रह्मरूप ही न हो, किन्तु सदासे ही वे सब ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्म तथा सर्ग—यह केवल वाणीमें ही भेद है, वस्तुमें भेद नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे अग्नि एवं सूर्यकी उष्णतामें कोई परस्पर भेद नहीं है, किन्तु उष्णता और अग्नि या सूर्य एकरूप ही हैं, वैसे ही जो सर्ग हैं, वे परब्रह्म ही हैं और परब्रह्म ही सर्ग हैं, इनमें तनिक भी भेद नहीं है, किन्तु एकरूप ही हैं ॥ १९ ॥

इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः ।
विदार्यदारुवद्भ्रान्त्यर्थपरिवर्जिताः ॥ २० ॥
द्वैतमैक्यं च यत्रास्ति न मनागपि तत्र ते ।
सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भान्तु के ॥ २१ ॥

भद्र, ये सर्ग और ब्रह्म आदि जो शब्द हैं, उनके विषयमें यदि विचारा जाय, तो वे अर्थसे शून्य होकर अत्यन्त अनिर्वचनीय वस्तुका बोध करानेवाले उस तरह दिखाई देते हैं, जिस तरह कुठारसे चिरे जानेवाले काठमें उसके बोधक जो भिन्न भिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थशून्य होकर केवल काठ वस्तुका बोध कराते दिखाई देते हैं। इसका गम्भीर भाव यह है कि पहले सर्गशब्द और ब्रह्मशब्दके ऊपर विचार कर लेना चाहिए कि असलमें उनसे क्या अर्थ निकलता है, सर्जन क्रियाके कारण सर्गशब्द है और बृंहण यानी वर्धन क्रियाके कारण ब्रह्मशब्द है, सर्जन और वर्धनमें तो कोई परस्पर भेद नहीं है, अतः ब्रह्म और सर्ग आदिमें भी भेद कैसे हो सकता है, अब इन सर्ग और ब्रह्मशब्दमें भेद करनेवाला जो आनुपूर्वी आदि धर्म है, वह भी असलमें तो कोई चीज है नहीं, अतः उससे रहित सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द लक्षणासे किसी अनिर्वचनीय अर्थका ही बोध कराते हैं। अपिच क्रिया भी क्रियावान्के स्वरूपसे अलग नहीं है, यदि कहें कि क्रिया और क्रियावान् एक नहीं हैं, किन्तु एक आधार और दूसरा आधेय है, अतः उनका भेद है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके आधाराधेय-भावका निरूपण आप कर ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थितिमें कुठारसे विदीर्ण होनेवाले काठमें जो-जो काठके लिए प्रसिद्ध शब्द हैं, वे सब पृथक् अर्थसे शून्य होकर जैसे एक ही अर्थके प्रतिपादक भासते हैं अथवा विदार्य (विदीर्ण करने योग्य) और दारु (विदीर्ण होनेवाला) ये दो शब्द जैसे पृथक् अर्थसे शून्य होकर अभेदार्थके ही प्रतिपादक हैं, वैसे ही सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द भी एकार्थके यानी ब्रह्मार्थके ही प्रतिपादक हैं ॥ २० ॥

परमार्थदशामें सर्ग और ब्रह्म आदि शब्दार्थोंका भेद भले ही न हो, क्योंकि उस दशामें द्वैत और ऐक्य रहता ही नहीं। परन्तु व्यवहारदशामें तो ब्रह्म एक है और सर्ग अनेक हैं, अतः ब्रह्म और सर्गशब्दोंका भिन्न अर्थ होनेके कारण वे भिन्नार्थक क्यों नहीं होंगे, इसपर कहते हैं—'द्वैत०' इत्यादिसे।

शान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।
व्यवहारवतोऽप्यङ्ग ज्ञस्य मौनं शिलाघनम् ॥ २२ ॥

निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं
त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।
तादृग्जगत्समवलोकय यादृगङ्ग
स्वप्नेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम
अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥



भद्र, जिस व्यवहारदशामें द्वैत और एकत्व विद्यमान है, उस दशामें भी सर्ग और ब्रह्मशब्दके अर्थ तो तनिक भी नहीं भासते, क्योंकि इसपर प्रश्न यह होगा कि क्या द्वैतात्मक द्रष्टाको वे अर्थ भासते हैं, या अद्वैतात्मक द्रष्टाको ? प्रथमपक्ष तो अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानी द्वैतात्मक द्रष्टाको वे किसी हालतमें भी नहीं दीख पड़ेंगे। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्षमें अद्वैतात्मक वस्तुको वे किसकी तरह दीख पड़ेंगे, कौन किस स्वभावके मालूम पड़ेंगे, यह कहना होगा, परन्तु यह कह नहीं सकते, क्योंकि अद्वैतस्थितिमें भान और भासित होनेवालेमें कोई भेद नहीं कहा जा सकता ॥ २१ ॥

अतएव तत्त्ववेत्ताओंके लिए व्यवहारकालमें भी वह वैसा ही रहता है, यह कहते हैं—'शान्त०' इत्यादिसे।

हे प्रिय श्रीरामजी, व्यवहार कर रहे ज्ञानीके लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, आदि-अन्तरहित, स्वच्छ, निर्विकार, शिलाके सदृश अतिघन, मौन ब्रह्मरूप ही रहता है, तनिक भी उससे पृथक् या भिन्न नहीं रहता ॥ २२ ॥

वर्णित पाषाणाख्यायिकाका जो तात्पर्य है, उसका उपसंहार करते हैं—'निर्वाण०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, यह समस्त दृश्य निर्वाणरूप एवं चिदाकाशरूप ही है। आप, हम, पर्वत, सुर, असुर आदि भी तद्रूप ही हैं। भद्र, जगत् भी आप

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ।
तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।
मृदु व्यक्तपदं हृद्यं न च वाच्यानुगो यतः ॥ २ ॥
स्त्रीस्वभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।
स्वल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥ ३ ॥

वैसा ही आत्मरूप समझिए, जैसा जागनेके बाद जन्तुके मनमें स्वप्नमें देखा गया व्यवहार, स्मृतिमें आनेपर भी, आत्मरूप है ॥ २३ ॥

उनसठवाँ सर्ग

[उक्त एकान्तशून्य प्रदेशमें समाधि टूट जानेपर वसिष्ठजीको सूक्ष्म ध्वनिका श्रवण और ध्वनिश्रवणके कारणकी अन्वेषणाके लिए ध्यान करनेपर अनन्तकोटि जगत्‌का ज्ञान होना—यह वर्णन]

इस तरह पिछलेके दो सर्गोंसे प्रासङ्गिक प्रश्नविषयका निरूपण हो जानेपर अब श्रीरामजी आख्यायिकाका अवशिष्ट भाग सुननेके लिए पूछते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, उस आकाशकोशकी कुटियासे सौ वर्षके बाद आपका ध्यान टूट जानेके अनन्तर कौन-सी जानने लायक बात हुई, यह मुझसे कहिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस ध्यानसे जब मैं जग गया, तब मैंने वहाँ एक ध्वनि सुनी, वह अत्यन्त लुभावनी थी, उसके शब्द अत्यन्त विस्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उसमें न तो कोई पदार्थप्रतिपादनकी सामर्थ्य थी और न वाक्यार्थ-प्रतिपादनकी ही सामर्थ्य थी ॥ २ ॥

किसी स्त्रीके कण्ठसे उत्पत्तिजनित स्वभावविशेषसे मानो यह ध्वनि मृदु,

इन्दिन्दिररुताकारं तन्त्रीरणितरञ्जनम् ।
न रोदनं च पठनं बिसकोशसमस्वनम् ॥ ४ ॥
तदाकर्ण्याऽऽशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।
शाब्दिकान्वीक्षणात्पश्यन् दिशो दश सविस्मयः ॥ ५ ॥
व्योम्नोऽयं सिद्धसञ्चारमार्गशून्यान्यनन्तरम् ।
भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥ ६ ॥
तदिहेदृग्विधस्य स्यात्कुतः शब्दस्य सम्भवः ।
शाब्दिकं न च पश्यामि यत्नेनापि विलोकयन् ॥ ७ ॥
अनन्तमिदमाशून्यं पुरो मे निर्मलं नभः ।
इह भूतं प्रयत्नेन प्रेक्ष्यमाणं न दृश्यते ॥ ८ ॥

मधुर और अनुरणनशील प्रतीत हो रही है, ऊँची भी नहीं है, अतएव वह कहीं दूरसे नहीं सुनाई देती अर्थात् पासकी ही है, यों उस ध्वनिके विषयमें मैंने अनुमान किया ॥ ३ ॥

भद्र, वह भ्रमरकी ध्वनिके सदृश थी, वीणाके झंकारके सदृश मनुष्यको लुभावनेवाली थी। वह शब्द न तो कोई बालकका रुदन था और न कोई प्रौढ़व्यक्तिका पठन ही था। हाँ, कमलके बिसकोशमें प्रसिद्ध भ्रमरोंके गुञ्जनके सदृश वह अवश्य था ॥ ४ ॥

उसे सुनकर वहाँ मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। उक्त शब्दकर्ताके अन्वेषणके निमित्तसे मैंने दसों दिशाएँ देख डालीं बादमें मैं यह सोचने लगा—॥ ५ ॥

जिन मार्गोंमें सिद्ध पुरुष ही संचरण कर सकते हैं, उनसे भी शून्य जो लाखों योजन दूर हैं, उनको भी लांघकर यह आकाशका ऊर्ध्वतम भाग स्थित है ॥ ६ ॥

इसलिए इस एकान्तस्थानमें स्त्रीवाक्यके सदृश ऐसे शब्दका संभव कैसे होगा और बड़े यत्नसे देखता हूँ, तो भी मैं शब्द करनेवालेको नहीं देख पाता ॥ ७ ॥

मेरे सामने विद्यमान यह जो निर्मल आकाश है, वह तो असीम और चारों ओरसे शून्यरूप ही है। बड़े यत्नसे मैं देख रहा हूँ, तो भी कोई प्राणी दिखाई नहीं देता ॥ ८ ॥

यदेति चिन्तयित्वाऽहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
शब्देश्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥ ९ ॥
आकाश एव भूत्वाऽहमाकाशेनैकतां गतः ।
आकाशगुणशब्दार्थान् करोम्याकाशकोशके ॥ १० ॥
देहाकाशमिह स्थाप्य ध्यानेनेह यथास्थितम् ।
चिदाकाशवपुर्व्योम्ना याम्यैक्यं वारिवाम्बुना ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वेत्यहं त्यक्तुं देहं पद्मासनस्थितः ।
आसं समाधिमाधातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥ १२ ॥
त्यक्त्वा बाह्यार्थसंस्पर्शानैन्द्रियानान्तरानपि ।
चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्स्पन्दमयात्मकः ॥ १३ ॥
क्रमात्तदपि सन्त्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
सम्पन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥ १४ ॥

उस तरह विचारकर बार-बार चारों ओर खूब देखा, परन्तु जब शब्द करनेवालेका दर्शन नहीं हुआ, तब इस तरह विचारने लगा—॥ ९ ॥

मैं सबसे पहले उपाधिका परित्यागकर चिदाकाशरूप हो जाऊँ, तदनन्तर चिदाकाशमें अध्यस्त अव्याकृत आकाशके साथ एकरूप बन जाऊँ, फिर अव्याकृत आकाशके कार्य भूताकाशके गुण शब्दों और उनके अर्थोंका उसीमें अनुभव करूँ ॥ १० ॥

अभी मैं ध्यानके प्रभावसे यहांपर यथास्थित देहाकाशको यहीं आकाशमें छोड़कर और चिदाकाशरूपी शरीर धारण कर वैसे अव्याकृत आकाशके साथ एकरूप बन जाता हूँ, जैसे जलबिन्दु साधारण जलके साथ एकरूप बन जाता है ॥ ११ ॥

भद्र, उस तरह विचारकर पद्मासनपर स्थित हुआ और शरीरको छोड़नेके निमित्त समाधि लगानेके लिए मैंने फिर अपनी आँखें मूँद लीं ॥ १२ ॥

अनन्तर इन्द्रियोंके सम्बन्धी बाह्य अर्थोंका स्पर्श तथा अन्तःकरणके विषयोंका स्पर्श त्याग दिया, अधिक क्या कहें, मन्तव्य आदिका भी परित्याग कर दिया, फिर मैं एकमात्र संवित्स्पन्दनरूप चित्ताकाश बन गया ॥ १३ ॥

इसके बाद उनका भी क्रमशः परित्यागकर बुद्धितत्त्वके स्थानमें पहुँच गया,

ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
सम्प्रयातोऽम्बुनैवाम्बु सौरभं सौरभेन वा ॥ १५ ॥
सम्पन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽथ सर्वगः ।
अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६ ॥
अहं त्रैलोक्यवृन्दानि संसाराणां शतानि च ।
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि पश्याम्यगणितान्यपि ॥ १७ ॥
परस्परमदृष्टानि मिथः खान्यमलानि च ।
नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥ १८ ॥
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव ।
महारम्भानुमृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ १९ ॥

फिर उसका भी त्यागकर चिदाकाशरूप वास्तविक स्वरूपमें पहुँच गया और वहां पहुँचकर अपनी आत्मामें अध्यस्त समस्त जगत्के प्रतिबिम्बोंका एकदर्पणरूप बन गया ॥ १४ ॥

भद्र, इसके बाद उसी चित्स्वभावसे मैं भूताकाशके साथ एकरूप ऐसे बन गया, जैसे सामान्य जलके साथ समुद्रादिजल या सामान्य सौरभके साथ कमलादि-सौरभ एकरूप बन जाता है ॥ १५ ॥

उस भूताकाशमें भूताकाशके कार्यभूत समस्त सृष्टियोंका अवलोकन करनेके लिए चिदाकाशके साथ अभेदकल्पना कहते हैं—'सम्पन्नोऽथ' इत्यादिसे ।

तदनन्तर मैं चितिरूप महाकाशके साथ अभेदसम्बन्धकी कल्पनाकर असीम और सर्वगामी बन गया । असङ्ग-अद्वयरूप होनेके कारण अनाकार और अनाधार होता हुआ भी सर्वाधारयोग्य भूताकाशके साथ अभिन्नतासे सब पदार्थोंका आधारभूत बन गया ॥ १६ ॥

भूताकाशकी अवस्थाको प्राप्त चिदाकाशमें मैं तीनों लोकोंके झुण्डोंको, सैकड़ों संसारोंको और लाखों अगणित ब्रह्माण्डोंको देखने लगा ॥ १७ ॥

ये सब सर्ग अव्याकृत निर्मल आकाशमात्ररूप थे, इसलिए एक दूसरेकी दृष्टिसे छिपे थे । उनमें अनेक तरहके आचार और अनेक तरहके विचार थे एवं परस्पर वे शून्यरूप थे ॥ १८ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जायमानानि नश्यन्ति वर्द्धमानानि भूरिशः ।
वर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वशः ॥ २० ॥
अनेकचित्रजालानि महाभित्तीनि खानि च ।
मनसेवोग्रराज्यानि कृतानि विविधैर्जनैः ॥ २१ ॥
निरावरणरूपाणि तथैकावरणानि च ।
पञ्चावरणयुक्तानि षडेकावरणानि च ॥ २२ ॥
दशावरणचित्राणि षोडशावरणानि च ।
चतुर्विंशत्यावृतीनि षट्त्रिंशत्खावृतानि च ॥ २३ ॥
शून्यानि भूतपूर्णानि पञ्चभूतमयान्यपि ।
एकपृथ्व्यादिभूतानि चतुःपृथ्व्यादिकानि च ॥ २४ ॥

एक समय सोये हुए पुरुषोंके लिए वे सृष्टियाँ स्वप्नरूप थीं, एककी दृष्टिसे वे बड़े-बड़े समारोहोंसे पूर्ण थीं, तो दूसरेकी दृष्टिसे उत्तरोत्तर विमर्दित थीं अतएव परस्पर शून्य-अशून्यरूप थीं ॥ १९ ॥

उनमें कुछ तो उत्पन्न हो रही थीं, कुछ नष्ट हो रही थीं, कुछ तेजीसे बढ़ रहीं थीं, कुछ विद्यमान थीं, कुछ अतीत थीं और बहुत-सी भविष्यकालके गर्भमें थीं ॥ २० ॥

श्रीरामजी, उनके विषयमें क्या वर्णन करूँ, कुछ तो अनेक चित्रोंसे शोभित, कुछ बड़ी-बड़ी भित्तियोंसे युक्त, कुछ भित्तियोंसे रहित और कुछ मनुष्यों द्वारा अपने मनसे ही उग्र राजोंसे आक्रान्त बनाई गई थीं ॥ २१ ॥

स्वप्नमें देखी गई सृष्टियोंमें तो ब्रह्माण्डोंके आवरण और उनकी संख्याका कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि जिसको जितनी वासना हुई, उसके प्रति उतनी ही सृष्टि कल्पित होती है, इस आशयसे कहते हैं—'निरावरण०' इत्यादि।

कुछ सृष्टियां तो आवरणात्मक पदार्थोंसे रहित थीं, तथा कुछ एक आवरणवाली ही थीं। किन्हींमें पाँच आवरण थे, किन्हींमें सात आवरण थे, किन्हींमें दस आवरण थे, किन्हींमें सोलह आवरण थे, किन्हींमें चौवीस आवरण थे, किन्हींमें छत्तीस आवरण थे, कुछ आकाशरूप आवरणसे आवृत थीं* ॥२२,२३॥

कुछ शून्य-आकाशरूप ही थीं, कुछ भूतोंसे भरी थीं, कुछ पाँच भूतरूप

---

* एक पदार्थवादी आदियोंके मतोंसे कहा गया है।

त्रिःपृथ्व्यादीनि चान्यानि द्विःपृथ्व्यादीन्यथापि च ।
तथा सप्तमहाभूतान्येकजातिमयानि च ॥ २५ ॥
त्वादृशानुभवाभोगविरुद्धातिदशानि तु ।
तथा नित्यान्धकाराणि सूर्यादिरहितानि च ॥ २६ ॥
तथा मीलितसर्गाणि एकनाथावृतानि च ।
विलक्षणप्रजेशांशविचित्राचारवन्ति च ॥ २७ ॥
तथा निर्वेदशास्त्राणि निःशास्त्राणि तथैव च ।
कृमिक्रमसमारम्भदेवादिप्राणिमन्ति च ॥ २८ ॥
जात्या तु पारम्पर्येण संकेताचारवन्ति च ।
तथा नित्यप्रकाशानि ज्वलिताग्निमयानि च ॥ २९ ॥

ही थीं, कुछ तो एक-एक पृथ्वी आदि भूतवाली थीं, कुछ पृथ्वी आदि चार भूतोंवाली ही थीं ॥ २४ ॥

किन्हींमें पृथ्वी, जल, तेज—ये तीन ही थे, किन्हींमें कोई और ही भूत थे, किन्हींमें तो पृथ्वी एवं जल—ये दो ही थे, किन्हींमें सात भूत (काल और दिशाको भूत मानकर) थे तथा किन्हींमें एकजातिके ही सब पदार्थ थे ॥ २५ ॥

सिद्ध, विद्याधर आदिकी जो चित्र-विचित्र कल्पनाएँ हैं, उनकी तो मनुष्यकी बुद्धिसे संभावना भी नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'त्वादृशा०' इत्यादि ।

भद्र, कुछ तो मैंने ऐसे सूक्ष्म चित्र-विचित्र परिणामवाले भूतोंसे युक्त संसार देखे कि उन परिणामोंकी आप अपने अनुभवके विस्तारसे संभावना भी नहीं कर सकते। कुछ तो निरन्तर अन्धकारसे व्याप्त और सूर्य आदिसे रहित थे ॥२६॥

कुछ सर्ग तो सुषुप्ति और प्रलयोंसे ही भरपूर थे यानी सुषुप्ति-प्रलयमय थे, किन्हींमें केवल हिरण्यगर्भ ही विराजमान थे, और कुछमें प्रजापति और उनके अंशभूत देवताओंका चित्र-विचित्र आचरण देखते ही बनता था ॥ २७ ॥

इसी अर्थका विस्तार करते हैं—'तथा' इत्यादिसे ।

किन्हींमें विराग पैदा करनेवाले वेदादि शास्त्र थे और किन्हींमें वेदादि शास्त्र नहीं भी थे तथा किन्हींमें उदुम्बरके कीटके सदृश समारम्भवाले देवता ही प्राणी थे ॥ २८ ॥

कहींपर कलिका आरम्भ हो जानेके कारण वेदादि शास्त्रोंका उच्छेद हो

तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तथाऽनिशम् ॥ ३० ॥
जायमानानि पुष्यन्ति परिपुष्टानि चाभितः ।
तिर्यग्गच्छन्ति चान्यानि पूर्णसर्वमयान्यपि ॥ ३१ ॥
देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ ३२ ॥
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ ३३ ॥
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ ३४ ॥
विविधान्यप्यनन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
अन्योऽन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥ ३५ ॥

गया था, इसलिए ब्राह्मण आदि जातियाँ अपनी केवल परम्परासे ही कुछ संकेतोंसे अपना आचरण करती थीं । कुछ निरन्तर प्रकाशमय थे और कुछ प्रज्वलित अग्नियोंसे पूर्ण थे ॥ २९ ॥

कुछ सृष्टियाँ केवल जलसे ही भरी थीं, कुछ केवल वायुसे ही भरपूर थीं, कुछ परमाकाशमें निश्चल थीं, कुछ रात-दिन चलती-फिरती थीं ॥ ३० ॥

कुछ उत्पन्न हो रही थीं, कुछ वृद्धि प्राप्त कर रही थीं, कुछ चारों ओरसे खूब पुष्ट हो रही थीं, कुछ टेढ़ी जा रही थीं और कुछ अन्य परिपूर्ण भोग्य पदार्थोंसे भरी थीं ॥ ३१ ॥

किन्हींमें केवल देवताओंकी ही सृष्टि थी, किन्हींमें अधिक केवल मनुष्य ही थे, किन्हींमें अधिकता दैत्योंके समूहोंकी थी और कुछ तो कीटोंसे ही नीरन्ध्र थीं ॥ ३२ ॥

कहींपर कदलीस्तम्भके दलके सदृश प्रत्येक परमाणुके भीतर, उसके भीतरके भी भीतर कल्पित अपने कोशमें अनेक जगत् उत्पन्न हो रहे थे, और कुछ उत्पन्न भी हो चुके थे ॥ ३३ ॥

सैनिकोंके स्वप्नोंके सदृश उत्पन्न हुए बड़े भी कुछ सर्ग एक दूसरेसे छिपे थे और किन्हींका परस्पर अनुभव भी नहीं हो रहा था ॥ ३४ ॥

कुछ तो भिन्न-भिन्न तरहकी सृष्टियाँ थीं, कुछ असीम थीं, कुछ स्वच्छ

मिथश्चान्यान्यशास्त्राणि मिथोऽनन्तानि यानि च ।
अन्योन्यसन्निवेशानि मिथोऽन्योन्यानि यानि च ॥ ३६ ॥
अन्योन्यं परलोकानि मिथः सिद्धपुराणि च ।
अन्यादृशमहाभूतान्यन्यादृग्दिग्गिरीणि च ॥ ३७ ॥
त्वादृशानुभवेहानामगम्यास्यागतानि च ।
असमञ्जसरूपाणि कथ्यमानानि मादृशैः ॥ ३८ ॥
अणुवत्सेष्यमाणानि चिदादित्यांशुमण्डले ।
परमार्थश्रियो व्योम्नि रश्मिजालानि कुण्डले ॥ ३९ ॥

आकाशके सदृश निर्मल थीं, किन्हींमें भिन्न-भिन्न क्रिया-कर्म थे और कुछ विषम स्थितिवाली थीं ॥ ३५ ॥

कुछ सर्ग ऐसे थे, जिनमें दूसरेसे मेल न खानेवाले भिन्न-भिन्न शास्त्र थे, कुछ परस्पर अनन्त अवयव एक-से थे, कुछका स्मरण होनेपर एक दूसरे एकरूप ही मालूम होते थे ॥ ३६ ॥

कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी एक दूसरी सृष्टिके लिए परलोक बन जाती थी यानी एकमें मरकर पुरुष दूसरी सृष्टिमें जाता था। कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी सृष्टिके प्रति दूसरी सृष्टि सिद्ध नगररूप बन जाती थी। किन्हीं सृष्टियोंमें अलग-अलग स्वरूपके महाभूत थे और कहींपर दिशाएँ एवं पर्वत भिन्न-भिन्न रूपके थे ॥ ३७ ॥

इसीलिए अन्य वस्तुका अन्यत्र वर्णन करनेपर अपरिनिष्ठित बुद्धिवालोंकी दृष्टिमें ये अगम्यताके कारण असमञ्जसरूप भासते हैं, यह कहते हैं—'त्वादृशा०' इत्यादिसे।

आपके-जैसे पुरुषोंके अनुभव और प्रयत्नके अविषय जो पदार्थ हैं, वे यदि सामने आ जायँ और मेरे-जैसे पुरुष उनका वर्णन करें, तो भी उनका स्वरूप असमञ्जस ही लगेगा, यानी उनके स्वरूपका ज्ञान अननुभवी पुरुषको हो ही नहीं सकता, ऐसे भी पदार्थ कहींपर थे ॥ ३८ ॥

तब तो ऐसे पदार्थ आपके सदृश पुरुषोंके उपदेशसे ज्ञात हो जायँगे, इसपर कहते हैं—'अणुवत्' इत्यादिसे।

भद्र, चैतन्यरूपी सूर्यके किरणमण्डलमें परमाणुओंके सदृश अत्यन्त सूक्ष्मरूप

कानिचित्तानि तान्येव भूत्वा भूत्वा भवन्त्यलम् ।
कानिचित्तादृशान्येव जातानि वनपर्णवत् ॥ ४० ॥

अन्योन्यत्वाच्च सदृशान्यन्यानि सदृशान्यपि ।
कश्चित्कालं सुसदृशान्यन्यान्येव च कानिचित् ॥ ४१ ॥

फलानि तान्यनन्तानि परमार्थमहातरोः ।
अनन्यान्येव चान्यानि तन्मयान्येव वै ततः ॥ ४२ ॥

कानिचित्स्वल्पकल्पानि दीर्घकल्पानि कानिचित् ।
अन्यान्यनियतं भूरि नियतं भूरि कानिचित् ॥ ४३ ॥

वाले कहींपर सर्ग प्रसिद्धिको प्राप्त किये हुए थे * तथा कहींपर तो मोक्षलक्ष्मीके कुण्डलरूप अव्याकृत आकाश और भूताकाशमें चित्र-विचित्र रत्नरश्मिजालकी अधिकतासे चमकीले सर्ग थे, इसलिए उपदेशसे भी उनका ज्ञान होना कठिन ही समझिए ॥ ३९ ॥

कुछ सर्ग तो ऐसे देखे कि वनके पत्तोंके सदृश वे ही फिर तद्रूप उत्पन्न हो होकर नष्ट होते जाते थे और फिर उत्पन्न होते जाते थे एवं कुछ उन्हींके सदृश ही उत्पन्न होते थे ॥ ४० ॥

भद्र, कुछ सर्ग ऐसे थे कि एक ही चितिमें सबका अध्यास होनेके कारण पृथक् अस्तित्व न रखनेसे सदृश होते हुए भी असदृश ही थे और सदृश भी होते हुए कुछ समयतक अत्यन्त सदृश एवं कुछ कालके लिए अत्यन्त विसदृश भी रहते थे ॥ ४१ ॥

अथवा वृक्ष और फलके सदृश उनमें भेद और अभेदकी कल्पना है, यह कहते हैं—'फलानि' इत्यादिसे ।

परमार्थ चैतन्यरूप महावृक्षके वे अनन्त फल थे, वे अनन्य ही होते हुए भी उससे भिन्न-से थे ॥ ४२ ॥

किन्हीं सर्गोंमें स्वल्प ही कल्पका काल था, तो किन्हीं सर्गोंमें बड़ा लम्बा कल्पका काल था, दूसरे बहुतोंमें तो नियम ही न था यानी देश, काल,

---

* कहींपर 'शेष्यमानानि' यह भी पाठ मिलता है, उसका 'परिशेषरूपताको प्राप्त किये हुए थे'—यह अर्थ होगा ।

अन्यान्यज्ञातकालानि यदृच्छावशतः स्वयम् ।
जायमानानि पुष्टानि सुस्थिराणि स्थितानि च ॥ ४४ ॥
तानि शून्यत्वजालानि परमाकाशकोशके ।
अपरिज्ञातकालानि रूढान्यज्ञातदोषके ॥ ४५ ॥
अब्ध्यर्काकाशमेर्वादिशतैरावलितान्यलम् ।
चिच्चमत्कारखे स्वप्नजालान्याभान्ति चाऽऽविलम् ॥ ४६ ॥
अनुभूतेर्भ्रमात्मत्वात्कारणानामभावतः ।
पृथ्व्यादीनामहेतूनामत्यन्तं सन्त्यसन्ति च ॥ ४७ ॥
मृगतृष्णाम्बुभरवद्द्विचन्द्रव्योमवर्णवत् ।
सम्पन्नानि न सत्यानि सत्यान्यप्यनुभूतितः ॥ ४८ ॥

वस्तु आदिके स्वभावका नियम ही नहीं था और दूसरे बहुतोंमें उनका नियम था भी ॥ ४३ ॥

सूर्यका अभाव होनेसे किन्हींमें कालज्ञान ही न हो पाता था, कुछ तो काकतालीय न्यायसे अकस्मात् ही स्वयं उत्पन्न, पुष्ट और सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित थे ॥ ४४ ॥

वे क्या सत्य हैं, इस प्रश्नका 'नहीं' उत्तर देते हैं—'तानि' इत्यादिसे ।

परमचिदाकाशके कोशमें वे शून्यरूप ही हैं, सत्यरूप नहीं । वे कबसे उत्पन्न हैं, यह उनके विषयमें नहीं कहा जा सकता । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वे अज्ञानरूप दोषसे युक्त प्रत्यगात्मामें अनादिकालसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ४५ ॥

चितिके चमत्काररूप आकाशमें यानी चिदाकाशमें सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश, मेरु आदि पदार्थोंसे भलीभाँति आक्रान्त स्वप्नजालके सदृश रजोगुण एवं तमोगुणसे कलुषित होकर वे अनेक जगत् भासित हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

वास्तवमें कारणोंके अभावसे कारणरहित पृथ्वी आदिका अनुभव तो भ्रमात्मक है, इसलिए भ्रमरूप अधिष्ठानकी सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान हैं, उसे न लेकर वे अपने स्वरूपसे तो नहीं ही हैं ॥ ४७ ॥

मृगतृष्णाजलके प्रवाहके सदृश अथवा दो चन्द्रयुक्त आकाशके वर्णके सदृश ये जगत् भ्रमरूप अनुभवसे ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वे सत्यरूप अधिष्ठानकी सत्तासे सत्यरूप हैं, अपने स्वरूपसे वे सत्यरूप नहीं हैं ॥ ४८ ॥

चित्सङ्कल्पनभस्येव भासमानानि भूरिशः ।
वासनावातनुन्नानि विलुठन्त्यात्मचेष्टितैः ॥ ४९ ॥

सुरासुरादिमशका बहुशोदुम्बरद्रुमे ।
फलानि रसपूर्णानि घूर्णमानानि मारुतैः ॥ ५० ॥

अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च ।
शुद्धचित्तत्त्वबालस्य सङ्कल्पनगराणि खे ॥ ५१ ॥

त्वमहं स इदं चेति धिया बलदृढान्यलम् ।
सम्पन्नान्यर्कदीप्त्येव पङ्कक्रीडनकानि च ॥ ५२ ॥

वृत्तानि रसशालिन्या नियत्या नित्यतृप्तया ।
वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥ ५३ ॥

चितिके सङ्कल्परूप आकाशमें ही ऐसे-ऐसे असंख्य जगत् भासित हो रहे वे सबके सब वासनारूपी वायुसे उड़ाये जा रहे अपनी चेष्टाओंसे विलुण्ठित हो रहे हैं—इधर-उधर लुढ़क रहे हैं ॥ ४९ ॥

परब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्षके अन्दर असंख्य देव, दानव आदि तो मच्छड़ हैं, और वे ब्रह्माण्ड पवनोंसे झूम रहे, भोगादि विचित्र रसोंसे परिपूर्ण उसके फल हैं अर्थात् ब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्षके ब्रह्माण्डरूपी फलके भीतर ये देव, दानव आदिरूप अनेक मच्छड़ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

चिदाकाशमें ये सब जगत् सुन्दर स्वभाववाले तथा सृष्टिरूप खेलवाड़ करनेवाले विशुद्ध चितितत्त्वरूप बालकके सङ्कल्पनगर हैं ॥ ५१ ॥

ये जगत् सङ्कल्पनगर हैं, इस बातको दृढ़ करनेमें कौन-सा हेतु है, इसे बतलाते हैं—'त्वमहम्' इत्यादिसे ।

वे सब जगत् 'तुम', 'मैं', 'यह' आदि अभिमानबुद्धिबलसे, सूर्यके दीप्तिबलसे मिट्टीके खिलौनोंके सदृश, अत्यन्त दृढ़ बनाये गये हैं ॥ ५२ ॥

निरन्तर तृप्तिसे भरी हुई तथा रागरूपी रससे परिपूर्ण कर्मोंके फलोंको अवश्य प्रदान करनेवाली नियतिने उनकी शाखोपशाखा द्वारा ऐसे वृद्धि की है, जैसे वसन्त ऋतुकी रसरेखा बड़े-बड़े फल लगनेवाले वनोंकी शाखोपशाखा द्वारा वृद्धि करती है ॥ ५३ ॥

महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा ।
स्वयं सम्पन्नरूपाणि चिद्व्योम्न्येव कृतानि वा ॥ ५४ ॥
परमार्थमयान्येव तदन्यद्वोदितान्यपि ।
अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥ ५५ ॥
चतुर्दशदशैकादिविधभूतगणानि च ।
पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥ ५६ ॥
नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि ।
महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥ ५७ ॥
क्षीराम्बुधेर्जलानीव स्नेहसाराणि सर्वतः ।
तरङ्गभङ्गुराण्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥ ५८ ॥

सृष्टिको बतलानेवाली श्रुतिकी दृष्टिसे तो उन सबका कर्ता ब्रह्म ही है और 'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि श्रुतियोंकी दृष्टिसे उनका कर्ता ब्रह्म नहीं भी है। वास्तवमें तो वे किसीके निर्मित हैं ही नहीं, किन्तु आकाशरूप (शून्यरूप) ही हैं। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है, तो भी महाचितिरूप आकाशमें स्वयं ही अपने रूपको धारण कर वे स्थित हैं, परन्तु किसीके द्वारा सम्पादित भी प्रतीत होते हैं ॥ ५४ ॥

वस्तुतः ये जगत् परमार्थचिद्रूप ही हैं, फिर भी अन्यसे उत्पन्न मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः अप्राप्त ही हैं, फिर भी प्राप्त-से प्रतीत होते हैं, सदा असद्रूप ही हैं, फिर भी सद्रूपसे भासते हैं ॥ ५५ ॥

भुवनोंकी संख्यासे चौदह, केवल देवयोनियोंकी संख्यासे दश, मनुष्य आदि एक-एक जातिको लेकर एक, यों भिन्न-भिन्न तरहके भूतसमूहोंसे युक्त वे अनेक होते हुए भी जगत् फिर एक ही रूपके हैं, किन्तु दूसरे ही रूपके भीतर और बाहर उत्पन्न होते-रहते हैं ॥ ५६ ॥

यद्यपि ये सब जगत् नरक, स्वर्ग, पाताल, बान्धव और मित्ररूप बड़े-बड़े समारोहोंसे आक्रान्त हैं, फिर भी परमार्थदृष्टिसे शून्यरूप ही हैं ॥ ५७ ॥

ये सब क्षीरसागरके जलके सदृश चारों ओर स्नेह (प्रीति) रूपसारसे पूर्ण, तरङ्गोंके सदृश भङ्गुर तथा भीतर और बाहरसे परिवर्तनशील हैं ॥ ५८ ॥

आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविवस्वतः ।
जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥ ५९ ॥
वृक्षरूपाणि पत्राणां बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥ ६० ॥
पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु ।
घननिद्राणि सुप्तानि बिभ्रन्ति शवतामिव ॥ ६१ ॥
परमार्थमहारण्ये चिद्गन्धर्वकृतानि वै ।
सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनात्मनि ॥ ६२ ॥
प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम् ।
तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
केशोण्डूकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥५९॥

आत्मारूपी सूर्यके तेजके अन्दर वे केवल आभासरूप हैं और वायुसे स्पन्दनकी तरह वे सब स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥ ५९ ॥

ये जगत् बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूपी पत्तोंके लिए एक तरहसे पेड़ ही हैं। तथा जैसे स्वप्नमें निरन्तर अस्त स्वभिन्न मनुष्योंके दृश्य असत्य हैं, वैसे ही स्वभिन्नरूपसे देखनेवालोंको भी साधारणरूप होनेके कारण वे असत्य-रूप ही हैं ॥ ६० ॥

पुराण, वेदके सिद्धान्तरूप कल्पनाओंके स्वप्नोंमें दृढविश्वासरूपी गाढ निद्रा लेकर सोये हुए ये जगत् तत्त्वज्ञानका अत्यन्त ही अभाव होनेके कारण मानो मृतकोंका स्वरूप धारण किये हुए हैं ॥ ६१ ॥

भद्र, परमार्थभूत ब्रह्मरूपी महान् जङ्गलमें मायोपहित चितिरूप गन्धर्वके द्वारा बनाये गये तथा सूर्यरूपी दीपकोंसे प्रकाशित वे जगत्-रूपी घर महान् गहन हैं यानी उनका असली स्वरूप जानना बड़ा ही कठिन है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने उस समयकी समाधिमें अनन्त चिदाकाशमें किसी

षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् ।
बहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥ १ ॥
शब्दं पश्चात्तमश्रौषमहं वीणास्वनोपमम् ।
क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्वमागतम् ॥ २ ॥
शब्ददेशपतद्दृष्टिर्दृष्टवान्वनितामहम् ।
पार्श्वे कनकनिस्पन्दप्रभया भासिताम्बराम् ॥ ३ ॥
आलोलमाल्यवसनामलकाकुललोचनाम् ।
लोलद्धम्मिल्लवलनामन्यां श्रियमिवागताम् ॥ ४ ॥

कारणके बिना उत्पन्न हुए तथा किसी कारणके बिना ही जीर्ण-शीर्ण हो जानेवाले अनन्त जगत्, जो तिमिर रोगयुक्त आँखोंसे दिखाई पड़नेवाले केशोण्डूकके सदृश भ्रान्तिमात्रसे सिद्ध थे, देखे ॥ ६२ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

[वसिष्ठजीको समाधिमें शब्द करनेवाली स्त्रीका अवलोकन तथा उसकी उपेक्षा करनेपर फिर अनेक विचित्र जगत्का दर्शन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, इतने असंख्य संसार देखनेके बाद मैंने शब्दके कारणको ढूँढ़ता-ढूँढ़ता चारों ओर बहुत कालतक खूब भ्रमण किया। तदनन्तर मैं आवरणरहित संविदाकाशरूप बन गया ॥ १ ॥

जब मैं उक्त आकाशरूप बन गया, तब मैंने वीणाके शब्दके सदृश शब्द सुना, क्रमशः उसके पद भी स्फुट हो गये, फिर मुझे यह भी मालूम होने लगा कि ये शब्द आर्या छन्दके हैं ॥ २ ॥

अनन्तर मेरी योगदृष्टि पासमें ही, जहाँसे शब्द हो रहा था, उस देशमें पड़ गई। मैंने वहाँ एक स्त्री देखी, उसने अपनी कनक-जैसी स्पन्दनशील प्रभासे चारों ओरके आकाशमण्डलको प्रकाशित कर दिया था ॥ ३ ॥

उसके गलेकी माला और पहिने हुए वस्त्र खूब फरफरा रहे थे, उसके

कान्तकाञ्चनगौराङ्गीं मार्गस्थनवयौवनाम् ।
वनदेवीमिवामोदिसर्वावयवसुन्दरीम् ॥ ५ ॥
सा पूर्णचन्द्रवदना पुष्पप्रकरहासिनी ।
यौवनोद्दामवदना पक्ष्मलक्षणशालिनी ॥ ६ ॥
आकाशकोशसदना शशाङ्ककरसुन्दरी ।
मुक्ताकलापरचना कान्ता मदनुसारिणी ॥ ७ ॥
स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
पपाठाकठिनं वामा मत्पार्श्वे मृदुहासिनी ॥ ८ ॥

असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम् ।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने ॥ ९ ॥

लोचन कानोंके केशोंको भी व्याकुल किये थे उसके माथेकी वेणी बड़ी ही चञ्चल थी, मालूम ऐसा होता था, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही आई हुई हैं ॥ ४ ॥

उसके अङ्ग कमनीय सुवर्णके सदृश गौरवर्णके थे, मार्गस्थ पथिकके सदृश उसका नवीन यौवन धीरे-धीरे जा रहा था, वनदेवीके सदृश चारों ओर सुगन्ध भर देनेवाले सम्पूर्ण नखशिखान्त अवयवोंके कारण वह बड़ी ही आंखोंको सुन्दर लग रही थी ॥ ५ ॥

उसका मुख तो पूर्णचन्द्रके सदृश था, उसका हास्य फूलके ढेर-सा लुभावना था, यौवनके कारण उसका आनन कुछ उद्दण्ड-सा लगता था, बरौनीके उत्तम लक्षणोंसे (चिह्नोंसे) उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ६ ॥

आकाशका कोश ही उसके रहनेका घर था, वह सुन्दर तो इतनी थी कि जितनी शशाङ्क—चन्द्रमाकी किरणें । उसने मोतियोंका बनाया गया अर्धचन्द्राकार हार पहना था और उसकी चेष्टा मेरी ओर आनेकी मालूम होती थी ॥ ७ ॥

भद्र, उस वामाने मेरे पासमें आकर अत्यन्त मधुर स्वरसे मृदु एक आर्या पढ़ी, उस स्त्रीका विलास आर्योंके जैसा ही था, उस समय उसके मुखमें कोमल हास्य निखर रहा था ॥ ८ ॥

उसी आर्या छन्दको बतलाते हैं—'असदु०' इत्यादिसे ।

इत्याकर्ण्याहमालोक्य तां चारुवदनस्वनाम् ।
ललनेयं किमनयेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥ १० ॥
ततो जगद्-वृन्दमयीं मायां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥ ११ ॥
ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
जगन्मायां कलयितुं व्योमात्माऽहं प्रवृत्तवान् ॥ १२ ॥
यावत्तानि तथोग्राणि जगन्ति सकलानि खम् ।
शून्यमेव यथा स्वप्ने सङ्कल्पे कथने तथा ॥ १३ ॥
न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कानिचित्कचित् ।
तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्यथ ॥ १४ ॥

'हे मुने, खल पुरुषोंके लिए ही अपनी योग्यता रखनेवाले काम, क्रोध आदि जितने दोष हैं, उनसे आपका अन्तःकरण सर्वथा अलिप्त है, आप संसार-रूपी नदीमें डूब जानेवाले जीवोंके लिए तीरस्थ आश्रयरूप वृक्ष हैं, अतः मैं आपको ही चारों ओरसे प्रणाम करती हूँ' ॥ ९ ॥

वह सुनकर आपने क्या किया, इस प्रश्नपर कहते हैं—'इत्या०' इत्यादिसे।

भद्र, यह सुनकर और उस सुन्दरमुखी एवं मधुरशब्दवाली रमणीको देखकर मैंने सोचा—यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। यों उसके प्रति उपेक्षाकर वहाँसे मैं आगे बढ़ा ॥ १० ॥

उसके बाद मैंने असंख्य जगत्से युक्त माया देखी, उसे देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, उसका भी अनादर ही कर आकाशमण्डलमें विहार करनेके लिए मैं उद्यत हो गया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मायाजनित उस चिन्ताको छोड़कर शून्यस्वभाव आकाशमें स्थित जगन्मायाको चिदाकाशरूप होकर जाननेके लिए मैंने ज्योंही प्रवृत्ति की, त्योंही वे सब जगत् उस तरह शून्यरूप हो गये, जिस तरह स्वप्न, मनोराज्य और कथार्थप्रकाशनमें जगत् शून्यरूप हो जाते हैं ॥ १२,१३ ॥

भद्र, यतः ये सब शून्यरूप हैं, इसलिए परमार्थदशामें ये कोई जगत् कहीं किसी समय न तो देखते हैं और न सुनते ही हैं। अतएव वे सब कल्प, महाकल्प और सर्गमें एकरूप ही हैं यानी उन सब सृष्टियोंकी उन कल्पादिमें समानरूपता ही है ॥ १४ ॥

प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मत्तोत्पातमारुतान् ।
स्फुटिताद्रीन्द्रढाकारघटितब्रह्ममण्डपान् ॥ १५ ॥
ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटचटदैडविडास्पदान् ।
प्रतपद्द्वादशाकारकन्दुमार्तण्डमण्डलान् ॥ १६ ॥
लुठत्सुरपुरव्रातवितताक्रन्दघर्घरान् ।
रणत्सर्वाद्रिकटकश्रेणीनिगिरणोद्भटान् ॥ १७ ॥
कल्पाग्निज्वलनोल्लासपठत्पटपटारवान् ।
आत्मभ्रंशबृहत्क्षोभक्षुब्धाम्बरमहार्णवान् ॥ १८ ॥
देवासुरनरागारघर्घराक्रन्दकर्कशान् ।
सप्तार्णवमहापूरपूरितार्केन्दुमण्डलान् ॥ १९ ॥

भद्र, जिनमें उन्मत्त पुष्करावर्त नामके प्रलयकारी मेघ बरसते हैं, उन्मत्त उत्पातकारी वायु बहती है तथा तोड़े गये बड़े-बड़े पर्वतोंके भयङ्कर शब्दोंसे ब्रह्माण्डमण्डपको जिन्होंने व्याप्त कर दिया है, ऐसे तत्-तत् जगत्के अन्दर प्रवृत्त हुए भी कल्पान्तोंको, ये जगत् परस्पर नहीं जान पाते ॥ १५ ॥

धधक रही प्रलयाग्निके विस्फोटोंसे कुबेरके भवन जिनमें चट-चट शब्द कर रहे हैं, जिनमें आकारमें गेंदके सदृश बारह आदित्य मण्डल आकाशमें चक्कर काटते रहते हैं, ऐसे कल्पान्तोंको वे परस्पर नहीं देख पाते ॥ १६ ॥

इधर-उधर लुढकते हुए देवनगरोंके समूहोंके व्यापक क्रन्दनोंके कारण घर्घर शब्द कर रहे समस्त पर्वतोंकी नितम्बश्रेणियोंको निगल जानेमें अतिउद्भट कल्पान्त कालोंको वे जगत् परस्पर नहीं जानते ॥ १७ ॥

प्रलयकालकी भयङ्कर अग्निकी ज्वालाओंके विलासोंसे विस्पष्टरूपसे पट-पट शब्द कर रहे तथा आत्माके असली स्वभावके ध्वंससे (अज्ञानसे) उत्पन्न बड़े क्षोभोंके सदृश जलचरोंके क्षोभसे क्षुब्ध हुए आकाशरूपी महासमुद्रसे युक्त कल्पान्तोंको वे परस्पर नहीं जानते ॥ १८ ॥

देवता, दानव और मनुष्योंके घरोंके घर्घर क्रन्दनध्वनियोंसे, जो अतिकर्कश हैं तथा द्युलोक तक सात समुद्रोंको बढ़ाकर उनकी महाबाढसे जो सूर्य एवं चन्द्रके मण्डलोंको भी जलसे भर देते हैं, उन कल्पान्तोंको वे जगत् परस्पर नहीं देखते ॥ १९ ॥

न विचेतन्ति कल्पान्तान् सर्वाण्येव परस्परम् ।
एकमन्दिरसंसुप्ताः स्वप्ने रणरयानिव ॥ २० ॥
तत्र रुद्रसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
दृष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥ २१ ॥
तत्र क्वचिदनादित्ये निरहोरात्रभूतले ।
अकल्पयुगवर्षान्ते जगत्यूहैः क्षयोदयः ॥ २२ ॥
चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद्दृष्टं तत्र मयाऽखिलम् ॥ २३ ॥
त्वं किञ्चिदिति चेद्वक्षि तत्र किञ्चिदिवाङ्ग चित् ।
सा हि शून्यतमा व्योम्नो न च नाम न किञ्चन ॥ २४ ॥

भद्र, उन वर्णित जगतोंमें एक दूसरेके भीतर इस तरहके कल्पान्तकाल प्रवृत्त हुए रहते हैं, परन्तु वे सभी जगत् एक दूसरेमें प्रवृत्त कल्पान्तोंको उस तरह नहीं जान पाते, जिस तरह एक मकानमें सोये हुए पुरुष स्वप्नमें एक दूसरेके रणशब्दको ॥ २० ॥

इस प्रकार जगत्की प्रासङ्गिक परस्पर शून्यताका वर्णनकर अब प्रस्तुत विषय कहते हैं—'तत्र०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन ब्रह्माण्डोंमें मैंने हजारों रुद्र, सैकड़ों करोड़ ब्रह्मा, लाखों विष्णु और असंख्य कल्प देखे ॥ २१ ॥

भद्र, उस तरह अनेक प्रकारके जो ब्रह्माण्ड आपको बतलाये, उनमें जो चितिरूप वस्तु है, उसीमें तर्कोंसे यानी सङ्कल्पोंसे उनका विनाश और उदय मैंने देखा । चिद्वस्तुमें न तो आदित्यमण्डल है, न दिन, रात या भूतल है और न कल्प, युग और वर्षोंकी समाप्ति ही है ॥ २२ ॥

अस्तु, कल्पनासे ही उदय और अस्त है, इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, सब कुछ चेतनमें ही है, सब कुछ चेतनसे ही है, चेतन ही सब कुछ है, चारों ओरसे चेतन ही चेतन है, चेतन ही सत् है, सर्वात्मक भी चेतन ही है—यही मैंने अन्वय-व्यतिरेकसे परीक्षाकर वहाँ देखा ॥ २३ ॥

किस प्रकारके तर्कसे चेतनमें किस तरहका उदय है और किस तरहका क्षय है, इसका उदाहरण देते हैं—'त्वम्' इत्यादिसे ।

तदाकाशमिदं भाति जगदित्यभिशब्दितम् ।
तेनैव शब्दनभसा सर्वं हि परमं नभः ॥ २५ ॥
दृश्यदृष्टिरियं भ्रान्तिराकाशतरुमञ्जरी ।
चिद्व्योमाङ्ग कमेवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥ २६ ॥
बुद्ध्याकाशैकरूपेण व्यापिना बोधरूपिणा ।
तत्रानन्तेन सङ्कल्पमनुभूतमिदं मया ॥ २७ ॥
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश ।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, यदि आप किसी भी दशामें किसी रूपकी कल्पनाकर नामसे यह कहते हैं कि यह घट है, यह पट है, तो उस दशामें आपके द्वारा प्रयुक्त तत्-तत् नामरूपसे युक्त चिति ही हो जाती है, यही उदय है। यही चिति आकाशसे भी शून्यतम जब विवक्षित होती है, तब किसी नाम या रूपसे युक्त नहीं होती—यही उसका विनाश है ॥ २४ ॥

किञ्च, यह सारा नामरूपात्मक जो जगत् है, वह नामरूपात्मक कल्पनाके द्वारा आकाश ही भासता है, क्योंकि आकाश ही वायु आदि क्रमसे जगत्के आकारमें बन जाता है, यह बात श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है और वही शब्द-तन्मात्ररूप होनेके कारण सब वस्तुओंके लिए साधारण नामात्मक भी बन जाता है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि शब्दरूपसे परिणत आकाशके कारण सब जगत् परम चिदाकाशरूप ही है, वही इसका आत्यन्तिक क्षय है ॥ २५ ॥

यों विचार करनेपर अपनेको जो अनुभव हुआ, उसे महाराज वसिष्ठजी बतलाते हैं—'दृश्य०' इत्यादिसे।

हे प्रिय श्रीरामजी, यह जो दृश्योंका ज्ञान होता है, वह भ्रम ही भ्रम है, यह आकाशवृक्षकी मञ्जरी ही है यानी असत् है, इसलिए जगत्में परिशिष्ट जो चिदाकाश है, वही सुख यानी निरतिशयानन्दरूप है—इसका मैंने अनुभव किया ॥ २६ ॥

अन्तिम साक्षात्कारकी जो वृत्ति है, तद्रूप आकाशमें आविर्भाव हो जानेके कारण एकरूप, पूर्णात्मक, अनन्त तथा बोधस्वरूप हुए मैंने उक्त समाधिमें यह सङ्कल्पशून्य अनुभव किया ॥ २७ ॥

यह सम्पूर्ण जगत्का बिछा हुआ जाल ब्रह्मरूप निर्मल आकाश ही है,

तत्राऽहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
दृष्टा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥ २९ ॥
ब्रह्मन् द्वासप्ततिस्त्रेताः सर्वा एव सराघवाः ।
तत्र दृष्टं कृतशतं द्वापराणां शतं तथा ॥ ३० ॥
भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
बोधेन चेत्तदत्यच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥ ३१ ॥
नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।
ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥ ३२ ॥
पाषाणमौनप्रतिमं न किञ्चिदभिशब्दितम् ।
यत्तत्किञ्चिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥ ३३ ॥
विभात्यचेत्यं चिद्व्योम्नि स्वसत्तैव जगत्तया ।
निराकारे निराकारा स्वप्नानुभवसन्निभा ॥ ३४ ॥

जगत्‌के अन्तर्गत दसों दिशाएँ, तदन्तर्गत कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, यह मैंने देखा ॥ २८ ॥

श्रीरामजी, वासनानुसार अनेक तरहकी भिन्नताको लिये हुए जो संसार मुझे दिखाई दिये, उनमें आकारोंमें मेरे सदृश वसिष्ठ नामके बड़े उत्तम-उत्तम, ब्रह्माके पुत्र अनेक मुनीश्वर देखे ॥ २९ ॥

हे ब्रह्मन्, वहाँ मैंने बहत्तर त्रेतायुग देखे । वे सभी रामावतारसे युक्त थे, सैकड़ों सत्ययुग देखे और सैकड़ों द्वापर देखे ॥ ३० ॥

भेदवासनाकी प्रबलतासे तत्-तत् सर्गोंकी अवस्थाएँ अनेक तरहकी मैंने देखीं और तत्त्वदृष्टिसे तो उन सबको व्यापक ब्रह्मरूप आकाश ही देखा ॥३१॥

इस स्थितिमें दृष्टिभेदसे ब्रह्म सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च हो सकता है, इस विषयमें विरोध हो ही नहीं सकता, यह कहते हैं—'नेदम्' इत्यादिसे ।

न तो ब्रह्ममें यह जगद्रूप नाम है और न उसमें जगद्रूप वस्तु ही है, किन्तु वह सब अन्तिम प्राप्य तत्पदादिरूप, अज, आदि-अन्तशून्य ब्रह्मरूप ही है ॥३२॥

जो ब्रह्मरूप पाषाणके सदृश सब तरहके वाणीके व्यापारोंसे रहित है, समस्त नाम और रूपोंसे शून्य है और प्रकाशरूप है, वही कुछ नामरूपात्मक बन जाता है, और वही जगत्‌के वेषमें स्मृत है ॥ ३३ ॥

वास्तवमें चेत्य तो चिदाकाशमें है नहीं, परन्तु चितिकी अपनी सत्ता ही

अनन्यमात्मनो ब्रह्म सर्वं भामात्ररूपकम् ।
प्रकाशनमिवालोकः करोति न करोति च ॥ ३५ ॥
तेषु नामानुभूयन्ते जगल्लक्षेषु तत्र वै ।
उष्णानि चन्द्रबिम्बानि सूर्याः शीतलमूर्तयः ॥ ३६ ॥
प्रजास्तमसि पश्यन्ति पश्यन्त्येव न तेजसि ।
उलूकस्य समाचारास्तस्यैव सदृशस्वराः ॥ ३७ ॥
इतः शुभेन नश्यन्ति यान्ति पापैस्तथा दिवम् ।
विषाशनेन जीवन्ति म्रियन्तेऽमृतभोजनैः ॥ ३८ ॥
यद्यथा बुध्यते बोधे यथोदेत्यथवा स्वतः ।
तथाऽऽशु स्फुटतामेति सद्वाऽसद्वा तदेव तत् ॥ ३९ ॥

जगत्के रूपमें भासती है । वह स्वप्नके अनुभवके सदृश भ्रान्तिरूप है, अतः निराकार ब्रह्ममें भास रही सृष्टि वास्तवमें निराकाररूप ही है ॥ ३४ ॥

एकमात्र प्रकाशरूप ब्रह्म अपने अनन्य (अभिन्न) सब कुछ उस तरह करता है और नहीं भी करता, जिस तरह आलोक प्रकाश करता है और नहीं भी करता । आलोक अपनेसे अतिरिक्त प्रकाश न होनेके कारण प्रकाशको नहीं करता, यह कहना वास्तवमें ठीक ही है ॥ ३५ ॥

जगत् चिद्रूप ही है, तब चन्द्र शीतल और सूर्य गरम क्यों । उलटा भी हो सकता है, यदि यह कहें, तो यह इष्ट ही है, क्योंकि किसी ब्रह्माण्डमें वैसा भी देखनेमें आया है, यों कहते हैं—'तेषु' इत्यादिसे ।

भद्र, जो लाखों जगत् समाधिमें अनुभूत होते हैं, उनमें कहींपर चन्द्रबिम्ब गरम और सूर्यबिम्ब ठण्डे भी अनुभूत होते हैं और इसी तरहके हैं भी ॥ ३६ ॥

कहींपर अन्धकारमें प्रजाएँ देखती हैं और कहीं प्रकाशमें भी नहीं देखतीं । ठीक उल्लुओंके जैसा उनका व्यवहार है और उन्हींके जैसा वे शब्द भी करती हैं ॥ ३७ ॥

कहीं तो प्राणी पुण्यसे नष्ट हो जाते हैं और कहीं पापोंसे स्वर्ग जाते हैं, कहींपर विषभोजनसे दीर्घकालतक जीते हैं, तो कहींपर अमृतपानसे मर जाते हैं [यह मनकी अनियन्त्रित कल्पना होनेके कारण कहा गया है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे तो वेदमें भी अप्रामाण्य आ सकता है] ॥ ३८ ॥

ऐसा क्यों, इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

विटपाकारमूलौघदर्शनाद्वज्रशोभिभिः ।
घूर्णते पत्रपुष्पाभैः पादपैर्व्योम्नि काननम् ॥ ४० ॥
सिकताः पीडिताः सत्यः स्रवन्ति स्नेहजं रसम् ।
शिलाफलककेभ्यश्च जायन्ते कमलान्यलम् ॥ ४१ ॥
दारुण्यश्मनि भित्तौ च चञ्चलाः शालभञ्जिकाः ।
देवाङ्गनाभिः सहितं गायन्ति कथयन्ति च ॥ ४२ ॥
मेघान्परिदधत्युच्चैर्भूतान्युच्चैः पटानिव ।
प्रतिवर्षं विजातीयान्युत्पद्यन्ते फलान्यगे ॥ ४३ ॥

भद्र, दीर्घकालके अभ्याससे दृढ़ किये गये बोधमें जो वस्तु जैसी हित-साधन या अहितसाधनके रूपमें समझ ली जाती है, वह वैसी ही स्वयं अपने भोग-हेतु अदृष्टके कारण बन जाती है। जैसी बनती है, ठीक वैसी ही भोगकालमें विस्पष्ट बन जाती है। वह वस्तु दूसरी जगह सत् हो या असत् हो, इस विषयमें कुछ भी विशेषता नहीं रखती, क्योंकि वह ब्रह्मरूप ही है और वह ब्रह्म ही वासनानुसार वैसा विवर्तित हो जाता है ॥ ३९ ॥

इस ब्रह्माण्डमें प्रसिद्ध जो अरण्य है, उससे विपरीत पत्र, पुष्प आदिसे सम्पन्न अरण्य अन्य ब्रह्माण्डमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'विटपा०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, कहींपर तो चिदाकाशमें शाखाओंके सदृश वृक्षोंके मूल दिखाई देते हैं, इसलिए वज्रमणिके सदृश अत्यन्त दृढ़, पत्र, पुष्प आदिसे सुशोभित वृक्षोंसे युक्त अरण्य विद्यमान है ॥ ४० ॥

इसी तरह हजारों असम्भावित वस्तुओंका अन्यत्र सम्भव है, यह कहते हैं—'सिकताः' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, कहीं पर तो कोल्हूमें पीसे जानेपर बालूसे भी स्नेहजनित रस यानी तेल चूता है और कहींपर शिलाओंके ऊपरी हिस्सोंमें अनेक सुन्दर कमल उगते हैं ॥ ४१ ॥

कहीं लकड़ी, पत्थर और भीतके ऊपर निर्मित पुतलियाँ देवाङ्गनाओंके साथ गान और वार्ता करती हैं ॥ ४२ ॥

भद्र, कहींपर लम्बे-लम्बे प्राणी लम्बे वस्त्रोंके सदृश मेघोंको बड़े चावसे पहिनते हैं और कहींपर एक ही वृक्षके ऊपर प्रत्येक वर्षमें भिन्न-भिन्न जातिके फल लगते हैं ॥ ४३ ॥

सन्निवेशैर्न नियतैरङ्गानां विविधाङ्गकैः ।
शिरोभिः सर्वभूतानि परिक्रामन्ति भूमिगैः ॥ ४४ ॥
शास्त्रवेदविहीनानि निर्धर्माण्येव कानिचित् ।
यत्किञ्चनैककारीणि तिर्यग्वन्ति जगन्त्यधः ॥ ४५ ॥
कामसंवित्तिहीनानि निःस्त्रीजातानि कानिचित् ।
भूतैः संशुष्कहृदयैर्व्याप्तान्यश्ममयैरिव ॥ ४६ ॥
पवनाशनभूतानि समरत्नाश्मकानि च ।
अजातार्थान्यलुब्धानि निगर्वाणीव कानि च ॥ ४७ ॥
क्वचित्प्रत्येकमात्मानं पश्यत्याप्नोति नेतरत् ।
बहुभूतकमप्यस्ति जगदित्येकभूतकम् ॥ ४८ ॥

कहींपर एक जातिके प्राणियोंके अङ्गोंकी गठन ही अलग-अलग प्रकारकी है, कहींपर एक जातिके प्राणियोंके अङ्ग जुदे-जुदे आकारके दिखाई पड़ते हैं, कहींपर सिर ऊपरकी ओर नहीं है, किन्तु भूमितलपर है, इस तरह चित्र-विचित्र प्राणी घूमते दिखाई देते हैं ॥ ४४ ॥

कहींपर भूमि आदि लोकोंके नीचेके जगत् केवल पशु आदि प्राणियोंसे ही भरे हैं, उनमें मनुष्योंका नाम ही नहीं है, न तो इनमें वेद और शास्त्रका प्रचार है, न कोई धर्म है, न इनका कोई उत्तम आचरण है यानी यथेष्टाचरण करनेवाले हैं ॥ ४५ ॥

यतः कोई तो प्राणी कामसंवित्तिसे हीन हैं, अतः वे स्त्रीके बिना यों ही कहींपर पैदा हो गये हैं । कहींपरके जगत् तो पत्थरमय शुष्क हृदयवाले प्राणियोंसे भरे पड़े हैं ॥ ४६ ॥

कहींपर तो केवल सर्प ही सर्प हैं, कहींपर तो सभी रत्न ही रत्न हैं या तो पत्थर ही पत्थर हैं, कहींपर तो धन आदिका व्यवहार ही नहीं है, अतएव लोभरहित हैं और कहींपर प्राणियोंमें अहङ्कारकी मात्रा ही नहीं है ॥ ४७ ॥

कहींपर व्यष्टि-अहम्भाव नहीं है, केवल समष्टि-अहम्भावरूप एकात्मभावसे ही सब शरीरोंमें भेदव्यवहार होता है, यह कहते हैं—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

कहींपर प्रत्येक प्राणी अपनी समष्टि आत्माको देखता है और दूसरे

नखकेशादिके यद्वत्तद्वदन्यत्र संस्थितः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकीभूतात्मभावना ॥ ४९ ॥
अनन्तापारपर्यन्तं शून्यमेव बहु क्वचित् ।
यत्नतः संविदाप्नोति तस्यान्तेन जगत्पुनः ॥ ५० ॥
अत्यन्ताबुद्धबुद्धानि मोक्षशब्दार्थदृष्टिषु ।
दारुयन्त्रमयाशेषभूतौघानीव कानिचित् ॥ ५१ ॥
ऋक्षचक्रविहीनानि निष्कालकलनानि च ।
मूकसङ्केतसाराणि भूतजालानि कानिचित् ॥ ५२ ॥

व्यक्तिको देखता या पाता ही नहीं। ऐसा होनेपर भी वह लोक योनिज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त है और एक-एक तरहके प्राणियोंसे भी युक्त है ॥ ४८ ॥

देहोंका भेद होनेपर भी एकीभूत आत्माकी भावना किस तरहकी है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'नख०' इत्यादिसे।

भद्र, कोई पुरुष अपने नख, केश आदिके उतारने और उत्पन्न होनेपर अपना निजी छेदन और जनम देखता है, इसलिए वह अपनी अन्यत्र स्थिति मानता है। परन्तु उसके सौन्दर्यादि सुखभोगमें उसकी एकीभूत आत्मभावना ही जैसे देखी जाती है, ठीक ऐसे ही सब भूतोंमें उनकी एकीभूत आत्मभावना ही देखी जाती है ॥ ४९ ॥

कहींपर तो सृष्टिभेदकी वासना ही नहीं रहती, इसलिए अव्याकृत आकाश-मात्ररूपतासे ही वहां भावना होती है, यह कहते हैं—'अनन्ता०' इत्यादिसे।

कहींपर तो अधिकतर चारों ओर अनन्त अपारशून्य ही शून्य है। कहीं-पर प्राणी यत्नसे आत्मचिति प्राप्त करता है, तो शून्यके तिरस्कारसे फिर जगत् देखता है ॥ ५० ॥

भद्र, कुछ जगत् निर्विशेष परब्रह्मकी दृष्टि हो जानेपर वे अलीककी तरह ज्ञात होते हैं, कहींपर चितिका पृथक्करण कर देखनेपर काष्ठयन्त्रमय (हाथी, घोड़े आदिरूप) सब प्राणी देखे गये हैं ॥ ५१ ॥

कुछ जगत् तो नक्षत्रचक्रसे ही रहित हैं, अतएव कालगतिका ही वहां पता नहीं लगता। कुछ तो शब्द, श्रोत्र आदिके अभावके कारण मूक पुरुषोंके

कानिचिद्वर्जितान्येव नेत्रशब्दार्थसंविदा ।
व्यर्थदीप्तात्मतेजांसि भूतानीत्येकचिन्तया ॥ ५३ ॥
घ्राणसंविद्विहीनानि व्यर्थामोदानि कानिचित् ।
मूकानि शब्दवैयर्थ्याच्छ्रुतिहीनानि कानिचित् ॥ ५४ ॥
वाक्यसंविद्विहीनत्वान्मूकान्यन्यानि कानिचित् ।
स्पर्शसंविद्विहीनत्वादश्माङ्गानीव कानिचित् ॥ ५५ ॥
संविन्मात्रमयान्येव दृष्टान्यपि च कानिचित् ।
व्यवहारीण्यप्यग्राह्याण्येव नित्यं पिशाचवत् ॥ ५६ ॥
भूमयान्येकनिष्ठानि निष्पिण्डान्येव कानिचित् ।
कानिचिद्वारिपूर्णानि वह्निपूर्णानि कानिचित् ॥ ५७ ॥
कानिचिद्वातपूर्णानि सर्वाकाराणि कानिचित् ।
जगन्ति व्योमरूपाणि बत तत्र कचन्ति खे ॥ ५८ ॥

सदृश हाथ आदिके संकेतोंके बलपर ही अपना सारा व्यवहार निभाते हैं ॥५२॥

कहींपर ऐसे प्राणी देखे कि नेत्रशब्द, नेत्ररूप इन्द्रिय और नेत्रजनित रूप आदिका दर्शन—इन सबसे वे वञ्चित थे, अतएव उनके लिए सूर्य और चन्द्र आदिके प्रकाश निरर्थक ही रहे। भद्र, इस प्रकारकी जो जगत्‌की रचना है, वह एकाग्रचित्त योगीके मनकी कल्पनासे मैंने आपसे कही ॥ ५३ ॥

भद्र, कुछ तो प्राणी घ्राणेन्द्रिय और इससे होनेवाले गन्धज्ञानसे रहित हैं, कुछ निरर्थक ही आमोद-प्रमोद करनेवाले हैं, कुछ शब्देन्द्रियकी शक्तिसे रहित होनेके कारण मूक हैं और कुछ श्रोत्रेन्द्रियसे रहित हैं ॥ ५४ ॥

कुछ दूसरे वाक्यार्थबोध न होनेके कारण मूक हैं, कुछ स्पर्शज्ञानशून्य होनेके कारण पत्थरके अङ्गोंके सदृश त्वगिन्द्रियरहित हैं ॥ ५५ ॥

कुछ तो मनोराज्यके सदृश विचित्र ही देखे गये, कुछ तो व्यवहार करनेवाले हैं, परन्तु पिशाचोंके सदृश उद्भूत गुणोंसे उनकी रचना न होनेके कारण सदा इन्द्रियवेद्य ही नहीं हैं अर्थात् केवल साक्षीसे ही उनका ग्रहण होता है ॥५६॥

कुछ तो जगत् केवल भूमिमय हैं, उनकी स्थिति एक-सी है, कुछ घनतासे रहित हैं, कुछ केवल जलसे भरे हैं और कुछ अग्निसे पूर्ण हैं ॥ ५७ ॥

कुछ जगत् वायुओंसे परिपूर्ण हैं, कुछ सभी तरहके आकारोंसे परिपूर्ण हैं,

धरापीठैकपूर्णेषु तिष्ठन्त्यन्येषु देहिनः ।
भेका इव शिलाकोशे कीटा इव धरोदरे ॥ ५९ ॥
जलैकपरिपूर्णेषु तिष्ठन्त्युर्वीवनाद्रिषु ।
भ्रमन्त्यन्येषु भूतानि नित्यमेवोग्रमीनवत् ॥ ६० ॥
अन्येष्वग्न्येकपूर्णेषु जलादिरहितान्यपि ।
भूतान्यग्निमयान्येव स्फुरन्त्यलमलातवत् ॥ ६१ ॥
अन्येष्वनिलपूर्णेषु भूतान्यस्तेतराण्यपि ।
वातमात्रमयाङ्गानि स्फुरन्त्यर्जुनवातवत् ॥ ६२ ॥
अन्येषु व्योममात्रात्मदेहेषु व्योमरूपिणः ।
प्राणिनः सन्ति सर्गेषु दर्शनव्यवहारिणः ॥ ६३ ॥

यानी समस्त कार्योंमें समर्थ समस्त वस्तुओंसे परिपूर्ण हैं । आश्चर्य है कि कुछ तो आकाशरूप ही हैं, फिर भी चिद्रूप आकाशमें वे स्फुरित होते हैं ॥ ५८ ॥

'कुछ जगत् केवल पृथ्वीमय हैं' यह जो कहा गया है, इस विषयमें भूत जीवोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार होनेवाली शङ्काका परिहार करते हैं—'धरा०' इत्यादिसे ।

कुछ जो केवल भूमिपृष्ठपूर्ण अन्य जगत् हैं, उनमें जीव उस तरह निवास करते हैं, जिस तरह शिलाकोशके भीतर मेढ़क या भूमिके उदरमें कीड़े ॥ ५९ ॥

जो कुछ दूसरे केवल जलसे ही परिपूर्ण पृथ्वी, वन, पर्वत आदि हैं; उनमें भी प्राणी, मगरके सदृश, निरन्तर ही घूमा करते हैं ॥ ६० ॥

दूसरे जो जगत् केवल अग्निसे ही पूर्ण हैं, उनमें जल आदिसे रहित भी प्राणी, अलातचक्रके सदृश यानी भ्रमण कर रहे उल्मुककी नाईं, केवल अग्निरूप होकर ही खूब चलते फिरते हैं ॥ ६१ ॥

अन्य जो केवल वायुसे पूर्ण जगत् हैं, उनमें जो भूत हैं वे जल, अग्नि आदिसे यद्यपि रहित हैं, तथापि केवल वायुरूप होकर ही, अर्जुनामक वायुके (रोगविशेषके) सदृश, घूमते फिरते हैं [अर्जुनवायुसे ग्रस्त लोक आकाशमें घूमते हैं, यह कहींपर प्रसिद्ध है]॥ ६२ ॥

जो दूसरे केवल आकाशरूप अपनी देहसे युक्त लोक हैं, उनमें भी आकाशरूप ही प्राणी हैं और वे सबके सब दर्शनव्यवहार करनेवाले हैं ॥ ६३ ॥

पातालपातिषु तथाऽम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नाना जगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलविचञ्चलबुद्बुदेषु ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥



एकषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिदाकाशाच्चिदाकाशे पयसीव पयोरयाः ।
चित्त्वाज्जीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥ १ ॥

उस चिदाकाशमें नीचे, ऊपर एवं चारों ओर कल्पित दिशाओंमें उड़ रहे चित्रविचित्र सब जगत् और उनमें रहनेवाली अनेक तरहकी वस्तुएँ मैंने देखीं, यों उपसंहार करते हैं—'पाताल०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामभद्र, कोई पातालमें गिर रही हैं, कोई आकाशमें उड़ रही हैं, और कोई दिशाओंके मुखमें स्थित हैं—इस तरहकी केवल विभ्रमके कारण ज्ञात होनेवाली अनेक तरहकी सृष्टियोंमें, जो कि चितिरूप समुद्रके बुदबुदोंके ही स्वरूपमें हैं, मैंने जो न देखी हो, वह वस्तु ही कौन-सी है, अर्थात् कोई नहीं। सभी तरहकी असम्भव वस्तुएँ मैंने उनमें देखीं, यह भाव है ॥ ६४ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

एकसठवाँ सर्ग

[कल्पान्तमें जगत्‌का नाश होनेपर भी अज्ञात ब्रह्मका हृदय जगत् अविनाशी है, ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर तो तीनों कालमें जगत्‌की सत्ता ही नहीं रहती—यह वर्णन]

अनादि अविद्याके कारण अज्ञात हुआ ब्रह्म ही अपने असली कूटस्थ पूर्णानन्द स्वभावको भूलकर यह कल्पना करता है कि मैं चलनस्वभाव, स्वल्पस्वभाव

विशदाकाशरूपाणि तान्येव च मनांसि नः ।
जगन्ति तान्यनन्तानि सम्पन्नान्यभितः स्वयम् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते ।
पुनः कस्य कथं सर्गसंवित्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

आदिरूप हूँ, इस तरहकी कल्पनाकर मन, प्राण आदिके क्रमसे भोक्तारूप और भोग्य-रूप होकर सदा सब तरहसे उत्तरोत्तर संसारी ही बनता जाता है, इसलिए जब तक अविद्या है, तब तक संसारकी स्थिति सदा ही बनी रहेगी। यदि शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह सदा, सब ओरसे तथा सभी प्रकारसे पूर्णानन्द चिदेकरसमात्ररूप ही बन जाता है, इसलिए किसी समय, कहींपर, कोई भी और किसी व्यक्तिमें भी संसारकी संभावना नहीं की जा सकती, अतः ब्रह्म नित्यमुक्तस्वभाव ही है, यह बतलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'चिदाकाशा०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जैसे जलमें जलसे ही जलरूप वेग-तरङ्ग आदिस्फुरित होते हैं, वैसे ही चिदाकाशमें चिदाकाशसे ही ये सब—अज्ञात आत्माके स्वभावसे प्राण आदि उपाधियोंसे परिच्छिन्न—जीव स्फुरित होते हैं, और वे ही जीव उत्तरोत्तर हजारों सङ्कल्प-विकल्पोंके कारण संसारके बीजरूप होकर कारण बन जाते हैं, और हम लोगोंके मन कहे जाते हैं ॥ १ ॥

वे ही मन अपने अन्दर रहनेवाली भोग्यवासनाओंको जगत्‌के आकारमें विकसित करनेके कारण अनन्त जगद्रूप बन गये हैं, यह कहते हैं—'विशदा०' इत्यादिसे।

विशद आकाशरूप वे ही हम लोगोंके मन हैं और वे ही स्वयं चारों ओरसे अनन्त जगत्‌के रूपमें परिणत हो गये हैं ॥ २ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यही निकला कि अपनी अविद्यासे अकेला ब्रह्म ही अनेक जीवोंके आकारोंमें और अनेक सृष्टिके रूपोंमें संसार धारण करता है तथा अकेला वही अपनी विद्यासे सब जीवभाव एवं संसारसे मुक्त हो जाता है। परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहलेके प्राकृत प्रलय हो जानेके बाद सम्पूर्ण जीवोंकी समष्टि हिरण्यगर्भके तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयपर्यन्ते क्षितिजलपवनहुताशाकाशाशेषविशेषविनाशे आब्रह्म-स्थावरान्तेषु मुक्तौ परिणतेषु भूयो यथेदं जगदनुभूयते तथा शृणु ।

अव्यपदेश्यं यत्परमार्थघनं ब्रह्म चिन्मात्रमित्याचक्षते मुनयः तस्य हृदयमिदं जगत्तस्मादव्यतिरिक्तमेव, स एव च देवस्तदात्मीयं हृदयं स्वभावं जगदित्यवगच्छति च विनोदेनैव न तु वास्तवेन रूपेण जगदिति किंचिदुपलभामहे विचारयन्तस्तस्मात्किमिव नश्यति किमिव जायते

हो जानेपर उसके निमित्त इस सब जीव और जगत्‌का बाध अवश्य हो जायगा, ऐसी स्थितिमें सभीकी मुक्ति अवश्य माननी चाहिए, जब यह बात माननेको हम बाधित हो जाते हैं, तब यह शङ्का रह जाती है कि एकबार जो ब्रह्म मुक्त हो चुका, उसका जीवादिरूप संसार फिर कैसे हुआ, इस आशयसे श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रने कहा—भगवन्, ये जितने प्राणी हैं, वे सब महाकल्पके विनाशमें मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं, इस स्थितिमें फिर किसको किस तरह सृष्टि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ३ ॥

प्रश्नका अनुवादकर गद्य और पद्योंसे उसका उत्तर देनेके लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'महाप्रलय०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, महाप्रलयपर्यन्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थोंका विनाश हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर स्थावरतकके सभी जीव-जगत् मुक्तिमें परिणत हो जाते हैं, वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी यह जगत् फिर जिस रीतिसे अनुभूत होता है, वह सानन्द आप सुनिये—यद्यपि यह मुनि लोग कहते हैं कि आकाशतकके समस्त विशेषोंका विनाश हो जानेपर जीवजगत् मुक्तिमें परिणत हो जाता है और केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही, जो अव्यपदेश्य (शब्दसे कहने अयोग्य) परमार्थ चेतनघन है, अवशिष्ट रह जाता है, तथापि समझनेकी बात यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म जो बच जाता है, उसका यह जगत् एक तरहका हृदय है और उससे अभिन्न है । सारांश यह निकला कि—[यद्यपि मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे सभी जीवोंकी मुक्ति ही है, किसीके लिए कुछ भी बाकी

यथा परमकारणमविनाशि तथा तद्धृदयमविनाश्यं च। महाकल्पादयश्च तदवयवा एव, अपरिज्ञानमात्रमत्र केवलं भेदायैव तदपि प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यत एव ॥ ४ ॥

नहीं बचता, तथापि दूसरे जो जीव हैं, उनमें हर-एकको तो तत्त्वज्ञान हुआ है नहीं, इसलिए उनकी दृष्टिसे अपनी-अपनी अविद्या तो नष्ट हुई नहीं, अतः बन्धका अनुभव होता है। जैसे चन्द्रलोकमें जो मूलतः रहनेवाले हैं अथवा अभी-अभी जो चन्द्रलोकमें जा पहुँचे हैं, उनकी दृष्टिमें चन्द्रलोककी स्वरूपस्वरूपता अत्यन्त असत् ही है, परन्तु भूमिपर स्थित पुरुषोंकी दृष्टिसे तो चन्द्र स्वरूपरूप ही है, ऐसे ही यहाँपर भी जानना चाहिए। इसी बातको स्पष्ट करते हैं कि] वही देव बद्धदृष्टिसे जगत्को अपना स्वभाव और हृदय समझता है तथा मुक्तदृष्टिसे वैसा नहीं भी समझता। आत्माके विषयमें तात्त्विक विचार करके स्थित मुक्तस्वभाव हम लोग तो जगत्को विनोदसे यानी यह जगत् बाधित हो चुका है, पर उसका केवल जले हुए वस्त्रके सदृश भास होता है—इस प्रकारके कौतुकसे, कुछ है, यों देखते हैं, उसे वास्तविकरूपसे नहीं देखते। इससे तीनों दृष्टियोंमें जगत् आत्मासे अभिन्न ही ठहरता है, इसलिए इसका क्या विनाश और क्या उत्पत्ति। जैसे इसका परमकारण विशुद्ध आत्मा अविनाशी है, वैसे ही उस आत्माका हृदयभूत यह जगत् अविनाशी ही है। जगत् अविनाशी है, तो महाकल्प, अवान्तर कल्प आदि कैसे हो सकेंगे, क्योंकि जगत्का नाश होनेपर ही तो महाकल्प आदिका व्यवहार हो सकता है, इस प्रकारकी यदि कोई शङ्का उठाये, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि महाकल्प आदि भी तो जगत्के अवयव हैं। जब उक्त रीतिसे जगत् नित्य और स्थायी है तब उसके अङ्गभूत महाकल्प आदि अनित्य और अस्थायी कैसे हो सकता है। और यह तो कहा नहीं जा सकता कि कारण एक समयमें नष्ट होकर फिर दूसरे समयमें आ जाते हैं। इसलिए यही मानना होगा कि सत्यस्वरूप जो कल्प, सृष्टि आदि हैं, वे ही जपमालाके अङ्गभूत मणियोंके सदृश बार-बार कालचक्ररूपसे घूम फिरकर आते जाते रहते हैं। अतीत, भविष्यत् आदि कल्प और सृष्टि आदिको लेकर कल्पादिमें परस्पर जो भेदबुद्धि हो जाती है उसका एकमात्र कारण इस विषयका व्यापक अज्ञान ही है; परन्तु इस अज्ञानको यदि हम देखते हैं, तो हाथ लगता नहीं, अतः भेदबुद्धि कल्पादिकी अस्थायिता आदिमें हेतु नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

तस्मान्न कस्यचित्कदाचिन्नश्यति क्वचित् ।
न चैव जायते ब्रह्म शान्तं दृश्यमजं स्थितम् ॥ ५ ॥
आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेपि या
शुद्धचिन्मात्रसत्ता विद्यते ॥ ६ ॥
वपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचितेः ।
कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा च न नश्यति ॥ ७ ॥
संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तया ।
व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ॥ ८ ॥
चिद्व्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।
उदयाश्चेति खं सर्वं किंनाशि किमनाशि च ॥ ९ ॥

गद्यभागसे जिस अर्थकी सिद्धि की गई है, उस अर्थका अब पद्यसे उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ,

हे श्रीरामजी, इसलिए किसीकी न तो कुछ सृष्टि होती है, न किसी समय कुछ नष्ट होता है और न कभी कुछ उत्पन्न होता है, यह जो कुछ दृश्य है, वह सब शान्त, अज ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ५ ॥

जगत्का विनाश नहीं होता, इसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

जो असंख्य बड़ेसे बड़े आकाशतकके और छोटेसे छोटे परमाणुतकके पदार्थ हैं, उन सबमें भी जो सत्ता है, वह विशुद्ध चिन्मात्रकी ही सत्ता है ॥ ६ ॥

यह जगत् उस महाचितिका शरीर है, महाचिति तो नष्ट होती नहीं, इसलिए उसके विनाशके बिना जगत् कैसे नष्ट हो सकता है ॥ ७ ॥

जगत् संवित्का हृदय है, यह तो स्वप्नमें भी, जिसका सार ज्ञानभाव है, प्रसिद्ध है, यों कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें जगत्के रूपसे संवित्का (ज्ञानका) हृदय ही भासता है, वैसे ही आदि सर्गसे लेकर यह सब जो कुछ भासता है, वह ज्ञानरूप आत्माका ही हृदय है, और असलमें यह सब है—चिदाकाशरूप ॥ ८ ॥

भद्र, यह सृष्टि चिदाकाशका काल्पनिक अवयव (अङ्ग) है और अङ्गभूत

एषा हि परमार्थसंविदच्छेद्या अदाह्याऽक्लेद्याऽशोष्या, सा ह्यतद्विदामदृश्या तस्या यद्धृदयं तत्तदेव भवति यथाऽसौ न नश्यति तदन्तर्वर्तीजगदाद्यनुभवो न जायते न नश्यत्येवेति केवलं स्मरणविस्मरणवशेन स्वभावरूपेणानुभवाननुभवौ कल्पयतीव ॥ १० ॥

यद्यद्यदात्मकं तत्त्वं तद्विनाशं विनाऽक्षयि ।
तस्माद्ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ॥ ११ ॥
महाप्रलयादयस्तदवयवा एव ॥ १२ ॥

कल्पित इस सृष्टिके उदय तथा क्षय भी ऐसे ही कल्पित अङ्ग हैं, अतः जो कुछ है वह सब चेतनरूप आकाश है, ऐसी स्थितिमें कौन नाशवान् और कौन अनाशवान् हो सकता है ॥ ९ ॥

तब संवित्का भी विनाश मान लीजिये, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'एषा०' इत्यादिसे।

यह जो परमार्थ ज्ञानरूप आत्मा है, वह काटनेके अयोग्य, जलानेके अयोग्य, गीला करनेके अयोग्य और सुखानेके अयोग्य है। वह परमार्थचिति (ब्रह्म) अज्ञानियोंको दीखाई नहीं पड़ती, उसका जो कल्पित हृदय है, वह जगत् ही है। जैसे उस परमार्थ चेतनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, वैसे ही उसके हृदयभूत जगत् एवं जगत्के हेतु अज्ञानके अनुभवकी भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। केवल स्मरण और विस्मरणवश स्वभावरूपसे अनुभव और अननुभवकी वह कल्पना करती है ॥ १० ॥

जगत्की आत्मा भी अविनाशी आत्माको लेकर ही है, इससे भी जगत् विनश्वर नहीं है, यह कहते हैं—'यद्य०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह आप जान लीजिये कि जो जो पदार्थ जिस जिस वस्तुके स्वरूपभूत हैं, वे उस उस वस्तुके विनाशके बिना विनष्ट नहीं हो सकते, इस नियमके आधारपर ब्रह्मरूप दृश्य ब्रह्मके सदृश अविनाशी ही है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप जगत्का विनाश, ब्रह्मविनाश जब होगा, तभी होगा, परन्तु ब्रह्म तो शाश्वत है, इसलिए जगत् नष्ट नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

यदि शङ्का हो कि ब्रह्मरूप विश्व है, तब तो ब्रह्म भी अनेक तरहका होना चाहिए, क्योंकि विश्व अनेक तरहका है, तो इस शङ्कापर कहते हैं—'महाप्रलयादयः' इत्यादिसे।

चिन्मात्रे परमे व्योम्नि कुत एव भवाभवौ ।
कुतो भावविकारादिः कथं व्योम्नि निराकृते ॥ १३ ॥
महाकल्पादयो भावा नामैतानि जगन्ति च ।
ब्रह्मात्मकतयैवास्मिन् संविद्ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ १४ ॥
निराकृत्यच्छचिन्मात्रं दृश्यं सङ्कल्प्य तद्वशम् ।
याति येनैव घटितो यक्षस्तद्धृदये किल ॥ १५ ॥

यथाऽवयविनो वृक्षस्य शाखाविटपफलपल्लवपुष्पादयोऽवयवास्तथा

महाप्रलय आदि भी उस महाकालरूप परमात्माके कल्पित अवयव ही हैं, इसलिए विश्वकी अनेकतासे ब्रह्ममें, अनेकता नहीं आ सकती, जैसे कि तरङ्गोंकी अनेकतासे जलमें ॥ १२ ॥

यदि शङ्का हो कि सृष्टि, प्रलय आदि असंख्य अचेतन अवयवोंसे युक्त आत्मा विशुद्ध चिदेकरस कैसे हो सकता है, तो यह शङ्का योग्य नहीं है, क्योंकि वृक्ष, नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बोंसे युक्त स्फटिकशिला जैसे विशुद्ध शिलैकरस-रूप है, वैसे ही आत्मा अनेक प्रतिबिम्बघटित होनेपर भी विशुद्ध चिदेकरसरूप हो सकता है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'चिन्मात्रे' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र परम ब्रह्मरूप आकाशमें किस हेतुसे सृष्टि और प्रलय हो सकते हैं तथा किस हेतुसे किस तरह भावविकार आदि धर्म भी निराकार चिदाकाशमें हो सकते हैं अर्थात् किसी तरह भी नहीं हो सकते ॥ १३ ॥

जैसे स्फटिकमें पड़े हुए चित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब स्फटिकरूपसे ही स्थित हैं, वैसे ही इस संविदेकरस ब्रह्ममें पड़े हुए ये जगत्, महाप्रलय आदि चित्रविचित्र प्रतिबिम्बरूप भाव भी ब्रह्मरूपसे ही स्थित हैं ॥ १४ ॥

जैसे मनके सङ्कल्पसे जनित यक्षनगर आदि केवल मनोरूप हैं, वैसे ही विशुद्ध चितिके सङ्कल्पसे जनित ये भाव भी विशुद्ध चितिरूप ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'निराकृत्य०' इत्यादिसे ।

समस्त आकारोंसे रहित स्वच्छ चितिमात्ररूप आत्मा दृश्यकी कल्पनाकर उसके अधीन हो जाता है। ठीक ही है, जो बालक अपने हृदयमें मनसे जिस यक्षकी कल्पना करता है, वह उसके अधीन हो ही जाता है ॥ १५ ॥

यह सब तो ठीक है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि जगत अविनाशी

परमार्थघनस्याकाशादप्यच्छरूपस्याव्यपदेश्यस्य प्रलयमहाप्रलयनाशोद्भेद-भावाभावसुखदुःखजननमरणसाकारनिराकारत्वादयोऽवयवाः ॥ यथैव चासावयवव्यनाशोऽव्यपदेश्यश्च तथैव त इति ॥ १६ ॥

अवयवावयविनोर्दृश्ययोर्वाप्यदृश्ययोः ।
एकात्मनोरेव सदा भेदोऽस्ति न कदाचन ॥ १७ ॥

यथा तरोः संविन्मूलं तथा परमार्थघनस्य क्वचित् किञ्चित्त्वं क्वचित् सर्गस्तम्बः क्वचिल्लोकान्तरविटपाः क्वचिद्व्यवस्थाः शाखाः क्वचित्पदार्थपल्लवाः क्वचित्प्रकाशकुसुमम् क्वचिदन्धकारकाण्र्यं क्वचिन्नभःकोटरम् क्वचित्प्रलयगुल्माः क्वचिन्महाप्रलयगुल्माः क्वचिद्धरिहरादिगुलुच्छकाः क्वचिज्जाड्यत्वक् एवमनाकारं व्योमरूपमेव संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृशभावाद्व्यतिरिक्तमेवैतत्स्थितम् ॥ १८ ॥

कैसे ? इसका उत्तर यह है—अविनाशी ब्रह्मका वह अवयव है, इससे; इस आशयको लेकर वृक्षशाखाके दृष्टान्तसे वर्णन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे अवयवोंसे युक्त वृक्षके शाखा, स्कन्ध, फल, पल्लव, पुष्प आदि अवयव (अङ्ग) हैं वैसे ही आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ व्यपदेशके अयोग्य परमार्थघन चेतनरूप आत्माके प्रलय, महाप्रलय, नाश, उत्पत्ति, भाव, अभाव, सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार आदि अवयव हैं । अतः जैसे यह आत्मारूपी अवयवी अविनाशी और व्यपदेशके अयोग्य है, वैसे ही सर्ग, प्रलय आदि अवयव भी अविनाशी एवं व्यपदेशके अयोग्य हैं ॥ १६ ॥

दृश्य और अदृश्यका भेद कैसे है ? इसपर कहते हैं—'अवयवा०' इत्यादिसे ।

निरन्तर ही एकस्वरूपवाले अवयव और अवयवियोंमें, चाहे वे दृश्यरूप हों या अदृश्यरूप, किसी समय भी भेद नहीं रहता ॥ १७ ॥

अवयव और अवयवीके अभेदका, वृक्ष और वृक्षके अवयवोंकी समानता बतलाकर, निरूपण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षके अस्तित्वमें मूलभूत कारण वृक्षज्ञान है, वैसे ही परमार्थघन आत्माके जगत्के अस्तित्वमें ज्ञान ही मूलभूत कारण है, [इसलिए समानता प्रसिद्ध ही है । ऐसी स्थितिमें ज्ञानरूप मूलके आधारपर ही किसी किसी प्रदेशमें

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माऽचलं स्थितम् ॥ १९ ॥
एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रञ्जनाः ।
काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥ २० ॥
निर्मले परमाकाशे क्व भावाभावरञ्जनाः ।
क्वादिमध्यान्तकलनाः क्व लोकान्तरविभ्रमाः ॥ २१ ॥

जो कुछ विचित्रता है, उसका वृक्षके सदृश परिज्ञान करना चाहिए। जैसे—] परमार्थघन परमात्म वृक्षका कहींपर सृष्टिरूप मध्यकाष्ठ है, कहींपर लोकान्तररूप तने हैं, कहींपर जम्बूद्वीप आदि व्यवस्थात्मक शाखाएँ हैं, कहींपर पदार्थरूप पल्लव हैं, कहींपर प्रकाशरूप फूल हैं, कहींपर अन्धकाररूप हरित पत्तोंकी हरियाली है, कहींपर आकाशरूप कोटर हैं, कहींपर प्रलयरूप गुल्म (गाँठे) हैं, कहींपर हरिहर आदि उत्तम देवतारूप गुच्छे हैं, कहींपर जडत्वरूप छिलके हैं। इस प्रकार निराकार आकाशरूप ही आकारविशेषोंसे संविदात्मक ब्रह्ममें प्रतीत होता है और वह ब्रह्मके सदृश स्वच्छस्वभाव होनेके कारण उससे अभिन्न बनकर ही स्थित है ॥ १८ ॥

इसी अर्थको फिर कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे।

भद्र, जितने भविष्यकालके पदार्थ हैं, जितने भूतकालके पदार्थ हैं, जितने वर्तमानकालके पदार्थ हैं, जितने सर्ग हैं, जितने प्रलय हैं, वे सब अनुभवसे ही सिद्ध होते हैं, अतः अनुभवरूप हैं और अनुभव स्वसत्तात्मक आत्मा ही है, इसलिए यों सब कुछ ब्रह्मरूप ही अचल स्थित है ॥ १९ ॥

तब क्या ब्रह्ममें कल्पित सृष्टि, प्रलय आदि सत्य हैं ? इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'एवंमयेऽपि' इत्यादिसे।

यद्यपि ऐसा (सृष्टिकी ब्रह्ममयता) है, तथापि परम ब्रह्मरूप आकाशमें सृष्टि, महाप्रलय आदि कोई भी रङ्ग ऐसे नहीं हैं, जैसे चन्द्रबिम्बमें कलङ्कशून्यता ॥ २० ॥

श्रीरामजी, सम्पूर्ण मलोंसे रहित परम चिदाकाशमें कहाँ सृष्टि-प्रलयके कलङ्क, कहाँ आदि, मध्य और अन्तकी कल्पना तथा कहाँ लोकान्तरोंके विभ्रम ॥ २१ ॥

अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
केवलं तत्परावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥ २२ ॥
अज्ञानं ज्ञप्तिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।
येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेनेव दीपकः ॥ २३ ॥
अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥ २४ ॥
एवं बोधादयो राम मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
विचारयत्नो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥ २५ ॥
इदं जगज्जालमनाद्यजातं
ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।

तब उस प्रकारके विभ्रममें कौन हेतु है और उसकी शान्ति कैसे होती है, इसपर कहते हैं—'अपरि०' इत्यादिसे ।

आत्माके तात्त्विक स्वरूपका अपरिज्ञान ही उसमें दोष-सा बनकर स्थित हो गया है, इसलिए बाह्यदृष्टिको हटाकर केवल प्रत्यगात्माकी ओर लगाई गयी बुद्धिसे यदि विचार किया जाता है, तो उसी विचारसे वह नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

जो आत्मा अज्ञानका साधक है, वह जब चरम (अन्तिम) आत्मसाक्षात्कार-वृत्तिसे प्रकाशित हो जाता है, तब वही अज्ञानका बाधक बन जाता है, इस विषयमें युक्ति बतलाते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यदि विचारा जाय, तो वह अज्ञान जिस ज्ञानरूप आत्मासे सिद्ध हुआ है, उसीसे वह उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पवनसे ही जनित अग्निरूप दीपक पवनसे नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

ज्ञान अज्ञान और अज्ञानके कार्यका निवर्तक है, यह कहते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

अज्ञान भलीभांति परिज्ञात हो जानेपर 'वह नहीं ही था' इस रूपसे जाना जाता है तथा बन्ध और मोक्षसे रहित ब्रह्म ही सब कुछ है, यों बोध होता है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, मोक्षके लिए ये ही वर्णित बोध आदि उपाय मैंने आपसे बतलाये । जिस पुरुषका सतत प्रयत्न आत्माके विचारमें चालू रहता है, वही अधिकारी पुरुष इन उपायोंको प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २५ ॥

श्रीरामजी, यह अनादि जगत्-रूपी जाल कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं है,

विचारदृष्ट्याऽष्टगुणेश्वरत्वं
पश्यंस्तृणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

यदेतद्भवता दृष्टं चिद्व्योमवपुषा तदा ।
तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताऽम्बरे ॥ १ ॥

परन्तु जो यह कुछ वर्णित जीव आदिरूप जगत् भासता है, वह तो भोग और मोक्ष चाहनेवाला यानी अपने तात्त्विक स्वरूपको न जाननेवाला ब्रह्म ही है। वर्णित विचारदृष्टिसे अणिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त सर्वेश्वर भी मायारूप होनेसे असार है—इस प्रकारके ऊँचे वैराग्यसे ईश्वररूपताको तृणरूप समझ रहा कोई अधिकारी पुरुष अपनेमें निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मरूपताका निश्चयकर अपनी आत्मामें ही पूर्ण सन्तुष्ट हो स्थित रहता है ॥ २६ ॥

एकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

[आकाशरूप मुनिकी अनेक ब्रह्माण्ड देखनेकी इच्छा तथा स्वप्नके सदृश आकाशरूप स्त्रीके साथ बातचीत का वर्णन]

भगवन्, पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ते हुए आपने क्या उस जगत्-समूहको परिच्छिन्नभावसे स्थित होकर देखा या अपरिच्छिन्न चिदाकाशभावसे ? यों सन्देह करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'यदेतद्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ते हुए आपने उस समय उस जगत्-समूहका जो अवलोकन किया, वह क्या एकदेशमें स्थित होकर किया या चिदाकाशरूप शरीरसे किया ? [यह कहनेकी कृपा कीजिये] ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

सम्पन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल ।
स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥ २ ॥
नैकस्थानस्थितमयो नाहं गतिमयोऽभवम् ।
तदनेन स्व एवास्मिन् दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥ ३ ॥
यथाऽङ्गानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम् ।
चिन्नेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ४ ॥
अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा
तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः ।
जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे
यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥ ५ ॥

इनमें दूसरे विकल्पका अवलम्बनकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'सम्पन्नोऽहम०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब मैं अनन्तात्मा, सर्वव्यापक चिदाकाशरूप हो गया, तब उस आनन्त्यावस्थामें मेरे कैसे हो सकते हैं गमन और आगमन ॥ २ ॥

न तो उस समय मैं एक स्थानमें स्थित हो रहा था और न था मैं हो रहा गतिमय, इसलिए इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप चिदाकाशमें ही अपने इसी अपरिच्छिन्नरूपसे मैंने यह सब जगत्-समूह देखा ॥ ३ ॥

एकदेशस्थिति आदिकी कल्पनाके बिना स्वात्मरूपसे अनात्मदर्शनकी अप्रसिद्धिका दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे देहमें आत्मत्वबुद्धि होनेसे मैं पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त सभी अङ्गोंको देखता हूँ, वैसे ही मैंने इस चर्मचक्षुके बिना भी चिद्रूपी चक्षुसे जगत्समूह देखा ॥४॥

असङ्ग, उदासीन और अवयवशून्य ब्रह्मभूतका अवयव जगत् कैसे हुआ, इसपर कहते हैं—'अनाकृते०' इत्यादिसे ।

उस समाधिकालमें आकृतिशून्य निरवयवस्थितिसम्पन्न निर्मल चिदाकाशरूप हुए भी मेरे वे जगत् मेरी सत्ता ही से सत्तावान् होनेसे अवयवसमूह हो गये थे, जिससे कि मेरी वस्तुस्वभावता स्वतः नष्ट न हो सकी थी तथा स्वतः सत्ताशून्य होनेसे उनमें वस्तुता भी न थी । कहनेका तात्पर्य यह कि उस समय वास्तविक अवयवता न हुई ॥ ५ ॥

प्रमाणमत्र ते स्वप्नदृष्टो भुवनविभ्रमः ।
स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्खमेव तत् ॥ ६ ॥
यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम् ।
स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ७ ॥
यथाऽम्बुधिरनन्तात्मा वेत्ति सर्वान् जलेचरान् ।
तरङ्गावर्तफेनांश्च तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ८ ॥
अवयवान्स्वानवयवी यथा वेत्ति निजात्मनि ।
अनन्यानात्मनः सर्गांस्तथैतान् बुद्धवानहम् ॥ ९ ॥
अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।
तथैव सर्गान्पश्यामि राम बोधैकतां गतः ॥ १० ॥

उक्त अर्थमें स्वाप्निक जगत्के उस तरहके रूपको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं—'प्रमाणमत्र' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें आपको प्रमाण तो स्वप्नमें देखा गया भुवनका विभ्रम ही है, क्योंकि स्वप्नमें जो दृश्य अनुभूत होता है वह चिदाकाश ही है, उसके सिवा और कुछ नहीं ॥ ६ ॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति तो निर्विकल्पक समाधिमें ही जगत्के दर्शनाभावका वर्णन करती है, सविकल्पक समाधिमें जगत्के दर्शनाभावका वर्णन नहीं करती, इस अभिप्रायसे नेत्र आदि इन्द्रियोंके बिना भी जगत्के अवलोकनमें दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षदेहात्मभूत—वृक्षका अभिमानी जीव पत्र, पुष्प, फलादिसे सम्पन्न अपनेको ही देखता है, वैसे ही अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे मैंने इस सारे जगत्को देखा ॥ ७ ॥

अनन्त-समुद्राभिमानी जीव समस्त जलचरों, तरङ्गों, आवर्तों एवं फेनको जैसे जानता है, वैसे ही मैंने नानाविध अनेक संसारोंको जाना ॥ ८ ॥

जैसे अवयवी अपने अवयवोंको अपने स्वरूपके अन्दर अपनेसे अनन्य ही समझता है, वैसे ही इन सृष्टियोंको मैंने समझा ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बोधस्वरूप आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हुआ मैं अब भी उन नानाविध अनेक सृष्टियोंको वैसे ही देह, आकाश, शैल, जल और स्थलमें भी देख रहा हूँ ॥ १० ॥

पुरोऽस्माकमिदं विश्वं गृहस्यान्तर्बहिस्तथा ।
पूर्णमेतज्जगद्वृन्दैर्वेद्मि बोधैकतां गतः ॥ ११ ॥
यथाम्भो रसतां वेत्ति शैत्यं वेत्ति यथा हिमम् ।
स्पन्दं वेत्ति यथा वायुस्तथैतद्वेत्ति शुद्धधीः ॥ १२ ॥
यो यो नाम विवेकात्मा शुद्धबोधैकतां गतः ।
सम एव मयैकात्मा वेद्मि स्वात्मानमीदृशम् ॥ १३ ॥
अस्या दृष्टेः परिणतेर्वेत्तृवेदनवेद्यधीः ।
न काचिदस्त्यभ्युदिता विज्ञानात्मैकता यतः ॥ १४ ॥
दिव्या दृगद्रिसंस्थस्य यथा योजनकोटिगान् ।
भावान्वेत्ति बहिश्चान्तरेवं तद्बुद्धवानहम् ॥ १५ ॥

यह सारा विश्व हमारे सामने उपस्थित है । बोधस्वरूप आत्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ मैं घरके भीतर और बाहरके देशको इन नाना जगत्-समूहोंसे परिपूर्ण समझता हूँ ॥ ११ ॥

जैसे जल रसताको जानता है, जैसे हिम शैत्यको जानता है, जैसे स्पन्दनको हवा जानती है, वैसे ही शुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष इस संसारको भी जानता है ॥१२॥

क्या अकेले आप ही जानते हैं ? इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे ।

जो-जो विवेकी पुरुष शुद्ध बोधात्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे सबके सब मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, इसलिए मैं उन सबका एक आत्मा होकर अपने आत्माको इस तरह देखता हूँ ॥ १३ ॥

इस सर्वात्मस्वरूप दृष्टिका परिपाक हो जानेपर वेत्ता, वेदन और वेद्यरूप त्रिपुटीबुद्धि स्वात्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तुके रूपमें नहीं रह पाती, क्योंकि विज्ञानरूप आत्माके साथ सबकी एकरूपता उदित हो जाती है ॥ १४ ॥

एक ही ज्ञानसे व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थोंका दर्शन आपको कैसे हुआ, इस आशङ्कापर दृष्टान्त द्वारा इसका संभव बतलाते हैं—'दिव्या' इत्यादिसे ।

पर्वतपर स्थित पुरुषकी दिव्य दृष्टि जैसे करोड़ों योजनपर स्थित बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंको देखती है, वैसे ही मैंने भी ये सब जगत् देखे ॥ १५ ॥

यथा भूमण्डलं भावान्निधिधातुरसादिकान् ।
वेत्त्येवं तन्मया बुद्धमनन्यद्दृश्यमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्ननुभवत्येवं त्वयि तामरसेक्षण ।
सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽऽर्यापाठपाठिनी ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

तामेवार्यां पठन्ती सा तथैवानुनयाऽन्विता ।
मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥ १८ ॥
यथाऽहमाकाशवपुस्तथैवासौ खरूपिणी ।
तेन दृष्टा न सा पूर्वदेहेन ललना मया ॥ १९ ॥
अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।
जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ॥ २० ॥

जैसे पृथिवीमण्डलका अभिमानी जीव पृथिवीपरके निधि, धातु, रस आदि सभी पदार्थोंको जानता है, वैसे ही मैंने भी अपनेसे अभिन्न सम्पूर्ण दृश्य-समूहको जाना ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे कमललोचन ब्रह्मन्, जब आप इस तरह अनुभव कर रहे थे, तब आर्या छन्द पढ़नेवाली उस कान्ताने क्या किया, यह कहिये ॥ १७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस आर्या छन्दका पाठ करती हुई उसी प्रकार प्रशंसादि प्रीतिजनक व्यापारसे युक्त, चिदाकाशशरीरधारिणी वह कान्ता आकाशमें देवीकी तरह मेरे समीपमें स्थित हुई ॥ १८ ॥

यदि वह आपके समीप स्थित थी, तो फिर आपने बिना समाधिके ही पहले ही उसे क्यों नहीं देखा, इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसा मैं आकाशमयशरीर था वैसी ही वह ललना भी आकाशमयशरीर थी, अतः समाधिके पहले उस शरीरसे मैं उसे न देख सका ॥ १९ ॥

आकाशस्वरूप मैं था, आकाशमय शरीरधारिणी वह थी तथा आकाशमय वह सारा संसारसमूह भी उस समय चिदाकाशमें ही स्थित था ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसम्भवैः ।
यदुदेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्तादृशाकृतेः ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्काराः कुतो नामात्मनामिति ।
ब्रूहि मे भगवंस्तत्त्वं यथावृत्तश्च निश्चयम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।
यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाऽम्बरे ॥ २३ ॥
रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते ।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं खात्मकं स्थितम् ॥ २४ ॥

यदि वह कान्ता आकाशरूप ही थी, तो फिर जीभ, तालु, ओठ एवं प्राणवायुके न रहनेसे कैसे वह आर्याका पाठ कर सकी, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, शरीरमें स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुए वर्णोंसे जो वाक्य उत्पन्न होता है वह आकाश-शरीरधारिणी उस, स्त्रीसे कैसे उत्पन्न हुआ ॥ २१ ॥

एवं आकाशस्वरूप आपके लिए भी उसके रूपदर्शनका पर्यालोचन करना कोई सरल काम नहीं है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

भगवन्, बाह्यरूप आदिका दर्शन तथा आभ्यन्तर मनका अनुभव शुद्ध चिदाकाशरूप आत्माओंको कैसे हो सकता है, इसलिए उस समय आपने जैसे जगत्के दर्शन तथा सम्भाषण आदि व्यवहार किये, उसका जो निचोड़ हो, वह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

कल्पनासे यह सब कुछ उपपन्न है, इसमें स्वप्नदृष्टान्त ही प्रमाण है, यह उत्तर देते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नमें बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान, शब्दपाठ तथा वचन आकाशमें ही स्थित रहते हैं वैसे ही वे सभी पदार्थ उस चिदाकाशमें ही रह रहे हैं ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे आपके स्वप्नमें चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर

न केवलं तु तद्दृश्यं यावत्तु विषयं वयम् ।
जगच्चेदं खमेवाच्छं यथा तन्नस्तथाऽखिलम् ॥ २५ ॥
परमार्थमहाधातुर्वेद्यनिर्मुक्तचिद्वपुः ।
एवं नाम स्वयं भाति स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ २६ ॥
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
यथैव तेषां देहादि तथाऽस्माकमिदं स्थितम् ॥ २७ ॥
यथैव तत्तथैवेदं तथैवेदं यथैव तत् ।
असत्सत्तामिव गतं सच्चासदिव च स्थितम् ॥ २८ ॥

पदार्थोंके रूपसे उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकालमें भी वह सारा दृश्य-प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था ॥ २४ ॥

यह तो मैं बहुत ही कम कह रहा हूँ कि वह सारा दृश्य प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था । तत्त्वतः विचार करनेपर तो इस समय यह सम्पूर्ण संसार भी चिदाकाशरूप ही है । यहाँ भी शरीरादि भ्रान्तिसे ही व्यवहारभ्रम हो रहा है, यह महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'न केवलम्' इत्यादिसे ।

हमारे लिए केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ये जितने पदार्थ हम लोगोंकी बुद्धिके विषय हैं वे सबके सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाशरूप ही इस समय भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि हमारे उस समाधिकालमें विद्यमान थे ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत्‌की वासनासे उपहित चितिस्वभावका जो निश्चय है वह एक परमार्थ महाधातु (परमार्थरूपी श्रेष्ठमणि) है, जिसका विषयनिर्मुक्त एकमात्र चिति ही शरीर है, वही स्वयं भासता है, यह सर्वत्र श्रुति तथा विद्वानोंके अनुभव आदिसे प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥

भद्र, शरीरस्थान करणों (जीभ आदि इन्द्रियों) की सत्तामें आपको कौन-सी प्रमा है ? जैसे उनके देहादि स्थित हैं वैसे ही हमारा भी यह स्थित है ॥ २७ ॥

जैसे स्वप्नादि देहोंकी सत्ता है, वैसे ही यह भी है; जैसे यह है, वैसे ही वह भी है । असत् यह जगत् सद्रूपताको मानो प्राप्त है तथा निर्विशेष आत्मतत्त्वरूप जो सत् है वह भी आवृत होनेके कारण असत्‌सा—अत्यन्त अप्रसिद्ध-

यथा स्वप्ने धराब्वाद्रिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः ।
तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ २९ ॥
यथा स्वप्ने नृभिर्युद्धकोलाहलगमागमाः ।
असन्तोप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ ३० ॥
वक्षि चेत्स्वप्नदृश्यश्रीः कस्मात्तदसमञ्जसम् ।
अवाच्यमेतद्धेतुर्हि नान्योऽस्त्यनुभवस्थितेः ॥ ३१ ॥
कथमालक्ष्यते स्वप्न इति प्रष्टुः प्रकथ्यते ।
यथैवं पश्यसीत्येव हेतुरत्रास्ति नेतरः ॥ ३२ ॥
स्वप्नजन्तुरिव व्योम्नि भाति प्रथमसर्गतः ।
प्रभृत्येव विराडात्मा खे खमेव परस्परे ॥ ३३ ॥

सा—स्थित है। इतना ही नहीं और सुनिये—चिदानन्दस्वभावका जो व्यत्यास है (उलट-फेर है) वह भी ऐसा ही है ॥ २८ ॥

जैसे स्वप्नमें पृथिवीके ऊपर खेती आदि, रास्तोंपर यातायात आदि तथा प्रासाद आदिके ऊपर शयन आदिका जो व्यवहार होता है वह भी सब चिदाकाशरूप ही है। वैसे ही उस समय में, आप, वह स्त्री तथा वह और यह सब कुछ चिदाकाशरूप ही था ॥ २९ ॥

जैसे स्वप्नमें न रहते हुए भी युद्धके कोलाहल तथा यातायातका मनुष्य अनुभव करते हैं, वैसे ही ये जगत्के समूह मनुष्यों द्वारा अनुभूत हो रहे हैं ॥३०॥

स्वप्नके वैचित्र्यमें भी किसी अन्य हेतुकी संभावनाका तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि अनवस्था आदि दोष आ जानेके भयसे सभी वादियोंके चुप हो जानेके कारण 'एकमात्र अविद्योपहित चिदात्माका ही यह स्वभाव है' इस मेरे पक्षकी ही अन्तमें सिद्धि है, यह कहते हैं—'वक्षि' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप यह कहें कि यह स्वप्नदृश्यश्री कैसे हुई, तो आपका वह कहना असंगत होगा। यह अवाच्य है, क्योंकि स्वप्नानुभवस्थितिसे अन्य कोई दूसरा हेतु ही नहीं है ॥ ३१ ॥

स्वप्न कैसे दिखाई देता है, यह पूछनेवालेको सभी लोग यही उत्तर देते हैं कि—जैसे तुम देखते हो। तात्पर्य यह कि उसका अनुभव ही उसके प्रश्नका एकमात्र उत्तर है। यहाँपर उसका साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥ ३२ ॥

सुषुप्तिसदृश प्रलयके अनन्तर प्रथम सर्गसे ही स्वप्नजन्तुकी तरह कल्पना-

स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
दृश्यं त्विदं न सन्नासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥ ३४ ॥
अथ राघव सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥ ३५ ॥
व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
तथा तदा तया सार्द्धं व्यवहारो ममोदितः ॥ ३६ ॥
यथैव स्वप्नसंकाशो व्यवहारः खमेव सः ।
तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च खम् ॥ ३७ ॥

रूप विराडात्मा चिदाकाशमें चिदाकाशका ही विस्तार करता है, यह कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिसदृश प्रलयके अनन्तर आकाशमें स्वप्नके जीवके सदृश प्रथम सर्गसे ही विराट्-रूप चिदाकाश ही चिदाकाशमें परस्पर विषय-विषयीरूपसे सापेक्ष होकर भासता है ॥ ३३ ॥

तब क्या दृष्टान्तभूत स्वप्नस्वभाव ही जगत् है, 'नहीं' यह कहते हैं—'स्वप्नशब्देन' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, मैं आपके बोधके लिए स्वप्नशब्दसे व्यवहार करता हूँ । वस्तुतः यह दृश्यप्रपञ्च तथा स्वप्न भी न तो सत् है और न असत् ही है, किन्तु केवल ब्रह्म ही है ॥ ३४ ॥

इस तरह अवान्तर प्रश्नका उत्तर देकर पूर्वमें पूछी गयी कथाके शेष अंशको कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

तदनन्तर हे राघव, कान्तमें अनुरागवती उस दृश्यरूप कान्तासे—उसके अभिप्रायका विशेष ज्ञान रखनेवाली संवित्का सङ्कल्प करके—मैंने यह पूछा— ॥ ३५ ॥

भगवन्, शरीररहित आपका उसके साथ प्रश्नादि व्यवहार कैसे हुआ, इसपर कहते हैं—'व्यवहारो' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें स्वप्नजनोंके साथ जैसा व्यवहारप्रवृत्त होता है, वैसा ही उस समय मेरा भी व्यवहार उस स्त्रीके साथ प्रवृत्त हुआ ॥ ३६ ॥

उसके साथ इस समयका व्यवहार भी मेरा वैसा ही था, यह कहते हैं—'यथैव' इत्यादिसे ।

यथा स्वप्नजगद्रूपं खमेवैवमिदं जगत् ।
जाग्रदादौ स हि स्वप्नः सर्गादौ जगदुद्भवः ॥ ३८ ॥
स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किंचिद्वा खमेव च ।
निर्मलं ज्ञप्तितामात्रमित्थं सन्मात्रसंस्थितम् ॥ ३९ ॥
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥ ४० ॥
यथा द्रष्टाऽमलं व्योम दृश्यं तद्वद्गतं तथा ।
स्वप्नरूपजगत्युच्चैर्जगत्त्वेनामलं नभः ॥ ४१ ॥
चिद्व्योम्नोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृतित्वं कथं भवेत् ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न सदृश वह व्यवहार आकाशरूप ही था, वैसे ही यह आत्मा, मैं तथा जगत् भी चिदाकाशरूप ही है, यह आप जान लीजिये ॥ ३७ ॥

तब कहिये, जगत् और स्वप्न, ये दो नाम क्यों पड़े, इसपर कहते हैं—'यथा स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नका जगत् चिदाकाशरूप ही है वैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप ही है अर्थात् दोनों एक-से हैं, केवल भेद इतना ही है कि जाग्रत् कालके प्रारम्भमें जो जगत्का भान होता है उसे स्वप्न कहते हैं और सृष्टिके प्रारम्भमें जिसका उद्भव होता है उसे जगत् कहते हैं ॥ ३८ ॥

यह जो जगत्का आभोग है वह स्वप्न ही है अथवा कुछ नहीं है, वह एकमात्र चिदाकाश ही है । क्योंकि इस तरह जो कुछ दिखाई देता है वह सब निर्मल सत् तथा ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म ही जगत्के रूपसे स्थित है ॥ ३९ ॥

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, यह विशेष कह सकते हैं कि आप लोगोंकी वासनाके आकारसे स्वप्नका द्रष्टा साकार है, लेकिन सृष्टिरूप स्वप्नका द्रष्टा तो स्वतः चिदाकाश ही है ॥ ४० ॥

जैसे द्रष्टा और दृश्य दोनों निर्मल चिदाकाश ही हैं, वैसे ही द्रष्टा और दृश्यके मध्यमें पड़ा दर्शन भी चिदाकाशरूप ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस महान् स्वप्नरूप जगत्में जगत्-रूपसे निर्मल चिदाकाश ही स्थित है ॥४१॥

निराकार चिदाकाशका जो हृदयके भीतर स्वतः जगद्रूप स्वप्न

साकारस्यैव यत्स्वप्नजगत्तद्व्योम निर्मलम् ।
निराकारस्य चिद्व्योम्नः सर्गः स्वप्नः कथं न खम् ॥ ४३ ॥
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः ।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ ४४ ॥
मृद्व्या चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥ ४५ ॥
नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृताऽस्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतो बुधः सन् ।
पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-
माचारमाचर शरीरमिहास्तु मा वा ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० चिदैक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

होता है उस स्वप्नका जन्म कैसे हो तथा वन्ध्यापुत्रके सदृश उस जगत्‌से वह चिदाकाश साकार कैसे होगा ॥ ४२ ॥

साकार आप लोगोंका जो स्वप्न-जगत् है जब वह निर्मल चिदाकाशरूप है तब मेरा निराकार ब्रह्मका स्वरूप जगत् निर्मल चिदाकाशरूप क्यों न हो ॥ ४३ ॥

उपादान आदि सामग्रीके बिना अभित्तिमें ही चिदाकाश इस जगद्रूपी स्वप्नको बिना निर्मित हुए ही निर्मित-सा देखता है ॥ ४४ ॥

कोमल चिदाकाशरूप मिट्टीसे हिरण्यगर्भनामक ब्राह्मणने इन्द्रियरूपी झरोखोंसे युक्त देहादि सृष्टिरूप मण्डपका यद्यपि निर्माण किया है, फिर भी उसका वह निर्माण नहींके बराबर है ॥ ४५ ॥

न तो कर्तृता है, न ये जगत् हैं, न भोक्तृता है, न अस्तिता है और न कुछ नास्तिता ही है, अतः सम्पूर्ण दृश्योंका परिमार्जन हो जानेसे उनका एकमात्र साक्षी ही परमार्थ है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने भीतर पाषाणतुल्य मौनताका अवलम्बन करके बाहर यथाप्राप्त प्रवाहपतित व्यवहार करते चलिये। जबतक प्रारब्ध कर्मका शेष है तबतक यह शरीर रहे या इसके बाद न रहे—इसमें कोई विशेष नहीं है ॥ ४६ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

तव स्त्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूतया कथम् ।
कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वर्णेषु खशरीराणां वर्णाः कचटतादयः ।
कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिव केचन ॥ २ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

[अज्ञानीकी दृष्टिमें भीतर ही भीतर अनन्त सर्गसम्पत्तियाँ हैं, लेकिन ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें एकमात्र चिद्घन ब्रह्म ही सब कुछ है, यह वर्णन]

स्वप्नव्यवहारका दृष्टान्त देकर पूर्वमें समर्थित हुए भी शरीररहित पुरुषके संभाषण आदिरूप व्यवहारको मन्दबुद्धि पुरुषोंके स्पष्ट बोधके लिए श्रीरामचन्द्रजी पुनः पूछते हैं—'तव' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, उस स्त्रीके साथ मुख, जीभ आदि अवयवोंसे रहित एकमात्र वासनारूप देहसे आपका संभाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशामें आपने क च ट त प आदि वर्णोंका बिना जीभके कैसे उच्चारण किया ॥ १ ॥

वर्णोंका जो उच्चारण आदि व्यवहार है उसमें शरीरकी कारणता नहीं है, क्योंकि मृतक शरीरके रहते हुए भी वैसा व्यवहार नहीं दीखता तथा शरीरके न रहनेपर भी स्वप्नमें उस तरहका अनेक व्यवहार दीखता है, अतः अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचार है तथा व्यवहारको सहेतुक माननेपर सत्यतापत्ति भी है। इसलिए जो कुछ व्यवहार है वह सब सिर्फ कल्पनामात्र है। उस तरहका व्यवहार तो उस समय भी दुर्लभ ही था, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'वर्णेषु' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाकाशस्वरूप तत्त्वज्ञानियोंके मतमें वर्णोंके बीचमें जो क च ट त प आदि वर्ण हैं उनके किसी कालमें

वर्णोच्चारो भविष्यच्चेत्प्रकटार्थस्ततः क्वचित् ।
स्वप्नेष्वन्वभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥ ३ ॥
तस्मान्न किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।
चिन्मात्राकाशकचनं तत्तथा खे स्वभावजम् ॥ ४ ॥
तदेन्दुकार्ष्ण्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।
इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवादयः ॥ ५ ॥
तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।
आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥ ६ ॥
यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रदग्रे व्यवस्थितम् ।
आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥ ७ ॥

भी उच्चारण ऐसे नहीं होते, जैसे मृतकोंके मुखसे किसी वर्णके उच्चारण नहीं होते, क्योंकि वे सभी कल्पनामात्ररूप ही हैं ॥ २ ॥

उक्त अर्थमें अनुकूल तथा विपक्षमें प्रतिकूल तर्क उपस्थित करते हैं— 'वर्णोच्चारो' इत्यादिसे ।

यदि कहीं स्वप्नोंमें वर्णोंका उच्चारण परमार्थ होता, तो फिर पासमें स्थित जागे हुए पुरुषको भी उसका अनुभव होता अर्थात् समीपस्थ जाग्रत् पुरुष भी उसे सुन पाता ॥ ३ ॥

इसलिए स्वप्नमें उसकी सत्यता कुछ भी नहीं है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही है । निद्रास्वभावबलसे कल्पित चिदाकाशमात्रका वह स्फुरण चिदाकाशमें ही है ॥ ४ ॥

जैसे नेत्र रोगके कारण चन्द्रमामें कालापन, आकाशमें साकारता, पत्थरकी मूर्ति आदिमें गीत आदि ये सब प्रातिभासिक अर्थताको प्राप्त चिदाकाशरूप ही हैं, वैसे ही स्वाप्निक देह तथा शब्द आदि भी तत्तत् ज्ञात वस्तुके संस्कारोंसे उपहित चिदाकाशरूप ही होकर अवभासते हैं ॥ ५ ॥

जैसे आकाशका मूर्तरूपसे स्फुरण आकाशसे भिन्न नहीं है, वैसे ही वह चिदाकाशका स्फुरण आदि भी, जो स्वप्नज्ञानमें जगदाकारसे प्रसिद्ध है, उस चिदाकाशसे भिन्न नहीं है । हे श्रीरामजी, उसे आप चिदाकाशरूप ही समझिये ॥ ६ ॥

इस तरह स्वप्नके पदार्थोंमें चिदाकाशमात्रता सिद्ध करके उसीके साम्यसे

यथा कचति तच्चारु चेतनं चतुरं तथा ।
यथास्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम् ।
असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु स्वप्नमयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम् ।
नान्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥ १० ॥

सामने स्थित तथा समाधिमें दृष्ट हुए पदार्थोंमें भी चिदाकाशमात्रता सिद्ध ही है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नकालका जगत् चिदाकाशरूप है, वैसे ही हम लोगोंके सामने स्थित यह जाग्रत् कालका जगत् भी चिदाकाशरूप ही व्यवस्थित है । तथा जैसे यह जगत् चिदाकाशरूप होते हुए भी चिदाकाशरूप नहीं है, वैसे ही समाधिकालका भी मेरा वह जगत् है ॥ ७ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ दीखता है वह सब चितिका ही स्फुरणरूप चमत्कार है, अणुमात्र भी अचिद्रूप कुछ नहीं है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जिस रीतिसे यह सब सौन्दर्यपूर्ण जगत् स्फुरित हो रहा है उस रीतिसे तो वह चतुर ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है । जैसा यह जगत् सत्य और स्थिर-सा स्फुरित हो रहा है वैसा तो वह चतुर ब्रह्म ही स्थित है ॥ ८ ॥

प्रमाणगम्य जगत्प्रपञ्चकी तुलना प्रमाणागम्य स्वप्नसे करना अयुक्त है, यह श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, स्वप्नरूप ही यह जगत् जाग्रत्स्वरूप कैसे अवस्थित है तथा असत्य ही यह सत्य-सा कैसे हो गया, यह कैसे सम्भव है ॥ ९ ॥

ठीक है, आपाततः यह भले ही आँखोंका विषय हो जाय, फिर भी तत्त्वतः विमर्शका सहन न कर सकने तथा अस्थिर होनेसे स्वप्नका साम्य है ही, इस आशयसे कहते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

अनुभूतानि बीजानि बीजराशाविवाम्बरे।
अन्यान्यन्यानि तान्येव समानि न समानि च ॥ ११ ॥
प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥ १२ ॥
अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ १३ ॥
व्योमात्मत्वान्न गगनं न विदन्ति परस्परम्।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥ १४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् कैसे स्वप्नमय ही है, यह आप अच्छी तरह सुनिये। स्वप्नके समान ही ये जगत् न तो आत्मासे भिन्नरूप हैं और न आत्माके समान ये सत्यरूप और स्थिर ही हैं। ये सबके सब अनिर्वचनीय ही एकमात्र आत्मसत्तासे स्थित हैं ॥ १० ॥

इस तरह परस्पर एक दूसरेका बीज होनेसे तथा विरुद्ध भेद और अभेदरूप एवं सम और असमरूप होनेसे इनका स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं—'अनुभूतानि' इत्यादिसे।

जैसे बीजकी राशिमें अनुभूत हुए बीज स्वप्नमें कोई अन्य-अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम होते हैं और कोई विषम भी होते हैं; वैसे ही चिदाकाशमें सब जगत् कोई पहलेसे अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम और कोई विषम भी होते हैं ॥ ११ ॥

केलेकी छालकी रचनाकी तरह परस्पर भीतर-ही-भीतर अनन्तरूपमें इनकी स्थितिका अनुभव होनेसे भी ये सभी मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं—'प्रत्येकम०' इत्यादिसे।

प्रत्येक जगत्के भीतर परस्पर एक दूसरेसे न देखे गये अनेक भिन्न-भिन्न स्वरूपके ये जगत् वैसे ही उदित हुए हैं, जैसे केलेकी छाल ॥ १२ ॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं—'अन्योन्यम्' इत्यादिसे।

वे सब जगत् परस्पर एक दूसरेको कदापि कुछ नहीं देख पाते तथा कोठीके भीतर रखे गये जड़ बीजोंकी एक राशिकी तरह भीतर ही भीतर नष्ट भी हो जाते हैं ॥ १३ ॥

नष्ट हो जानेपर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, तपे हुए खर्परमें गिरे हुए

सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥ १५ ॥
अज्ञानान्न गता मुक्तिं न जाड्याज्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥ १६ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः पुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥ १८ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

जलबिन्दुके सदृश शून्यरूपता प्राप्त कर शून्यस्वरूप ही नहीं हो जाते। हम लोगोंकी तरह वे परस्पर देखते भी नहीं, किन्तु अज्ञानसे इनका चेतनरूप ढक जानेके कारण निरन्तर सोये हुए-जैसे स्वप्नका हीअनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

सोये हुए वे जीव स्वप्नजगज्जालको प्राप्त कर वहींपर कल्पित दिनोंमें अपना सब व्यवहार करते हैं। स्वप्न-जगत्‌में स्थित वे असुर देवताओंसे निहत होकर अपने अज्ञानके कारण न तो मुक्ति प्राप्त करते हैं, न जड़ताके कारण जड़भावको प्राप्त होते हैं और न देहसहित ही वे रहते हैं। ऐसी दशामें इस तरहके वे स्वप्नजगत्स्थितिके सिवा हो ही क्या सकते हैं ? ॥ १५,१६ ॥

इसी तरह मनुष्य भी अपने स्वप्नरूप जगत्-समूहमें वासनाओंके कारण अपना-अपना आचार और व्यवहार करते हैं तथा वे स्वप्नके मनुष्य स्वप्नके अन्य पुरुषोंसे मार दिये जानेपर पूर्वोक्त असुर जीवोंके सदृश स्वप्नपरम्परामें ही स्थित रहते हैं ॥ १७ ॥

चूँकि वे भी ज्ञान न होनेके कारण मोक्षरहित और शरीरशून्य ही रहते हैं, इसलिए वे जागरमें समर्थ और वासनाओंसे व्यवहारशील नहीं होते। अतः चेतना और वासनासे युक्त ऐसे मनुष्य दृष्टस्वप्नरूप जगत्समूहके सिवा कहाँ निवास करें ? स्वप्नके सिवा उनकी कोई दूसरी गति नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ १८ ॥

यह असुर और मनुष्योंमें जो दिखलाया गया न्याय है, उसे राक्षस आदिमें भी लगाना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'सुप्ताः' इन दो श्लोकोंसे।

एवं ये निहता राम किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वान्न गता मुक्तिं चेतनान्न दृषत्स्थिताः ॥ २० ॥
साद्र्यब्ध्युर्वीजनं दृश्यमिदं सर्वं यथास्थितम् ।
चिरायानुभवन्त्येते यथेमे वयमादृताः ॥ २१ ॥
तेषां कल्पजगत्संस्था यथाऽस्माकं तथैव ताः ।
अस्माकं जगतीसंस्था यथा तेषां तथैव च ॥ २२ ॥
एतेषां स्वप्नपुरुषास्त एवेमे वयं स्थिताः ।
ये च ते नाम संसारास्तेभ्य एकमिमं विदुः ॥ २३ ॥

सोये हुए, स्वप्नरूप जगज्जालकी व्यवस्थाके अनुसार आचार करनेवाले जो राक्षस स्वप्नके देवताओंसे मारे गये, वे असुरोंके सदृश उसी स्वप्नमें ही व्यवस्थित हैं ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जो स्वप्नमें मारे गये, कहिये वे क्या करते हैं । अज्ञानके कारण वे मुक्तिको नहीं प्राप्त हुए तथा चेतन होनेके कारण पत्थरके सदृश भी वे स्थित न रहे ॥ २० ॥

पर्वत, सागर, पृथिवी तथा अनेकजनोंसे भरे यथास्थित इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको वे लोग चिरकालतक ऐसे अनुभव करते हैं, जैसे ये सत्यत्वाभिमानी हम लोग अनुभव करते हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकालकी अनुवृत्तिसे हम लोगोंके अनुभवकी तरह जाग्रदवस्थारूप ही हो जाता है ॥ २१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके कल्प और जगत्की स्थिति, जैसी हम लोगोंकी है वैसी ही है और हम लोगोंके जगत्की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उन लोगोंकी है ॥ २२ ॥

ऐसी स्थितिमें हम लोगोंसे अनुभूत हो रहा यह जगत् तथा इसके भीतर रहनेवाले हम लोग यदि उनसे देख लिये जाते हैं, तब तो हे श्रीरामजी, इनके स्वप्नके जो पुरुष हैं वे ही हम लोग ये स्थित हैं और उनके जो स्वप्नके संसार हैं, उनमेंसे कोई यह एक हमारा संसार है—ऐसा वे लोग अवश्य समझते होंगे ॥ २३ ॥

ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतितः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ २४ ॥
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥ २५ ॥
स्वस्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टा यथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाऽद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥ २६ ॥
प्रबोधेऽपि हि भिद्यन्ते स्वप्नभावा यथास्थिताः ।
तथा स्थित्याऽनुभूयन्ते परब्रह्मतयाऽथवा ॥ २७ ॥
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदाऽस्ति तथा परे ।
यथा न किञ्चिन्नाकाशं न क्वचिन्न च हन्यते ॥ २८ ॥
निरन्तरे पराकाशे निरन्ते च विनोदये ।
निरन्ते चित्तसंघाते निरन्ते जगतां गणे ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके स्वप्नके वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुषके भी अनुभवसे चूँकि तुल्य हैं अतः वे सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ताके निमित्तभूत अधिष्ठानचिदात्मा सर्वगामी होनेसे तुल्य है ॥ २४ ॥

जैसे आत्मामें वे स्वप्नके पुरुष सत्य हैं वैसे ही दूसरे भी पुरुष, जिनका प्रत्येक स्वप्नमें मुझे अनुभव होता है, सत्य ही हैं। हे श्रीरामजी, आप भी उन्हें वैसा ही समझिये ॥ २५ ॥

जैसे आपने उस अपने स्वप्नमें अनेक नगर तथा अनेक नागरिक देखे, वैसे ही वे सब अब भी स्थित हैं, क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वात्मक है ॥ २६ ॥

तत्-तत् स्वाप्निक पदार्थ जाग्रदवस्थामें विशीर्ण हो जाते हैं, यह जैसे अनुभव होता है, वैसे ही वे स्वप्नकालमें स्थित भी रहते हैं, यह भी अनुभव होता है। अथवा सबकी सत्ता ब्रह्मसत्तारूप है, इसलिए किसीकी सत्ताका कदापि अपलाप नहीं किया जा सकता अतः सर्वात्मक सभी सर्वत्र सदा परब्रह्म परमात्मामें उसीके रूपसे स्थित हैं। जैसे यह सारा संसार आकाशका कार्य होनेसे आकाशरूप ही है। आकाशरूपसे स्थित इसका कुछ भी कहीं नाश नहीं होता, वैसे ही उत्पत्ति-शून्य, निरन्तर और निरन्त परमाकाश ब्रह्ममें अन्तशून्य—अनेक चित्तसमूह हैं, उनमें अन्तशून्य (असीम) अनेक जगत्के गण हैं, उनमें भी प्रत्येक संसारके अनेक

प्रत्याकाशकलाकोशं प्रतिसंसारमण्डलम् ।
प्रतिलोकान्तराकारं प्रतिद्वीपं गिरिं प्रति ॥ ३० ॥
प्रतिमण्डलविस्तारं प्रतिग्रामं पुरं प्रति ।
प्रतिजन्तु प्रतिगृहं प्रतिवर्षं युगं प्रति ॥ ३१ ॥
यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ३२ ॥
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्मनः ।
पुनर्मनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥ ३३ ॥
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयो भ्रमः ।
ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नात्रेयत्ताऽस्ति काचन ॥ ३४ ॥

आकाशकलाकोश हैं, उनमें भी प्रत्येकके अनेक संसारमण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसारमण्डलके पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न आकारके अनेक लोक हैं, उन लोकोंके अन्दर अनेक द्वीप हैं, उनमें भी प्रत्येक द्वीपके भीतर अनेक पर्वत हैं, उन पर्वतोंमें भी प्रत्येक पर्वतमें अनेक मण्डलोंका विस्तार है, उनमें भी प्रत्येक मण्डलके अनेक ग्राम हैं, उनमें भी प्रत्येक गाँवके अन्दर अनेक छोटे-छोटे गाँव हैं, उन छोटे-छोटे गाँवोंके भीतर अनेक घर हैं, उनके भी प्रत्येक घरके अन्दर अनेक प्राणी रहते हैं। उन सब प्राणियोंके भी अनेक युगादिकाल हैं। जितने जो जीव मर चुके हैं और जो मोक्षरहित स्थित हैं उतने ही उनके अनेक अक्षय संसार पृथक्-पृथक् स्थित हैं ॥ २७—३२ ॥

उतनी संख्यासे भी संसारकी संख्या समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए अनवस्था बराबर बनी हुई है, जो एकमात्र मायाका ही अलङ्कार है, इस आशयसे कहते हैं—'तेषा०' इत्यादिसे ।

तथा उन जीवोंके वासनाके अन्दर अनेक जीव हैं और उन अनन्त जीवोंके अनन्त मन हैं। उनमें भी प्रत्येक मनके भीतर असंख्य संसारमण्डल हैं, पुनः उन संसारमण्डलोंके अनेक संसार हैं, फिर उन संसारोंमें भी प्रत्येक संसारमें अनेक जीव हैं, पुनः उन जीवोंके अनेक मन हैं और उन मनोंके भी अनेक संसार हैं ॥ ३३ ॥

इस तरह आदि और अन्तसे शून्य यह दृश्यमय भ्रम बराबर चला ही जा

कुड्ये नभस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त-
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्ज्ञेषु तत्परमथाज्ञमनःसु दृश्यम् ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

रहा है । इसका कहींपर ओर-छोर नहीं है । लेकिन हाँ, ब्रह्मज्ञानीके पक्षमें यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतमें, आकाशमें, पाषाणमें, जलमें और स्थलमें सर्वत्र तत-तत् पदार्थोंके अन्दर चूँकि चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है, अतः वही सम्पूर्ण विश्वरूप स्थित है, 'जगत्' इस नामकी कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें चिन्मात्र परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जहाँ-तहाँ सर्वत्र जगत् है ही । अब आप ही सोच लीजिये कि इनकी संख्या कैसे बतलायी जा सकती है ! वह सारा विश्व तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें निर्विशेष निरतिशयानन्दैकरस ब्रह्म ही है, परन्तु वही विश्व अज्ञानियोंके मनमें दृश्यप्रपञ्चरूपसे स्थित है यानी अनर्थरूप ही है * ॥ ३५ ॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

* देखिये यह श्रुति—'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' [तैत्ति० २।७] ।

चतुःषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततस्तत्कुवलोल्लासिमालतीमाल्यलोचना ।
ललना ललिताऽऽलोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥ १ ॥
का त्वं कमलगर्भाभे किमर्थं मामुपागता ।
कस्यासि किं प्रार्थयसे क्व गतासि किमास्पदा ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने शृणु यथावत्त्वमात्मोदन्तं वदाम्यहम् ।
प्रष्टुमर्हसि विस्रब्धमार्त्तां करुणयाऽर्थिनीम् ॥ ३ ॥
परमाकाशकोशस्य कस्मिंश्चित्कोणकोटरे ।
युष्माकं संस्थितं किञ्चिदिदं तावज्जगद्‍गृहम् ॥ ४ ॥

चौसठवाँ सर्ग

[वसिष्ठजीके प्रश्न करनेपर विद्याधरी द्वारा विस्तारके साथ वैराग्यपर्यन्त अपने घरमें जन्म आदिका निरूपण]

प्रासङ्गिक विषयका निरूपण कर अब महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत कथाका अवशिष्ट भाग कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर उस ललित ललनाको देखकर मैंने कौतुकसे उससे पूछा, उसके नेत्र कमलके सदृश उल्लाससे भरे थे और कटाक्षमालाओंसे मालती मालाके सदृश भले लगते थे ॥ १ ॥

कमलके गर्भके सदृश कोमल तथा सुन्दर रूपवाली हे ललने, तुम कौन हो, मेरे पास क्यों आई हो, तुम किसकी लड़की और किसकी भार्या हो, क्या चाहती हो, कहाँ गई रहीं, तुम कहाँकी रहनेवाली हो ॥ २ ॥

विद्याधरीने कहा—हे मुने, आप सुनिये, मैं अपना वृत्तान्त जैसा है, वैसा आपसे कहती हूँ । यद्यपि एकान्तमें परस्त्रीसे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, तथापि दुःखशान्तिके लिए प्रार्थना करनेवाली मुझसे तो आप एकान्तमें दयासे पूछ सकते हैं, क्योंकि दुःखियोंका आश्वासन देना सज्जनोंका धर्म है ॥ ३ ॥

पहले अपने घरको बतलानेके लिए उपक्रम करती है—'परमा०' इत्यादिसे ।

पातालभूतलस्वर्गा इहापवरकास्त्रयः ।
कल्पनैका कुमार्यत्र कृता धातृत्वमायया ॥ ५ ॥
तत्र द्वीपैः समुद्रैश्च वलितं वलयैरिव ।
पाटलोत्थं जगल्लक्ष्म्याः प्रकोष्ठमिव भूतलम् ॥ ६ ॥
अन्ते द्वीपसमुद्राणां सर्वदिक्कमवस्थिता ।
योजनानां सहस्राणि दश हेममयी मही ॥ ७ ॥
स्वयंप्रकाशसङ्कल्पफलदाम्बरनिर्मला ।
चिन्तामणिमयी स्वच्छा स्वच्छायाजितविष्टपा ॥ ८ ॥
साऽप्सरोमरसिद्धानां लीलाविहरणावनिः ।
सङ्कल्पमात्रसम्पन्नसर्वसम्भोगसुन्दरी ॥ ९ ॥

महाराज, परमाकाशरूप चिदाकाशके कोशके किसी एक कोनेमें कोई यह आपका जगद्रूपी घर स्थित है ॥ ४ ॥

इस आपके जगद्रूपी घरके अन्दर पाताल, भूतल और स्वर्ग—ये तीन घरके अन्दरके प्रकोष्ठ हैं, इन तीनों प्रकोष्ठोंमें हिरण्यगर्भके आकारमें स्थित मायाने चित्र-विचित्र कल्पनारूप एक कुमारीका (गृहस्वामिनीका) क्रीडार्थ निर्माण किया है ॥ ५ ॥

उन तीनोंमें जो भूतल है, वह कङ्कणोंके सदृश द्वीपों और समुद्रोंसे वलित है यानी चारों ओरसे घिरा हुआ है, इसलिए उनके रङ्गसे पाटल वर्णका बना हुआ उन्नत वह जगत्-लक्ष्मीका करमूल एक तरहसे बनकर स्थित है ॥ ६ ॥

सातों द्वीप और समुद्रोंके अन्तमें चारों ओरसे दस हजार योजनोंतक लम्बी-चौड़ी सुवर्णमयी पृथ्वी स्थित है ॥ ७ ॥

उसी पृथ्वीका वर्णन करते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

महाराज यह पृथ्वी बड़ी ही विचित्र है, यह रातमें भी स्वयं प्रकाशती रहती है यानी इसमें रातको भी प्रकाशके लिए किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती, इसमें सभी तरहकी इच्छाएँ सफल हो जाती हैं, आकाशके सदृश यह निर्मल है, इसमें चिन्तामणियोंकी अधिकता काफी है, धूलीका तो इसमें नाम-निशान नहीं है, अपनी अपूर्व छटासे इसने स्वर्गादि लोकोंको भी तुच्छ बना दिया है ॥ ८ ॥

यह अप्सराओंको साथ लिये हुए देवताओं एवं सिद्धोंकी क्रीडाविहारभूमि

अन्ते तस्या भुवः शैलो लोकालोकोऽस्ति विश्रुतः ।
भूपीठस्य प्रकोष्ठस्य वलयावलनां दधत् ॥ १० ॥
क्वचिन्नित्यं तमोव्याप्तो मूढबुद्धेरिवाशयः ।
क्वचिन्नित्यं प्रकाशात्मा मनःसत्त्ववतामिव ॥ ११ ॥
क्वचिदाह्लादजनकः साधूनामिव सङ्गमः ।
क्वचिदुद्वेगजनको मूर्खैरिव समागमः ॥ १२ ॥
क्वचित्प्रकटसर्वार्थो मनो मतिमतामिव ।
क्वचिदत्यन्तगहनो मूर्खश्रोत्रियचित्तवत् ॥ १३ ॥
क्वचिदप्राप्तसोमांशुः क्वचिदप्राप्तसूर्यभाः ।
क्वचिल्लोकमयस्तेन क्वचिदाशून्यदिक्तटः ॥ १४ ॥

है। ज्यों ही केवल संकल्प किया, त्यों ही सब तरहके भोग प्राप्त हो गये— इसलिए अर्थात् सङ्कल्पमात्रसे सब तरहका भोग दिलानेवाली होनेके कारण वह अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

उस महीके अन्तमें (बाहरी प्रान्तमें) एक लोकालोक नामका अत्यन्त विख्यात पर्वत है। जगत्-लक्ष्मीके उन्नत करमूलभूत इस भूपीठको उसने कङ्कणके सदृश चारों ओरसे घेर दिया है ॥ १० ॥

अब उस पर्वतका वर्णन करती है—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

भगवन्, यह पर्वत कहींपर तो मूढमति पुरुषोंके अन्तःकरणके सदृश सदा अन्धकारसे व्याप्त है और कहींपर तो सात्त्विक पुरुषोंके अन्तःकरणके सदृश सदा प्रकाशमय है ॥ ११ ॥

जैसे सज्जनोंकी सङ्गति आह्लादको पैदा करती है, वैसे ही यह कहींपर अत्यन्त ही आह्लादको पैदा करता है तथा जैसे मूर्खोंके साथका समागम उद्वेग पैदा करता है, वैसे ही यह कहींपर उद्वेगको भी पैदा करनेवाला है ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके मनमें जैसे सभी अर्थ विस्पष्ट रहते हैं, वैसे ही इसमें कहींपर तो सभी अर्थ विस्पष्ट हैं और कहींपर तो यह इतना अतिगहन है, जैसे मूर्ख श्रोत्रिय पुरुषका चित्त ॥ १३ ॥

कहींपर तो इसमें चन्द्रमाकी किरणें ही जाने नहीं पातीं, कहींपर सूर्यकी ही किरणें नहीं जाने पातीं, कहींपर तो इसमें मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं और कहींपर इसकी दिशाएँ जनोंसे एकदम शून्य हैं ॥ १४ ॥

क्वचिद्देवपुरव्याप्तः क्वचिद्दैत्यपुरान्वितः ।
क्वचित्पातालगहनः क्वचिच्छृङ्गोर्ध्वकन्धरः ॥ १५ ॥
क्वचिच्छ्वभ्रभ्रमद्गृध्रः क्वचित्सानुमनोहरः ।
क्वचिच्छृङ्गशिखाक्रान्तवैरिञ्चनगरान्तरः ॥ १६ ॥
क्वचिच्छून्यमहारण्यवहत्कल्पान्तमारुतः ।
क्वचित्पुष्पवनोद्यानगायद्विद्याधरीगणः ॥ १७ ॥
क्वचित्पातालगम्भीरगुहाकुम्भाण्डभीषणः ।
क्वचिन्नन्दनसोदर्यमुन्याश्रममनोरमः ॥ १८ ॥
क्वचिदक्षयमत्ताभ्रः क्वचिद्दुर्लभवारिदः ।
क्वचिद्दुर्भगुहाश्वभ्रगहनोपान्तमण्डलः ॥ १९ ॥
क्वचित्क्षुब्धजनाक्षेपसमुत्सादितभूतभूः ।
क्वचिद्वास्तव्यजनतासौजन्यजितविष्टपः ॥ २० ॥

कहींपर तो देवताओंके नगरके-नगर हैं, कहींपर दैत्योंके बड़े-बड़े नगर विद्यमान हैं, कहींपर पातालके सदृश गहरा है यानी वहाँ प्रवेश ही होना कठिन है, तो कहींपर अपने शिखरोंसे उन्नत कन्धा किये हुए है ॥ १५ ॥

कहींपर तो उसके गड्ढोंमें गीध घूम रहे हैं, कहींपर तो समान भूभागके कारण वह बड़ा ही लुभावना लगता है, कहींपर तो उसके भीतरी भागपर शिखरकी चोटीसे आक्रान्त ब्रह्माजीका नगर बसा है ॥ १६ ॥

कहींपर तो उसमें जनोंसे शून्य बड़े-बड़े जंगल हैं, कहींपर कल्पान्तकी वायु बह रही है, कहींपर फुलवारियोंमें विद्याधरियोंके गान हो रहे हैं ॥ १७ ॥

कहींपर पातालके सदृश अत्यन्त गहरी गुफाओंमें कुम्भाण्ड पिशाचोंका वास होनेके कारण बड़ा भयङ्कर है, कहींपर नन्दनवनके दूसरे भाईके सदृश सुन्दर मुनि-आश्रमोंसे बड़ा लुभावना लगता है ॥ १८ ॥

कहींपर निरन्तर ही स्थित रहनेवाले मतवालोंकी नाईं गर्जनमें निरत मेघमण्डल हैं, तो कहींपर मेघोंका दर्शन ही दुर्लभ है, कहींपर उसकी सीमाके समीपस्थ मण्डल भीतरी गुहाच्छिद्रके कारण अतिगहन हैं ॥ १९ ॥

कहींपर जनपदके विक्षुब्ध हो जानेके कारण विचलित हुए मनुष्योंके कुठार आदि प्रहारोंसे राक्षस-पिशाच आदिका निवास (पिप्पल आदि) उच्छिन्न हो गया

क्वचिन्नित्यं वहद्वाताजातस्थावरजङ्गमः ।
क्वचित्सर्वक्षयोन्मुक्तस्थिरस्थावरजङ्गमः ॥ २१ ॥
क्वचिन्महामरुमरुन्मुक्तभाङ्कारभीषणः ।
क्वचित्क्वणत्कमलिनीमत्तसारसभूषणः ॥ २२ ॥
क्वचित्सलिलकल्लोलजलदोल्लासघर्घरः ।
क्वचिन्मत्ताप्सरोदोलाविलासजनितस्मरः ॥ २३ ॥
क्वचित्पिशाचकुम्भाण्डवेष्टिताचेष्टदिक्तटः ।
क्वचिद्विद्याधरीसिद्धनृत्यगीतसरित्तटः ॥ २४ ॥
क्वचिद्दुर्द्धर्षदम्भोदसरिद्बाहुलुठत्तटः ।
क्वचित्सततगानीतनीतनानाभ्रसत्पटः ॥ २५ ॥
क्वचित्कमलिनीकोशवक्त्रस्थाध्यानमण्डलः ।
क्वचित्स्वर्गाङ्गनासिद्धसुन्दरीदन्तमण्डनः ॥ २६ ॥

है और कहींपर रहनेवाले मनुष्योंकी सज्जनताके कारण उसने स्वर्गपर भी विजय पा ली है ॥ २० ॥

कहींपर तो निरन्तर बह रही वायुओंके द्वारा ही स्थावर और जङ्गम भूत उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तो कहींपर विषादि रोगोंके न रहनेके कारण सर्वविनाशसे निर्मुक्त स्थावरजङ्गम भूत स्थिर हैं ॥ २१ ॥

कहींपर मरुस्थलीके बड़े-बड़े झंझावातोंके द्वारा उत्पन्न झङ्कारध्वनिसे महान् भयङ्कर लगता है, तो कहींपर वह कमलयुक्त तालाबोंमें कल-कल ध्वनि कर रहे सारसोंके कारण मनोरम है ॥ २२ ॥

कहींपर जलोंका सुन्दर विलास है, कहींपर मेघोंके गर्जनसे घर्घरध्वनियुक्त है और कहींपर प्रमत्त अप्सराओंके दोलाविलासोंसे काम पैदा करनेवाला है ॥ २३ ॥

कहींपर तो उसके दिशातट पिशाचों एवं कुम्भाण्डोंसे वेष्टित होनेके कारण स्तब्ध हैं और कहींपर तो उसके नदीतटपर विद्याधरी और सिद्ध नृत्य कर रहे और गीत गा रहे हैं ॥ २४ ॥

कहींपर बरस रहे मेघोंकी नदीरूप बाहुओंसे उसका कुछ तटभाग तोड़ दिये जानेके कारण भयावह लगता है, तो कहींपर निरन्तर चलनेवाली वायुके द्वारा लाये गये अनेक मेघरूप सुन्दर वस्त्रोंके कारण भला भी लगता है ॥ २५ ॥

कहींपर अपने कोशरूपी मुखपर स्थित भ्रमरभूत नेत्रोंसे ध्यान कर रही

क्वचित्तपद्दिनकरजनताचारसुन्दरः ।
क्वचिन्नैशतमोगेहनृत्यन्मत्तनिशाचरः ॥ २७ ॥
क्वचिदुत्पतदुत्पाततया नश्यज्जनावनिः ।
क्वचित्सौराज्यसम्पत्त्या प्रोद्भवत्पुरमण्डलः ॥ २८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यः क्वचिज्जनपदावृतः ।
क्वचिच्छ्वभ्रान्तगम्भीरः क्वचित्पातालभीषणः ॥ २९ ॥
क्वचिद्बृहत्कल्पतरुः क्वचिन्निर्जलजङ्गमः ।
क्वचिन्महाकरिकुलः क्वचिन्मत्तहरिव्रजः ॥ ३० ॥
क्वचिन्निर्भूतमुद्यानः क्वचिदुन्मत्तराक्षसः ।
क्वचित्करञ्जगहनः क्वचित्तालमहावनः ॥ ३१ ॥
क्वचिद्व्योमोपमसराः क्वचिद्दीर्घमरुस्थलः ।
क्वचिन्नित्यभ्रमत्पांसुः क्वचित्सर्वर्तुकाननः ॥ ३२ ॥

कमलिनियोंका समूह भरा पड़ा है, तो कहींपर अप्सराओं और सिद्धोंकी रमणियोंके दाँतोंको सुशोभित करनेवाले ताम्बूलोंका वन अतिरमणीय लगता है ॥२६॥

कहींपर तप रहे सूर्य और जनताके आचरणसे सुन्दर है, तो कहींपर रातके अन्धकाररूप घरमें मत्त निशाचर नृत्य कर रहे हैं, अतएव बीभत्स भी है ॥२७॥

कहींपर उत्पन्न हो रहे बड़े-बड़े उत्पातोंके कारण उसकी भूमि मनुष्योंके विनाशसे भयप्रद है, तो कहींपर उत्तम राज्य-सम्पत्तिसे बसाये जा रहे नगरोंके कारण हर्षप्रद भी है ॥ २८ ॥

कहींपर अत्यन्तशून्य ही है, कहींपर जनपदोंसे आक्रान्त है; कहींपर जलपूर्ण महाद्वन्द्वोंके कारण गम्भीर है, तो कहींपर शुष्क पातालोंके कारण भीषण है ॥ २९ ॥

कहींपर उसमें बड़े-बड़े कल्पतरु वृक्ष हैं, कहींपर वह जलरहित है, कहींपर चलने-फिरनेवाले प्राणी भरे पड़े हैं, कहींपर बड़े-बड़े हाथियोंके झुण्डके झुण्ड हैं, कहींपर प्रमत्त सिंह, वानर आदि हैं ॥ ३० ॥

कहींपर तो प्राणियोंसे शून्य होकर ही व्यर्थका उन्नत बना है, कहींपर लम्बी मरुभूमि ही पड़ी है, कहींपर करञ्ज वृक्षोंके कारण वह अतिगहन है, कहींपर तालके ही बड़े बड़े वन उसमें विद्यमान हैं ॥ ३१ ॥

कहींपर उसमें आकाशके सदृश निर्मल और विस्तृत बड़े-बड़े सरोवर हैं,

शिखरेषु शिलास्तस्य सामान्याचलसन्निभाः ।
सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमय्योऽम्बरामलाः ॥ ३३ ॥
क्षीरोदकार्कगौरीणां वनस्कन्धौकसामिव ।
विश्राम्यन्त्यनिशं यासु हरयो हरियोनयः ॥ ३४ ॥
तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वशृङ्गशिलोदरे ।
निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥ ३५ ॥
विधिना तत्र बद्धाऽस्मि वसाम्युपलयन्त्रके ।
अत्रासंख्या मुने याता मन्ये युगगणा मम ॥ ३६ ॥
न केवलमहं बद्धा यावद्भर्तापि तत्र मे ।
बद्धः सायंतने पद्मकुड्मले षट्पदो यथा ॥ ३७ ॥

कहींपर महामरुस्थल हैं, तो कहींपर निरन्तर उड़ रही धूलिसे वह पूर्ण है, कहींपर तो उसमें ऐसे अरण्य हैं कि उनमें बारहों मासोंकी ऋतुएँ रहती हैं यानी एक साथ सभी ऋतुओंका उनमें आनन्द मिलता है ॥ ३२ ॥

अधिक क्या कहूँ, महाराज, उसके शिखरोंपर ऐसी रत्नमयी बड़ी बड़ी शिलाएँ हैं, जो कि छोटे-मोटे पर्वतोंके समान यानी सह्य, मलय आदि पर्वतोंके सदृश लगती हैं, उनको देखकर सुस्थिर मेघका ही स्मरण हो उठता है और वे एकदम आकाशके सदृश निर्मल हैं ॥ ३३ ॥

हे मुने, क्षीरसागर और सूर्यके सदृश गौरवर्ण उन शिखरस्थ शिलाओंके ऊपर पुत्र, पौत्र आदि परिवारके साथ सिंह, वानर आदि ऐसे रात-दिन विश्राम करते हैं, जैसे जङ्गलके बड़े वृक्षोंकी शाखाओंपर ॥ ३४ ॥

भगवन्, उन शिलाओंके मध्यमें उस पर्वतके उत्तर दिशाके भागमें पूर्व दिशाकी ओर स्थित शिखरकी जो शिला है, उसके अन्दर मैं निवास करती हूँ, विनष्ट न होनेवाले वज्रसारमणिके सदृश उसका अविनाशी त्वचाभाग है ॥ ३५ ॥

हे मुने, हमको नियतिने ही बाँध दिया है, जिससे कि मैं उस पत्थरके यन्त्रमें बस रही हूँ । मैं मानती हूँ कि इस प्रकार उसमें रहते-रहते मेरे असंख्य युगसमूह बीत चुके ॥ ३६ ॥

अब 'किसकी स्त्री हो' इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए उपक्रम करती है—'**न केवलम०**' इत्यादिसे ।

न केवल मैं ही ऐसी हूँ, किन्तु सब तरहसे भरणपोषण करनेवाला

तेन सार्द्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसङ्कटे।
अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥ ३८ ॥
अद्याप्याल्मैकदोषेण नहि मोक्षं लभावहे।
चिरं तत्रैव तिष्ठावस्तथैवाबद्धभावनौ ॥ ३९ ॥
पाषाणसङ्कटे तस्मिन् बद्धावावां न केवलम्।
बद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥ ४० ॥
पुराणपुरुषो बद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः।
एकस्थानान्न चलति जीवन्युगशतान्यसौ ॥ ४१ ॥
आबाल्याद्ब्रह्मचारी च श्रोत्रियः पाठकोऽलसः।
एकान्त एक एवास्तेऽजिह्मवृत्तिरचापलः ॥ ४२ ॥
अहं व्यसनिनी भार्या तस्य वेदविदांवर।
न निमेषं समर्थाऽस्मि तं विना देहधारणे ॥ ४३ ॥

मेरा पति भी उसमें उस प्रकार बद्ध हो गया है, जिस प्रकार भ्रमर कमल-की कलीमें ॥ ३७ ॥

उस शिलाके कोटरके सङ्कटमें फँसकर मैंने उस अपने पतिके साथ दीर्घ-कालतक अनुभव किया और अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥ ३८ ॥

आज भी हम दोनों अपने एकमात्र कामरूप दोषसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर रहे हैं और उसी तरह एक दूसरेमें ममता बाँधे हुए दीर्घकालसे बस रहे हैं ॥ ३९ ॥

महाराज, उस पाषाणके सङ्कटमें हम दोनों ही बद्ध नहीं हैं, किन्तु हम लोगोंका पुत्र, पौत्र आदि परिवार भी उसमें पूर्णरूपसे बँधा हुआ है ॥ ४० ॥

भगवन्, उसमें बँधा हुआ मेरा पति द्विजकुलोत्पन्न और बड़ा ही प्राचीन पुरुष है। यह यद्यपि सैकड़ों वर्षोंसे जी रहा है, तथापि अपने आसनसे उठता ही नहीं ॥ ४१ ॥

मेरे पति बाल्यकालसे ही ब्रह्मचारी हैं, अपने वेदाध्ययनमें परायण रहते हैं, अन्यको पढ़ाते हैं, आलसी हैं, उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल है, उनमें इन्द्रियोंकी चञ्चलताका नामनिशान नहीं है, एकान्तमें ही सदा रहते हैं ॥ ४२ ॥

हे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, ऐसे पुरुषकी मैं पत्नी बड़ी ही व्यसनिनी हूँ, एक क्षणमात्र भी उनके बिना देहधारणमें शक्ति नहीं रखती ॥ ४३ ॥

शृणु तेन कथं ब्रह्मन् भार्याऽहं समुपार्जिता ।
कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥ ४४ ॥
तेन जातेन मद्भर्त्रा बालेनैव सता पुरा ।
किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मालयेऽमले ॥ ४५ ॥
श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी ।
कुतः सम्भवतीत्येव निर्णीय चिरचिन्तया ॥ ४६ ॥
स्वयमेवानवद्याङ्गी तेन तामरसेक्षण ।
उत्पादिताऽस्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥४७॥
मनसा मानसी भार्या मन्दारोत्तमसुन्दरी ।
ततो वृद्धिं प्रयाताऽस्मि वसन्त इव मञ्जरी ॥ ४८ ॥
सहजाम्बरसंछन्ना भूतानां चित्तहारिणी ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना द्यौरिवामलतारका ॥ ४९ ॥

ब्रह्मन्, आप सुनिये—उन्होंने मुझको भार्यारूपमें कैसे प्राप्त किया और हम लोगोंका यह स्वाभाविक प्रेम कैसे बढ़ा ॥ ४४ ॥

भगवन्, पहलेकी बात है जिस समय उत्पन्न हुए मेरे स्वामीकी अभी बाल्यावस्था ही थी, कुछ ज्ञान भी उनको था, वे सज्जन थे, अपने निर्मल स्थानमें अकेले ही रहते थे, उस समय उन्होंने विचार किया—मैं जैसा स्वाध्यायनिष्ठ हूँ, वैसी ही अनुरूप मेरी भार्या कैसे उत्पन्न हो सकती है। यों दीर्घकालतक विचार करके उन्होंने कुछ निश्चय किया, फिर हे कमलके सदृश नेत्रोंवाले मुने, उन मेरे पतिने स्वयं ही अनिन्दित अङ्गोंवाली मेरा ऐसे निर्माण किया, जैसे निर्मल ज्योत्स्नाका चन्द्रमा करता है ॥ ४५–४७ ॥

अनन्तर, अपने पतिके द्वारा मनसे निर्मित अतएव मानसी भार्या मैं मन्दारवृक्षकी लताके समान, उत्तम सौन्दर्यसे पूर्ण ऐसे वृद्धिको प्राप्त होने लगी, जैसे वसन्तमें पुष्पमञ्जरी ॥ ४८ ॥

मैंने साथ-साथ उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम वस्त्र धारण किये। सभी प्राणियोंके चित्त मेरी ओर आकृष्ट होने लगे। मेरा वदन पूर्णचन्द्रबिम्बके सदृश अत्यन्त ही मनोरम हो गया। मैं निर्मल तारोंसे युक्त आकाशके सदृश चमकदार क्रमशः बन गई ॥ ४९ ॥

कोरकोच्चस्तनभरा समग्ररसशालिनी ।
लता वरवनेनेव करपल्लवशालिनी ॥ ५० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य नित्यं हृदयहारिणी ।
हरिणी तारनयना मदनोन्माददायिनी ॥ ५१ ॥
लीलाविलासैकरता हेलावलितलोचना ।
गेयवाद्यप्रिया नित्यं न च तृप्तानुरागिणी ॥ ५२ ॥
सौभाग्यभोगपरमा लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया सखी ।
अनन्या मोहजालानामखिन्ना सम्पदापदोः ॥ ५३ ॥
न केवलमहं गेहं धारयामि द्विजन्मनः ।
यावत्त्रैलोक्यसदनमिदमङ्ग बिभर्म्यहम् ॥ ५४ ॥
अहं कुलकरी भार्या कलत्रभरणक्षमा ।
त्रैलोक्यगृहसम्भारधारणैकभरोद्वहा ॥ ५५ ॥

फूलोंके मुकुलोंके सदृश उन्नत स्तनोंवाली मैं समग्र गुणोंसे धीरे-धीरे ऐसे सुशोभित होने लगी, जैसे पल्लवरूप करसे युक्त लता वर-श्रेष्ठ वनसे सुशोभित होने लगती है ॥ ५० ॥

मैं सदा ही सभी तरहके जन्तुओंके हृदयोंका अपहरण करनेवाली हो गई, हिरनके जैसे बड़े-बड़े नेत्रोंवाली मुझे देखकर कामदेवको भी मुझसे उन्माद होने लग गया ॥ ५१ ॥

मैं निरन्तर केवल लीलाविलासोंमें ही निरत रहने लगी, कौतुकसे तिरछे कटाक्ष मेरे होने लगे, मैं सदा गान और वाद्यमें प्रेम करने लगी, भोगोंमें कभी तृप्त न हुई, मेरा दिनपर दिन भोगोंमें अनुराग बढ़ता ही गया ॥ ५२ ॥

मैं अपने उत्तम भाग्यको ही मुख्य भोग समझने लगी, समदर्शी अपने पतिके मनसे उत्पादित (मनकी कल्पनारूप) मैं लक्ष्मी, अलक्ष्मी—दोनोंकी मानो प्रिय सखी बन गई यानी मैं भी समदर्शी हो गई, अतएव मोहजालोंसे अभिन्न होती हुई भी मैं सम्पत्ति और विपत्तिमें एकरूप रहती हूँ ॥ ५३ ॥

प्रिय मुने, मैं केवल अपने ब्राह्मण पतिके घरको ही धारण नहीं करती, परन्तु पतिके मनोमयरूप मैं उनके मनसे कल्पित समस्त त्रिलोकीको धारण करती हूँ ॥५४॥

मुनिवर, मैं पुत्र, पौत्र आदिसे कुलको बढ़ानेवाली भार्या हूँ, मैं पोष्यवर्गका

अथाऽहं तरुणी जाता समुद्भिन्नोन्नतस्तनी ।
लतोल्लसद्गुलुच्छेव विलासरसशालिनी ॥ ५६ ॥
पतिर्मां दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वात्तपोरतः ।
कयाप्यपेक्षयाऽद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥ ५७ ॥
तेन यौवनसम्पन्नविलासरसशालिनी ।
तं विना व्यसनेनाहं दह्येऽग्नाविव पद्मिनी ॥ ५८ ॥
शीतानिलविलोलासु नलिनीषु निरन्तरम् ।
अङ्गदाहमवाप्नोमि पूताङ्गारस्थलीष्विव ॥ ५९ ॥
उद्यानावनयः सर्वाः पूर्णाः कुसुमवर्षणैः ।
सम्पन्नास्तप्तसिकताः शून्या मे मरुभूमयः ॥ ६० ॥
जलकल्लोलकह्लारकमलोत्करकोमलाः ।
सरस्यः सारसारावसरसा मम नीरसाः ॥ ६१ ॥

पालन करती हूँ और मुझमें त्रिलोकीरूप घरकी सर्वविध सामग्रीके भारको ढोनेकी पूर्ण सामर्थ्य है ॥ ५५ ॥

तदनन्तर मैं पूर्ण युवती हो गई, मेरे वक्षःस्थलपर महान् उन्नत स्तन हो आये । अब मैं अपने विलासरूप रससे ऐसे शोभित हूँ, जैसे कि उल्लसित हो रहे फल-पुष्पोंके गुच्छोंसे लता ॥ ५६ ॥

मेरे पतिदेव तो दीर्घसूत्री (आलसी), स्वाध्यायमें निरत और बड़े तपस्वी हैं, किसी अज्ञात अपेक्षासे आजतक भी इस गुणसम्पन्न रमणीके साथ उन्होंने विवाह नहीं किया ॥ ५७ ॥

महाराज, मैं अधिक क्या कहूँ, पतिके साथ मैं यौवनसे प्राप्त हुए भोग-विलासकी इच्छा रखती हूँ यानी अपने मनोरथसे ही उन्हें पति मान चुकी हूँ । इसलिए उनको भोगोंके व्यसनसे रहित देखकर मैं ऐसे जल रही हूँ, जैसे अग्निमें कमलिनी ॥ ५८ ॥

मैं शीतपवनके कारण चञ्चल हुई कमलिनियोंमें भी रात-दिन ऐसे अङ्ग-दाहका अनुभव करती हूँ, जैसे कि राख आदिको हटाकर तेज किये गये अङ्गारोंके स्थानोंमें ॥ ५९ ॥

कुसुमोंकी वृष्टियोंसे पूर्ण समस्त उद्यानभूमि भी मुझे तपी हुई बालूसे युक्त शून्य मरुभूमि ही प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

महाराज, जलकल्लोल, कह्लार और कमलोंके ढेरसे कोमल स्पर्शयुक्त एवं

अहं पुष्करमन्दारकुमुदोत्करमालिता ।
भृशं दाहमवाप्नोमि कण्टकेष्विव दोलिता ॥ ६२ ॥
कुमुदोत्पलकह्लारकदलीतल्पपालयः ।
मदङ्गसङ्गमाद्ग्रीष्ममर्मरा यान्ति भस्मताम् ॥ ६३ ॥
यत्कान्तमुचितं स्वादु विचित्रं चित्तहारि च ।
तदालोक्य भवाम्यन्तर्बाष्पपूर्णायतेक्षणा ॥ ६४ ॥
व्यसनानलसन्तप्ताः पतन्तो बाष्पबिन्दवः ।
छमच्छमिति मज्जन्ती कमलोत्पलपङ्क्तिषु ॥ ६५ ॥
कदलीकन्दलीस्कन्धदोलान्दोलनलीलया ।
लालितोद्यानखण्डेषु मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६ ॥
तुषारनिकराकीर्णकन्दलीदलमण्डपम् ।
पश्याम्यूष्माणमुज्झन्तं खदिराङ्गारभीषणम् ॥ ६७ ॥

सारसपक्षियोंकी मधुर ध्वनिसे सरस तालाब भी मुझे नीरस लग रहे हैं ॥ ६१ ॥

मेरे शरीरके दाहकी शान्तिके लिए सखियाँ मुझे पुष्कर, मन्दार, कुईं आदि फूलोंकी शय्यापर सुला देती हैं, परन्तु मैं इसपर भी खूब दाहका अनुभव करती हूँ, जिस तरह काँटोंपर लुढ़कती हुई रमणी ॥ ६२ ॥

कुईं, नीलरक्त कमल, कह्लार, कदली आदिकी शय्याएँ मेरे अङ्गके स्पर्शमात्रसे जनित तापसे—गर्मीसे पहले तो सूख जाती हैं, फिर मर्मर होकर भस्म बन जाती हैं ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन्, जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु, विचित्र और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मैं अपने भीतरसे अश्रुपूर्णनेत्र हो जाती हूँ—मेरी वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसुओंसे भर जाती हैं ॥ ६४ ॥

मुनिवर, कामरूपी अग्निसे सन्तप्त, मेरे नयनाश्रु छम-छम शब्दपूर्वक कमलोत्पलोंकी पंक्तियोंके ऊपर गिरकर उनके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने तापसे उन्हें सुखाकर स्वयं भी सूख जाते हैं ॥ ६५ ॥

उद्यानभागोंमें सखियों द्वारा कदली, कन्दली आदिके कन्धोंपर विरचित हिंडोलोंपर दोलनलीलासे जब मैं झुलाई जाती हूँ, तब मैं लज्जासे मुख छिपाकर रोती हूँ ॥ ६६ ॥

हिमकणोंके निकरसे आकीर्ण केलेके पत्तोंसे बनाये गये मण्डपको मैं गर्मी उगलनेवाले खैरके अङ्गारके सदृश भीषण ही देखती हूँ ॥ ६७ ॥

नलिनीनालदोलासु सारसीं सारसाश्रिताम् ।
दीनानना विलोक्यान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥ ६८ ॥
रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्थे यामि सौम्यताम् ।
हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥ ६९ ॥
दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च ।
मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥ ७० ॥
आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
कह्लारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
शय्या ममाङ्गचलनेन विशोषयन्त्या
व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीव्यसनवर्णनं
नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

कमलिनीके नालरूप हिंडोलेपर जब मैं सारसके साथ सारसीको देखती हूँ, तब मैं दीनवदन होकर अपने यौवनकी निन्दा करती हूँ ॥ ६८ ॥

मैं रम्य पदार्थमें रोती हूँ, मध्यवर्ती (न रम्य और न अरम्य ऐसे बीचके) पदार्थमें सौम्य हो जाती हूँ, अरम्य प्रसङ्गमें यानी मूर्छा, जड़ता आदि अवस्थामें प्रसन्न रहती हूँ, क्योंकि उस समय दीन हुई मैं क्या हूँ, यह नहीं जानती, उस स्थितिमें अहङ्कारका विलय हो जानेसे उसमेंका दुःख जाना नहीं जा सकता ॥ ६९ ॥

हे मुने, प्रत्येक दिशामें कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम मैंने कामाग्निसे दग्ध हुए जीवोंकी राखके सदृश ही देखे ॥ ७० ॥

भगवन्, अत्यन्त नीलवर्ण तमालके कोमल पल्लव, बिसतन्तुओंकी लता, नील-रक्त कमल, कह्लार, कुन्द, कदलीपत्र, और मालतीके फूलोंकी बनाई गई शय्याओंको अङ्गोंके संचालनसे सुखा रही मैं अपने यौवनके अनेक दिन निरर्थक ही गँवा दिये ॥ ७१ ॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् ।
प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥ १ ॥
वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
भर्ताऽजिह्ममतिर्मौनी किं मन्ये जीवितेन मे ॥ २ ॥
वरं वैधव्यमाबाल्याद्वरं मरणमेव च ।
वरं व्याधिरथापद्वा नाहृद्यप्रकृतिः पतिः ॥ ३ ॥
एतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविखण्डितम् ।
रसिकः पेशलाचारो यन्नार्यास्तरुणः पतिः ॥ ४ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

[धारणाके अभ्याससे प्राणोंपर विजय पाकर सिद्ध हुई उस विद्याधरीके द्वारा महाराज वसिष्ठजीके प्रति 'समयसे मेरा वह विषयानुराग वैराग्यमें परिणत हो गया'—यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—महाराज, तदनन्तर दीर्घ समय बीत जानेपर मेरा वह विषयप्रेम उस प्रकार वैराग्यमें परिणत हो गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतुके प्रारम्भमें पल्लव रसरहित होकर विरागभावमें परिणत हो जाता है ॥ १ ॥

कैसी विचारधारासे अनुराग विरागभावमें परिवर्तित हो गया ? इसे कहती है—'वृद्धः' इत्यादिसे ।

पहले तो मैंने यह विचारा—मेरा स्वामी अब बूढ़ा हो गया, एकान्तमें ही उसे सदा प्रेम है, नीरस है, मेरी ओर उसको तनिक भी स्नेह नहीं, मौनव्रतधारी है, उसका चित्त अति कोमल है, अतः अब मैं अपने जीवनसे क्या फल मानूँ ॥२॥

बाल्यकालसे ही यदि वैधव्य हो गया हो, तो वह भी अच्छा, या मरण भी अच्छा, व्याधि भी अच्छी, आपत्ति भी अच्छी, परन्तु अपने मनके अनुकूल यदि पति न हो, तो वह कभी भी अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥

स्त्रियोंका सफल जन्म और अविखण्डित सौभाग्य यही है कि तरुण, रसिक और कोमल बर्ताव करनेवाला पति हो ॥ ४ ॥

हता नीरसनाथा स्त्री हताऽसंस्कारिणी च धीः ।
हता दुर्जनभुक्ता श्रीर्हता वेश्याहृता च ह्रीः ॥ ५ ॥
सा स्त्री याऽनुगता भर्त्रा सा श्रीर्याऽनुगता सता ।
सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥ ६ ॥
नाधयो व्याधयो नैव नापदो न दुरीतयः ।
कुर्वन्ति मनसो बाधां दम्पत्योरनुरक्तयोः ॥ ७ ॥
उत्फुल्लाः कुसुमस्थल्यो नन्दनोद्यानभूमयः ।
धन्वायन्ते कुनाथानां विनाथानां च योषिताम् ॥ ८ ॥
सर्वे एव जगद्भावा यथेच्छं गुणलेशतः ।
सन्त्यज्यन्ते प्रमादात्तु वर्जयित्वा पतिं स्त्रिया ॥ ९ ॥

जिसका नीरस पति हो, वह स्त्री विनष्ट ही समझनी चाहिए, जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह नष्ट ही समझनी चाहिए, जो श्री (लक्ष्मी) दुर्जनोंसे उपभुक्त यानी दुर्जनोंके पास हो वह नष्ट ही समझनी चाहिए और जो लज्जा वेश्या द्वारा हर ली गई हो वह भी नष्ट ही समझनी चाहिए ॥ ५ ॥

वही स्त्री स्त्री है, जो अपने पतिसे अनुगत हो, वही श्री श्री है, जो सज्जनोंसे अनुगत हो तथा वही बुद्धि बुद्धि, वही साधुता साधुता और वही समदृष्टिता समदृष्टिता है, जो शान्ति आदि गुणोंसे मधुर और उदार हो ॥ ६ ॥

महाराज, यदि पति और पत्नी निरन्तर एक दूसरेके प्रति प्रेम करते हों, तो न मानसिक पीड़ा, न शारीरिक पीड़ा, न आपदा और न दुष्ट ईतियां (उत्पातहेतु अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डियाँ, मूसे, पक्षी तथा आसन्न राजे) ही बाधा पहुँचाती हैं ॥ ७ ॥

विकसित फूलोंके स्थान तथा नन्दन वनकी उद्यानभूमियां उन स्त्रियोंको मरुभूमिके सदृश संताप पहुँचाती हैं, जिन स्त्रियोंका पति प्रतिकूल है अथवा है ही नहीं ॥ ८ ॥

इसलिए स्त्रियोंके लिए सभी वस्तुओंका त्याग सुकर है, परन्तु एक पतिका त्याग दुष्कर है, यह कहती है—'सर्वे' इत्यादिसे ।

भगवन्, इस जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभीको अपनी इच्छाके अनुसार गुणकी अल्पतासे या प्रमादसे स्त्री छोड़ सकती है, परन्तु पतिको

स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ।
भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥ १० ॥
अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥ ११ ॥
विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।
तवोपदेशेनेच्छामि मुने निर्वाणमात्मनः ॥ १२ ॥
अप्राप्ताभिमतार्थानामविश्रान्तधियां परे ।
मरणैरुह्यमानानां जीवितान्मरणं वरम् ॥ १३ ॥
स मद्भर्ताऽद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
राजा राज्ञेव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥ १४ ॥

छोड़कर, यानी स्त्री पतिको छोड़कर सभी वस्तुओंका परित्याग अनायास कर सकती है ॥ ९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, स्थिर यौवनयुक्त मैंने अनेक वर्षोंतक ये दुःख भोगे, मेरे दौर्भाग्यका विस्तार तो जरा देखिए ॥ १० ॥

अथवा मेरा यह भाग्योदय ही है, इस आशयसे कहती है—'अथ' इत्यादिसे ।

अनन्तर, उसी परितापके कारण मेरे पतिकी ओर जो मेरा अनुराग था, वह क्रमसे नीरस होकर विरागके रूपमें उस प्रकार परिवर्तित हो गया, जिस प्रकार हिमसे दग्ध कमलिनीका राग क्रमशः नीरस होकर विरागके रूपमें परिवर्तित हो जाता है ॥ ११ ॥

हे मुने, उक्त क्रमसे विरागकी वासनाएँ प्राप्त कर सभी पदार्थोंमें उन्हींको लगा रही हूँ, अब मैं आपके उपदेशसे अपनी मुक्ति चाहती हूँ ॥ १२ ॥

इस समयमें भी, जब कि आप-जैसे उपदेश कर्ताका मुझे लाभ भी हो गया है तब, मैं यदि विश्रान्तिकी इच्छा न करूँ, तो मरण होना ही अच्छा है, इस आशयसे कहती है—'अप्राप्ता०' इत्यादिसे ।

महाराज, जिन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं किये हैं और परम आत्म-पदमें जिनकी बुद्धि विश्रान्त नहीं हुई है, ऐसे मरणतुल्य दुःखोंके प्रवाहमें बह रहे मनुष्योंका जीनेकी अपेक्षा मरण ही अच्छा है ॥ १३ ॥

सहधर्मचारिणी स्त्रियोंका पतिके समान ही स्वभाव रहना उचित है,

ब्रह्मंस्तस्य च मद्भर्तुर्मम चाज्ञानशान्तये ।
न्यायोपपन्नया वाचा कुरु स्मरणमात्मनः ॥ १५ ॥
यदा मामनपेक्ष्यैव स मद्भर्ताऽऽत्मनि स्थितः ।
तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥ १६ ॥
संसारवासनावेशवर्जिताऽस्मि ततोऽवसम् ।
निबध्याभिमतां तीव्रां व्योमसञ्चारधारणाम् ॥ १७ ॥
अर्जयित्वा तथा व्योम्नि गतिं धारणया मया ।
अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥ १८ ॥
ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
स्थिताऽहं धारणां बद्ध्वा साऽपि सिद्धिं समागता ॥ १९ ॥

इसलिए पतिके साथमें ही हमको उपदेश देना चाहिए, ऐसा कहती है—'सः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आज भी मुक्तिकी इच्छा कर रहे वह मेरे पति रात-दिन मनसे मनपर विजय पानेके लिए उस प्रकार तैयार हैं, जिस प्रकार राजा राजाकी सहायतासे, दूसरे राजाके ऊपर विजय पानेके लिए तैयार रहता है ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्, उस मेरे पतिका और मेरा जो अज्ञान है, उसका विनाश करनेके लिए आप न्याययुक्त उपदेशवाणीसे, विस्मृत कण्ठहारके सदृश, आत्माका बोधन कीजिये ॥ १५ ॥

जब मेरी परवाह ही न कर मेरे पति अपनी आत्मामें अवस्थित हुए, तभी जगत्‌स्थितिमें वैराग्यने मुझे नीरसता पैदा कर दी ॥ १६ ॥

अब धारणाके अभ्यासमें दीर्घकालसे स्थिति होनेके कारण उपदेशग्रहणके लिए मैं पात्र हूँ, यह कहती है—'संसार०' इत्यादिसे ।

जगत्स्थितिमें नीरसता हो जानेसे अब मैं अभीष्ट, तीव्र, आकाशमें संचरण करनेकी सामर्थ्य देनेवाली खेचरी मुद्रारूप धारणाको बाँधकर समस्त संसारकी वासनाओंसे रहित होकर स्थित हूँ ॥ १७ ॥

उस प्रकार धारणासे मैंने आकाशमें गमन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर फिर मैंने सिद्धोंके साथ संवादफल देनेवाली धारणाका अभ्यास किया । इसीसे सिद्धोंके एकान्त स्थानमें आकर आपके साथ संवाद कर रही हूँ ॥ १८ ॥

उसके बाद मैंने अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डके पूर्वापरघटित आकारको

अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा ।
अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलाम् ॥ २० ॥
एतावताऽपि कालेन दम्पत्योरावयोर्मुने ।
परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥ २१ ॥
मद्भर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया ।
न च यातं न चायातं वेत्त्यहो विगतैषणः ॥ २२ ॥
तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम् ।
अद्य सोऽहं च वाञ्छावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥ २३ ॥
तदेतामर्थितां ब्रह्मन् सफलां कर्तुमर्हसि ।
महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥ २४ ॥

शास्त्र और योगदृष्टिसे देखनेके निमित्त तदाकार (अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डाकार) भावनारूप धारणा बांधकर स्थित हुई और वह धारणा भी मुझे सिद्ध हो गई ॥ १९ ॥

ब्रह्मन्, तदनन्तर अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डके अन्दरकी सभी वस्तुओंको देखकर बाहर निकली और निकलकर मैंने पूर्ववर्णित अपने ही जगत्के अन्दरकी इस ब्रह्माण्डके लोकालोक पर्वतके ऊपर स्थित एक स्थूल शिला देखी ॥ २० ॥

इससे पहले कभी भी इस ब्रह्माण्डको मैंने या मेरे पतिने नहीं देखा था, क्योंकि उसे देखनेकी कभी इच्छा ही नहीं हुई, यह कहती है—'एतावताऽपि' इत्यादिसे ।

हे मुने, इतना समय बीत जानेपर भी पहले हम दोनों पति-पत्नीको इसे देखनेकी कभी कुछ इच्छा ही नहीं हुई ॥ २१ ॥

मेरे स्वामी तो केवल वेदोंके अर्थके विचारमें ही सदा मग्न रहते हैं, इससे वे यह जानते ही नहीं कि कितना समय बीत गया, कितना वर्तमान है, कितना भविष्यत् है, क्या ब्रह्मतत्त्व है । अहो, वे कितने निस्पृह हैं ॥ २२ ॥

इसीलिए मेरे पति विद्वान् होते हुए भी आत्मपदको प्राप्त नहीं कर सके, आज वे और हम—दोनों ही प्रयत्नपूर्वक (आपके उपदेश-श्रवण, मनन आदि प्रयत्नपूर्वक) आत्मवस्तुकी चाह कर रहे हैं ॥ २३ ॥

अतः हे ब्रह्मन्, आप हम लोगोंकी प्रार्थनाको सफल करनेके लिए सर्वथा

भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद ।
त्वदृते नेह पश्यामि घनाज्ञानदवानलम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् विनैव करुणाकरकारणेन
सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।
कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां
मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥



समर्थ हैं, बड़े लोगोंके सम्मुख आये हुए कोई भी प्रार्थी कभी निष्फल होकर नहीं जाते ॥ २४ ॥

इस अर्थके निमित्त तुमने दूसरे सिद्धोंसे प्रार्थना क्यों नहीं की, इसपर कहती है—'भ्रमन्ती०' इत्यादिसे ।

हे मानद, आकाशमण्डलमें सिद्धसमूहोंमें निरन्तर घूम-फिर रही मैं आपके सिवा दूसरे किसीको भी अज्ञानरूपी वनका दावानल नहीं देखती ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तको बतलाकर 'शरणागत मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए' यों महाराज वसिष्ठजीसे प्रार्थना करती है—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, हे करुणाके सागर, चूँकि सज्जन पुरुष किसी कारणके बिना ही अर्थी जनोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं, इसलिए आपकी शरणमें आई हुई मुझ अबलाका तिरस्कार (उपेक्षा) आप नहीं कर सकते । उपेक्षा ही प्रार्थीजनोंका तिरस्कार है ॥ २६ ॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त



षट्षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना ।
सङ्कल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥ १ ॥
कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत् स्थितिः ।
कथं सञ्चलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
तथाऽस्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ॥ ३ ॥

छाछठवाँ सर्ग

[अपनी स्थिति और अपना घर तुमने अवकाशरहित शिलाके पेटमें कैसे किया, इस प्रकार पूछी गई विद्याधरी द्वारा जगत्‌के विस्तारका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माण्डके पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाशमें अवस्थित तथा कल्पित आसनपर बैठे हुए मैंने उस रमणीसे, जो उसी आकाशमें स्थित तथा कल्पित आसनपर बैठी हुई थी, जिसने वर्णित अपना वृत्तान्त कहा, फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

मैंने पूछा कि हे बाले, बिलकुल अवकाशसे रहित शिलापेटमें तुम्हारे-जैसे शरीरधारियोंकी स्थिति कैसे होगी, उसमें हिलना-डोलना कैसे होगा और उसमें घरसे भी तुम्हें लाभ क्या होगा ? सारांश यह कि जहाँ प्रवेश ही असम्भव हैं, वहाँ ये सब बातें हो ही नहीं सकतीं ॥ २ ॥

आपने जितनेकी असंभावना की है, उतना ही उसमें है, यह बात नहीं है, किन्तु ऐसा दूसरा भी जगत् उसमें है, यों विद्याधरी प्रश्नका उत्तर देती है—'मुने' इत्यादिसे ।

विद्याधरीने कहा—हे मुने, जैसे आपका यह जगत् विस्पष्टरूपसे विराजमान है, वैसे ही हमारा भी जगत् उस शिलापेटमें विराजमान है, वह भी सृष्टिरूप संसारसे युक्त है ॥ ३ ॥

स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
आपश्छलच्छलायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ॥ ४ ॥
अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
भूतान्यजस्रं जायन्ते म्रियन्तेऽविरतं यथा ॥ ५ ॥
वान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः ।
तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥ ६ ॥
देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः ।
लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥ ७ ॥
दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः ।
लोलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥ ८ ॥
चन्द्रश्चर्चाश्चतुर्दिक्कं चन्दनेनात्मतेजसा ।
रचयन्रात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥ ९ ॥

वहाँ भी पातालमें नाग रहते हैं, पृथ्वीपर पर्वत स्थित हैं, जल भी लबालब भरे हैं और आकाशमें हवा भी चलती है ॥ ४ ॥

उसके भीतर यहाँके ही-जैसे जलसे समुद्र सुशोभित हैं, प्रजावर्ग भी धीरे-धीरे गमन आदि व्यवहार करते हैं, निरन्तर भूत उत्पन्न होते हैं और निरन्तर मरते भी हैं ॥ ५ ॥

यहाँके समान ही वहाँपर भी वायु चलती है, जल बहते हैं, आकाशमें नक्षत्र आदिके रूपोंमें तथा अपने-अपने शरीर आदिके रूपमें देवता भासते हैं, पर्वत स्थित हैं, गुणोंका उदय होता है और पृथ्वीमें राजे भी चलते-फिरते हैं ॥ ६ ॥

वहाँ देवता, असुर और मनुष्योंकी चञ्चल व्यवहारपरम्परा यहाँके सदृश कल्पतक उस तरह विद्यमान रहती है, जिस तरह समुद्रतक नदीधारा विद्यमान रहती है ॥ ७ ॥

भूलोकरूपी तालतलमें कल्पपर्यन्त और आकाशतक रहनेवाले दिनरूपी कमल भी वहाँ हुए हैं, दिनरूप कमलोंमें लोल (चञ्चल) अभ्र ही भ्रमर हैं, वे विकसित और निमीलित भी होते हैं ॥ ८ ॥

जैसा कि इस जगत्में है, ठीक वैसा ही उस जगत्में भी चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्नारूपी चन्दनसे चारों दिशाओंमें लेपनकर रात्रिमें रोहिणीका भीतरी और बाहरी अन्धकार निवृत्त कर देता है ॥ ९ ॥

स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता ।
रोदःसद्मनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥ १० ॥
ब्रह्मसङ्कल्पितो रुद्धो वातसञ्चारचारिभिः ।
खेऽनिशं चक्रमृक्षाणां गुणावर्तो विवर्तते ॥ ११ ॥
भूततण्डुलमासृष्टेः पिनष्टि ध्रुवकीलकः ।
नियत्या चलितो रोदःकपाटाम्भोदघर्घरः ॥ १२ ॥
द्वीपाब्धिशैलैर्भूपीठं विमाननगरैर्नभः ।
दैत्यदानवनागौघैः पूर्णं पातालमण्डलम् ॥ १३ ॥
कुण्डलं त्रिजगल्लक्ष्म्या नीलं भूतलमण्डलम् ।
स्थितं चञ्चलमाचारचञ्चलायाः स्फुरन्मणि ॥ १४ ॥

वहाँ भी सूर्यनामकी दीपिका, जो कि दसों दिशारूपी बत्तियोंका स्वाद लेनेमें (यानी द्रवात्मक स्नेहका भोग करनेमें) रत और वातरूपी यन्त्रसे चालित है, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीरूप घरके अन्दर जगमगाती है ॥ १० ॥

द्यावापृथ्वीका अब घूम रहे नक्षत्रमण्डलके कारण घरट्टके स्वरूपसे वर्णन करती है—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

आकाशमण्डलमें वहाँपर भी नक्षत्रोंका चक्ररूप घरट्ट (चक्की) घूमता है और अण्डज आदि चार प्रकारके भूतोंको, जो एक तरहसे तण्डुलरूप हैं, सृष्टिके आरम्भसे लेकर बराबर पीसती रहती है, यह घरट्ट यन्त्र ब्रह्माने अपने संकल्पसे बनाया है, वायुसंचारचारियोंसे यानी वातरश्मियोंसे यह अवष्टब्ध है, ध्रुवरूप खूँटेके ऊपर थमा हुआ है तथा अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीमें कपाटके सदृश बन्द करने और खोलनेका स्वभाव रखनेवाले मेघोंसे घर्घर ध्वनि करता रहता है, यह नियतिसे संचालित है ॥ ११, १२ ॥

वहाँपर भी यहाँके सदृश ही पृथ्वी आदि लोक द्वीप, पर्वत आदिसे भरे हैं, यह कहती है—'द्वीपा०' इत्यादिसे ।

वहाँपर भी यहाँके सदृश भूमि द्वीप, सागर और पर्वतोंसे, आकाश विमानोंके संनिवेश-जैसे रचित नगरोंसे तथा पातालमण्डल दैत्य, दानव एवं नागोंके समूहोंसे पूर्ण है ॥ १३ ॥

वहाँपर भी नीला भूतलमण्डल स्थित है । वह ठीक आचरणोंसे चंचल त्रिजगतीरूप लक्ष्मीका चमक रहे मणियोंसे युक्त चञ्चल कुण्डल-सा लगता है ॥१४॥

बुद्ध्यादिरहितां स्पन्दसंविदं वायवीमिव ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सूक्ष्ममादाय जायते ॥ १५ ॥
मुनिमौनैर्धरावार्भिर्मारुतैः कपिचापलम् ।
आकाशैरवकाशित्वं तेजोभिर्भासनं श्रितम् ॥ १६ ॥
वृक्षोर्व्यब्ध्यद्रिखचराः प्राणिनोऽन्तः स्फुरन्त्यलम् ।
मृतिजन्मोन्मुखाः कीटसुरासुरजलौकसः ॥ १७ ॥
ससुरासुरगन्धर्वाः कालः कलयति प्रजाः ।
दोर्भिः कल्पयुगाब्दैश्च स्वपशूनिव पालकः ॥ १८ ॥
अनन्तविपुलागाधगम्भीरे कालसागरे ।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते ते स्वावर्तविवर्तया ॥ १९ ॥
चतुर्दशविधा वातवेल्लिता भूतपांसवः ।
नाशाकाशे विलीयन्ते शरदम्भोदलीलया ॥ २० ॥

वहाँपर भी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियोंका दल—बुद्धि आदिसे शून्य बाह्य वायुकी क्रियाके सदृश—भीतरी सूक्ष्म प्राणनामकी स्पन्दसंवित्‌को लेकर जन्म आदि विकार प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

वहाँपर भी यहाँके सदृश मुनि लोगोंका मुनिक्रियाओंने, पृथ्वीका समुद्र आदि जलोंने, वायुओंने बन्दरके सदृश चपलताका, आकाशने अवकाशपनका और सूर्यादि प्रकाशोंने प्रकाशनका अवलम्बन किया है यानी सब वस्तुओंके स्वभाव यहाँके सदृश ही हैं ॥ १६ ॥

वहाँपर भी जनम और मरणके भागी बन्दर आदि वृक्षचर, मनुष्य आदि भूचर, मत्स्य आदि जलचर, मृग आदि पर्वतचर, पक्षी, देवता आदि आकाशचर, कीट, सुर, असुर और जलनिवासी बीच-बीचमें खूब घूमते फिरते हैं ॥ १७ ॥

यहाँके सदृश वहाँ भी देवता, असुर और गन्धर्वोंके सहित समस्त प्रजाको काल कल्प, युग एवं वर्षरूपी अपने हाथोंसे उस प्रकार पालन आदिसे भोगता है, जिस प्रकार पशुपालक अपने पशुओंको ॥ १८ ॥

अनन्त, अगाध, पुष्कल एवं गम्भीर कालरूपी महासागरमें आवर्त और विवर्तरूप कालगतिसे वे सुरासुर आदि जलजन्तु उत्पन्न हो होकर लीन हो जाते हैं ॥ १९ ॥

जिसमें सभी वस्तुओंका विनाश हो जाता है, ऐसे अव्याकृत आकाशमें

भुवनं बोधयन्ती द्यौश्चन्द्रार्ककरचामरैः ।
स्थिताऽऽकाशांशुकाऽऽकल्पतारकोत्करशेखरा ॥ २१ ॥
स्थिताः पवनभूकम्पमेघतापसहिष्णवः ।
स्वं प्रदेशमनुज्झन्त्यः ककुभः स्तम्भिता इव ॥ २२ ॥
उत्पातमेघनिर्ह्रादभूमिकम्पग्रहग्रहैः ।
अज्ञातैरपि विज्ञातैर्भूतानां जायते गतिः ॥ २३ ॥
सप्तानां जलमब्धीनामौर्वाग्निः पिबति ज्वलन् ।
लोकान्तराणामाकल्पं कालो भूतगणं यथा ॥ २४ ॥
पातालमाविशति याति नभोबिलं च
दिग्मण्डलं भ्रमति भूतगणः समन्तात् ।
पर्येति पर्वतमहार्णवमण्डलानि
द्वीपान्तराणि च मरुत्सरणक्रमेण ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

वायुसे उड़ाये गये चौदह प्रकारके प्राणीरूपी रजकण, शरत्कालके मेघोंके सदृश, विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

यहाँके सदृश वहाँपर भी द्यु शुभ्र आकाशरूप वस्त्र धारणकर तथा मस्तकमें कल्पपर्यन्त तारोंका समूह धारणकर चन्द्र-सूर्यरूपी दो चामरोंको मानो डुलाती हुई सातों भुवनोंको जागृत करती है ॥ २१ ॥

वहाँपर भी यहाँकी नाईं स्थावर प्राणियोंके सदृश पवन, भूकम्प, वृष्टि और घाम सहनेवाली दिशाएँ स्थित हैं ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों द्वारा और अन्यों द्वारा अज्ञात उत्पातके हेतु मेघ, विद्युत्पतन, भूकम्प तथा ग्रह आदिसे प्राणियोंकी इष्टानिष्टरूप गति वहाँपर भी होती है ॥२३॥

जैसे चौदह भुवनोंके प्राणियोंको काल कल्प तक पीता है, वैसे ही वहाँ भी सात समुद्रोंका जल जलती हुई और्वाग्नि (बड़वानल) पीती है ॥ २४ ॥

कथित सब वार्ताका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'पाताल०' इत्यादिसे ।

सप्तषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

यावत्तं सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ।
आश्चर्येषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥ १ ॥
तथेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरभेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥ २ ॥
अथाऽहं दूरमध्वानं शून्यमुल्लंघ्य नाभसम् ।
नभःस्थं भूतसङ्घातं तया सार्धमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

वहाँपर भी पातालयोग्य प्राणी पातालमें प्रवेश करता है, आकाशबिलमें विलास करने योग्य प्राणी आकाशमें जाता है, दिशाओंमें भ्रमण करने योग्य प्राणी दिशाओंमें भ्रमण करता है। संक्षेपसे चारों ओर प्राणीसमूह वायुके संचारके सदृश, पर्वत, महासमुद्रमण्डल तथा अन्यान्य द्वीपान्तरोंमें भ्रमण करते हैं, इसलिए यहाँ जितना व्यवहार है, वह सब वहाँ पाषाणकी शिलामें भी है, यह आप जानिये ॥ २५ ॥

छाछठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

[कौतुकसे महाराज वसिष्ठजीका शिलाके पास जाना, वहाँ जगत् न देखना और उनके पूछनेपर विद्याधरीका अभ्यासकी महिमा कहना—यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—हे मुने, यदि आप मेरी बातको असंभव मानते हों, तो स्वयं ही सम्पूर्ण उस शिलोदर सृष्टिको देखनेके लिए कृपा कीजिए और वहाँ चलिए, क्योंकि बड़े लोगोंको प्राप्त आश्चर्यकारक घटनाओंमें बड़ा ही कौतुक होता है ॥१॥

भद्र श्रीरामजी, उस तरह उसके कहनेपर मैंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात स्वीकार कर ली और आकाशरूपिणी उस रमणीके साथ शून्यात्मक आकाशमण्डलमें जानेके लिए शून्यरूप मैं ऐसे उद्यत हुआ, जैसे वात्याके (झंझावातके) साथ चम्पकादि पुष्पोंकी सुगन्ध ॥ २ ॥

तदनन्तर उसके साथ मैं दूरके शून्यरूप आकाशमार्गको लाँघकर आकाशमण्डलमें स्थित देवता आदि प्राणियोंके समीप जा पहुँचा ॥ ३ ॥

तमुल्लङ्घ्य चिरेणात्र भूतसञ्चारमम्बरे ।
लोकालोकगिरेर्व्योम प्राप्तोऽस्मि धवलाम्बुदम् ॥ ४ ॥
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठान्निर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोऽस्मि तयोत्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥ ५ ॥
यावत्पश्याम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलधौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥ ६ ॥
तदा मयोक्ता सा कान्ता क्व भवत्सर्गभूरिति ।
क्व रुद्रार्काग्नितारादि क्व लोकान्तरसप्तकम् ॥ ७ ॥
क्वाऽर्णवाकाशककुभः क्वोन्मज्जननिमज्जने ।
क्व महाम्भोदसम्भारः क्व ताराम्बरडम्बरम् ॥ ८ ॥
क्व शैलशिखरश्रेण्यः क्व महार्णवलेखिकाः ।
क्व द्वीपवलयाः सप्त क्व तप्तकनकावनिः ॥ ९ ॥

कुछ समय बाद इसी आकाशमें उस देवादि प्राणियोंके संचरण मार्गको भी पारकर मैं उसके साथ श्वेत मेघके सदृश अतिनिर्मल लोकालोक पर्वतके शिखरके आकाशभागमें पहुँच गया ॥ ४ ॥

उत्तर दिशाके पूर्वभागपर स्थित चन्द्रसदृश अतिधवल आकाश पीठसे नीचे आकर मैं उसके द्वारा उस शिलाके पास ले जाया गया। वह शिला बड़ी ही ऊँची और रूप-रङ्गमें ठीक तपे सोनेके सदृश कल्पित थी ॥ ५ ॥

सुवर्णमयी सुमेरुतटीके सदृश वह बहुत बड़ी ऊँची शुभ्र शिला मैंने चारों ओरसे खूब देखी, परन्तु उसमें जगत् नहीं दीख पड़ा ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, जगत्‌को न देखकर मैंने उस सुन्दरी बालासे पूछा कि यहां कहांपर वे जगत् हैं, जिनका तुमने मुझसे वर्णन किया था, कहां रुद्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि हैं तथा कहां यहां सात दूसरे-दूसरे लोक हैं ॥ ७ ॥

हे रमणि, यहां कहांपर समुद्र, आकाश एवं दिशाएँ हैं, कहां प्राणियोंके जन्म और विनाश हो रहे हैं, कहां बड़े-बड़े मेघमण्डल हैं और है कहां तारोंसे युक्त चमकिले आकाशमण्डलका आडम्बर ॥ ८ ॥

कहां पर्वतोंके शिखरोंकी श्रेणियां हैं, कहां बड़े-बड़े लवण-समुद्रोंकी पंक्तियां हैं, कहां सात द्वीपरूपी कङ्कण हैं और है कहां तपे सोनेके सदृश भूमि ॥ ९ ॥

क्व कार्यकालकलनाः क्व भूतभुवनभ्रमः ।
क्व विद्याधरगन्धर्वाः क्व नरामरदानवाः ॥ १० ॥
क्वर्षिभूपालमुनयः क्व नयापनयक्रमः ।
क्व पश्चयामयामिन्यः क्व स्वर्गनरकभ्रमः ॥ ११ ॥
क्व पुण्यपापकलनाः क्व कलाकालकेलयः ।
क्व सुरासुरवैराणि क्व द्वेषस्नेहरीतयः ॥ १२ ॥
वदत्येवं मयि वचः सोवाच वरवर्णिनी ।
विस्मयाकुलमालोक्य शिलामलविलोचना ॥ १३ ॥

विद्याधर्युवाच

पश्याम्यखिलमात्मीयमहं सर्वमिहोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥ १४ ॥
नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
तदभावो मुने मन्ये ते कारणमदर्शने ॥ १५ ॥

कहां क्रिया, काल और कल्पनाएँ हैं, कहां भूतोंके (देवता आदिके) निवासस्थान भ्रम हैं, कहां विद्याधर एवं गन्धर्व हैं तथा कहां मनुष्य, देव और दानव हैं ॥ १० ॥

कहां ऋषि और राजा हैं, कहां उनमें मुनि हैं, कहां नीति-अनीतिकी रीति है, कहां हेमन्तकी रात्रियां हैं और कहां हैं—स्वर्ग-नरकके विभ्रम ॥ ११ ॥

कहां पुण्य-पापकी गतियां हैं, कहां कालकी कलाओंका विलास है, कहां सुर और असुरोंका युद्ध है और यहां कहां हैं—द्वेष एवं स्नेहकी पद्धतियां॥१२॥

श्रीरामजी, ज्योंही मैं इस तरहसे उससे प्रश्न कर रहा था त्योंही आश्चर्यसे व्याकुल मुझको देखकर शिलाके सदृश निर्मल नेत्रवाली एवं सुन्दर रूपवाली उस रमणीने कहना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

विद्याधरीने कहा—भगवन्, मैं भी अब पहलेके सदृश अपना सब कुछ इस पत्थरकी शिलामें नहीं देख रही हूँ। पर मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदिका पूर्वमें वर्णन किया है, उन सबको मुकुरमें (दर्पणमें) प्रतिबिम्बरूपसे स्थित जो प्रसिद्ध नगरसे दूसरा नगर है, उसके सदृश प्रतिबिम्बरूपसे स्थित देखती हूँ ॥ १४ ॥

हे मुने, हमको जो उन लोगोंका दर्शन हो रहा है, उसमें कारण नित्यका

अन्यच्च चिरकालैकद्वैतसंकथयाऽनया ।
शुद्धाऽऽतिवाहिकैकात्मदेहता विस्मृताऽऽवयोः ॥ १६ ॥
ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योमलतामिव ।
गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥ १७ ॥
अभूद्यत्स्वजगत्पूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
तत्पश्यामीदमादर्शे इव बिम्बितमस्फुटम् ॥ १८ ॥
चिरव्यर्थोत्थया नाथ संकथाव्यथया मिथः ।
स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥ १९ ॥
योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्नभसो रसात् ।
भवेत्तन्मयमेवान्तराबालमिव लक्ष्यते ॥ २० ॥

अनुभव ही है, वह नित्यका अनुभव आपको है नहीं, इसलिए उसका अभाव ही जगत्के न दीखनेमें कारण है ॥ १५ ॥

समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंके अवलोकनमें समर्थ विशुद्ध मनोरूप देहके विस्मरणसे भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और हमको दीखता है, पर अस्फुट, यह कहती है—'अन्यच्च' इत्यादिसे ।

मुने, दूसरी बात यह कि चिरकालतक अपने लोगोंकी यह जो एक-द्वैत विषयकी कथा चली, उससे विशुद्ध सूक्ष्म मनोमात्ररूप देहका हम लोगोंको विस्मरण हो गया है, इसलिए आपको जगत् नहीं दीखता और हमको अस्फुट दीखता है ॥ १६ ॥

मेरा भी यहाँ जो जगत था, वह प्रायः नष्ट ही हो चुका है, क्योंकि यद्यपि उसका मैंने चिरकाल तक अभ्यास किया है, फिर भी अब आकाशलताके सदृश स्पष्ट नहीं दीखता ॥ १७ ॥

जो जगत् मेरे लिए पहले अत्यन्त विस्पष्ट था, उसको मैं अब दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश अस्पष्ट देखती हूँ ॥ १८ ॥

हे नाथ, अपने लोगोंका परस्पर जो दीर्घकाल तक निरर्थक संभाषण हुआ, उससे उत्पन्न व्यथासे अपना अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य (धारणाके अभ्याससे जनित अपनी मनोरूप देहरूपता) विस्मृत हो गया ॥ १९ ॥

भगवन्, जो भी अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चिदाकाशके रससे उद्बुद्ध

न सच्छास्त्रेण सा विद्धि न सन्न्यायेन सा कला ।
अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासान्न सिद्ध्यति ॥ २१ ॥
स्वजगत्सन्तताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवान् जयी ॥ २२ ॥
इष्टवस्त्वर्थिनां तज्ज्ञसूपदिष्टेन कर्मणा ।
पौनःपुन्येन करणान्नेतरच्छरणं मुने ॥ २३ ॥

होकर प्रकट होता है, उसी रूपका भीतरी अन्तःकरण मानो हो ही जाता है, यही बाल्य अवस्थासे लेकर वस्तुस्थिति है ॥ २० ॥

अतएव अभ्यासके विना पुरुषके श्रवण-मनन निष्फल हैं, यह कहती है—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, वह कला न उत्तम शास्त्रोंसे सिद्ध होती है, न उत्तम न्यायसे सिद्ध होती हैं, किन्तु अपरिमित उद्योगसे युक्त अभ्याससे ही सिद्ध होती है, अभ्याससे वह सिद्ध नहीं होती, यह बात नहीं, किन्तु अवश्य सिद्ध होती है, यह आप जानिए ॥ २१ ॥

सतत अभ्यासके लिए तो कोई असाध्य वस्तु है ही नहीं, यह कहती है—'स्वजगत्' इत्यादिसे ।

भगवन्, यह जो आपके साथ संवादात्मक कथाभ्रम हुआ, उसने अपने जगत्के निरन्तर अभ्यासके वशसे पूर्वजगत्के भ्रमसे ग्रस्त मुझको वशमें कर दिया, इसलिए वह संस्कार तिरोहित हो गया, क्योंकि भूतकालका भ्रम और वर्तमानकालका भ्रम—इन दोनोंमें वर्तमानकालका भ्रम बलवान् होनेके कारण विजयी हुआ ॥ २२ ॥

अतएव लौकिक या वैदिक शिल्पविद्या आदि फलोंकी इच्छा कर रहे पुरुषोंको गुरुजी द्वारा उपदिष्ट पद्धतिसे बार-बार किया गया उसका अभ्यास ही शरण है, दूसरा नहीं, यह कहती है—'इष्ट०' इत्यादिसे ।

हे मुने, अपनी-अपनी मनपसन्द वस्तु चाहनेवालोंके लिए गुरुओं द्वारा उत्तम रीतिसे उपदिष्ट कर्म करनेकी पद्धतिसे बार-बार जो किया जाता है, उसीसे अभीष्ट वस्तु उन्हें मिलती है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं—अन्य शरण है नहीं ॥ २३ ॥

अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ २४ ॥
अहं शिलाबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २५ ॥
अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २६ ॥
इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २७ ॥
अभ्यासेन कटु द्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ २८ ॥

जब अनादि अनन्त संसाररूप अनर्थ भी ज्ञानके अभ्याससे नष्ट हो जाता है तब ऐसा कौन अनर्थ बचने पाता है, जो अभ्याससे उसकी चिकित्सा न हो सके, यह कहती है—'अयमित्थ०' इत्यादिसे ।

हे मुने, यह इस प्रकारका प्रौढ़ अहंरूप जो बड़ा अज्ञानभ्रम विद्यमान है, वह ज्ञानकी चर्चासे यानी श्रवणादिके अभ्याससे ही निवृत्त हो जाता है, भला देखिये तो सही अभ्यासका फल ॥ २४ ॥

अभ्यासमें उत्तमता होनेपर बालकोंमें भी प्रौढता देखी जाती है और अभ्यासके छूट जानेपर बड़े लोगोंको भी व्यामोह होने लगता है, इस विषयमें हम दोनों ही दृष्टान्त हैं, यह कहती है—'अहम्' इत्यादिसे ।

मै एक शिलाकी अबला हूँ, उसमें भी बाला और आपकी शिष्या हूँ, फिर भी शिलाकी सृष्टिको देखती हूँ, आप सर्वज्ञ और गुरु हैं तो भी नहीं देखते, यह बड़ा आश्चर्य है, देखिए तो यह अभ्यासका विजृम्भण ॥ २५ ॥

अभ्याससे धीरे धीरे अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है, अचेतन बाण भी सूक्ष्मतम लक्ष्यको प्राप्त करता है, देखिए अभ्यासकी कितनी महत्ता है ॥ २६ ॥

इस तरह मिथ्याभूत जो चारों ओरसे प्रौढ़ अज्ञानरूपी महामारी है, वह विचाररूप अभ्याससे ही शान्त हो जाती है, देखिए अभ्यासका माहात्म्य ॥२७॥

मुने, अभ्याससे ही कटु पदार्थ अभीष्ट हो जाता है, अभ्याससे ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु अच्छा लगता है ॥ २८ ॥

अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकट्याभ्यासयोगतः ।
यात्यनभ्यासतो दूरात्स्नेहो बन्धुषु तानवम् ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ ३० ॥
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत् खमभ्येति पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ ३१ ॥
पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाऽभ्यासस्तु कदाचन ॥ ३२ ॥
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः ॥ ३३ ॥
येनाऽभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
कदाचिन्न तदाऽप्नोति वन्ध्या स्वतनयं यथा ॥ ३४ ॥

समीपके कारण अभ्यासयोगसे ही अबन्धु बन्धुरूप बन जाता है और दूरीके कारण अनभ्याससे बन्धुओंमें भी स्नेह थोड़ा हो जाता है ॥ २९ ॥

देहमें भौतिकताकी भ्रान्ति भी स्वाभाविक भौतिकताके अभ्याससे ही होती है, यह कहती है—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

भावनाभ्यासयोगसे ही केवल विशुद्ध चिदाकाशरूप आतिवाहिक यह देह आधिभौतिक रूप बन जाती है ॥ ३० ॥

यह आधिभौतिक देह धारणाके अभ्यासकी भावनासे ही पक्षियोंके सदृश आकाशमें उड़नेकी सिद्धि प्राप्त करती है, देखिए यह भी अभ्यासका ही प्रभाव है ॥ ३१ ॥

कदाचित् श्लाघारूप थोड़ेसे अपराधसे पुण्य भी विफल बन जाते हैं, माताएँ विफल बन जाती हैं और धन भी विफल बन जाता है, परन्तु कभी अभ्यास विफल नहीं होता ॥ ३२ ॥

निरन्तरके अभ्याससे दुःसाध्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा औषधके निमित्त अभ्याससे विष भी अमृत बन जाते हैं ॥ ३३ ॥

अतएव शास्त्रीय शुभाभ्यास कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, यह कहती है—'येन' इत्यादिसे ।

इष्ट वस्तुके विषयमें जिसने अपना अभ्यास छोड़ दिया, वह मनुष्योंमें अधम

यदप्यभिमतं वस्तु स्वभ्यासेन तदर्जनात् ।
तद्युक्तिपूर्वकं त्याज्यमामृत्योर्जीवितं यथा ॥ ३५ ॥
इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकान्नरकान्तरम् ॥ ३६ ॥
तरन्ति सरितं स्फीतां संसारासारसेविनः ।
त एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥ ३७ ॥
अभ्यासभासोऽभिमतं वस्तु प्रकटयन्त्यलम् ।
प्रापयन्ति च निर्विघ्नं घटं दीपप्रभा यथा ॥ ३८ ॥

है, वह उस वस्तुको ऐसे प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे वन्ध्या अपने पुत्रको ॥३४॥

तब क्या शास्त्रविहित होनेसे स्त्री, पुत्र, धन, सत्कर्मानुष्ठान आदि अभिमत वस्तुका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देती है—'यद०' इत्यादिसे।

स्त्री, पुत्र आदि जो अभिमत वस्तुएँ हैं, उनका उपार्जन हजारों यत्नोंसे किया जाता है। इससे उनका भी परित्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैराग्यके अभ्यास द्वारा ऐसे युक्तिसे परित्याग करना चाहिए, जैसे मृत्युपर्यन्त अत्यन्त अभीष्ट जीवन वस्तुका योगी युक्तिपूर्वक त्याग करता है ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञानार्थ जो अभ्यास है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके त्यागसे तो देह आदिमें अहम्भावादिका अभ्यास अवश्य होने लग जायगा, फिर इसका निवारण असंभव हो जानेपर अनिर्मोक्षकी आपत्ति हो जायगी, इस आशयसे कहती है—'इष्टे' इत्यादिसे।

जो नराधम अपनी इष्ट वस्तुके लिए (मोक्षहेतु तत्त्वज्ञानके लिए) अभ्यास नहीं करता, वह अनिष्टमें यानी देह आदिमें अहम्भावरूप अनर्थमें ही रत रहेगा, इस स्थितिमें अपने अभ्यासस्वभावसे अनिष्ट ही प्राप्त करता रहेगा और तदनन्तर एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता रहेगा, उससे छुटकारा कभी उसका नहीं होगा ॥ ३६ ॥

जिससे संसार असार बन जाता है, ऐसे विवेककी सेवामें सदा निरत रहनेवाले जो उत्तम पुरुष आत्मविचाररूप अभ्यासको नहीं छोड़ते, वे ही इस महाविस्तृत मायारूपी नदीको तैर जाते हैं ॥ ३७ ॥

हे मुने, जैसे घड़ा चाहनेवाले पुरुषके लिए दीपककी प्रभाएँ

यथा कल्पद्रुमलताः सच्चिन्तामणयो यथा ।
फलन्ति शरदश्चैतास्तथैवाऽभ्यासभूमयः ॥ ३९ ॥
इष्टवस्तु चिराभ्यासभास्वान् भासयति प्रजाः ।
तथेन्द्रियाख्यां देहोर्व्यां रात्रिं पश्यन्ति नो यथा ॥ ४० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्ववस्त्ववभासने ।
सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥ ४१ ॥
चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेर्न कस्यचित् ।
सिद्ध्यन्त्यभिमतं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥ ४२ ॥
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
पुरुषार्थः स एवेह तेनाऽस्ति न विना गतिः ॥ ४३ ॥

प्रकाशित करती हैं और निर्विघ्न उसे प्राप्त करा देती हैं, वैसे ही आत्मवस्तु चाहनेवाले पुरुषके लिए श्रवणादि अभ्यासरूपी प्रभाएँ आत्माको प्रकाशित करती हैं और उसे प्राप्त भी करा देती है। उसमें श्रवण-मननका अभ्यास असंभावना-रूप अन्धकार हटाकर वस्तुको प्रकाशित कर देता है और निदिध्यासनका अभ्यास विपरीत भावनारूप विघ्न-विनाशकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देता है, यह तात्पर्य है ॥ ३८ ॥

जैसे कल्पवृक्षकी लता, जैसे उत्तम चिन्तामणि अथवा जैसे शरद ऋतु तत्-तत् अभिमत फल प्रदान करती हैं, वैसे ही ये श्रवण आदिके अभ्यासकी भूमियाँ भी अभिमत मोक्षवस्तु प्रदान करती हैं ॥ ३९ ॥

देहरूपी पृथ्वीपर चिरकालिक आत्मविचाराभ्यासरूपी सूर्य अपनी अभीष्ट वस्तुको (परम प्रेमके विषय आत्माको) उस तरीकेसे दिखलाता है, जिस तरीकेसे कि उत्तम जन्म लेनेवाले अधिकारीजन राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि हजारों अनर्थोंको पैदा करनेवाली इन्द्रियरूप रात्रिको न देख पावें ॥ ४० ॥

जितने प्राणी हैं, उन सबके लिए सदा ही सब वस्तुओंका प्रकाश करनेवाला एक अभ्यासरूपी सूर्य सर्वोच्च है ॥ ४१ ॥

चौदह भुवनोंमें स्थित चौदह प्रकारकी जो प्राणियोंकी जातियाँ हैं, उनमें किसी भी प्राणीकी स्वाभाविक अभीष्ट वस्तु अभ्यासके बिना सिद्ध नहीं होती ॥ ४२ ॥

अब अभ्यासका स्वरूप बतलाती है—'पौनःपुन्येन' इत्यादिसे ।

दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा।
निजवेदनजेनेव सिद्धिर्भवति नाऽन्यथा ॥ ४४ ॥

अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च
वीरस्य सिध्यति न यत्र तदस्ति किञ्चित्।
अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने अभ्यासप्रशंसा नाम
सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

महाराज, किसी एकका बार-बार करना ही अभ्यास कहा जाता है। इसीका इस शास्त्रमें पुरुषार्थशब्दसे पहले अनेक बार वर्णन किया गया है, पुरुषप्रयत्न और परमपुरुषार्थरूप फल भी वास्तवमें वही है, इसलिए अभ्यासके बिना यहाँ किसीकी गति हो ही नहीं सकती ॥ ४३ ॥

दृढ़ अभ्यास शब्दसे कहा जानेवाला प्रयत्ननामक जो अपना कर्म है, उसीसे सिद्धि मिलती है, दूसरेसे नहीं, यही सत्कर्म अपने विवेकके कारण मानो उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ वीर पुरुषके लिए अभ्यासरूपी सूर्यके तपते रहनेपर भूमिमें, जलमें या आकाशमें ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डलपर तथा समस्त निर्जन पर्वतकी गुहाओंमें जितने भयके कारण बाघ, साँप आदि हैं, वे सब अभ्यासवान् पुरुषके लिए अभयहेतु बन जाते हैं यानी अभ्यासीको उनसे तनिक भी भय नहीं होता। वे अभयरूप बन जाते हैं ॥ ४५ ॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अष्टषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयाऽमले ।
कुर्वः प्रकटतां तेन जगद्द्रक्ष्यति शैलगम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

युक्तियुक्ते तयेत्युक्ते विद्याधर्या धरोरसि ।
बद्धपद्मासनोऽथाहं समाधावुदितोऽभवम् ॥ २ ॥
सर्वार्थभावनात्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
अत्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥ ३ ॥
अथ चिद्व्योमतां प्राप्तः परां दृष्टिमहं गतः ।
शरत्समयसम्प्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥ ४ ॥

अड़सठवाँ सर्ग

[आधिभौतिक भ्रान्तिका निरास करके समाधिसे जो आतिवाहिक भावकी स्थिति होती है, वह सत्य है, यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—हे भगवन्, चूँकि दृढाभ्यासनामक समाधिरूप यत्नके बिना देहादिमें आधिभौतिकताकी (स्थूलताकी) भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो सकती और आतिवाहिक भावका भी (सूक्ष्मभावका भी) आविर्भाव नहीं हो सकता । आतिवाहिक भावके बिना दूसरे सर्गकी स्थिति भी साक्षिप्रत्यक्षसे नहीं देखी जा सकती, इसलिए निर्मल परमात्मामें सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणासे अपना हम प्राचीन आतिवाहिक भावका अभ्यास पुनः करें, उसी उपायसे शिलाके अन्तर्गत जगत् प्रकट होगा, जिसका मैंने आपसे वर्णन किया है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—इस तरह उस पर्वतके ऊपर उस विद्याधरीके युक्तियुक्त वचन कहनेपर मैं पद्मासन जमाकर समाधिके लिए उद्यत हो गया ॥२॥

और उस समाधिमें सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंकी कल्पनाका त्याग हो जानेपर चिन्मात्र एकरूप होकर मैंने उस पूर्वकथार्थकी—आधिभौतिक देहादिकी भावना और उसके संस्कारमलका भी बिलकुल त्याग कर दिया ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर चिदाकाशरूपताको प्राप्त होकर मैं दिव्य दृष्टिको ऐसे प्राप्त हुआ, जैसे शरत्कालमें आकाश निर्मलताको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ततः सत्यावधानैकघनाभ्यासेन देहके ।
ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता ॥ ५ ॥
उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमप्यपि ।
महाचिद्व्योमता स्वच्छा प्रोदितेव तदाऽभवत् ॥ ६ ॥
अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतेजसा ।
वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥ ७ ॥
परमार्थघनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
तथा भावनया ह्यात्मा मदीयो दृष्टवांस्तथा ॥ ८ ॥
यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा गेहगता शिला ।
व्योमैव केवलं तद्वत्सुशुद्धं चिन्नभःशिला ॥ ९ ॥
स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुंस्त्वं गतो नरः ।
स्वप्नेऽज्ञानप्रबुद्धस्य यादृक्तादृक्स्वरूपतः ॥ १० ॥

इसके अनन्तर सत्य परमात्माके दृढ़ अभ्याससे देहमें मेरी आधिभौतिकता-भ्रान्ति निश्चितरूपसे अस्त हो गई ॥ ५ ॥

और उस समय उदय एवं अस्तसे रहित, नित्य अनावृत स्वप्रकाशरूपा, अतिनिर्मल, महाचिदाकाशरूपता एक तरहसे प्रकट हो गई ॥ ६ ॥

इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेजसे देखने लगा, तो मुझे वस्तुतः न तो वह आकाश दीख पड़ा, और न वह पत्थर ही वहाँ दीख पड़ा । उस समय सब कुछ मुझे परमार्थमय ही दीख पड़ा ॥ ७ ॥

उस तरहका वह परमार्थघन स्वच्छ परतत्त्व ही भासित हो रहा है । तथा वह परमतत्त्व ही मेरा आत्मा है—स्वरूप है । उसीने पत्थरकी भावनासे वह पत्थर देखा ॥ ८ ॥

जैसे स्वप्नमें अपने घरके भीतर विशाल एक पत्थरके रूपसे देखी गई शिला केवल चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही विशुद्ध केवल चिदाकाश ही वहाँ पत्थर शिलाके रूपसे स्फुरित हो रहा था ॥ ९ ॥

यदि यह व्यवहार स्वप्नरूप ही है, तो फिर वहाँ अपनी या दूसरे किसीकी जाग्रदवस्थारूपताका प्रतिभास कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥ ११ ॥
बोधः कालेन भवति महामोहवतामपि ।
यस्मान्न किञ्चनाप्यस्ति ब्रह्म तत्त्वादृतेऽक्षयम् ॥ १२ ॥
अतस्तच्चिद्घनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्व्यादि सत् क्वचित् ॥ १३ ॥
भूतानामादिसर्गे यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
वपुस्तदेव ह्येतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें ही, अज्ञानवश 'मैं स्वप्नसे जग गया' ऐसा मान रहे किसी अन्य पुरुषके स्वप्नदृश्य पुरुषरूपताको प्राप्त हुआ स्वप्नयुक्त पुरुष स्वयं अपनेको स्वरूपतः जैसा 'मैं प्रबुद्ध हूँ' ऐसा प्रतिभासित होता है, ठीक वैसा ही वह व्यवहार है ॥१०॥

स्वप्नमें स्थित जिन पुरुषोंका सिर कट चुका है वे स्वप्न-संसारमें स्थित होकर ज्ञानके बिना क्या कर सकते हैं, ऐसे ही संसारमें स्थित जीव कालवश ज्ञानप्राप्तिके बिना क्या कर सकते हैं अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके पहले क्या कर सकते हैं, इसलिए स्वप्नमें आहत हुए पुरुषोंका जागरणके उपायभूत देहके न रहनेसे अगत्या यही कहना पड़ता है कि स्वप्नमें ही उनकी जागरणता है ॥ ११ ॥

इसलिए मूलाज्ञानरूपी निद्राके उच्छेदसे स्वरूपका प्रतिबोध ही इस जीवका मुख्य प्रतिबोध है । इसके विपरीत तो यही कहना पड़ेगा कि स्वप्नमें ही व्यर्थ जागरणका अभिमान है, यह कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, महामोहशाली (अज्ञानरूपी निद्रायुक्त) पुरुषोंको जो समय पाकर बोध होता है यानी ज्ञानरूप जागरण होता है वही उनका मुख्य प्रबोध है—जागरण है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्वके सिवा अक्षय कोई दूसरा पदार्थ जागरण या स्वप्नमें नहीं है ॥ १२ ॥

यही कारण है कि मैंने स्वरूपबोधके पहले जिसकी आकृति शिलामय देखी थी, उस स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाशको मैंने चेतनघन सद्रूप देखा, पृथ्वी आदिके विकारके रूपसे कहीं नहीं देखा ॥ १३ ॥

भूतोंकी आदि सृष्टिमें स्थित जो शुद्ध और जो पारमार्थिक ब्रह्मरूप है वही तत्त्वज्ञानियोंके ध्यानसे लभ्य इन सभी प्राणियोंका शरीर स्थित है ॥ १४ ॥

ब्राह्मं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
तदेवाद्य मनोराज्यं सङ्कल्प इति कथ्यते ॥ १५ ॥
सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
प्रत्यक्षं परमं यत्तत्तदाद्यं कचनं चितः ॥ १६ ॥
उद्यत्प्रथममध्यक्षं जीवस्य प्रथमं वपुः ।
मनःप्रत्यक्षमित्युक्तं तत्तेनाद्यैव दुर्धिया ॥ १७ ॥
योगिप्रत्यक्षमित्युक्तं मनःप्रत्यक्षमित्यपि ।
तत्स्वमेव चितो रूपं गतमेवाऽन्यतां मुधा ॥ १८ ॥

जो ब्रह्मका आत्मीय पुरातनरूप है वही भूतोंका अपना पारमार्थिकरूप है वह मनोराज्य या सङ्कल्प तुल्य ही है । उसीको इस समय मूढ़ लोग जगतके नामसे कहते हैं ॥ १५ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन वह आतिवाहिक देह कौन है, जिसके सद्भावमें सम्पूर्ण जगत्का दर्शन और चित्स्वभावका स्फुरण होता है, उसको कहते हैं—'सत्ता०' इत्यादिसे ।

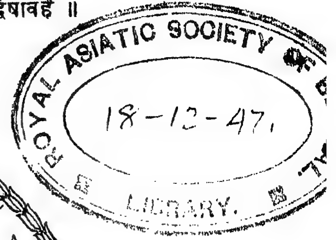
वह मायाशबल ब्रह्म ही सत् कहा जाता है । उसमें चितिकी जो जगत्के संस्कारसे युक्त अंशकी सत्ता है, उसीको आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं । और उसका जो वह नित्य अपरोक्ष शुद्ध चिदंश है वही उसका स्वरूप-स्फुरण है ॥ १६ ॥

तब आपने यह पहले कैसे कहा है कि मन जीवका आतिवाहिक शरीर है, है, इसपर कहते हैं—'उद्यत्' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आकारसे उदित हो रहा वही चित्सत्तारूप प्रथम प्रत्यक्ष चिदाभासात्मक जीवका हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टिरूप आतिवाहिक शरीर होता है और वही फिर समष्टिभावको अपनी दुर्बुद्धिसे भूलकर शीघ्र ही जब व्यष्टिभावको प्राप्त कर लेता है तब सर्वजनप्रत्यक्ष मन, इस नामसे कहा जाता है । इसीलिए तो हमने आपसे पहले यह कहा है कि जीवका आतिवाहिक शरीर मन है ॥ १७ ॥

इस प्रकार स्वयं वही चितिका रूप अज्ञानके कारण व्यर्थ ही अन्यरूपताको प्राप्त हो गया है । समष्टिरूपसे वह योगियोंको प्रत्यक्ष है, इसलिए वह योगि-

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥





अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १४ } श्रावण, भाद्रपद २००४ { अङ्क ७,८

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

श्रीभगवत्स्तुतिः

जय दीनदयाकर प्रभो जय दुःखापह मङ्गलाह्वय ।
जय भक्तजनार्तिनाशककृतवर्ष्मञ्जय दुष्टघातक ॥ १ ॥
अम्बरीषमथ वीक्ष्य दुःखितं विप्रशापहतसर्वमङ्गलम् ।
धारयन् निजकरे सुदर्शनं स्वं ररक्ष जठराधिवासतः ॥ २ ॥
दैत्यराजपितृकारितव्यथः शूलपाशजलवह्निपातनैः ।
श्रीनृसिंहतनुधारिणा त्वया रक्षितः सपदि पश्यतः पितुः ॥ ३ ॥
ग्राहवक्त्र पतिताङ्घ्रिमुद्भटं वारणेन्द्रमतिदुःखपीडितम् ।
वीक्ष्य साधु करुणार्द्रमानसस्त्वं गरुत्मति कृतारुहक्रियः ॥ ४ ॥
त्यक्तपक्षिपतिरात्तचक्रको वेगकम्पयुतमालिकाम्बरः ।
गीयसेऽसुभिरमुष्य नक्रतो मोचकः सपदि तद्विनाशकः ॥ ५ ॥
यत्र यत्र तव सेवकार्दनं तत्र तत्र बत देहधारिणा ।
पाल्यतेऽत्र भवता त्वया निजः पापहारिचरितैर्मनोहरैः ॥ ६ ॥
दीननाथ सुरमौलिहीरकोद्घृष्टपादतलभक्तवल्लभ ।
पापकोटिपरदाहक प्रभो दर्शयस्व मम पादपङ्कजम् ॥ ७ ॥
पापकृद् यदि जनोऽहमागतो मानसे तव तथा हि दर्शय ।
तावका वयमघौघनाशन विस्मृतं न हि सुरासुरार्चित ॥ ८ ॥
ये वदन्ति तव नाम निर्मलं ते तरन्ति सकलाघसागरम् ।
सच्छ्रुति यदि कृता तदा मया प्राप्यतां सकलदुःखहारक ॥९॥

—श्रीपद्मपुराणान्तर्गता ।

योगवासिष्ठ

अनुवादक—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

इदमद्यतनं नाम प्रत्यक्षमसदुत्थितम् ।
असत्प्रत्यक्षमेवेति विद्धि प्रत्यक्षमङ्ग तत् ॥ १९ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं प्राक्प्रत्यक्षे परोक्षता ।
निर्णीताऽस्मिंस्त्वनध्यक्षे प्रत्यक्षकलनाऽऽगता ॥ २० ॥
आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥ २१ ॥
अनुभूतापि नास्त्येव हेम्नः कटकता यथा ।
तथाऽऽतिवाहिकस्याऽऽधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥ २२ ॥
भ्रममभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमतां गतम् ।
वेत्ति जीवो विचारेण विनाऽहो नु विमूढता ॥ २३ ॥

प्रत्यक्ष और व्यष्टिरूपसे सर्वजनसाधारणको प्रत्यक्ष है, इसलिए मनःप्रत्यक्ष भी कहा गया है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय जो यह मनःप्रत्यक्ष है वह आधिभौतिक देह आदिकी कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूपसे ही उदित हुआ है, अतः इसे आप असत् प्रत्यक्ष ही समझिये । और उस योगिप्रत्यक्षको आप सत् यानी याथात्म्यकी स्फूर्ति होनेसे मुख्य प्रत्यक्ष जानिये ॥ १९ ॥

तब सभी लोगोंको उस प्रत्यक्षमें परोक्षताका अनुभव तथा अन्यत्र प्रत्यक्षताका अनुभव कैसे होता है, इसपर कहते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

अहो, परमेश्वरकी यह माया विचित्र है, प्राक् प्रत्यक्षमें (साक्षी चेतनकी समष्टि मनकी प्रत्यक्षतामें) परोक्षता हो रही है और इस अनध्यक्ष (अप्रत्यक्ष) मनमें प्रत्यक्षकी कल्पना आ गई है ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्में सर्वप्रथम स्फुरित होनेसे सूक्ष्म शरीर ही प्रत्यक्ष होता है, उसीको आप सत्य और सर्वगत समझिये । यह आधिभौतिक स्थूल शरीर तो माया ही (मिथ्या ही) है ॥ २१ ॥

जैसे अनुभव करनेपर सुवर्णमें कटकता एकदम नहीं है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें आधिभौतिकता (स्थूल शरीरता) भी वस्तुतः नहीं है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, विचार न रहनेके कारण यह जीव भ्रममें अभ्रमरूपता और अभ्रममें भ्रमरूपता प्राप्त है, यह समझता है । अहो, यह कैसी मूढ़ता है ॥२३॥

आधिभौतिकदेहोऽयं विचारेण न लभ्यते ।
आतिवाहिकदेहस्तु किल लोकद्वयेऽक्षयः ॥ २४ ॥
आधिभौतिकचिद्रूढा ह्यातिवाहिकदेहके ।
मरौ मरीचिकास्वेव यथा मिथ्यैव वारिधीः ॥ २५ ॥
जाताधिभौतिकी संविदातिवाहिकचित्क्रमे ।
देहदृष्टिवशात्प्रौढा स्थाणौ पुरुषधीरिव ॥ २६ ॥
शुक्तौ रजतता तापे जलतेन्दौ यथा द्विता ।
आधिभौतिकता तद्वन्माययैवातिवाहिके ॥ २७ ॥
यदसत्तत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम् ।
अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्याऽस्याऽविचारजम् ॥ २८ ॥
योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किञ्चिदस्ति तु मानसम् ।
यस्माल्लोकद्वयाचारस्ताभ्यामेव प्रसिद्ध्यति ॥ २९ ॥

बहुत विचारकर देखनेसे यह आधिभौतिक स्थूल शरीर उपलब्ध नहीं होता और आतिवाहिक—सूक्ष्म शरीर तो मोक्षपर्यन्त इस लोक और परलोकमें भी समस्त व्यवहारका निर्वाहक होनेसे अक्षय है ॥ २४ ॥

सूक्ष्म शरीरोपहित चितिमें आधिभौतिकताकी प्रथा यानी स्थूल शरीर-रूपताकी बुद्धि मिथ्या ही ऐसे प्रादुर्भूत हुई है, जैसे मरुभूमिकी मृगतृष्णामें जलबुद्धि व्यर्थ ही प्रादुर्भूत होती है ॥ २५ ॥

सूक्ष्मशरीरोपहित चितिक्रममें उत्पन्न हुई आधिभौतिकी बुद्धि यानी स्थूलबुद्धि स्थूलशरीरकी दृष्टिकी वशसे ऐसे प्रौढ़ हो गई है, जैसे स्थाणुमें पुरुषबुद्धि ॥ २६ ॥

शुक्तिमें जैसे रजत, मृगतृष्णामें जैसे जल और जैसे चन्द्रमामें दो चन्द्रकी बुद्धि मिथ्या है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें स्थूलबुद्धि भी माया ही—मिथ्या ही है ॥ २७ ॥

अहो ! इस जीवके अविचारसे उत्पन्न हुए मोहके माहात्म्यको तो जरा देखिये, उसने जो असत् है उसे सत्य और जो सत्य पदार्थ है उसे असत् बना दिया है ॥ २८ ॥

वास्तवमें तो योगियोंकी प्रत्यक्ष-भूत चिति-स्फूर्ति ही सत्य है और मानस

आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
प्रत्यक्षे मृगतृष्णाम्बु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥ ३० ॥
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
अकृत्रिमनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ ३१ ॥
प्रत्यक्षेणैवमध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
यदाद्यं तत्सदध्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥ ३२ ॥

स्पन्द तो कुछ* है, क्योंकि दोनों लोकोंका सारा व्यवहार इन्हीं दोनोंसे (स्फूर्ति और स्पन्दनसे) सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

जो सर्वसाधारणको प्रत्यक्ष है, एकमात्र उसीमें सब कुछ छोड़-छाड़कर योगसे स्थिरता सम्पादन करनी चाहिए, केवल पामरजनोंके प्रसिद्ध ऐहिक स्थूलादिके प्रत्यक्षमें नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'आद्यम्' इत्यादिसे ।

जो मनुष्य इस आद्य सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्षको छोड़कर इस स्थूल शरीर प्रत्यक्षमें सत्यबुद्धि करके स्थित है वह मानो मृगतृष्णाका जल पीकर सुखसे स्थित है ॥ ३० ॥

इसी तरह योगियोंके अनुभवसिद्ध सर्वसाधारण जो सुख है उसीमें परम-पुरुषार्थरूपता जाननी चाहिए, पामरजनप्रसिद्धमें नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'यत्सुखम्' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें ही नाशके अनुभवसे तत्त्वज्ञानी महानुभाव लोग जो विषयसुख है उसको दुःखरूप ही कहते हैं तथा अकृत्रिम, अनादि, अनन्त जो सुख है उसीको वास्तविक सुख बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तको ही दृढ़ करनेकी इच्छा करते हुए फिर कहते हैं—'प्रत्यक्षेण' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह साक्षी चेतन द्वारा आप प्रत्यक्ष विचार कीजिये तथा स्वयं अपने अनुभवसे देखिये, जो सबका आदि साक्षीचित्का प्रत्यक्ष है वही वास्तविक सुख है ॥ ३२ ॥

* प्रत्यक्षचितिके अधीन इसकी सिद्धि होनेसे वह मानस स्पन्द कुछ है, अतः उसकी प्रत्यक्षचितिसमसत्ता नहीं है, इसलिए वस्तुतः वह भी मिथ्या ही है, यह तात्पर्य है ।

लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥ ३३ ॥
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
अत्राऽऽधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ ३४ ॥
अजातसङ्कल्पमयं प्रत्यक्षं सत्कथं भवेत् ।
स्वयमेव नयत् सत्यं तत्स्यात्कार्यकरं कथम् ॥ ३५ ॥
यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यत् किं तत्र सद्भवेत् ।
क्व तत्सत्यं भवेद्वस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे क्वेवानुमादयः ।
उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ३७ ॥

तीनों लोकके अनुभव देनेवाले सूक्ष्मचित् प्रत्यक्षको छोड़कर जो ऐहिक स्थूल प्रत्यक्षको ग्रहण करता है, उससे बढ़कर और कोई दूसरा भारी मूर्ख नहीं है ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण भूतोंका जो सूक्ष्म शरीर है वही वास्तवमें सत् है। इसमें जो स्थूलशरीरकी प्राप्ति है वह असत्य पिशाचिका ही है ॥ ३४ ॥

जहां मिथ्या सङ्कल्पमयका जन्म ही दुर्लभ है वहां उसकी सत्ता तो अत्यन्त दुर्लभ है ही, फिर उस असत् पदार्थमें अर्थक्रियाकी सामर्थ्य तो उससे भी और बहुत दूर है, यह कहते हैं—'अजात०' इत्यादिसे ।

जो अनुत्पन्न और सङ्कल्पमय है वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है तथा जो स्वयं ही सत् नहीं है वह कार्यकारी कैसे हो सकता है ॥ ३५ ॥

नेत्र आदि प्रमाणसे जो सिद्ध हुए प्रपञ्चका (जगतका) आप कैसे अपलाप करते हैं, इसपर कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जब कि प्रत्यक्षसाधक चक्षु आदि इन्द्रियां ही योगियोंकी दृष्टिमें असत् हैं तब फिर उनसे सिद्ध अन्य पदार्थ क्या सत हो सकते हैं। क्योंकि जिस वस्तुकी सिद्धि असत्से की जाती है वह कहां सत होती है ! कहनेका तात्पर्य यह है कि असत्से सिद्ध हुए पदार्थकी सत्ता कहींपर भी देखनेमें नहीं आती ॥ ३६ ॥

जब साक्षात् अर्थोंकी साधक चक्षु आदि इन्द्रियोंकी ऐसी दशा है, तब

अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
अनन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥ ३८ ॥
स्वप्ने द्रष्टुः खमेवाद्रिर्गृहे नान्यस्य वै यथा ।
तथा तद्भावनवतोरावयोः सा शिलैव चित् ॥ ३९ ॥
अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
इति चिन्मय आत्मान्तः खं चमत्कुरु ते स्वयम् ॥ ४० ॥
पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
श्रोतुः कथार्थसंवित्तिर्नाश्रोतुर्भवति क्वचित् ॥ ४१ ॥

भला तन्मूलक अनुमान आदि प्रमाणोंके विषयमें क्या पूछना ? यह कहते हैं—'प्रत्यक्ष एव' इत्यादिसे ।

जब प्रत्यक्षमें ही भावत्व नष्ट है यानी जब प्रत्यक्षकी ही सत्ता सिद्ध नहीं है तब उसके अधीन अनुमान आदि प्रमाणोंकी कहां गति है । जहां बड़े-बड़े हाथी बह जाते हैं वहां मेढ़ोंकी क्या कथा है ॥ ३७ ॥

इसलिए जो कुछ हमने कहा है उसका फलित यही है कि प्रमाणसिद्ध दृश्य प्रपञ्च कहीं भी नहीं है । जो यह सद्रूप एक 'अस्तीव' (है-जैसा) भासित हो रहा है वह सैंधव (नमक) के टुकड़ेके समान चिद्घन ब्रह्म ही है ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नमें पर्वत देखनेवालेका प्रसिद्ध स्वप्न उस समय भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी घर और उसी समयमें जाग रहे या सो रहे किसी अन्य पुरुषको वह पर्वत नहीं है, वैसे ही शिलाकी भावनासे युक्त हम दोनोंको यह दृश्य भी शिला चिद्रूप ही है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह शैल, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं—इत्यादि सब कुछ चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूपसे स्वयं अपने स्वरूपमें भासता है ॥ ४० ॥

इस तरह सब कुछ चिन्मय आत्मा ही भासता है, कोई दूसरा नहीं, यह प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा कभी नहीं देखता । हे श्रीरामजी, महाभारत आदि कथाका अर्थज्ञान सुननेवालेको ही होता है, जो कथा नहीं सुनता उसको उसका अर्थज्ञान भी कभी नहीं होता ॥ ४१ ॥

अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
क्षीबस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्वताः ॥ ४२ ॥

सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रमाणाप्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगदङ्गमनाभासमदृश्यं दृश्यवत्स्थितम् ।
परया दृश्यते दृष्ट्या तद्ब्रह्मैव निरामयम् ॥ १ ॥

अप्रबुद्धको (अज्ञानीको) ही यह जगत्‌की भ्रान्ति सत्यरूपताको प्राप्त है । हे श्रीरामजी, मदिरा पीकर मतवाले बने हुए पुरुषको ही सुस्थिर ये वृक्ष तथा पर्वत आदि नाचते दिखाई देते हैं ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग योगिप्रत्यक्ष सर्वत्र अप्रतिहत, एकबोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूपका बोध करके भी बाधित हुए उस चक्षुः आदि अन्य प्रत्यक्षका—तुच्छ होते हुए भी प्रमाणरूपसे—आश्रय लेते हैं वे मूढ़ आत्मवञ्चक तृणके समान नगण्य हैं, उनसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ४३ ॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

[शिलाकी सृष्टिके अन्दर प्रवेश और वहाँके ब्रह्माका दर्शन तथा सत्कारपूर्वक बैठाये गये वसिष्ठमुनिसे ब्रह्माजीका सम्भाषण—यह वर्णन]

शिलाके पेटमें जगत्‌की संभावनार्थ उसकी सत्ता एवं स्फूर्ति देनेवाले अधिष्ठानभूत ब्रह्मको दिखलाते हैं—‘जगदङ्ग०’ इत्यादिसे ।

तत्र शैलसरित्स्रोतोलोकालोकान्तरभ्रमाः ।
भान्ति ते परमादर्शे महाव्योमनि बिम्बिताः ॥ २ ॥
सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिता ।
अहमप्यविशं तत्र सङ्कल्पात्मा तया सह ॥ ३ ॥
यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥ ४ ॥
वक्त्ययं मुनिशार्दूल पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥ ५ ॥
पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥ ६ ॥
विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जिसके समस्त जगत् एक तरहके अवयव-से हैं, ऐसे सूर्य आदि ज्योतियोंसे अगम्य तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका अविषय परब्रह्म ही दृश्य-सा बनकर स्थित है, वह निरामय परब्रह्म समाधिकी दिव्यदृष्टिसे दीख पड़ता है [यह जगत् परब्रह्मकी ज्योतिसे ही प्रकाशित हो रहा है, अतः जगत् भी वास्तवमें निर्विकार ब्रह्मरूप ही है] ॥ १ ॥

पर्वत, नदियों, झरने तथा लोकालोकान्तर आदिके जितने भ्रम हैं वे सब उसी ब्रह्ममें दीख पड़ते हैं । ये महाकाशरूपी उत्कृष्ट दर्पणमें प्रतिबिम्बित हैं ॥२॥

श्रीरामजी, तदनन्तर अबाध गतिवाली वह विद्याधरी उस शिलाके पेटमें स्थित जगत्में प्रविष्ट हो गई, सङ्कल्परूप मैं भी उसके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर उद्यमशील तथा परम शोभावाली वह विद्याधरी वहांके ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीके सम्मुख बैठ गई और बैठकर मुझसे कहने लगी—'हे मुनिश्रेष्ठ, ये मेरे पति हैं, ये मेरी रक्षा करते हैं, विवाहके लिए इन्होंने ही मेरा मनसे उत्पादन किया था, यद्यपि अब ये पुरुष बूढ़े हो गये हैं और मैं भी बूढ़ी हो गई हूँ, तथापि आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसीसे अब मुझे वैराग्य हो गया है, इन्हें भी वैराग्य आ गया है, ये उस परम पदमें जानेकी इच्छा रखते हैं, जहां न तो कोई द्रष्टृता है, न दृश्यत्व

महाप्रलय आसन्नो जगत्यस्मिंश्च सम्प्रति ।
ध्यानान्न च चलत्येष शैलमौनादिवाऽचलः ॥ ८ ॥
तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ।
आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधायेदमुवाच ह ।
नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्म सम्प्राप्तवानिदम् ॥ १० ॥
एषोऽन्यस्मिन् जगद्गेहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥ ११ ॥
बुद्ध्यतामर्घ्यपाद्येन पूज्यतां मुनिपुङ्गवः ।
महन्महत्सपर्याभिर्महात्मभ्यो हि रोचते ॥ १२ ॥
तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुबुधे स समाधितः ।
स्वसंवित्तिद्रवात्मत्वादावर्त इव वारिधौ ॥ १३ ॥

है और न शून्यत्व ही है ।' श्रीरामजी, वह विद्याधरी जबतक यह मुझसे कह रही थी, तबतक इस जगत्‌में महाप्रलयकाल समीप आ रहा था । फिर उस विद्याधरीने कहना आरम्भ किया—भगवन्, अभी भी ये अपने ध्यानसे विचलित नहीं होते, पर्वतके सदृश अपनी मुनिवृत्तिसे मानो ये अचल पर्वत ही लगते हैं ॥ ४–८ ॥

हे मुनीश्वर, इसलिए मुझे और इन्हें भी बोध देकर उस परब्रह्मके मार्गमें लगानेकी कृपा कीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलयतकके सारे संसारोंका मूलभूत कारण है ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, उस विद्याधरीने वैसा मुझसे कहकर फिर उस ब्रह्माजीको जगानेके लिए यह कहने लगी—हे स्वामिन्, आज अपने इस घरमें ये सब मुनियोंके श्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी पधारे हैं, ये मुनि दूसरे जगद्रूप घरमें रहनेवाले ब्रह्माजीके पुत्र हैं । हे नाथ, गृहस्थ पुरुषोंके घरमें होनेवाली समुचित पूजासे अपने घरपर पधारे हुए इनका सत्कार कीजिए ॥ १०, ११ ॥

हे स्वामिन्, आप यह जानिये कि ये मुनिश्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए अर्घ्य पाद्य आदिसे इनकी पूजा कीजिये । जो बड़े-बड़े आपके सदृश महात्मा हैं, उन्हें उत्तम पूजासे प्राप्त होनेवाला महाफल ही रुचता है ॥ १२ ॥

श्रीरामजी, जब उस विद्याधरीने वैसा कहा, तब महामेधावी वह मुनि

शनैरुन्मीलयामास नयने नयकोविदः ।
मधुः शिशिरसंशान्तावावनौ कुसुमे यथा ॥ १४ ॥

शनैः प्रकटयामासुस्तान्यङ्गान्यस्य संविदम् ।
मधुपल्लवजालानि नवानीव नवं रसम् ॥ १५ ॥

सुरसिद्धाप्सरःसङ्घाः समाजग्मुः समन्ततः ।
यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥ १६ ॥

ददर्शासौ पुरः प्राप्तं मां च तां च विलासिनीम् ।
उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥ १७ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

करामलकवद्दृष्टसंसारासारसार हे ।
ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने स्वागतमस्तु ते ॥ १८ ॥

समाधिसे समुद्रमें आवर्तके समान उठे, वे अपनी आत्माके पहचाननेके निमित्त द्रवीभूत हो गये थे ॥ १३ ॥

तदनन्तर धीरेसे उस नीतिज्ञ विद्वान्‌ने अपने नेत्र उस तरह खोले, जैसे मधुमास (वसन्त) शिशिरमें शान्त भूमिपर पुष्परूपी अपनी आँखें खोलता है ॥ १४ ॥

बादमें धीरे-धीरे उसके वे समस्त हाथ, पैर आदि अङ्ग—अपने-अपने ज्ञानको ऐसे प्रकट करने लगे यानी अपनी-अपनी चेतनासे युक्त ऐसे होने लगे, जैसे वसन्त सम्बन्धी पल्लव नवीन रसको प्रकट करते हैं यानी नवीन रससे युक्त होने लगते हैं ॥ १५ ॥

अनन्तर, देव, सिद्ध और अप्सराएँ चारों तरफसे ऐसे आ धमकीं, जैसे प्रातःकालमें खिले हुए कमलोंसे युक्त सरोवरपर चञ्चल हंसपंक्तियाँ ॥ १६ ॥

श्रीरामजी, उस ब्रह्माने सामने उपस्थित हमको और विलासिनी उस रमणीको देखा । देखनेके बाद उन्होंने यह वचन कहा । उनका वचन ॐकार पूर्वक स्वरोच्चारके कारण बड़ा ही रम्य लगता था ॥ १७ ॥

शिलोदर जगत्‌के ब्रह्माजीने कहा—हे हाथमें आँवलेके सदृश असार संसारके तत्त्वको जाननेवाले, हे ज्ञानरूपी अमृत बरसानेवाले महामेघ, हे मुने आपका स्वागत हो ॥ १८ ॥

पदवीमसि सम्प्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥ १९ ॥
इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवादय इत्यहम् ।
वदन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥ २० ॥
अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥ २१ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥ २२ ॥
किमिदं भूतभव्येश यदियं मामुपागता ।
वक्ति ज्ञानगिराऽस्मांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥ २३ ॥
भवान् भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ॥ २४ ॥

हे मुने, आप इस अतिदूरातिदूरवर्ती स्थानमें पधारे हैं, अतः लम्बे मार्गके कारण खूब थक गये होंगे, आप इस आसनपर विराजिए ॥ १९ ॥

श्रीरामजी, उस जगत्के ब्रह्माजीके वैसा कहनेपर 'हे भगवन्, आपको अभिवादन करता हूँ' यों कहते हुए मैं नेत्रके इशारेसे दर्शित मणिमय आसनपर बैठ गया ॥ २० ॥

अनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि, विद्याधर आदि द्वारा गायी गई उनकी स्तुतियाँ आरम्भ हुई, फिर पूजा हुई और फिर नमस्कार हुए। अनन्तर यथायोग्य परस्पर व्यवहारकी नीति सम्पन्न हुई ॥ २१ ॥

अनन्तर एक मुहूर्तमात्रमें देव, गन्धर्व आदि भूतगणोंके द्वारा वाणीसे किया गया प्रणामसमारोह जब शान्त हो गया, तब मैंने उन ब्रह्माजीसे कहा ॥ २२ ॥

हे भूतभव्यके स्वामिन्, यह विद्याधरी यत्नपूर्वक मेरे पास आकर कहती है कि तुम हम लोगोंको बोध वचनोंसे उपदेश दो। क्या उसका यह कहना उचित है या अनुचित ॥ २३ ॥

हे देव, आप सब प्राणियोंके स्वामी हैं, समस्त ज्ञानोंके पारङ्गत हैं, अतः यह काममुग्धा स्त्री क्या कह रही है ? इसे हे जगत्पते, आप कहिए ॥ २४ ॥

कथमेषा त्वया देव जायार्थं जनिता सती ।
नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥ २५ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

मुने शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम् ।
यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥ २६ ॥
अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत् ।
ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणा कचितोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥

हे देव, आपने अपनी भार्या बनानेके निमित्त इसे क्यों उत्पन्न किया ? उत्पन्न करके क्यों अपनी पत्नी नहीं बनायी, फिर यहाँ उसको वैराग्यकी ओर क्यों ले गये ॥ २५ ॥

आपका आशय ठीक है कि यद्यपि मैं और यह दोनों उपदेशके लिए योग्य नहीं हैं, तथापि इसने अपनी ही वासनासे मुझे अज्ञानी और अपना उपदेशाधिकार समझकर आपसे उपदेशार्थ प्रार्थना की है, तथा यद्यपि मैंने इसके जन्ममात्रका सम्पादन किया है, तथापि 'पत्नी बनानेके लिए मैं उत्पादित की गई हूँ, मैं इनकी भार्या हूँ' इत्यादि भी अपनी वासनासे ही इसने समझ रक्खा है, इसलिए वासनामात्रस्वरूप होनेके कारण अब मैं जब विदेहकैवल्यको प्राप्त करूँगा, तब उसके साथ-साथ स्वकल्पित प्रपञ्चका भी तत्काल ही प्रलय हो जायगा, यों विस्तारके साथ उत्तर देनेकी इच्छासे कहते हैं—'मुने' इत्यादिसे ।

अन्य जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे मुने, आप सुनिये, मैं जैसा वृत्तान्त है, वैसा ही आपसे कहता हूँ, क्योंकि सज्जनोंके सम्मुख जैसी घटना घटी हो, उसे अवश्य पूरी तरह कहनी ही चाहिए ॥ २६ ॥

सबसे पहले उपोद्घातसङ्गतिसे 'अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म—ये चारों जगदीश्वरके साथ-साथ ही सिद्ध हैं' इस पुराणप्रसिद्धिके अनुसार अपनी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तात्त्विक परिज्ञान बतलानेके लिए तथा अपनी उत्पत्तिका स्वरूप बतलानेके लिए कहते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजी, ऐसी एक कोई मुख्य वस्तु है, जो अज, शान्त, अजर तथा त्रिकालमें बाधित नहीं होनेवाली है । इसीका नाम चिति है । इस चितिके एकमात्र प्रकाशनस्वरूपसे मैं उत्पन्न (आविर्भूत) हुआ हूँ ॥ २७ ॥

आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभूरिति नाम मे ॥ २८ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन ।
चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः ॥ २९ ॥
यदयं त्वं ममाहन्ते यदिदं कथनं मिथः ।
तत्तरङ्गास्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः ॥ ३० ॥
एवंरूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥ ३१ ॥
ममानन्या तवान्यस्य चान्येवेह विभाति या ।
सोदितानुदितेवान्तर्ममाहमिति वासना ॥ ३२ ॥

उक्त तत्त्वज्ञानसे बाधित अपनी उत्पत्ति और अपना नाम आपके लिए कैसे सिद्ध हो सकता है, इसपर कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

भद्र, मैं चिदाकाशरूप ही हूँ, सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हूँ, और व्यवहार करनेवाली प्रजाके सर्गके उत्पन्न होकर स्थित हो जानेपर उनकी दृष्टिसे मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥ २८ ॥

तात्त्विक दृष्टिसे तो न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न कुछ देखता ही हूँ। सभी प्रकारके आवरणोंसे निर्मुक्त होकर चिदाकाशस्वरूप मैं चिदाकाशमें ही स्थित हूँ ॥ २९ ॥

तब हम दोनों तत्त्वज्ञानियोंका परस्पर जो प्रश्नोत्तरादि व्यवहार हो रहा है, वह कैसा है, इसपर कहते हैं—'यदयम्' इत्यादिसे ।

भद्र, जो यह तुम, मेरे आगे हो और तुम्हारे आगे मैं हूँ, तथा यह जो अपना परस्पर प्रश्नोत्तररूप संभाषण है, वह तो उस तरहका है, जिस तरहका कि एक ही समुद्रमें एक तरङ्गके आगे दूसरा तरङ्ग हो और वही एक समुद्र तरङ्गों द्वारा परस्पर आघातोंसे ध्वनि करता हो, यह मेरा सिद्धान्त है ॥ ३० ॥

भद्र, इस प्रकार समुद्रसे जनित तरङ्गोंके सदृश थोड़ी मात्रामें कल्पित अपनी और दूसरेकी दृष्टिसे देखे जानेवाले भेदरूप तथा समयवश अपने स्वरूपके थोड़े-से विस्मरणके कारण अस्वच्छस्वरूप हुए चिदाभासरूपी मुझमें जो स्वभावसे 'मैं और मेरी' यों वासना हुई, वह वासना ही इस कुमारीको और तुम्हें अन्य-सी

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्माऽऽत्मनि स्थितः ।
स्वभावादच्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥ ३३ ॥
तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः ।
सम्पन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥ ३४ ॥
वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता ।
न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥ ३५ ॥
स्ववासनावेशवशेन भावं
गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य ।
एषा स्वयं व्यर्थमिताऽतिदुःखं
यस्मात्क्लिष्टैव हि वासनाऽन्तः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गप्राप्तिर्नाम
एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

भासती है, परन्तु मुझको तो अनन्य ही भासती है, वह वासना हम दोनों पुरुषोंकी दृष्टिसे उदित है और उदित नहीं भी है ॥ ३१, ३२ ॥

अपनी दृष्टिसे आप कैसे हैं, इसपर कहते हैं—'अनाश०' इत्यादिसे ।

भद्र, मैं तो अविनाशी सत्तावाला हूँ, क्योंकि मैं कभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, आत्मरूप मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ । स्वभावसे ही मेरा आकार अविनाशी है, मैं स्वात्माराम तथा स्वयं प्रभु हूँ ॥ ३३ ॥

जब आप ऐसे विशुद्ध हैं, तब यह कैसे उत्पन्न हुई और असलमें यह है क्या ? इसपर कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

हे वसिष्ठजी, उक्त विशुद्धस्वरूप मुझको पूर्वपूर्वके अहङ्कारके संस्कारसे उत्पन्न स्मृति-जैसी जो अहम्भ्रान्ति, जगत्स्थिति और वासना हुई, उसकी अधिष्ठात्री देवता ही यह शरीररूप होकर स्थित है ॥ ३४ ॥

भद्र, यह वासनाकी अधिष्ठात्री देवी ही बैठी है, न तो यह मेरी गृहिणी है और न गृहिणीके निमित्तसे इसका मैंने उत्पादन ही किया है ॥ ३५ ॥

तब यह आपको अपना पति क्यों कहती है, इसपर कहते हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

सप्ततितमः सर्गः

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

अथाहंचिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
परां ग्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥ १ ॥
महाप्रलयकालेऽस्मिंस्त्यक्तुमेषा मयाऽधुना ।
मुनीन्द्र नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥ २ ॥

चूँकि यही भीतरकी समस्त जगत्की वासना है, इसलिए अपनी वासनाके आवेशवशसे यह 'मैं ब्रह्माकी पत्नी हूँ' इस तरहकी भावनाको अपने ही मनकी इच्छासे प्राप्त हुई है और उसे प्राप्त कर निरर्थक ही अत्यन्त दुःखको प्राप्त हो गई है ॥ ३६ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

[वासना देवीके वैराग्यके कारणका और जगत्के प्रलय एवं मिथ्या विभ्रमरूपत्वका वर्णन]

आपने इसका पत्नीके निमित्त निर्माण क्यों किया, इस प्रश्नका उत्तर देकर अब इसको वैराग्यकी ओर क्यों ले गये, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आरम्भ करते हैं—'अथाहम्' इत्यादिसे ।

अन्य जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे वसिष्ठजी, मैंने अपने सङ्कल्पसे कल्पित दो परार्ध वर्ष आयुके बिता दिये, अब चित्ताकाशरूप मैं सबसे ऊँची निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्माकाशरूप कैवल्यस्थिति लेनेकी इच्छा कर रहा हूँ, इस कारणसे मेरी वासनासे बने इस जगत्में नित्य, नैमित्तिक, दैनंदिन और आत्यन्तिक—ये चारों तरहके प्रलय भी उपस्थित हो गये हैं ॥ १ ॥

हे मुनीन्द्र, इस महाप्रलयकालमें अब इसका मूलोच्छेद कर अपनी सत्तासे गिरानेके लिए मैंने आरम्भ किया है, इसलिए इसे वैराग्य हो गया है यानी यह विनाशोन्मुख हो गई है ॥ २ ॥

आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवाम्यहम् ।
तदा महाप्रलयता वासनायाश्च संक्षयः ॥ ३ ॥
तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥ ४ ॥
इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽयमागतः ॥ ५ ॥
अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥ ६ ॥
तेनेयं वासना ब्रह्मन् क्षयं गन्तुं समुद्यता ।
क्वेव पद्माकराशोषे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥ ७ ॥
यथा जडाब्धिलेखाया जायते लहरी चला ।
वासनायास्तथैवेच्छा मधोदेत्यपकारणम् ॥ ८ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'आकाशत्वा०' इत्यादिसे ।

यह मैं जब कि चित्ताकाशस्वरूपका त्याग कर आद्य चिदाकाशरूप हो रहा हूँ, तब महाप्रलयका स्वरूप और वासनाका विनाश ध्रुव है ॥ ३ ॥

इसीलिए यह विरक्त होकर मेरे मार्गकी ओर दौड़ रही है, ऐसा उदारबुद्धि कौन जीव है, जो अपने जनकके पीछे दौड़ता न हो ॥ ४ ॥

भद्र, आज ही यहाँ कलिका समाप्तिकाल और चतुर्युगीका विनाश उपस्थित है एवं मनु, इन्द्र, देव आदि प्रजाका भी यह विनाश आ गया है ॥ ५ ॥

चारों प्रकारके प्रलय आज एक ही साथ प्राप्त हैं—यह कहते हैं—'अद्यैव' इत्यादिसे ।

आज ही मेरे कल्पका विनाश है, महाकल्पका भी विनाश आज ही है, वासनाविनाश आज ही है और आज ही देहाकाशका भी विनाश है ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्, इसलिए आत्मदर्शन आदि कारणोंको लेकर ही यह विद्याधरीरूप वासना विनाशकी ओर जानेके लिए उद्यत हुई है । तालाबके सूख जानेपर गन्धलेखा कहाँ स्थित रह सकती है ॥ ७ ॥

अपने विनाशके कारण आत्मदर्शनमें इसकी इच्छा क्यों हुई, इस प्रश्नका उत्तर—उसका वैसा स्वभाव ही है, यह—युक्तिपूर्वक कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः ।
अस्या आत्मावलोकेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥ ९ ॥
आत्मतत्त्वं नु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः ।
दृष्टोऽनया भवत्सर्गो वर्गव्यग्रनिरर्गलः ॥ १० ॥
अनयाऽम्बरसञ्चारपरयाऽद्रिशिरःशिला ।
दृष्टा स्वजगदाधारभूताऽस्माकं तु खात्मिका ॥ ११ ॥
एतद्यस्मिन् जगद्यत्र तद्दृषत्त्वं जगद्गिरौ ।
अस्मज्जगत्पदार्थेषु सन्त्यन्यानि जगन्त्यपि ॥ १२ ॥

भद्र, जैसे जड़ समुद्रलेखासे चञ्चल लहरी उत्पन्न होती है, वैसे ही वासनासे भी अपने विनाशकी हेतु आत्मदर्शनेच्छा योंही स्वभाववश उत्पन्न होती है, उसमें दूसरा कोई भी बाहरी कारण नहीं है ॥ ८ ॥

केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासनाको स्वभावसे स्वयं ही आत्मदर्शनकी इच्छा उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

तब इसने हम लोगोंका जो ब्रह्माण्ड देखा, उसमें क्या कारण है, इसपर कहते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे ।

आत्माके दर्शनके लिए किये गये धारणाभ्यासरूप योगका फल अन्यान्य ब्रह्माण्डमें गमन आदि सिद्धि है ही, इसलिए उसकी परीक्षा करनेकी इच्छा ही वहाँ जानेमें कारण हुई । वहाँ जाकर इसने आपका वह सर्ग देखा, जिसमें धर्मादिके अनुष्ठानमें व्यग्र एवं निरर्गल प्रजा रहती है ॥ १० ॥

पूर्वोक्त शिलाका दर्शन भी इसको उसी सिद्धिके बलसे हुआ, यह कहते हैं—'अनया०' इत्यादिसे ।

आकाशमें विचरण करनेमें तत्पर इस विद्याधरीने अपने जगत्की आधारभूत पर्वतके शिखरकी शिला भी उसी सिद्धिकी सामर्थ्यसे देखी, जो कि हम लोगोंकी दृष्टिसे केवल आकाशरूप ही है ॥ ११ ॥

हम लोगोंके अनेक जगद्रूप पदार्थोंके अन्दर—जिस जगद्रूप पर्वतके ऊपर यह जगत् है और जिसमें उक्त पत्थरकी शिलारूपता है—ऐसे ऐसे अनेक दूसरे भी जगत् हैं ॥ १२ ॥

वयं तानि न पश्यामो भेददृष्टौ स्थिता इमे ।
बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥ १३ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये खेऽनलेऽम्भसि तेजसि ।
जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामिव सर्वदा ॥ १४ ॥
जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा ।
मिथ्यैवेयं क्व नामासौ चिद्रूपाऽस्त्यथ नास्ति च ॥ १५ ॥
परिज्ञाता सती येषामेषा चिन्नभसैकताम् ।
गता तेन विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥ १६ ॥
अथान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम् ।
साधयन्त्यऽर्थमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने ॥ १७ ॥

परन्तु हम लोग चूंकि भेददृष्टिमें यानी व्युत्थानदशामें बैठे हैं, इसलिए उनको नहीं देखते, परन्तु समाधिसे बोधके साथ एकरूप होकर योगदृष्टिसे देखनेसे देख सकते हैं ॥ १३ ॥

भद्र, घटमें, पटमें, बटमें, भीतमें, आकाशमें, वायुमें, जलमें, तेजमें, सर्वत्र—सभी जगह, शिलोदरके सदृश, अनेक जगत् विद्यमान हैं ॥ १४ ॥

जगत् नामकी तो एक निरर्थक भ्रान्ति ही है, और वह है ठीक स्वप्ननगरके जैसी । यह जगत्की माया भी मिथ्या है, इसलिए मिथ्या भ्रमका अस्तित्व ही कहाँ रहा । यदि उसका अस्तित्व है, तो वह अधिष्ठान चितिरूप होकर कुछ और ही है, न कि प्रतीयमान जड़रूप ॥ १५ ॥

यह मायाभ्रान्ति परिज्ञात होकर जिनकी दृष्टिमें चिदाकाशरूप बन जाती है, उनके लिए तो वह सदाके लिए चली ही गई समझनी चाहिए और बाकी जो लोग बच गये, उनको तो भ्रमके ही पात्र समझ लीजिए ॥ १६ ॥

अब 'किमिदं भूतभव्येश०' इत्यादिसे अपने पास आनेकी सामर्थ्यमें जो हेतु पूछा, उसका उत्तर कहते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

हे मुने, अब आप यह सुनिये कि आपके पास यह किस कारणसे आयी । बात ऐसी है—पूर्वोक्त वैराग्यप्राप्तिके अनन्तर अपने विरागवशसे इसको आत्मीय यानी अभीष्ट आत्मज्ञानकी अनुकूल गुरूपसदन, श्रवण, मनन आदिकी इच्छा उत्पन्न हुई । और उसे आपके उपदेशसे सिद्ध करनेकी इच्छा रखकर इसने

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते ।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥ १८ ॥
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते नेह कार्याणि कानिचित् ।
द्रव्यकालक्रियाद्योता चितिस्तपति केवलम् ॥ १९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्ध्यादिकं त्विदम् ।
चिच्छिलाङ्गकमेवैकं विद्ध्यनस्तमयोदयम् ॥ २० ॥
चिदेवेयं शिलाकारमवतिष्ठति बिभ्रती ।
अङ्गमस्या जगज्जालं मरुतः स्पन्दनं यथा ॥ २१ ॥
विज्ञानघनमात्मानं जगदित्यवबुध्यते ।
अनाद्यन्तापि साद्यन्ताऽचित्त्वादिति गतापि चित् ॥ २२ ॥

दूसरे (पूर्वोक्त जगत्सृष्टिके दर्शनमें हेतुभूत धारणासे भिन्न) खेचरसिद्धि, ब्रह्माण्डान्तरमें गमन आदि सिद्धियोंकी हेतुभूत चूडालाख्यायिकामें वर्णित धारणाओंके अभ्याससे आपके सङ्कल्पसे कल्पित आपका समाधिस्थान जानकर वहाँ यह पहुँच गई और पहुँचकर अदृश्य होते हुए भी आपको इसने देख लिया ॥ १७ ॥

हे मुने, वर्णित रीतिसे जीवचितिकी शक्तिरूप अविद्या ऐन्द्रजालिक मायाके सदृश चारों ओर फैली हुई है और ब्राह्मी मायाशक्ति, जो आदि एवं अन्तसे शून्य है, इसी प्रकार चारों ओर फैली हुई है, वह विद्यारूप है, क्योंकि उसमें आवरणशक्ति न रहनेके कारण वह निरामय है ॥ १८ ॥

हे मुनिवर, यहाँ कोई भी कार्य कभी न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं, केवल चिति ही द्रव्य-सी, काल-सी एवं क्रिया-सी प्रकाशित होकर तपती है ॥ १९ ॥

भद्र, ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि हैं, वे सबके-सब केवल चितिरूपी शिलाकी प्रतिकृतियाँ हैं, अतः उनका न उदय है और न अस्त ही है, यह आप जानिये ॥ २० ॥

शिलाकी आकृति धारण कर रही यह चिति ही स्थित है, इसी चितिके समस्त जगत् ऐसे अङ्ग हैं, जैसे वायुके स्पन्दन ॥ २१ ॥

चितिका यह जो उलटा ज्ञान होता है, उसमें चितिस्वभावका परिज्ञान न होना ही कारण है, यह कहते हैं—'विज्ञान०' इत्यादिसे ।

चिच्छिलेयमनाद्यन्ता साद्यन्तास्तीति बोधतः ।
साकारापि निराकारा जगदङ्गेति संस्थिता ॥ २३ ॥
यद्वत्स्वप्ने चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
वेत्ति तद्वदिदं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥ २४ ॥
न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
नार्थाः परिणमन्त्यन्तः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥ २५ ॥
न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
सम्भवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥ २६ ॥
जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते
चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।

विज्ञानघन आत्माको जगत् समझना चितिका ही कार्य है । स्वयं अनादि एवं अनन्त होती हुई भी असली चित्स्वभावके अपरिज्ञानसे देश-वस्तुसे जनित परिच्छिन्न भावको भी प्राप्त चिति ही हो जाती है ॥ २२ ॥

यह जो चितिरूपा शिला है, वह वास्तवमें आदि-अन्तसे रहित होती हुई भी भ्रमसे आदि-अन्तसे युक्त बन जाती है और निराकार होती हुई भी साकार होकर जगत्-रूप अङ्गोंसे युक्त बनकर स्थित हो जाती है ॥ २३ ॥

जैसे स्वप्नमें चिति अपने ही आकाशवत् निर्मल स्वरूपको नगररूप समझ लेती है, वैसे ही इस जाग्रत्-कालमें भी चिति पाषाणको अपना जगत्-रूप अङ्ग समझ लेती है ॥ २४ ॥

जागरणमें भी स्वप्नके तुल्य बाधकी समानता दिखलाते हैं—'न सरन्ति' इत्यादिसे ।

भद्र, यहाँ न नदियाँ बहती हैं, न नक्षत्रचक्र घूमता है, न अर्थोंका परिणाम हो रहा है, किन्तु अपने भीतर केवल चितिरूप आकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ २५ ॥

जैसे जलमें विद्यमान दूसरा जल यानी समुद्रमें विद्यमान तरङ्ग आदि पृथक् स्वरूपका नहीं होता, वैसे ही संविदाकाशमें प्रतीत महाकल्प और कल्पके अन्तकी संवित् भी पृथक् स्वरूपकी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

ऐसी परिस्थितिमें अध्यारोपदृष्टिसे देखनेपर अनन्त जगत् सदा सर्वत्र

नभोन्तराणीव महानभोन्त-
श्चित् सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥ २७ ॥
वसिष्ठ तद्गच्छ मुने जगत्स्वं
त्वं चासने सम्प्रति शान्तिमेहि ।
बुद्ध्यादिरूपाणि परं व्रजन्तु
वयं बृहद् ब्रह्मपदं प्रयामः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तर्जगत्पितामह-वाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

चितिसत्तासे विद्यमान हैं, थोड़ा-सा भी इनका अपलाप नहीं किया जा सकता और अपवाददृष्टिसे देखनेपर तो चितिके स्वरूपसे भिन्न कोई वस्तु कहींपर भी समर्थित नहीं हो सकती, यह बात हुई, यह कहते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे ।

जैसे महाकाशके भीतर दूसरे दूसरे घटादि आकाश महाकाशकी सत्तासे विद्यमान हैं और स्वतः अलग विद्यमान नहीं हैं, वैसे ही ये जगत् स्वतः शून्यरूप होते हुए भी चितिकी सत्तासे विद्यमान हैं और अपनी सत्तासे अविद्यमान भी हैं ॥ २७ ॥

हे वसिष्ठमुने, अब आप अपने भुवनमें चले जाइए, और वहाँ एकान्तमें कल्पित अपने पूर्वके आसनपर समाधि लगाकर विक्षेप-रहित सुखका अनुभव कीजिये, ये मेरे कल्पित बुद्धि आदि जगत्के पदार्थ भी प्रलय प्राप्त कर परम अव्यक्तकी ओर चले जायँ । हम लोग भी हिरण्यगर्भकी उपाधिभूत मूल अज्ञानका बाधकर कैवल्यपदमें जा रहे हैं ॥ २८ ॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोकजनैः सह ।
बद्धपद्मासनोऽनन्तसमाधानगतोऽभवत् ॥ १ ॥
ओङ्कारार्धोर्धमात्रान्तः शान्तनिःशेषमानसः ।
लिपिकर्मार्पिताकार आसीदाशान्तवेदनः ॥ २ ॥
तमेवानुसरन्ती सा तथैव ध्यानगा सती ।
वासनाऽऽसीदशेषांशा शान्ता चाकाशरूपिणी ॥ ३ ॥
परमेष्ठिन्यसङ्कल्पे तस्मिंस्तानवमेयुषि ।
सर्वगानन्तचिद्व्योमरूपोऽपश्यामहं यदा ॥ ४ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग

[कल्पनाके कारणभूत ब्रह्माजीके सङ्कल्पका ज्यों-ज्यों विनाश होता गया, त्यों-त्यों उनके कल्पित समस्त पदार्थोंका प्रलय भी हो गया—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, ऐसा मुझसे कहकर भगवान् ब्रह्माजी, ब्रह्मलोकमें रहनेवाले समस्त जनोंके साथ, पहले पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधिमें तत्पर हो गये ॥ १ ॥

भद्र, ओंकारकी उत्तरार्धभूत जो आधी मात्रा है, उसमें विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भागोंमें क्रमशः उन्होंने अपने चित्तका लय किया, इससे उनकी जितनी वासनाएँ थीं, वे सब विलीन हो गईं, जब कि उनकी समस्त वासनाएँ विनष्ट हो गईं, तब वे ऐसे मालूम पड़ने लगे, जैसे चित्रमें उनका आकार चित्रित किया गया हो यानी उस समय उनके आकारमें तनिक भी चञ्चलता नहीं थी ॥२॥

वह विद्याधरी भी ब्रह्माजीका अनुसरणकर ध्यानमग्न हो गई और फिर स्मरणहेतु समस्त बीजभूत संस्कारोंसे रहित होकर शान्तस्वभाव हो आकाशरूपिणी हो गई ॥ ३ ॥

यह उनका भीतरी रहस्य आपने कैसे जाना, इस प्रश्नपर कहते हैं—'परमेष्ठि०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप अर्थोंके साथ प्रणवकी मात्राओंके विलय-

यावत्सङ्कल्पनं तस्य विरसीभवति क्षणात् ।
तथैवाऽऽशु तथैवोर्व्याः साद्रिद्वीपपयोनिधेः ॥ ५ ॥
तृणगुल्मलताशालिसमुद्भवनशक्तता ।
समस्तैवास्तमागन्तुमारब्धा च शनैः शनैः ॥ ६ ॥
किल तस्य विराडात्मरूपस्याङ्गैकदेशताम् ।
सा बिभर्ति मही तेन तदसंवेदनोदयात् ॥ ७ ॥
विचेतना सा विरसा बभूव परिजर्जरा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव जराविधुरतां गता ॥ ८ ॥
यथाऽस्माकमसंवित्तेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा विरिञ्चिसंवित्तेर्धरा वैधुर्यमागता ॥ ९ ॥

क्रमसे वासना-सङ्कल्पशून्य होकर जब ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्मभावको प्राप्त होने लगे, तब मैं भी समाधिसे सर्वत्रव्यापक असीम चिदाकाशरूप बन गया और ब्रह्माजीकी उस तरहकी स्थिति साक्षात् देखने लगा ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीका सङ्कल्प धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उस क्षणसे लेकर नीरस होता गया, त्यों-त्यों तत्क्षणमें ही पर्वत, द्वीप एवं समुद्रोंसे युक्त पृथ्वीकी तृण, गुल्म, लता, धान आदिकी उत्पादन-सामर्थ्य एवं सभी जल आदिकी अपनी अपनी सामर्थ्य विनाशकी ओर जाने लगी ॥ ५, ६ ॥

समस्त शरीरमें जिसको वेदना है, ऐसे मरणासन्न विद्वान्‌को सङ्कल्पके उपसंहारमें जैसे अङ्गोंमें नीरसता हो जाती है, वैसे ही विराट् पुरुषके सङ्कल्पके उपसंहारमें भी विराट्-शरीरके अवयव पृथ्वी आदिमें भी नीरसता हो जाती है, यह जानना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'किल' इत्यादि ।

पृथ्वी विराट् आत्माके स्वरूपकी एकदेशता ही धारण करती है, यानी पृथ्वी विराट् आत्माकी अङ्ग है, इसलिए जब विराट् आत्माके संवेदनका उपसंहार हो गया, तब पृथ्वी अचेतन तथा नीरस होकर चारों ओरसे ऐसे जर्जर हो गई, जैसे मार्गशीर्षके अन्तमें वल्ली जरासे अविधुर-भावको—जर्जरभावको प्राप्त होती है ॥ ७, ८ ॥

आशयस्थ दृष्टान्तको प्रकट करते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे हम लोगोंके अङ्ग संवेदनाके उपसंहारमें नीरस हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माजीकी अङ्गभूत पृथ्वी संवेदनके उपसंहारमें नीरस हो गई ॥ ९ ॥

सम्पन्ना संहतानेकमहोत्पातभरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥ १० ॥
दुर्भिक्षाकाण्डदौस्थित्यदैन्यदारिद्र्यदुर्भगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मर्यादनरावृता ॥ ११ ॥
पांसुप्रमन्दनीहारधूलिधूमरसूर्यका ।
द्वन्द्विमूर्खमहादुःखिव्यसनिव्याधिताकुला ॥ १२ ॥
अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अवृष्ट्यवग्रहोत्कष्टकष्टचेष्टितपामरा ॥ १३ ॥
अशङ्कितमहोत्पातपतत्पर्वतपत्तना ।
शिशुश्रोत्रियमुन्यार्यगुणिनाशरुदज्जना ॥ १४ ॥
अशङ्कितस्थलीमध्यसञ्जातागाधकूपका ।
वर्णसङ्करनारीणामासक्तजनभूमिपा ॥ १५ ॥

किस किस प्रकारसे पृथ्वी जर्जर हुई, इसे बतलाते हैं—'सम्पन्ना०' इत्यादिसे ।

पहले तो वह पृथ्वी एक साथ अनेक बड़े-बड़े उत्पातोंके भारसे आक्रान्त हो गई, फिर उसमें पापरूपी अङ्गारोंसे परितप्त नरकोंकी ओर प्रवृत्तिशील मनुष्य होने लगे ॥ १० ॥

अकालके अकाण्डताण्डव, राजाओं एवं चोरोंके उपद्रवोंसे जनित दीनता तथा दरिद्रतासे उसका सारा वैभव मिट्टीमें मिल गया । उसमें समस्त स्त्रियां अपने सतीत्वसे भ्रष्ट हो गई और मनुष्योंकी सारी मर्यादा नष्ट हो गई ॥११॥

उस समय उस पृथ्वीमें पांसुके सदृश मन्द नीहार एवं धूलिसे सूर्य भी धुँधला हो गया । शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका निराकरण करनेमें महामूर्ख अतएव महादुःखी, व्यसनी एवं व्याधियोंसे पीड़ित जनोंसे वह आक्रान्त हो गई ॥ १२ ॥

उसमें अग्निदाह, जलके पूर एवं युद्धोंसे मण्डलके मण्डल छिन्न-भिन्न हो गये । तथा वह अतिवृष्टि एवं अनावृष्टिसे कष्टपूर्वक जीवनयापनके व्यापारोंसे पामर हुए मनुष्योंसे भर गई ॥ १३ ॥

अशङ्कित महान् उत्पातोंसे उस समय वहां पर्वत, नगर अपने-आप गिरने लगे, बच्चोंके, श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके, मुनियोंके, आर्योंके एवं गुणीजनोंके विनाशसे रुदन करने लगे ॥ १४ ॥

जलकी दुर्लभताके कारण स्थलियोंके बीचमें निःशङ्क वहां जहां तहां अगाध

अट्टशूलाखिलजना शिवशूलचतुष्पथा ।
केशैकशूलवनिता पात्रशूलजनेश्वरा ॥ १६ ॥
दुःखशूलसमाचारा द्वन्द्वशूलाखिलप्रजा ।
अधर्मशूलवनिता पानशूलजनेश्वरा ॥ १७ ॥
अधर्मशूलवलिता कुशास्त्रशतशूलिनी ।
दुर्जनाखिलवित्ताढ्या विपद्विहतसज्जना ॥ १८ ॥
अनार्यवसुधापाला तदनादृतपण्डिता ।
लोभमोहभयद्वेषरागरोगरजोरवा ॥ १९ ॥

कूप लोगोंने खन दिये थे । वर्णसंकरोंके निमित्त नारियोंमें वहाँ साधारणजन, एवं राजा आदि सब गोत्रादिका विचार किये बिना ही विवाहमें आसक्त होने लग गये ॥ १५ ॥

भद्र, उस समय वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य धान आदिके क्रय-विक्रय आदि व्यवहारसे ही अपना निर्वाह करने लग गये, चौमुहानियोंपर शुल्क ही जीवन-साधन बन गया, स्त्रियोंका जीवन-साधन केश (जननेन्द्रिय) ही हो गये, और कर ही राजाओंका उपजीव्य (जीवन-साधन) बन गया अथवा अपने अपने वर्ण और आश्रमके उचित व्यवहारोंका अतिक्रमण ही सभी मनुष्योंका व्यसन बन गया चौराहोंपर शृगाल ही क्रन्दन करने लगे, स्त्रियोंका केशविन्यास ही व्यसन बन गया, समस्त राजे वेश्या, नर्तकी आदिमें ही अपना समय निकालने लगे ॥ १६ ॥

जनोंके आचरण दुःखरूप शूलरोगसे आक्रान्त हो गये, समस्त प्रजा शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे आक्रान्त हो गई, अधर्मरूप शूलरोगवाली स्त्रियां बन गईं और राजवर्ग मद्य आदिके पानमें ही निरत हो गया ॥ १७ ॥

सारी पृथ्वी अधर्मरूपी शूलरोगसे ग्रस्त जनोंसे चारों ओर व्याप्त तथा सैकड़ों कुशास्त्रोंसे यानी वेदबाह्य विचारोंसे रोगपीड़ित होकर क्रन्दन करने लग गई । उस समय वहां चोर आदि दुर्जन ही धनोंसे पूर्ण हो गये और सज्जन अनेकविध विपत्तियोंसे घिर गये ॥ १८ ॥

उस समय अनार्य ही समस्त पृथ्वीके रक्षक बन गये, पण्डितगण अनार्यों द्वारा विताडित होने लगे, सारी भूमिमें लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोगरूप धूलि उड़ने लगी ॥ १९ ॥

अप्यन्यगामिपुरुषा रुषाभिहतसद्द्विजा ।
अनारतपराक्रन्दपरापर्यन्तपामरा ॥ २० ॥
दस्यूत्सन्नपुरग्रामदेवद्विजसमाश्रया ।
आपातमधुरारम्भदुःखदोदरभङ्गुरा ॥ २१ ॥
आलस्योल्लासविलसत्कार्यवैधुर्यधर्मिणी ।
सर्वापदुपतापान्ता क्रमेणोत्सन्नदिग्गणा ॥ २२ ॥
भस्मशेषपुरग्रामा निर्जनाखिलमण्डला ।
रोरूयमाणभस्माभ्रकुण्डलोड्डामराम्बरा ॥ २३ ॥
दुर्भगाडम्बरारम्भरोदनोरुरवोदरी ।
मुष्टिप्रमाणजनता जनतापानुषङ्गिणी ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, क्या कहा जाय, सारी पृथ्वी परधर्ममें प्रवृत्त पुरुषोंसे व्याप्त हो गई, उसमें धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्रोधसे आक्रान्त हो गये और निरन्तर दूसरोंको दुःख देनेमें (रुलानेमें) तत्पर असीम दुष्टजनोंका उत्थान हो गया अर्थात् उस समय पृथ्वीमें सभी पुरुष अपना अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरोंके धर्म-कर्मोंमें प्रवृत्त हो गये, स्वधर्मका उपदेश देनेवाले सज्जन पुरुष क्रोधसे आक्रान्त हो गये तथा साधारण पामर पुरुष निरन्तर दूसरोंको रुलानेमें ही तत्पर हो गये ॥ २० ॥

नगर, गाँव तथा देवता और ब्राह्मणोंके मन्दिरोंको दस्युओंने छिन्न-भिन्न कर दिया एवं अन्यायोपार्जित धनसे अपना कुटुम्बपोषण करनेमें आपाततः मधुर और परिणाममें (परलोकमें) दुःखद उदरवाले अल्पायु पुरुष दिखलाई पड़ने लग गये ॥ २१ ॥

आलस्यदोषसे सब धार्मिक पुरुषोंने अपना-अपना नियमित सन्ध्यावन्दन आदि कार्य छोड़ दिया । परिणाममें सब अनेकविध आपदाओं एवं रोगोंसे घिर गये तथा क्रमसे दिशाओंके मण्डलके मण्डल छिन्न-भिन्न होने लग गये ॥ २२ ॥

नगर और गाँव केवल भस्मावशेष रह गये, सम्पूर्ण मण्डल (जिले) उजड़ गये और शब्द करनेवाले भस्म एवं मेघोंके बवण्डरोंसे आकाशमें भयङ्कर हलचल पैदा हो गई ॥ २३ ॥

सारी पृथिवीका पेट अभागी प्रजाओंके बड़े-बड़े समारोह एवं रोनेके शब्दसे

नीरसाशेषदेशान्ता सर्वर्तुगुणवर्जिता ।
इत्यस्य पार्थिवे धातौ ब्रह्मणो गतवेदने ॥ २५ ॥

पृथिवी पृथुवैधुर्या सम्पन्नाऽऽसन्ननाशतः ।
अथ तत्संविदुन्मुक्तो जलधातुः क्षयोन्मुखः ॥ २६ ॥

यदा विक्षुभितात्मासीत्तदा नियतिलङ्घनात् ।
समुत्सार्यार्यमर्यादामर्णवा विवृतार्णसः ॥ २७ ॥

प्रवृत्ता विकृतिं गन्तुमुन्मत्ता इव राविणः ।
वीचिविक्षोभविन्यासैर्वेलाविपिनलावकाः ॥ २८ ॥

कल्लोलवलनावर्तविवर्तोद्वर्तिताश्रयाः ।
महाभ्रभ्रमदुत्तुङ्गतरङ्गाप्तनभोदिशः ॥ २९ ॥

युक्त बन गया, सारी जनता चोरी करनेमें प्रवीण बन गई तथा सभी मनुष्योंको प्रतिक्षण सन्तापोंका ही सामना होने लगा ॥ २४ ॥

भद्र, उस समय पृथ्वीमें ऋतुओंने अपना-अपना गुण-स्वभाव छोड़ दिया और उसके सभी प्रदेशोंकी सीमाएँ नीरस हो गयीं। इस तरह ब्रह्माजीके विराट् शरीरको बनानेवाला पार्थिव भाग जब चैतन्यमें मिल गया, तब पृथ्वीकी विशालता समीपवर्ती प्रलयके कारण विलीन हो गई, तदनन्तर चेतनरूप संविद्से निर्मुक्त जल भी विनाशकी ओर उन्मुख हो गया ॥ २५, २६ ॥

जब जलधातुका स्वरूप कुपित हो गया, तब उसने भी अपना नियम तोड़ दिया और नियम तोड़नेके कारण समुद्र अपनी प्राचीन आर्यमर्यादाको तिलाञ्जलि देकर अन्धाधुंध विस्तृत जलसे लबालब भर गये ॥ २७ ॥

फिर उन्मत्तोंके सदृश शब्द कर रहे समुद्र विकृतभाव धारण करने लग गये और अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंके नाना प्रकारके विक्षोभोंसे तटस्थ जङ्गलोंका उच्छेद करने लग गये ॥ २८ ॥

समुद्रोंमें बड़ी-बड़ी अतर्कित तरङ्गें उठने लग गयीं, मत्त और भयङ्कर महान् आवर्त भी होने लगे—इससे उसमें रहनेवाले जलचरोंमें हलचल पैदा हो गई। सारे आकाशमण्डल एवं दसों दिशाएँ ऊँचे-ऊँचे घूम रहे जलतरङ्गरूप वर्तुलाकार महामेघोंसे व्याप्त हो गई ॥ २९ ॥

बृहद्गुलुगुलावर्तगर्जनोद्भवकन्दराः ।
सीकरौघमहारम्भघनसंवलिताचलाः ॥ ३० ॥
चलच्चलचलद्वीरमकराघूर्णितान्तराः ।
उल्लसन्मकराक्रान्तद्रुमकाननितोदराः ॥ ३१ ॥
दरीविदारणभ्रष्टसिंहाहतजलेचराः ।
ऊर्म्युदस्तमहारत्नभरतारकिताम्बराः ॥ ३२ ॥
उत्फालमकरच्छन्नभश्चरबृहद्घनाः ।
परस्परोर्मिसंघट्टभाङ्कारकटुटाङ्कृताः ॥ ३३ ॥
तरत्तरलमातङ्गफूत्काराधौतभास्कराः ।
अन्योन्यवेल्लनव्यग्रप्रविदीर्णाद्रिभित्तयः ॥ ३४ ॥

बड़े-बड़े गुडगुड शब्द करनेवाले आवर्तों द्वारा किये गये महान् गर्जनसे उनकी पर्वत-कन्दराएँ भयङ्कर शब्द करने लगीं और जलकणोंको (जलधाराको) बरसानेवाले महामघोंसे पर्वत भी डूबने लग गये ॥ ३० ॥

सभी समुद्रोंका भीतरी भाग अपना-अपना उत्तम वेग बतलाकर दूसरोंपर विजय पानेके निमित्त आगे-आगे दौड़ रहे वीर मगरोंसे घूर्णित (विक्षुब्ध) हो गया तथा उल्लासी मगरोंके द्वारा आक्रान्त वृक्षोंसे महारण्य-सा बना दिया गया ॥ ३१ ॥

गुफाओंको तोड़-फोड़ देनेके कारण उनमेंसे सिंह निकल भागे और भागकर उन्होंने समुद्रमें स्थित जलचरोंको हत-आहत कर दिया तथा अपनी तरङ्गों द्वारा फेंके गये महारत्नसमूहोंसे समुद्रोंने आकाशमण्डलको तारोंसे युक्त बना दिया ॥ ३२ ॥

समुद्रोंसे उछले हुए मगरोंने आकाशगामी जीवों और बड़े-बड़े मेघमण्डलोंको आच्छादित कर दिया और तरङ्गोंके परस्पर आघातोंसे समुद्रोंमें कठोर भाङ्कार शब्द होने लगा ॥ ३३ ॥

ऊँचे हाथियोंके सदृश तथा अतिचपल मगरोंके फूत्कारसे सूर्यका मण्डल भी धुल जाने लगा और परस्पर कुटिल गतिकी व्यग्रतासे समुद्रतरङ्गोंने बड़ी-बड़ी पर्वत-भित्तियोंको भी तोड़-फोड़ दिया ॥ ३४ ॥

तटपर्वतलुण्टाकतरङ्गकरमण्डलाः ।
गर्जद्गिरिदरीगेहविशदुन्मत्तवारयः ॥ ३५ ॥
भूपाः परपुराक्रान्ता लग्ना इव हतारयः ।
तारारवरणद्गेहविद्रावितनभश्चराः ॥ ३६ ॥
प्रलुण्ठितवनव्यूहलूनकाननिताम्बराः ।
सपक्षपर्वताकारतरङ्गापूरिताम्बराः ॥ ३७ ॥
महारवमरुच्छिन्नकल्लोलाचलचालिताः ।
चञ्चत्तीरगिरिव्रातपतत्तटरटज्जलाः ॥ ३८ ॥
उल्लसद्विपुलावर्तप्रोत्क्षिप्तमकरोत्कराः ।
विमज्जन्निस्तलावर्तनिगीर्णगिरिकन्दराः ॥ ३९ ॥

समुद्रोंने अपनी विशाल तरङ्गोंसे तीरस्थ पर्वतोंको चूर्णित कर दिया, गर्जना करते हुए पर्वतोंके गुफारूपी घरोंपर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया तथा उनका जल उन्मत्त-सा बन गया ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण समुद्रोंकी गतियाँ कुछ विचित्र ही हो गईं, वे शत्रुओंके नगरोंपर आक्रमण करनेवाले नष्टशत्रु राजाओंके सदृश मालूम पड़ने लग गये, क्योंकि इन्होंने भी अपनी उन्नत तरङ्गोंसे विरोधी दवाग्निको आहतकर ऊँचे स्वरसे अपने-अपने घरोंसे देवताओंको भगा दिया और उनके नगरोंपर मानो अपना अधिकार कर लिया ॥ ३६ ॥

पहले तो इन्होंने वनसमूहोंको उखाड़ फेंका, फिर उनको ऊपर उठाया, इससे आकाशमण्डल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो उसका जङ्गल काट दिया गया हो। तथा उसे पंखयुक्त पर्वतमालाओंके सदृश अपनी तरङ्गमालाओंसे ठसाठस भर दिया ॥ ३७ ॥

भयङ्कर शब्द करनेवाले प्रचण्ड वायुओंने तरङ्गोंको विभक्त कर देनेके कारण पर्वतोंके सदृश समस्त समुद्रोंको विचलित कर दिया था तथा रत्नोंके प्रकाशसे चमकीले तीरस्थ पर्वतोंके गिरनेके कारण गिर रहे तटोंसे उनका जल भीषण ध्वनि कर रहा था ॥ ३८ ॥

उल्लासयुक्त अनेक बड़े-बड़े आवर्तोंके द्वारा समुद्र मगर आदि जलचरोंको ऊपरकी ओर फेंक रहे थे तथा अगाध आवर्तोंसे अनेक पर्वत और उनकी गुफाओंको अपने उदरमें निगल जा रहे थे ॥ ३९ ॥

दरीदलनसंप्राप्तदृषद्दशनदन्तुराः ।
शृङ्गलम्बिदरिप्रान्तमग्नवीचिजलेभकाः ॥ ४० ॥
व्यालोलवलनाक्रान्तविटपिप्रोतकच्छपाः ।
यमेन्द्रवसुधावाहैरुत्कर्णैर्भयविह्वलैः ॥ ४१ ॥
श्रूयमाणपतच्छैलतटीकटकटारवाः ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमग्नोन्मग्नद्रुताद्रयः ॥ ४२ ॥
लीलालूनवनव्यूहशीतलासारवारयः ।
प्रज्वलद्वडवावह्निज्वालावलिमिलज्जलाः ॥ ४३ ॥
सरसेन विभोर्नाशैर्विशङ्कितमहानलाः ।
मिलच्छिखरिमालाग्रजलमातङ्गयोधिनः ॥ ४४ ॥

समुद्रोंने बड़ी-बड़ी गुफाओंका विदलन कर दिया था, इससे उनमेंसे निकले हुए स्फटिक आदि पत्थरोंके दाँतोंसे वे दन्तुर यानी हँसते हुए-से प्रतीत हो रहे थे और शिखरोंके ऊपर विद्यमान लम्बी-लम्बी गुफाओंके प्रान्तोंमें समुद्रोंके तरङ्ग और जलचर प्राणी घुस गये थे ॥ ४० ॥

चञ्चल वर्तुलाकार तरङ्गोंके द्वारा आक्रान्त वृक्षोंके ऊपर शाखाओंमें समुद्रोंके कछुएँ एक तरहसे गूँथ-से गये थे तथा इन्होंने यम, इन्द्र और पृथ्वीके वाहन महिष, ऐरावत एवं दिग्गजोंको भयविह्वल बनाकर उनका कान खड़ा कर दिया था यानी उनको भी चकित कर दिया था ॥ ४१ ॥

उस समय उनमें गिर रहे पर्वततटोंके कटकट शब्द सुनाई पड़ने लगे। तथा उनमें बड़े-बड़े मत्स्योंके पुच्छोंकी छाटसे ही छिन्न-भिन्न होकर पर्वत शीघ्र नीचे-ऊपर डूबने-उतराने लगे ॥ ४२ ॥

लीलासे काटे गये अरण्यसमूहोंमें समुद्रोंकी कहीं तो शीतल जलधाराएँ बहने लगीं और कहीं जल रही बड़वाग्निकी ज्वालापंक्तियोंसे मिश्रित होकर अत्यन्त ही गरम बहने लगीं ॥ ४३ ॥

भद्र, सभी समुद्रोंमें एक अजीब-सा दृश्य उपस्थित हो गया, समुद्रजलसे अपने आश्रयभूत इन्धनोंके विनाशकी आशङ्कासे महानल (बड़ावाग्नि) भयग्रस्त होकर छिप जाने लगे और पर्वतमालाओंके ऊपर जलमातङ्ग स्थलमातङ्गोंके साथ भिड़कर युद्ध करनेमें व्यस्त हो गये ॥ ४४ ॥

नृत्यन्तीव तरङ्गौघैर्जलावलनवेधिनः ।
जलाचलाचलान्योन्यसंघट्टस्फोटपण्डिताः ॥ ४५ ॥
बृहद्गिरिवनव्रातप्राणिमण्डलमण्डिताः ।
उड्डामरवनेभेन्द्रभेरीवादनभासुरैः ॥ ४६ ॥
असुरैरिव पातालं कल्लोलैरलमाकुलाः ।
अथोदपतदुन्नासदिङ्नागवदनध्वनिः ॥ ४७ ॥
पातालतलताल्वन्तर्विस्फोटामोटनोद्भटः ।
चञ्चलाचलकीलोर्वी चचाल क्षणचालिता ।
लोला शैवालवल्लीव व्यालोलाम्भोधिलङ्घिता ॥ ४८ ॥
अथ दुर्वारनिर्घोषनिर्वाताडम्बरान्विता ।
पुस्फोटेव पतन्ती द्यौर्दिशां प्रतिरवारवैः ॥ ४९ ॥

अपने जलोंके द्वारा पर्वतोंको एक-दूसरे पर्वतोंके साथ टकरा देनेमें समुद्र बड़े ही कुशल हो गये और इस तरहकी कुशलता प्राप्तकर जालोंके नानाविध घुमावके द्वारा वे मानों नृत्य कर रहे थे, ऐसी प्रतीति हो रही थी ॥ ४५ ॥

समुद्रोंमें कोई अनोखी ही शोभा उस समय मालूम होने लगी थी, उनमें बड़े-बड़े पर्वत, वनोंके समूह तथा अनेक प्राणी डूब रहे थे, यानी इन सबका समुद्रोंमें जमघट हो जानेसे कुछ अपूर्व ही शोभा मालूम पड़ रही थी तथा उड़ रहे उत्तम मृत हाथियोंके फूले हुए शरीररूपी नगारे समुद्र अपनी तरङ्गोंसे बजा रहे थे ॥ ४६ ॥

असुरोंसे पातालोंके सदृश सारे समुद्र प्रलयकारी तरङ्गोंसे व्याकुल हो उठे—यों सागरोंके विक्षोभके अनन्तर उन समुद्रोंमें तैर रहे मृतक दिग्गजोंकी सूँड़के आगेके भागसे एक विलक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी ॥ ४७ ॥

वह ध्वनि विलक्षण थी, पतालतलरूप तालुके भीतर विदारण हो जानेसे वह ध्वनि मिलकर जोर पकड़ रही थी यानी घन थी, फिर पृथ्वीको बराबर जकड़ रखनेके लिए स्थापित हुए महापर्वत आदि कीले हिल गये और एक क्षणमें अपने स्थानसे च्युत हो गई। अनन्तर क्षणभरमें चञ्चल समुद्रतरङ्गोंसे हिलायी गई वह पृथ्वी ऐसे प्रतीत होने लगी, जैसे चञ्चल शवालकी लता हो ॥ ४८ ॥

इसके बाद प्रलयकारी मेघोंके शब्दोंसे विलक्षण आडम्बरोंसे युक्त होकर

आवर्तवलनाकाराः केतवः पेतुरम्बरात् ।
हेमरत्नमया मुक्ताः सिन्दूरभुजगा इव ॥ ५० ॥
ककुब्भ्यो नभसो भूमेरुदगुर्दग्धदिक्तटाः ।
चलज्ज्वालाजटाटोपा विविधोत्पातपङ्क्तयः ॥ ५१ ॥
पृथ्व्यादीन्यसुरादीनि ब्रह्मोन्मुक्तानि सर्वतः ।
द्विविधानि महाभूतान्यलं सङ्क्षोभमाययुः ॥ ५२ ॥
चन्द्रार्कानिलशक्राग्नियमाः कोलाहलाकुलाः ।
परिपातपरा आसन् ब्रह्मलोकगतेश्वराः ॥ ५३ ॥
कम्पैः कटकटारावपतत्पादपपङ्क्तयः ।
भूमेरन्वभवन् भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ॥ ५४ ॥

अन्तरिक्ष मानो गिरने लगा और दिशाओंको प्रतिध्वनिके शब्दोंसे तोड़ने-फोड़ने लगा ॥ ४९ ॥

आकाशमण्डलसे आवर्तोंकी गोलाईके सदृश वर्तुलाकार उत्पातजनक धूमकेतु गिरने लगे, उनका वर्ण सुवर्ण, रत्न, मोती एवं सिन्दूर वर्णके साँपोंके सदृश था ॥ ५० ॥

दिशातटोंको दग्ध कर देनेवाली तथा चंचल ज्वालारूप जटाओंके आरोपसे युक्त अनेक प्रकारकी उत्पातोंकी पंक्तियाँ दिशाओंसे, आकाशसे एवं पृथ्वीसे आने लगीं ॥ ५१ ॥

भद्र, मैंने पहले जिन ब्रह्माजीका वर्णन किया है, उन्होंने जब अपना विधारणसङ्कल्प उपसंहृत किया, तब उपेक्षित असुर आदि एवं पृथ्वी आदि दोनों तरहके भी महाभूत सब ओर विक्षुब्ध हो उठे ॥ ५२ ॥

चन्द्र, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि एवं यम—ये सब बड़े कोलाहलसे ग्रस्त हो गये, उनका अधिकारप्रभाव ब्रह्मलोकमें मिल गया, वे अपने-अपने स्थानसे च्युत होने लग गये ॥ ५३ ॥

भू-कम्पनोंसे कटकट शब्दके साथ वृक्षोंके समूह गिरने लगे और अनेक तरहके झूलोंके सदृश आन्दोलनकी गतियाँ पर्वतोंको अनुभूत होने लगीं ॥ ५४ ॥

भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
पेतुः कल्पतरून्मुक्ता रक्तस्तबकवृष्टयः ॥ ५५ ॥

लोकान्तराद्रिपुरवारिधिकाननान्त-
मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हतानाम् ।
कोलाहलैर्जगदभूत्प्रविकीर्णशीर्णं
पूर्णार्णवे त्रिपुरपूर इवाऽभिपाती ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने कल्पक्षोभवर्णनं नाम एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

भूकम्पके कारण कैलास, सुमेरु और मन्दरकी कन्दराओंमें भारी चञ्चलता पैदा हो गई और कल्पतरु वृक्षसे रक्तरूप पुष्पगुच्छोंकी वृष्टि होने लगी ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र, अरण्य—यह सब जगत् पूर्ण समुद्रमें उत्पातयुक्त कल्पपवनके बहनेसे एक दूसरेसे टक्कर खा रहे मनुष्योंके कोलाहलसे ऐसे शीर्ण-विशीर्ण हो गया, जैसे रुद्रबाणकी अग्निके दाहसे चारों ओरसे गिर रहा त्रिपुरनगर (दैत्यसमूह) छिन्न-भिन्न हो गया था ॥ ५६ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

द्विसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाकृष्टवति प्राणान् स्वयंभुवि नभोभवः ।
विराडात्मनि तत्याज वातस्कन्धस्थितः स्थितिम् ॥ १ ॥
ते हि तस्य किल प्राणास्तेन क्रान्तेषु तेष्वपि ।
ऋक्षचक्रे स्थितिं कोऽन्यो धत्ते भूतैकधारिणीम् ॥ २ ॥
वातस्कन्धे समाक्रान्ते ब्रह्मणा प्राणमारुते ।
समं गन्तुं परित्यज्य संस्थितिं क्षोभमागते ॥ ३ ॥
निराधाराः सवाताग्निदाहोल्मुकवदापतन् ।
व्योम्नस्तारास्तरोः पुष्पनिकरा इव भूतले ॥ ४ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माजीके प्राणनिरोधसे वायुके क्षयका और प्रसङ्गवश पूछी गई विराट्की स्थितिका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर जब विराट्स्वरूप ब्रह्माजीने अपनी प्राणवायुओंका निरोध किया, तब वातस्कन्धनामसे स्थित आकाशमें उत्पन्न वायुने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदिको धारण करनेकी मर्यादा छोड़ दी ॥ १ ॥

वे वातस्कन्ध नामसे स्थित वायु ही विराट्रूप ब्रह्माके प्राण हैं, इसलिए जब उनका उन्होंने उपसंहार ही कर लिया, तब उन्हें छोड़कर सूक्ष्म भूतोंको धारण करनेवाली मर्यादाको ग्रहमण्डलमें कौन रख सकता है ॥ २ ॥

इसी हेतुसे ब्रह्माजीने जब प्राणवायुरूप वातस्कन्धका अपनेमें उपसंहार करना आरम्भ किया, तभी साथ-साथ उपसंहारसे एक बन जानेके लिए पूर्वोक्त मर्यादाका त्यागकर ग्रह आदिमें क्षोभ उत्पन्न हो गया, और क्षोभके कारण—जैसे वायु बहनेके समय अग्निदाह होनेपर अङ्गारे गिरते हैं, वैसे ही—निराधार होकर आकाश-मण्डलसे तारे भूमिपर टूटकर गिरने लग गये, इनकी शोभा वृक्षसे गिरे फूलोंकी-सी प्रतीत हो रही थी ॥ ३,४ ॥

तत्स्वमाकाशतां चैतच्चेत्यमित्यवबुध्यते ।
स्वरूपमत्यजन्नित्यं चित्त्वाद्भवति चेतनम् ॥ १३ ॥
विद्धि तच्चेतनं जीवं सघनत्वान्मनः स्थितम् ।
एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥ १४ ॥
शुद्धं व्योमैव चिद्व्योम स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवात्ततः ॥ १५ ॥
अथ तन्मन आभोगि भाविताहंकृति स्फुरत् ।
सङ्कल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥ १६ ॥

पृथ्वी आदि उसके अवयव कैसे हैं ? इसका अनुभव करानेके लिए मूलवस्तुके दिग्दर्शन द्वारा भूमिका बांधते हैं—'आदौ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, पहले तो न कोई असत् वस्तु थी और न सत् वस्तु ही थी, किन्तु सभी तरहके सदादि विकारोंसे रहित चिन्मात्ररूप परमाकाश ही था, वही सब तरहकी अभिलाषाओं और दिशाओंको एकमात्र पूर्ण करनेवाला था ॥ १२ ॥

इसी परमाकाशने अपने असली स्वरूपका अपरित्यागकर यानी स्वयं विकारको न प्राप्त होकर ही अपनी अवकाशरूपताकी ऐसे कल्पना की, जैसे चन्द्रने द्वितीय चन्द्ररूपकी । इसीसे उसने चेत्यको अपनेसे भिन्न वस्तु समझी और चिद्रूप होनेसे वह चेतन भी हुआ ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, बोध्य, बोध और बोद्धारूप त्रिपुटीके मननसे घनीभूत बन जानेके कारण मनका वेष धारणकर स्थित हुआ वह चेतन जीव ही है, यह आप जानिये । त्रिपुटी तकका जितना अभ्याससे उत्पन्न हुआ स्थितिजाल है, उतनेके हो जानेपर भी उनमें कुछ भी परस्पर अलग-अलग हो जानेवाला साकाररूप नहीं है, किन्तु विशुद्ध चिदाकाश ही है । यह चिदाकाश ही पहलेकी नाईं अपने स्वरूपमें ही विद्यमान है । इसलिए यह जो दिखाई पड़नेवाला जगत् है, वह शिवस्वरूप परमात्मासे अलग कुछ भी नहीं है ॥ १४, १५ ॥

तदनन्तर विशाल वह मन अहङ्कारकी भावनाकर जब स्फुरित होता है, तब 'अहम्' रूप धारण करता है, परन्तु सङ्कल्पात्मका वह भी निश्चल और अविनाशी चिदाकाश ही है ॥ १६ ॥

तत्सङ्कल्पचिदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
असत्तमेवानुभवत्सन्निवेशं खमेव खे ॥ १७ ॥
वेत्ति भावितमाकारं पश्यत्यनुभवत्यपि ।
सङ्कल्पकात्मकं शून्यमेव देह इति स्थितम् ॥ १८ ॥
शून्यमेव यथाकारि सङ्कल्पनगरं भवान् ।
पश्यत्येवमजो देहं खे खमेवानुभूतवान् ॥ १९ ॥
संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्थं तथाविधम् ।
अनुभूयानुभवनं स्वेच्छयैवोपशाम्यति ॥ २० ॥
यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्मदादेस्तदाततम् ।
इदं संवरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥ २१ ॥

अहङ्कारकी कल्पनाके बाद स्थूल देहकी कल्पना भी उसकी अवस्तुभूत ही है, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पात्मक चिदाभासरूप आकाश, जो कि अहंरूप भावनासे भावित किया गया है, उक्त स्थूलदेहके रूपका अनुभव करता है । वास्तवमें यह असत् ही है, इसलिए इसके अवयव भी आकाशमें आकाशरूपके सदृश ही हैं ॥ १७ ॥

वही जिस आकारकी भावना करता है, उसे जानता है, देखता है और अनुभव भी करता है, वास्तवमें सङ्कल्पात्मक शून्य ही देहके रूपमें स्थित है ॥ १८ ॥

यदि देह शून्य है, तो वह साकार कैसे अनुभूत होगी, इसपर कहते हैं—'शून्य०' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आप शून्यस्वरूप सङ्कल्पनगरको साकार देखते हैं, वैसे ही ब्रह्मा भी शून्यमें शून्यरूप आकाशको देहरूप ही देखता है, क्योंकि उसने ऐसा ही अनुभव किया है ॥ १९ ॥

प्रलय और मोक्ष आदिकी कल्पना भी ऐसी ही असत् है, यह कहते हैं—'संविदः' इत्यादिसे ।

संवित् आत्मा स्वयं तो निर्मल है, इसलिए इस प्रकारके जगत्का जबतक अनुभव करनेकी इच्छा रखता है, तबतक उस प्रकारका अनुभवकर फिर उसे अपनी इच्छासे स्वयं ही शान्त कर देता है ॥ २० ॥

कब शान्त हो जाता है, उसे कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना ।
अद्वैताप्तिरहङ्कारात्ततो मोक्षोऽवशिष्यते ॥ २२ ॥
एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत् स्थितम् ।
विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥ २३ ॥
सङ्कल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता ।
तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
सर्वमाकाशमेवेदं सङ्कल्पकलनात्मकम् ।
वस्तुतस्त्वस्ति न जगत् त्वत्तामत्ते च न क्वचित् ॥ २५ ॥

जब हमलोगोंको तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब विस्तृत यह प्रपञ्च, जो शून्यरूप होते हुए भी सत्य-सा बनकर स्थित है, उपसंहृत (शान्त) हो जाता है ॥ २१ ॥

असलमें जो सत्यरूप ब्रह्म वस्तु है, उसका ठीक ठीक परिज्ञान हो जानेपर इसी जन्ममें मिथ्या वासना नष्ट हो जाती है। फिर अद्वैतभावकी प्राप्ति और अहङ्कारका विलय हो जाता है, इसके बाद केवल मोक्ष ही मोक्ष बच जाता है ॥ २२ ॥

ठीक यही बात रहे, परन्तु इससे क्या मेरे प्रश्नका उत्तर हो गया, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

भद्र, श्रीरामजी, इस रीतिसे जो यह ब्रह्मा है, वही यह स्थित जगत् है। सारांश यह कि विराट् ब्रह्माका जो देह है, वही यह जगत् है ॥ २३ ॥

सङ्कल्पाकाशरूपी ब्रह्माजीकी जो भ्रान्ति उठी है, वही यह जगत् भासता है और वही ब्रह्माण्ड कहा जाता है, इसलिए भ्रान्तिसे ही ब्रह्माण्डमें स्थूल देहता है। विचारसे तो उसकी मनोमयता ही है, इसलिए उसके अङ्गोंके उपसंहारसे उपसंहार हो गया, यह पूर्वोक्त बात सिद्ध हो गई ॥ २४ ॥

अथवा जाग्रदुन्मुखतामें स्वप्नके देहाङ्गोंके उपसंहारसे जैसे स्वप्नके भूमि आदि लोकोंका उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उन पृथ्वी आदिका उपसंहार हुआ, क्योंकि दोनों ही सङ्कल्पाकाशरूप हैं, इस आशयसे कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

क्व चिन्मात्रेऽमले व्योम्नि कथं वा केन वा जगत् ।
किं जायते किमत्रास्ति कारणं सहकारि यत् ॥ २६ ॥
अतोऽलीकमिदं जातमलीकं परिदृश्यते ।
अलीकं स्वदतेऽलीकमेवं पश्यति शून्यकम् ॥ २७ ॥
जगदादिकया भासा चिन्मात्रं स्वदते स्वतः ।
आत्मनाऽऽत्माम्बरेऽद्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥ २८ ॥
इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
चिदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ॥ २९ ॥
शान्ताशेषविशेषोऽहं तेन राघव संस्थितः ।
सन्नेवासन्निवातस्त्वमेवमेवाऽऽस्व निर्ममः ॥ ३० ॥

सभी कल्पनात्मक यह जगत् सङ्कल्पाकाशस्वरूप ही है, अतः वस्तुतः कहीं न जगत्की सत्ता है और न कहीं स्वत्ता-मत्ताकी यानी अहन्ता और ममताकी ही सत्ता है ॥ २५ ॥

जगत् अवास्तव है, यह कैसे आपने जाना, इस प्रश्नपर उसकी असंभाव्यता है, इसलिए, यों उत्तर देते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

चैतन्यरूप जो निर्मल आकाशवस्तु है, उसमें कहाँ, कैसे और किस हेतुसे जगत्की सत्ता हो सकती है, उसमें उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उस उत्पत्तिमें सहकारी कारण कौन हो सकते हैं यानी ब्रह्मचैतन्यमें विचारनेपर जगत्की सर्वथा ही असंभावना है ॥ २६ ॥

इसलिए यह असत् ही उत्पन्न हुआ है, असत् ही देखा जाता है और असद्रूप ही जगत् प्रिय-अप्रियरूपसे प्रकाशता है। इस तरह निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही भ्रान्तिसे जगत्-रहित आकाशको असत् जगत्के रूपमें देखता है ॥ २७ ॥

इसीको विस्पष्टरूपमें कहते हैं—'जगदादि०' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र ब्रह्म ही धर्मी जगत् एवं उत्पत्ति आदि धर्मोंके भाससे स्वयं स्वतः प्रियाप्रियरूपसे प्रकाशित होता है । जैसे वायुसे स्पन्दन होता है, वैसे ही अपनेसे ही अद्वैत चिदाकाशमें जगत्के रूपमें स्पन्दित होता है ॥ २८ ॥

यह न द्वैतरहित है, न अद्वैतरहित है और न द्वैताद्वैतसे ही रहित है । उस चिदाकाशको ही आप जगत् जानिये, जो स्वयं स्वच्छ एवं विकारशून्य है ॥ २९ ॥

हे राघव, इस कारण मैं सभी तरहके विशेषणोंसे निर्मुक्त होकर स्थित हूँ ।

निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः ।
सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वाऽत्र किं ग्रहः ॥ ३१ ॥

अनादिनित्यानुभवो य एकः
स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत् ।
सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
सुविस्तृता दृश्यमहादृशस्ताः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥



मैं परमार्थतः सत् हूँ और व्यवहारमें असत् देहादिरूप भी हूँ, आप भी मेरे जैसे परमार्थमें सद्रूप और व्यवहारमें असत् देहादिरूप बनकर ममताशून्य हो स्थित हो जाइए ॥ ३० ॥

श्रीरामभद्र, आप समस्त वासनाओंको छोड़ दीजिये, मनका सन्ताप छोड़िये, व्यर्थके वाग्जालमें मत फँसिये, अपनी अब सारी चपलताओंको तिलाञ्जलि दे दीजिये, यह सब करके आप जो कुछ प्रारब्धवश या शास्त्रवश प्राप्त हो जाय, उसे कीजिये या न कीजिये, इसमें किसी तरहका कोई आग्रह नहीं है अर्थात् इसके बाद समाधिसे उठकर जाग्रत्-दशामें यथाप्राप्त व्यवहारोंको कीजिये या समाधिमें स्थित हो कुछ न कीजिये, इसमें कोई आग्रह नहीं है ॥ ३१ ॥

इसलिए समस्त दृश्य ब्रह्मरूप ही है, भ्रान्तिके आकारमें परिणत हुए उसके नानाविध अज्ञान ही दृश्योंके अनुभव हैं, यह निचोड़ अबतकके वचनोंसे हाथ लगा, यों उपसंहार करते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जो अद्वितीय, अनादि, अविनाशी अनुभवरूप साक्षिचेतन है, वही यह दृश्य है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी दृश्यनामका पदार्थ नहीं है। अनुभवैकरसरूप ब्रह्ममें जो अनेक तरहके अज्ञान हैं, वे ही चित्र-विचित्र भ्रान्तियोंको पैदा कर विस्तृत दृश्यानुभवरूप बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

बन्धमोक्षजगद्बुद्धिर्न शून्या नाऽपि सन्मयी ।
नास्तमेति न चोदेति किमप्याद्यमसौ किल ॥ १ ॥
उपदिष्टमिदं ब्रह्मंस्त्वया बुद्धमलं मया ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ २ ॥
सर्गादिसम्भ्रमदृशः शून्यतादिदृशस्तथा ।
न काश्चन विभो सत्या असत्याश्च न काश्चन ॥ ३ ॥

तिहत्तरहवाँ सर्ग

[ज्ञानको दृढ़ बनानेके लिए शुद्ध ब्रह्ममें जगत्के आरोप-क्रमका और ब्रह्माजीके पृथ्वी आदि कौन अङ्ग हैं—इस प्रश्नके उत्तरका पुनः वर्णन]

'भूर्लोक ब्रह्माजीका कौन-सा अङ्ग है, भूर्लोक आदि उसके अङ्ग कैसे हो सकते हैं, सत्यलोकमें उसका निवास कैसे'—ये जो तीन प्रश्न किये गये हैं, उनके उत्तरके लिए उपोद्घातरूपसे वर्णित—शुद्ध ब्रह्ममें जगत्के अध्यारोप-प्रकारको—फिर क्रमशः और तात्पर्यसे ठीक ठीक जाननेकी इच्छासे श्रीरामजी तात्पर्यतः अपना ज्ञात अंश बतलानेके लिए सिंहावलोकन न्यायसे आगेके वचनोंसे निकले निचोड़का स्मरण दिलाते हैं—'बन्ध०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे पूज्यवर, बन्धबुद्धि, मोक्षबुद्धि और जगद्बुद्धि न तो शून्य है और न सन्मय ही है यानी न सत्य अर्थवाली ही है । जिसका अस्त नहीं होता और जिसका उदय भी नहीं होता, ऐसा कोई भी यह आद्य पदार्थ है, यह मैंने जाना । जो आद्य पदार्थ है, वह सबका साक्षी है, अतः उसका न तो उदय हो सकता है और न अस्त ही हो सकता है, इसलिए यह सर्वसाक्षीरूपा बुद्धि ही विषयोंका परिमार्जन करनेपर कोई भी वाणी एवं मनसे अगम्य आद्य (ब्रह्म) है, यही आपने तात्पर्यवृत्तिसे उपदेश दिया है और यह मैंने अच्छी तरह समझ भी लिया है [तब क्या अब उपदेशसे विरत हो जाऊँ ? नहीं, यह कहते हैं—'भूयः' से] भगवन्, इस विषयमें आप फिर मुझको उपदेश दीजिये, क्योंकि अमृत सुन रहे मुझको अभी तृप्ति नहीं हो रही है ॥१,२॥

हे प्रभो, सृष्टि आदिके परिज्ञान तथा शून्यता आदिके परिज्ञान न तो कोई

एवं स्थिते तु यत्सत्यं तत्सर्वं बुद्धवानहम् ।
तथापि भूयो बोधाय सर्गानुभव उच्यताम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं देशकालक्रियादिमत् ॥ ५ ॥
तस्य नाशे महानाशे महाप्रलयनामनि ।
ब्रह्मोपेन्द्रमरुद्रुद्रमहेन्द्रपरिणामिनि ॥ ६ ॥
शिष्यते शान्तमत्यच्छं किमप्यजमनादि सत् ।
यतो वाचो निवर्तन्ते किमन्यदवगम्यते ॥ ७ ॥

सत्य हैं और न कोई असत्य ही हैं यानी न उनके विषय अबाधित हैं और न बाधित ही हैं, क्योंकि तत्-तत् व्यवहार करनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिसे ब्रह्म ही उस तरहसे स्थित रहता है । उनकी अर्थक्रियाके विषयमें भी किसीको विवाद नहीं है। असत् कार्यपक्ष माना नहीं जा सकता, सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें सर्वशून्यता बनानेकी शक्ति भी हो सकती है तथा मायासे सब तरहके विरोधोंका परिमार्जन भी हो सकता है ॥ ३ ॥

मायाशबल (युक्त) ब्रह्मकी महिमाके सदृश मैंने मायाके अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्यमुक्त ब्रह्मतत्त्व भी जान लिया है, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

हे महाराज, यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है और जो कुछ सत्य वस्तु है उसे पूरी तरहसे मैंने जान भी लिया है, तथापि विपुल बोधार्थ फिर मुझसे सृष्टिका अनुभव (अध्यारोप) कैसे होता है, यह आप कहिए ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, यह जो कुछ स्थावर-जङ्गमरूप, नाना प्रकारके धर्मोंसे पूर्ण एवं देश, काल, क्रिया आदिसे युक्त पूरा जगत् दिखाई देता है; उसका महाप्रलयशब्दसे कहे जानेवाले महानाशमें यानी प्राकृत प्रलयमें—(जब कि स्थूल भूतोंका सूक्ष्मभूतोंमें नाश हो जानेपर भूतसूक्ष्मोंके साथ अव्याकृतमें प्रवेश हो जाता है, तब) जिसमें कि ब्रह्मा, उपेन्द्र, मरुत्, रुद्र, महेन्द्र आदिके शरीरोंका अन्तिम भावविकार हो जाता है—शान्त, अतिस्वच्छ, अज, अनादि एवं सद्रूप कोई वस्तु बच जाती है । उससे सभी वाणी भी निवृत्त हो जाती

सर्षपापेक्षया मेरुर्यथाऽतिविततकृतिः ।
तथाऽऽकाशमपि स्थूलं शून्यं सद्यदपेक्षया ॥ ८ ॥
शैलेन्द्रापेक्षया सूक्ष्मा यथेमे त्रसरेणवः ।
तथा सूक्ष्मतरं स्थूलं ब्रह्माण्डं यदपेक्षया ॥ ९ ॥
अमानकलिते सौम्ये काले परिणते चिरम् ।
शान्ते तस्मिन् परे व्योमन्याद्ये ह्यनुभवात्मनि ॥ १० ॥
असङ्कल्पो महाशान्तो दिक्कालैरमिताकृतिः ।
अन्तर्महांश्चिदाकाशो वेत्तीव परमाणुताम् ॥ ११ ॥
असत्यामेव तामन्तर्भावयन् स्वप्नवत्स्वतः ।
ततः स ब्रह्मशब्दार्थे वेत्ति चिद्रूपतां तताम् ॥ १२ ॥

है यानी किसी तरहकी वाणी उसे कह नहीं सकती, इसे छोड़कर दूसरा कोई भी जानने लायक पदार्थ नहीं है ॥ ५–७ ॥

भद्र, जैसे सरसोंकी अपेक्षा विशाल आकारवाला सुमेरु पर्वत अति स्थूल है, वैसे ही अन्यकी अपेक्षा परमसूक्ष्म सद्रूप आकाश भी उसकी अपेक्षा अतिस्थूल है ॥ ८ ॥

पर्वतराज सुमेरुकी अपेक्षा ये त्रसरेणु जैसे सूक्ष्म हैं, वैसे ही अन्यकी अपेक्षा अतिस्थूल यह विशालतम ब्रह्माण्डमण्डल उसकी (ब्रह्मकी) अपेक्षा अतिसूक्ष्म (अणुतर) है ॥ ९ ॥

कालमानको बतलानेवाली सूर्यस्पन्दन आदि उपाधियोंका विनाश हो जानेके कारण प्रलयकाल मानकलनासे रहित हो जाता है, इस तरहका प्रलयकाल ब्रह्माजीकी जो दो परार्ध आयु निश्चित है, उसीके समान उतने समयतक रहता है। इतने लम्बे समयतक प्रलय रहकर जब चला जाता है, तब साक्षीरूप परमशान्त, सबके आदि उस महा चिदाकाशमें मायारूप आवरणसे युक्त, भीतर सुषुप्त-प्राय चिदाकाश स्वप्नोन्मुखके सदृश अपने भीतर परमाणुरूपताका (अपने भीतर विलीन जगत्संस्काररूप परमाणुरूपताका) मानो अनुभव करता है अर्थात् पर्यालोचन करता है। असलमें यह तो सङ्कल्पशून्य, महाशान्त है । इसकी आकृति दिशा, एवं काल आदिसे नापी नहीं जा सकती ॥ १०, ११ ॥

वह परमाणुरूपता असत्य ही है, फिर भी उसकी अपने अन्दर स्वप्नके

चिद्भावोऽनुभवत्यन्तश्चित्त्वाच्चिदणुतां निजाम् ।
तामेव पश्यतीवाथ ततो द्रष्टेव तिष्ठति ॥ १३ ॥
यथा स्वप्ने मृतं पश्यत्येक एवात्मनाऽऽत्मनि ।
मृत एव मृतेर्द्रष्टा तथा चिदणुरात्मनि ॥ १४ ॥
ततश्चिद्भाव एषोन्तरेक एव द्वितामिव ।
पश्यन् स्वरूप एवास्ते द्रष्टृदृश्यमिव स्थितः ॥ १५ ॥
चिद्भाव शून्य एवातिनिराकारोऽप्यणुं तनुम् ।
पश्यन् दृश्यमिवोदेति द्रष्टेव च तदा द्विताम् ॥ १६ ॥

समान पहले भावना करता है, फिर अपनेमें ब्रह्मशब्दार्थकी भावना करता है यानी मैं ही सबको बढ़ानेवाला हूँ, यों भावना करता है और साथ-साथमें अपनी असीम चिद्रूपताकी भी भावना करता है ॥ १२ ॥

अपने ब्रह्मशब्दार्थकी जो भावना करता है, उसमें कारण उसकी चित्स्वभावता ही है, यह कहते हैं—'चिद्भावः' इत्यादिसे ।

चितिस्वरूप आत्मा अपने भीतर विलीन हुए अपने सूक्ष्म जगत्संस्कारका जो अनुभव करता है, इसमें कारण उसकी चितिरूपता ही है, इसीसे उसे ही मानो देखता है । इसके बाद स्वयं वह द्रष्टा-सा बनकर स्थित हो जाता है ॥१३॥

एक वस्तुमें विरुद्ध दृश्य-द्रष्टाके धर्म नहीं हो सकते, यदि यह शङ्का हो, तो इसका समाधान यह है कि स्वप्नके सदृश विरोधका पर्यालोचन न होनेसे वैसा हो सकता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे एक ही पुरुष स्वप्नमें अपने आप अपनी आत्मामें अपनेको मृत देखता है, इससे यह बात आ गई कि मृत ही मरणका द्रष्टा है, ठीक वैसे ही अणुचित् अपनी आत्मामें उक्त अणुता देखती है यानी स्वयं दृश्य और द्रष्टा हो जाती है ॥ १४ ॥

ऐसी कल्पना करनेपर भी वास्तवमें ऐक्यकी क्षति नहीं होती, यह कहते हैं—'तत०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर यह चिदाकाश स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने भीतर द्वैत-सा देखता है और यों देखता हुआ द्रष्टा एवं दृश्य-सा बनकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है ॥ १५ ॥

यद्यपि यह चितिरूप आकाश शून्यरूप है यानी आकारसे एकदम ही

प्रकाशमणुमात्मानं पश्यंस्तदनुभावतः ।
उच्छूनतां चेतयते बीजमङ्कुरतामिव ॥ १७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यद्रष्टृदर्शनदृग्दशः ।
अर्थान्तरस्वभावेन तिष्ठन्त्यनुदिताभिधाः ॥ १८ ॥
चिदणुर्यत्र भातोऽसौ देशो मितिमुपागतः ।
यदा भातस्तदा कालो यद्भानं तत्क्रिया स्मृता ॥ १९ ॥
उपलब्धं विदुर्द्रव्यं द्रष्टृताऽप्युपलब्धृता ।
आलोकनं दर्शनता दृगालोकनकारणम् ॥ २० ॥

रहित है, फिर भी अपनी अणुरूप तनुता जब देखता है, तब दृश्य-सा एवं द्रष्टा-सा बनकर द्वैतभाव धारण करता है ॥ १६ ॥

वह द्रष्टारूप आत्मा मायाके बलसे अपनेको प्रकाशस्वभाव उक्त परमाणुरूप (परिच्छिन्नस्वरूप) देखता हुआ उसका अनुभव करता है और उसीकी सामर्थ्यसे अपनी उपचयरूपताका ऐसे सङ्कल्प करता है, जैसे बीज अपनी अङ्कुरताका ॥१७॥

उसी समय यद्यपि उसमें आवश्यक देश, काल आदिके विभागोंकी कल्पना भी हो जाती है, परन्तु वाग् आदिकी अभिव्यक्ति न होनेसे उसकी अभिधा-शक्तिका अविर्भाव नहीं होता, यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

उसी समय देश, काल, क्रिया, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन, ज्ञान-साधन एवं ज्ञानरूप चक्षु आदि अन्य अर्थोंके स्वभावसे स्थित होते हैं, परन्तु उनकी अभिधाशक्तिका उदय नहीं रहता ॥१८॥

उसकी जो विभागकल्पना हुई, उसमें प्रकार बतलाते हैं—'चिदणु०' इत्यादिसे।

जहाँ यह चितिरूप अणु प्रतीत हुआ, वहाँ देशका भी भान हो ही गया तथा जब उसका भान हुआ, तब काल भी उसमें आ गया और जो ज्ञान हुआ, तो वह क्रिया हो गई ॥ १९ ॥

उसी समय त्रिपुटीका विभाग करनेवाली उपाधियोंकी, साक्षीकी एवं उसके प्रकाशमें हेतुभूत पदार्थकी कल्पना भी हो जाती है, यह कहते हैं—'उपलब्धम्' इत्यादिसे ।

जिसका ज्ञान होता है, वह द्रव्य कहा जाता है, जो दृष्टृता है, वह उपलब्धृता भी है, आलोकन ही दर्शन है और आलोकनमें (देखनेमें) जो कारण है, वह दृग् है ॥ २० ॥

एवमुच्छूनता भाति मितानन्ताऽथ वा क्रमात् ।
असत्यैव नभस्येव नभोरूपैव निष्क्रमा ॥ २१ ॥
चिदणोर्भासनं भातं तत्प्रदेशेन देहगम् ।
येन पश्यति तच्चक्षुः सङ्क्षेपोऽक्षदृशामिति ॥ २२ ॥
चिदणुप्रतिभासेऽन्तः प्रथमं नामवर्जितम् ।
तन्मात्रशब्दमेतेषामेतदाकाशरूपि तत् ॥ २३ ॥
चिदणुप्रतिभाकाशपिण्ड एव घनस्थितिः ।
अनुसन्धानविवशश्चेततीन्द्रियपञ्चकम् ॥ २४ ॥

इसी तरह कर्ता, कार्य, कारण, भोक्ता, भोग्य आदि त्रिपुटी-विशेष, उनके साक्षी और निमित्तोंकी भी कल्पना सर्वत्र जान लेनी चाहिये, इसे कहते हैं—'एवमु०' इत्यादिसे ।

इसी तरह उसकी विपुलता दिखाई पड़ती है, असीमरूपता या संख्यासे इयत्ता भी क्रमसे उसमें देशादि परिच्छेदोंसे जानी जाती है । वास्तवमें तो विपुलता या असीमता आदि असत्यरूप ही है । उसमें कोई क्रम नहीं है । तथापि इसे आकाशमें आकाशरूपताके सदृश जान लेना चाहिए ॥ २१ ॥

अब इसमें रूपादित्रिपुटीके सिद्ध हो जानेपर चक्षु आदि करणोंके विभागकी भी कल्पना अगत्या सिद्ध हो जाती है, यह संक्षेपसे बतलाते हैं—'चिदणो' इत्यादिसे ।

चितिरूप अणुको यानी जीवको सूर्य आदिके प्रकाशका जिस गोलकच्छिद्रसे भान होता है या जिस अतीन्द्रिय—करणसे वह देखता है, वे दोनों ही देहगत चक्षु हैं, यही न्याय श्रोत्र आदि सब इन्द्रियदृष्टियोंमें लागू है, यह संक्षेपसे जान लेना चाहिये २२ ॥

श्रोत्र (कान) आदि जो पांच इन्द्रियां हैं, उन्हींके विषयोंमें नामरूपभेदकल्पनाके पहलेकी जो अवस्था है, वह तन्मात्रशब्दसे कही जाती है, यह कहते हैं—'चिदणु०' इत्यादिसे ।

चितिरूप अणुका प्रतिभास होनेपर भीतर सर्वप्रथम (पूर्वकी) जो इन श्रोत्र आदि पांचोंके शब्दादि विषयोंकी नामरूपशून्य अवस्था है, वह तन्मात्रशब्दसे कही जाती है, उसका स्वरूप अतिसूक्ष्म है ॥ २३ ॥

उस क्रमसे चितिरूप अणुका प्रतिभारूप जो आकाश है, वही घनस्थिति

एवं चिदणुसन्धानं दृश्यपोषमुपैत्यलम् ।
तदेव ज्ञानमित्युक्तं बुद्धिरित्यभिधीयते ॥ २५ ॥
ततो मनस्तदारूढमहङ्कारपदं गतम् ।
देशकालपरिच्छेद इत्यङ्गीकृत आत्मना ॥ २६ ॥
चिदणोरस्य भावस्य प्रत्यग्रं यत्र वेदनम् ।
स तत्रोत्तरकालेन पूर्वाभिख्यां करिष्यति ॥ २७ ॥
अन्यस्मिन्नेकदेशे सा ऊर्ध्वाभिख्यां करिष्यति ।
एवं दिगभिधानादि कल्पयिष्यति स क्रमात् ॥ २८ ॥

होकर स्थूल देहरूप बन जाता है, फिर उसमें रूप आदिके अनुसन्धानवशसे पांच इन्द्रियां प्रकाश करती हैं ॥ २४ ॥

अब चार अन्तःकरणोंकी कल्पनाका प्रकार दिखलाते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस तरह अणुरूप चितिका ज्ञान दृश्य पदार्थोंके बार-बार अनुभवसे खूब पुष्ट हो जाता है । फिर इसीका नाम ज्ञान एवं बुद्धि पड़ जाता है । इन्द्रियोंसे अनुभूत विषयोंका स्मृति-समयमें जो ज्ञान होता है वह चित्त कहा जाता है और अध्यवसायसमयमें जो ज्ञान होता है वह बुद्धि कही जाती है ॥ २५ ॥

तदनन्तर सङ्कल्पविकल्पदशामें वह मन बन जाता है, अभिमानसे—अहंभाव एवं ममभावसे—अभिमानी होकर अहङ्कार पदको प्राप्त हो जाता है । इस रीतिसे आत्माने देशकालका भी विभाग किया है ॥ २६ ॥

काल और देशमें पूर्ववत् जो कल्पना होती है, वह उत्तरकालकी कल्पनाको लेकर ही प्रवृत्त होती है, यह कहते हैं—'चिदणो०' इत्यादिसे ।

इन प्रसिद्ध शब्द आदि विषयोंका जिस देश या कालरूप आधारमें जो सर्वप्रथम विज्ञान होता है यानी जिस चिदणुरूप जीवको जिस देश या कालरूप आधारमें शब्दादि विषयोंका विज्ञान होता है, वही जीव देश या कालरूप आधारका उत्तरकालसे भिन्न पूर्वदेश या पूर्वकाल—यों नामकरण कर देगा, यही नियम प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीवके लिए लागू है ॥ २७ ॥

वही चितिरूप जीव दूसरे देश-कालमें ज्ञान होनेपर उनका 'ऊर्ध्व' नाम रख लेगा, इसी प्रकार दिशामें पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि नामोंकी वह क्रमशः कल्पना कर लेगा ॥ २८ ॥

देशकालक्रियाद्रव्यशब्दानामर्थवेदनम् ।
भविष्यति स्वयमसावाकाशविशदोऽपि सन् ॥ २९ ॥
इत्थं स्वानुभवेनैष व्योम्नैव व्योमरूपभृत् ।
आतिवाहिकनामान्तर्देहः सम्पद्यते चितेः ॥ ३० ॥
एष एव चिरं कालं तत्र भावनया तया ।
गृह्णाति निश्चयं पूर्णमाधिभौतिकमात्मनः ॥ ३१ ॥
व्योम्ना व्योम्न्येव रचितो निर्मलेनेति विभ्रमः ।
असता सत्समास्तीर्णस्तापनद्या जलं यथा ॥ ३२ ॥

इस तरह देश, काल और वस्तुओंकी एवं उनके नामोंकी कल्पना बन गई, अब जिन्हें शब्दशक्तिका ज्ञान है, ऐसे पुरुषोंको शब्दश्रवण होनेपर तत-तत अर्थोंका जो विज्ञान होगा, उस विज्ञानके रूपमें भी वह आत्मा ही हो जायगा, यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

भद्र, तदनन्तर यद्यपि आकाशके सदृश अतिनिर्मल ही यह आत्मा है, तथापि सङ्कल्पवश यह आत्मा ही स्वयं देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि शब्दोंके अर्थोंके ज्ञानके रूपमें हो जायगा ॥ २९ ॥

इसी रीतिसे अपने ही सङ्कल्पके प्रभावसे यह आकाशके सदृश निर्मलरूप धारण करनेवाला चिदाकाश अपने आप ही चितिके अन्दर सर्वप्रथम आतिवाहिक शरीर, फिर देहेन्द्रियादि विभाग, फिर नाम, यों समस्त जगत्के स्वरूपमें विवर्तित हो जाता है ॥ ३० ॥

यों समस्त जगत् केवल मानसिक कल्पना स्वरूप होनेके कारण आतिवाहिक शरीरका अवयव ही सिद्ध होता है, फिर भी उसमें आधिभौतिकताकी प्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'एष' इत्यादिसे ।

यही चिदणु जीव दीर्घकालकी उक्त भावनासे अपनेमें पूर्णरूपसे आधि-भौतिकताका निश्चय कर लेता है ॥ ३१ ॥

निर्मल चिदाकाशने चिदाकाशमें ही अपने असत्सङ्कल्पसे उक्त प्रकारके विभ्रमकी रचना की है, यह सत्के सदृश होकर ऐसे चारों ओर फैला है, जैसे ताप-नदीका जल ॥ ३२ ॥

सङ्कल्पनामुपादत्ते स्वदेहे गगनाकृतिः ।
शिरःशब्दार्थदां काञ्चित् पादशब्दार्थदां क्वचित् ॥३३॥
उरःपार्श्वादिशब्दार्थमयीं क्वचिदनाविलाम् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गशब्दाद्यर्थमयीमपि ॥ ३४ ॥
नियताकारकलनां देशकालादियन्त्रिताम् ।
विषयोन्मुखतां यातामिन्द्रियव्रातवेधिताम् ॥ ३५ ॥
सोऽणुः पश्यत्यथाकारमात्मनः स्वात्मकल्पितम् ।
हस्तपादादिकलितं चित्तादिकलनान्वितम् ॥ ३६ ॥
एवं संपद्यते ब्रह्मा तथा संपद्यते हरिः ।
एवं संपद्यते रुद्र एवं संपद्यते कृमिः ॥ ३७ ॥
न च किञ्चन संपन्नं यथास्थितमवस्थितम् ।
शून्यं शून्ये विलसितं ज्ञप्तिर्ज्ञप्तौ विजृम्भिता ॥ ३८ ॥

वह गगनरूप चिदणु—जब अपनी देहकी कल्पना करनी होती है, तब इस तरहकी कल्पना करता है—कहीं कोई कल्पनाएँ सिरशब्दके अर्थको देनेवाली, कोई पैर शब्दके अर्थको देनेवाली, कोई छाती, पसली आदि शब्दोंके अर्थोंको देनेवाली हैं। वह कहीं निर्मल कल्पना, कहीं भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग आदि शब्दोंके अर्थोंकी कल्पना, कहीं नियत कालकी कल्पना, कहीं देशकालसे नियन्त्रित कल्पना, कहीं विषयोन्मुख कल्पना और कहीं इन्द्रियोंसे युक्त कल्पना करता है। यों शरीरोंके अवयवोंकी एवं बाह्य अर्थोंके हानादि व्यवहारोंकी कल्पना करते रहता है ॥३३–३५॥

तदनन्तर वह चिदणु अपनी कल्पनासे ही कल्पित अपने हाथ, पैर आदिसे युक्त तथा चित्त आदिकी कल्पनासे युक्त मनुष्य आदिका आकार देखता है ॥३६॥

जब ईश्वरोंकी देहोंकी भी कल्पना उसके सङ्कल्पसे होती है, तब फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

इसी तरह अपनी ही कल्पनासे चिदणु—जीव ब्रह्मा बन जाता है, नारायण बन जाता है, रुद्र बन जाता है तथा कीट भी बन जाता है ॥ ३७ ॥

सभी तरहकी यह कल्पना मिथ्या ही है, यह कहते हैं—'न च' इत्यादिसे।

वास्तवमें तो यह कुछ भी बना नहीं है, किन्तु यह अपने असली स्वरूपमें ही स्थित है, शून्यमें शून्यका ही विलास है और चिति चितिमें ही बढ़ी है ॥३८॥

प्रतिकन्दः शरीराणां बीजं त्रैलोक्यवीरुधाम् ।
सार्गर्गलप्रदो मुक्तेः संसारासारवारिदः ॥ ३९ ॥
कारणं सर्वकार्याणां नेता कालक्रियादिषु ।
सर्वाद्यः पुरुषः स्वैरमित्यनुत्थित उत्थितः ॥ ४० ॥
नास्य भूतमयो देहो नास्यास्थीनि शरीरके ।
अवष्टब्धुमसौ मुष्ट्या शक्यते नतु केनचित् ॥ ४१ ॥
तेनाब्धिमेघसंग्रामसिंहगर्जोर्जितात्मना ।
अपि सुप्तनरेणेव नूनं मौनवता स्थितम् ॥ ४२ ॥
जाग्रतः स्वप्नसंदृष्टयोद्धारभटिवेदनम् ।
यथास्मृति गतं नासन्न सत्तद्वदसौ स्थितः ॥ ४३ ॥
बहुयोजनलक्षौघप्रमाणोऽपि बृहद्वपुः ।
परमाण्वन्तरे भाति लोमान्तस्थजगत्त्रयः ॥ ४४ ॥

व्यष्टियोंके सदृश समष्टिरूप हिरण्यगर्भ भी उसी तरह अपनी कल्पनासे ही बना है, यह कहते हैं—'प्रतिकन्दः' इत्यादिसे ।

भद्र, व्यष्टि शरीरोंका जो नियत कन्द (मूल) है, त्रैलोक्यरूप बल्लियोंका जो बीज है, वह भी वही है । मुक्तिके द्वारकी प्रतिबन्धक विषय-सृष्टिरूप अर्गला (शृङ्खला) देनेवाला तथा संसाररूप मूसलाधार वृष्टि करनेवाला मेघ भी वही है ॥ ४० ॥

सब कार्योंका कारण, काल, क्रिया आदिका नियामक, सबका आदिभूत हिरण्यगर्भ भी अपनी इच्छासे वही बन बैठा है उत्थित न रहते हुए भी वह उत्थित है ॥ ३९ ॥

न तो इसका भौतिक शरीर है और न इसके शरीरमें हड्डियां ही हैं, अतः इसे कोई मुट्ठीसे नहीं पकड़ सकता ॥ ४१ ॥

जैसे स्वप्नमें मेघ, संग्राम और सिंहोंकी भीषण गर्जनासे युक्तस्वरूप रहनेपर भी सुप्त पुरुष वस्तुतः चुपचाप ही स्थित रहता है, वैसे ही विराट् पुरुष भी प्रपञ्चशून्य अपने स्वरूपमें स्थित है ॥ ४२ ॥

जैसे स्वप्नमें देखे गये योद्धाओंके कोलाहलका ज्ञान जाग्रदवस्थामें स्मृतिपथमें आया हुआ न तो अत्यन्त असत् है और न सत् ही है, वैसे ही जगत्‌का यह प्रपञ्च स्थित है ॥ ४३ ॥

एकमात्र मायासे उन हजारों वस्तुओंकी, जिनकी हम कभी संभावना नहीं कर

कुलशैलगुणौघात्मा जगद्वृन्दात्मकोऽपि सन् ।
कुलायं धानकामात्रमपि नो पूरयत्यजः ॥ ४५ ॥
जगत्कोटिशताभोगविस्तीर्णोऽप्यणुमात्रकम् ।
वस्तुतो व्याप्तवानेष न देशं स्वप्नशैलवत् ॥ ४६ ॥
स्वयंभूरेष कथितो विराडेष स उच्यते ।
ब्रह्माण्डात्मा जगद्देहो वस्तुतस्तु नभोमयः ॥ ४७ ॥
सनातन इति प्रोक्तो रुद्र इत्यपि संज्ञितः ।
इन्द्रोपेन्द्रमरुन्मेघशैलजालादिदेहकः ॥ ४८ ॥
तेजोऽणुमात्रं प्रथितं चेतित्वात्प्रथमं वपुः ।
क्रमेण स्फारसंवित्तिर्महानहमिति स्थितः ॥ ४९ ॥

सकते, इस संसारमें उत्पत्ति दीखती है, यह कहते हैं—'बहुयोजन०' इत्यादिसे ।

अनेक लाखों योजनके समूहोंतक विशाल प्रमाणवाला, बृहत्-शरीर भी यह त्रैलोक्य रोमके सूक्ष्म भागके अन्तमें स्थित सिर्फ एकमात्र मायासे ही परमाणुके अन्दर भी भासता है ॥ ४४ ॥

सात महाकुल पर्वतों तथा गुणोंके समूहोंका आश्रय एवं ब्रह्माण्डोंका समूहमय होकर भी ब्रह्मदेव बटके बीजमात्र छिद्रको भी नहीं पूर्ण कर सकते ॥ ४५ ॥

सैंकड़ों करोड़ लम्बे जगत्के विस्तारसे विस्तृत आकारवान् होते हुए भी ब्रह्मदेव अणुमात्रस्वरूप हैं । स्वप्नके पर्वतोंके समान वस्तुतः इन्होंने देशको व्याप्त नहीं कर रखा है ॥ ४६ ॥

यही ब्रह्माण्डात्मा स्वयंभू कहे गये हैं तथा जगत्-शरीर विराट् भी यही कहे जाते हैं । लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः ये चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ४७ ॥

सनातन पुरुष भी यही कहे गये हैं, इन्हींकी रुद्र संज्ञा पड़ी है तथा हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ तथा शैलसमूहोंकी देह भी यही हैं ॥४८॥

अब पूर्वोक्तको संक्षिप्तकर कहते हैं—'तेजः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, परम सूक्ष्म चिति पहले सबको चेतित करनेसे चित्तशरीर हुई और वही चित्तात्मा वर्णित क्रमसे विस्पष्ट चित्ति होकर यानी महाज्ञानसम्पन्न होकर 'मैं महान् ब्रह्माण्डात्मा हूँ' इस तरह जगत्के शरीररूपसे स्थित हो गया ॥ ४९ ॥

स्पन्दसंवेदनात्तेन स्पन्द इत्यनुभूयते ।
यः स एवानिलाभिख्यो वातस्कन्धात्मना स्थितः ॥५०॥
प्राणापानपरिस्पन्दो वेदनादनुभूयते ।
तेन यः सोऽयमाकाशे वातस्कन्ध उदाहृतः ॥ ५१ ॥
चित्ताद्ये कल्पितास्तेन बालेनेव पिशाचिकाः ।
तेजःकणा असन्तोऽपि त एते धिष्ण्यतां गताः ॥५२॥
प्राणापानपरावर्तदोला तदुदरोदिता ।
वातस्कन्धाभिधां धत्ते जगत्तद्धृदयं महत् ॥ ५३ ॥
प्रतिच्छन्दशरीराणां प्रथमं बीजमेष सः ।
जगद्गतानां सर्वेषामाकल्पव्यवहारिणाम् ॥ ५४ ॥
प्रतिच्छन्दाद्यदेतस्मादुत्थिता जगदात्मना ।
देहास्तदा यथा बाह्यमन्तरेषां तथा स्थितम् ॥ ५५ ॥

स्पन्दकी संवित्से वे स्पन्दका अनुभव करते हैं । उनके जो प्राण हैं उन्हींकी संज्ञा अनिल पड़ी हुई है । वे वातस्कन्धरूपसे स्थित हैं ॥ ५० ॥

स्पन्दकी संवित्से वे स्पन्दका अनुभव करते हैं, यह जो ऊपर कहा गया है उसका सर्वानुभवप्रसिद्धि द्वारा समर्थन करते हैं—'प्राणा०' इत्यादिसे ।

स्पन्दकी संवित्से जो वे प्राण और अपानके स्पन्दका अनुभव करते हैं उसी उनके प्राणके स्पन्दको उनके ब्रह्माण्डाकाशमें हमने वातस्कन्धके नामसे पहले कहा है ॥ ५१ ॥

विराट्ने अपने चित्तसे जिनकी कल्पना की वे ही ये तेजके कण, बालक द्वारा अपने चित्तसे कल्पित पिशाचकी नाईं, असद्रूप होते हुए भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदिकी स्थानताको प्राप्त हुए हैं यानी तद्रूपताको प्राप्त हुए हैं ॥५२॥

उसके उदरमें जनित जो प्राण तथा अपानके आवर्तनरूपी झूला है, वही उसकी उदरता 'वातस्कन्ध' संज्ञाको धारण करती है। महान् जगत् उसीका हृदय (हृदयगत अस्थि आदि) है ॥ ५३ ॥

जगत्के अन्दर कल्पपर्यन्त व्यवहार करनेवाले समस्त जीवोंमें प्रत्येक जीव-भेदकी इच्छासे कल्पित व्यष्टिशरीरोंके प्रथम बीज यही ब्रह्मदेव हैं ॥ ५४ ॥

इनसे उत्पन्न प्रत्येक जीवकी इच्छासे प्रकटित हुए जो जगद्रूपसे अनेक देह हैं उनके भी बाहर और भीतर ये ठीक वैसे ही स्थित हैं ॥ ५५ ॥

चितिस्तस्याऽऽद्यबीजस्य पूर्वमेव यथोदिता।
तथैवाद्यापि जीवेऽन्तस्तथोदेति तदीहिता॥ ५६॥
श्लेष्मपित्तानिलास्तस्य चन्द्रार्कपवनास्त्रयः।
ग्रहा ऋक्षगणास्तस्य प्राणाष्ठीवनसीकराः॥ ५७॥
तस्यास्थीन्यद्रिजालानि मेदसो जातिका घनाः।
शिरः पादौ त्वचं देहान्पश्यामस्तस्य नो वयम्॥५८॥

वपुर्विराजो जगदङ्ग विद्धि
सङ्कल्परूपस्य हि कल्पनात्म।
आकाशशैलावनिसागरादि
सर्वं चिदाकाशमतः प्रशान्तम्॥ ५९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः॥७३॥

जैसे आद्य बीज हिरण्यगर्भकी इच्छारूपा चिति पहले ही उत्पन्न हो गई, वैसे ही आज भी उसकी अभिलषित चिति ही प्रत्येक जीवके भीतर उदित हो रही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे एक प्रथम बीजसे अनेक वृक्ष तथा बीजोंकी परम्परा उदित होती है वैसे ही हिरण्यगर्भरूप चेतनकी इच्छासे प्रत्येक जीवसे ब्रह्माण्डपरम्परा उदित होती है॥ ५६॥

चन्द्र, सूर्य और पवन—ये तीनों उस हिरण्यगर्भके कफ, पित्त और वायुरूप हैं और दूसरे जो ग्रह तथा नक्षत्र समूह हैं वे उसके प्राणष्ठीवनके सीकर हैं यानी प्राण द्वारा बाहर निकले हुए थूकके कफबिन्दु हैं॥ ५७॥

पर्वतसमूह उसके अस्थि हैं, सारे मेघ उसकी चर्बीकी जाति-जैसे हैं, उसके सिर, पैर और त्वचारूप देहावयवोंको—ऊपर-नीचेके कपालों तथा ब्रह्माण्डोंके आवरणोंको—दूरीके कारण हम लोग नहीं देख पाते॥ ५८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारको आप विराट् पुरुषका शरीर समझिये। वह भी कल्पनात्मक उस विराट्की एकमात्र कल्पनारूप ही है। वह न तो कोई बाह्यसाधनसे साध्य है और न वस्तुतः मनकी कल्पनारूप कुछ है। इसलिए

चतुःसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तस्मिन् कल्पे तु सङ्कल्पे तस्य यद्वपुरास्थितम् ।
शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥ १ ॥
परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
आद्यन्तमध्यरहितं लघुत्वस्य वपुर्जगत् ॥ २ ॥

आकाश, तथा पर्वत, पृथिवी तथा सागर आदि सबके सब प्रशान्त चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ५९ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

[जो लोक उस ब्रह्माके अङ्गभूत हैं जो उसके पृथक्-पृथक् अवयव हैं तथा जिस तरह ये सब इसके अन्दर स्थित हैं—इन सबका वर्णन]

उस ब्रह्माका कौन अङ्ग यह भूलोक है और कौन अङ्ग स्वर्ग अथवा पाताल है ? इस विभागप्रश्नका, 'कथं वासोऽन्तरे तस्य' इस प्रश्नका तथा 'कथं वा तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इस प्रश्नका भी विस्तारके साथ उत्तर देनेके लिए अब महाराज वसिष्ठजी श्रोताको सावधान कर रहे हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस शिलाके उदरमें देखे गये ब्रह्मकल्पात्मक उस विराट्के सङ्कल्पमें जो ब्रह्माण्डात्मक शरीर स्थित है उसकी विचित्र आचारोंसे चित्तको हर लेनेवाली जो यह जन्म, कर्म, अवयव आदिकी व्यवस्था है, वह आप सुनिये ॥ १ ॥

उस विराट्का ब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप प्राथमिक और अकल्पित है । उस विराट्का शरीर तो उसकी दृष्टिसे अत्यन्त ही लघुतर है, यह कहते हैं—'परमम्' इत्यादिसे ।

आदि, अन्त और मध्यसे रहित जो परम चिदाकाश है, वही विराडात्माका प्रथम कल्पनारहित शरीर है तथा उसका कल्पित यह जगद्रूप शरीर तो अत्यन्त ही लघु है ॥ २ ॥

सङ्कल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं सङ्कल्पनात्मकम् ।
वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥ ३ ॥
ब्रह्मात्मैष स्वसङ्कल्पं स्वमण्डमकरोद्द्विधा ।
तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहङ्गवत् ॥ ४ ॥
अण्डस्यैकं नभोदूरं गतं संबुद्धवानसौ ।
भुवोऽधःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्मना ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रकम् ॥ ६ ॥

आदि, मध्य और अन्तसे रहित चिदाकाश ही उसका स्वरूप है, यह आप कैसे जानते हैं, इसपर कहते हैं—'सङ्कल्परहितो' इत्यादिसे ।

चूँकि वह ब्रह्मा अपने सङ्कल्पित ब्रह्माण्ड-शरीरसे बाहर सङ्कल्परहित होकर यानी सङ्कल्प-शून्य साक्षी चिदाकाशमात्र होकर सङ्कल्पनात्मक अपने अण्डको चारों तरफ देखता है । वास्तवमें तो वह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशमय चिदाकाश-रूप ही है ॥ ३ ॥

उस विराडात्माका सिर, पैर और नितम्ब बतलानेके लिए सर्वप्रथम ब्रह्माण्डके ऊपर तथा नीचेके भागको उसका कपाल (खोपड़ी) तथा पैर बतलाते हैं—'ब्रह्मात्मैव' इत्यादिसे ।

लिङ्गसमष्टिके अभिमानी चिदाकार पुष्ट उस ब्रह्मात्माने अपने सङ्कल्परूप सुवर्णमय अण्डका ऐसे दो भाग किया, जैसे अपने पुष्ट अण्डका पक्षी दो भाग करता है ॥ ४ ॥

उस अणुके ऊपरके एक भागको उसने ऊर्ध्वगत आकाश समझ लिया तथा नीचेका भाग जो स्थित था उसे उसने भूलोक मान लिया । अर्थात् उस अणुके दोनों भागमें जो ऊपरका भाग था वही आकाश तथा नीचेका जो भाग था वह पृथ्वी आदि लोक कल्पित हुआ । यद्यपि उस विराट् पुरुषने उन दोनोंमें आकाश तथा भूलोक आदिकी कल्पना की, लेकिन फिर भी अपनेसे अतिरिक्त न तो उसने आकाशकी कल्पना की और न इस भूलोककी ही कल्पना की । ब्रह्माण्डके सबसे ऊपरका जो हिस्सा है वह उस विराट् पुरुषका सिर कहलाता है तथा नीचेका जो हिस्सा है वह उसका पैर कहा जाता है एवं इन दोनोंके

दूरं विमुक्तयोः सन्धिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
अनन्ता व्योमलेखा सा श्यामा शून्येति दृश्यते ॥ ७ ॥

द्यौस्तालुविपुलं तस्य तारारुधिरबिन्दवः ।
संविद्वातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥ ८ ॥

देहान्तःकृमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः ।
लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुषिराण्यस्य देहके ॥ ९ ॥

ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम् ।
जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥ १० ॥

जलैश्चलचलायन्ती सुषिरानेकरन्ध्रिका ।
भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥ ११ ॥

बीचका जो अन्तरिक्ष—आकाश है, वह उस विराट् पुरुषका नितम्ब कहलाता है ॥ ५,६ ॥

बहुत दूर विभक्त हुए उन कपालखण्डोंकी अति विस्तृत जो मध्य सन्धि है वह अनन्त—शून्य श्यामवर्ण आकाशकी रेखाके रूपमें लोगोंको दिखाई देती है ॥ ७ ॥

अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुषका विशाल तालु है, तारागण रुधिरके बिन्दु हैं तथा देहमें सुर, असुर और नर आदि बुद्धि तथा प्राणकी वृत्तियोंके भेद हैं ॥८॥

भूत, प्रेत, पिशाच आदि उसके शरीरके भीतर रहनेवाले रक्त-मांस आदि अपवित्र पदार्थोंके लोलुप ये कीड़े हैं, सूर्य और चन्द्र आदि लोक उसके शरीरके छिद्र हैं तथा याम्यादि नरकके लोकान्तर उसके चक्षु आदि शरीर के नीचेके सूराख हैं ॥ ९ ॥

इस भूमण्डलके नीचेका ब्रह्माण्डखण्ड उसके पैरका विस्तृत तलवा है और नीचे जो पाताल गर्त हैं वे उसके जानुमण्डलके छिद्र हैं ॥ १० ॥

जलोंसे चलायमान सूराखोंसे पूर्ण, अनेक छिद्रोंवाली, काम, रोग, जरा, मरण आदिसे व्याकुल तथा सातों समुद्र एवं सभी द्वीप जिसके वेष्टन हैं—करधनी एवं कटिसूत्रकी जगहपर हैं, ऐसी पृथिवी उस विराट् पुरुषकी मध्यस्थ वस्ति, जाँघ एवं नितम्बमण्डली है ॥ ११ ॥

जलैर्गुडगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः ।
जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम् ॥ १२ ॥
कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्लीहादयोऽचलाः ।
मृद्व्यः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जालिका घनाः ॥ १३ ॥
चन्द्राकौं लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम् ।
तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥ १४ ॥
अग्निलोकस्तथौर्वाग्निः पित्तमस्यातिदुःसहम् ।
वातस्कन्धमहावाताः प्राणापाना हृदि स्थिताः ॥ १५ ॥
कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च क्वचित् ।
लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तमुरुमस्तकम् ।
ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता ॥ १७ ॥

जलोंसे गुड़-गुड़ शब्द करनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ी हैं तथा नदियोंका जल उसके शरीरका रस है और हेमाद्रिकर्णिकासहित जम्बूद्वीप उसका हृदयकमल है ॥ १२ ॥

शून्य दिशाएँ उसके कुक्षिभाग हैं, सभी पर्वत उसके यकृत्-प्लीहादि हैं और मेघसमूह उसके कोमल तथा चिकने पटाकार चर्बीके समूह हैं ॥ १३ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, ब्रह्मलोक उसका मुख कहा गया है, सोम उसका वीर्य तथा हिमालयपर्वत श्लेष्मा (कफ) कहा गया है ॥ १४ ॥

अग्निलोक तथा पृथिवीके अन्दरकी अग्नि इसका अतिदुःसह पित्त है। वातस्कन्धोंमें प्रसिद्ध जो आवह, निवह, प्रवह आदि महावात हैं वे इसके हृदयमें स्थित प्राण और अपान हैं ॥ १५ ॥

कल्पवृक्षोंके वन, पाताल आदिमें प्रसिद्ध साँपोंके झुण्ड तथा वन एवं उपवन इस विराट् पुरुषके अनन्त रोम हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डके खण्डका सम्पूर्ण ऊर्ध्वभाग इसका विशाल मस्तक है। ब्रह्माण्डके ऊर्ध्वप्रान्तके छिद्र प्रसिद्ध दीप्त ज्योति ही इसकी प्रदीप्त शिखा खड़ी है* ॥१७॥

---

* देखिये यह श्रुति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु'।

स्वयमेष मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते ।
आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः ॥ १८ ॥
स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्राऽस्तिता कृता ।
यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल ॥ १९ ॥
अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः ।
न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः ॥ २० ॥
तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचित् ।
सङ्कल्पा एव पुंवृत्त्या चलन्त्यारुपितद्विताः ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने विराट् शरीरकी कल्पना करनेवाले उस विराट् पुरुषका कौन मन और कौन इन्द्रियां हैं, इसपर कहते हैं—'स्वयमेष' इत्यादिसे ।

चूँकि समस्त समष्टि मनके आत्मा ये विधाता स्वयं मनरूप ही हैं, इसलिए इनकी सभी कल्पनाओंमें किसी दूसरे मनका इन्हें उपयोग नहीं करना पड़ता । मनरूप विधाताको भी किसी दूसरे मनकी आवश्यकता होनेपर अनवस्था हो जायगी । जब यह निश्चित है कि एकमात्र आत्मा ही भोक्तृताको प्राप्त होता है तब भला किसका * कहांसे कैसे संभव हो ॥ १८ ॥

इसी तरह इन्हें इन्द्रियोंका भी उपयोग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे स्वयं इन्द्रियरूप हैं । इसलिए इन इन्द्रियोंकी अस्तित्व इनसे अन्योंमें—हम लोगोंमें कल्पित है । और वे सब इन्द्रियां वस्तुतः एकमात्र कल्पनारूप ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है † ॥ १९ ॥

तब इन्द्रिय और मनमें भेदव्यवहार क्यों होता है, इसपर कहते हैं—'अवयवा०' इत्यादिसे ।

अवयव और अवयवीके सदृश एक शरीरधारी इन्द्रिय और चित्त (मन) में तनिक भी भेद नहीं है, इन दोनोंमें एकता ही है ॥ २० ॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण जगत्की क्रिया भी उसीकी क्रिया है, इसलिए क्रियाके विषयमें अलग प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

---

* अर्थात् मनका ।

† इन्द्रियोंकी कल्पनामें इन्द्रिय ही निमित्त हैं, ऐसा तो कभी कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा माननेपर अनवस्था होने लगेगी, यह तात्पर्य है ।

जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी ।
स एवेदं जगत्यस्मात्सङ्कल्पात्मास्य नेतरत् ॥ २२ ॥
तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगत्मृतम् ।
यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः ॥ २३ ॥
जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव ।
जगद्यत्स विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ॥ २४ ॥
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
सङ्कल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्व्योमरूपिणः ॥ २५ ॥

संसारके जो कुछ कार्य हैं वे सबके सब एकमात्र उसीके कार्य हैं अर्थात् संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ उसीकी क्रिया हैं, क्योंकि ब्रह्मके सङ्कल्प ही सब जीवोंके रूपसे अपनेमें भेदका आरोप करके जगत्के समस्त व्यवहारके रूपमें चलते हैं ॥ २१ ॥

तब तो हम लोगोंका मरण और जन्म भी उसीका मरण और जन्म है। ऐसी स्थितिमें द्विपरार्ध कालतक उसके जीवनकी जो प्रसिद्धि है, उसमें विरोध होने लगेगा, इस आशङ्कापर कहते हैं—'जागते' इत्यादिसे।

समष्टि जगत्के यानी समस्त जगत्के जन्म और मरणको ही उस ब्रह्मका जन्म और मरण समझना चाहिए, हमारे-जैसे व्यक्तिविशेषके जन्म और मरणको उस ब्रह्मका जन्म और मरण नहीं जानना चाहिए, क्योंकि जगत्में समष्टिरूप वही है तथा हम लोगोंका जो सङ्कल्प है तद्रूप भी वही है। उस ब्रह्मका समष्टि तथा व्यष्टिसे अतिरिक्त और कोई दूसरा रूप ही नहीं है ॥ २२ ॥

क्यों यह सब कुछ ब्रह्म ही है ? इसपर कहते हैं—'तत्सत्तया' इत्यादिसे।

उसकी सत्तासे जगत्की सत्ता तथा उसके मरणसे यानी अभावसे जगत्का मरण यानी अभाव है। जैसी स्पन्द और वायुकी सत्ता एक है वैसी ही ब्रह्म और जगत्की सत्ता एक है ॥ २३ ॥

वायु और उसके स्पन्दके समान जगत् और विराट् पुरुषकी सत्ता एक ही है। जो जगत् है वही विराट् है और जो विराट् है वही जगत् कहा गया है ॥ २४ ॥

जगत्, ब्रह्मा और विराट्—ये तीनों एक अर्थके वाचक शब्द हैं तथा

श्रीराम उवाच

सङ्कल्पात्स विराडेव खमेवाकृतिमागतम् ।
अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम् ।
तथास्ते निजदेहेऽन्तः सङ्कल्पात्मा पितामहः ॥ २७ ॥
नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे ।
उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥ २८ ॥

ये दोनों यानी विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाशरूप परमात्माके सङ्कल्प-मात्र ही हैं * ॥ २५ ॥

'अस्तु नाम' यहाँतकके पदसे महाराज वसिष्ठजीका कथन स्वीकार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अवशिष्ट प्रश्नका स्मरण कराते हैं—'सङ्कल्पात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सङ्कल्पसे चिदाकाशरूप वह विराट् ही साकारताको प्राप्त हुआ, यह तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु कृपाकर यह कहिये कि वह ब्रह्मा अपने शरीरके भीतर रहते कैसे हैं * ॥ २६ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मानसपूजा करते समय ध्यान लगाकर हृदयमें कल्पित रत्नमण्डपके भीतर स्थित देवमें प्रविष्ट होकर उस देवताकी छत्र, चामर, व्यजन, दर्पण, ताम्बूल आदिसे परिचर्या कर रहे अपनेको उस देवताके समीपमें स्थित जैसे आप अनुभव करते हैं, वैसे ही सङ्कल्पस्वरूप पितामह भी अपने शरीरके भीतर स्थित रहते हैं ॥ २७ ॥

किंच, स्थूल देहात्मक अपने हृदयपुण्डरीकमें लिङ्गदेहात्मक अपनी अवस्थिति सभी विवेकियोंको अनुभवसिद्ध है, यह कहते हैं—'नृणाम्' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषोंका जीव अपने स्थूल शरीरके भीतर हृदयपुण्डरीकमें अवस्थित रहता है । वह सबकी देह उत्पन्न हुई प्रतिमा-जैसी है, यही कारण है कि दर्पणके अन्तर्गत प्रतिबिम्बके सदृश वे ब्रह्माजी हैं ॥ २८ ॥

---

* 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध जो सङ्कल्प है वह भी तो चित्स्वरूप ही है, इसलिए बहुत छान-बीन करनेपर भी हमें एकमात्र ब्रह्म ही शेष मिलता है ।

* अर्थात् 'कथं वासोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इस मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये ।

यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम् ।
सङ्कल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यति ॥ २९ ॥

बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थे यत्र जङ्गमः ।
किं नास्ते तत्र देहेन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥ ३० ॥

साकारो गगनात्माऽस्तु निराकारं खमस्तु वा ।
आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥ ३१ ॥

आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः ।
अहं त्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥ ३२ ॥

कैमुतिक न्यायसे अपने शरीरके अन्दर विधाताकी स्थिति बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जब कि आप भी अपने स्थूल शरीरके भीतर अपनी स्थिति भलीभाँति कर सकते हैं, तब भला सर्वसमर्थ सङ्कल्पात्मा ब्रह्मदेव अपनी स्थिति क्यों नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

जब स्थावरोंमें भी अपने बीजसे अन्य शरीर धारण करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है, तब भला सर्वशक्तिसम्पन्न चितिकी कल्पनारूप ब्रह्ममूर्तिके विषयमें क्या कहना है, यह कहते हैं—'बीजान्तः' इत्यादिसे ।

जब स्थावर पदार्थ भी बीजके भीतर स्थित रहते हैं तब भला जंगम सर्वशक्तिमान् ब्रह्माजी अपनी देहके भीतर क्यों नहीं स्थित रह सकते, जो स्वयं चितिकी कल्पनारूप हैं ॥ ३० ॥

ऐसी स्थितिमें ब्रह्माजी चाहे ब्रह्माण्डाकारसे साकार होते हुए भी चिदाकाशस्वरूप बने रहें अथवा समष्टि मनके रूपसे निराकार चिदाकाशस्वरूप स्थित रहें, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि वे दोनों पक्षमें बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । बाह्य तथा आभ्यन्तर जो कल्पनाएँ हैं वे दोनों ही स्वरूपसे बाहर स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं अर्थात् इन्हींका भेद होता है, आन्तर सद्रूपकी जो आपने कल्पनाकर रखी है उसका भेद नहीं होता ॥ ३१ ॥

अच्छा तो वह विराट् पुरुष बाहर और भीतर किस प्रकारका है और वस्तुतः किस स्वभावमें वह स्थित रहता है, यह कहते हैं—'आत्मारामः' इत्यादिसे ।

आवेष्टितोज्झितलतातृणदारुपुंव-
द्रुच्छन्दमम्बुरयवच्च विरोपिताङ्गः।
नानाविधेऽपि विहरन्नपि कार्यजाले
तज्ज्ञः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥



वही विराट् पुरुष बाहर ब्रह्माण्डरूपसे स्थित है तथा भीतर 'अहं, त्वम्' इत्यादि व्यष्टि एवं समष्टिभूतभौतिकमय है। लेकिन अपने स्वरूपमें तो आत्माराम होकर भी वह काष्ठवत् मौनी तथा पत्थरके समान जड़ होकर भी वस्तुतः वह चिदेकरसरूप होनेके कारण जडरूपसे स्थित नहीं है ॥ ३२ ॥

केवल ऐसी स्थिति विराट् पुरुषकी ही है, यह बात नहीं है, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानियोंकी भी ऐसी ही स्थिति है, यह दिखलानेके लिए उसी स्थितिका दृष्टान्तों द्वारा साफ-साफ वर्णन करते हैं—'आवेष्टित०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, न केवल विराट् पुरुष, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानी पुरुष लता, तृण, काष्ठपुरुष या प्रतिमाके समान पहले रज्जु आदिसे आबद्ध हो पुनः मुक्त हो जानेपर भी कुपित नहीं होते, बल्कि चुपचाप स्थित रहते हैं तथा जलके प्रवाहके सदृश अवरुद्ध और छिन्न-भिन्न अङ्ग होनेपर भी अपनी प्राक्तन शान्त स्थितिको नहीं छोड़ते एवं नाना प्रकारके कार्यसमूहमें विहार करते हुए भी शिलाके उदरके समान क्रोधादिरहित शान्तचित्त ही स्थित रहते हैं—क्रोध, हर्ष, विषाद आदिसे तनिक भी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥ ३३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाग्रस्थब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।
निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमग्रतः ॥ १ ॥
द्वितीयमर्कं मध्याह्ने पश्चादभ्युदितं स्फुटम् ।
दिग्दाहमिव दिग्वक्त्रे वनदाहमिवाचले ॥ २ ॥
वह्निलोकमिव व्योम्नि वडवाग्निमिवार्णवे ।
ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिङ्मुखे ॥ ३ ॥
सूर्यं याम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुब्मुखे ।
सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिङ्मुखे ॥ ४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माके ध्यानमें तत्पर होनेपर बारह सूर्योंकी उत्पत्ति तथा सारे संसारको जला रही प्रलयाग्निका वर्णन]

प्रासङ्गिक प्रश्नको समाप्तकर अब एकमात्र प्रस्तुत आख्यायिकाका अनुसन्धान करते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब ब्रह्मदेव ध्यानमें लवलीन हो गये तब इन्द्रके सहित उनके नगर तथा सुमेरु पर्वतके शिखरपत्तन देखनेके बाद मैंने धीरेसे दिशाओंकी ओर अपनी आँखें दौड़ायीं, तब मैंने अपने सामने पश्चिम दिशाकी ओर साफ उदित हुए—दिशाओंके मुंहमें दाहके सदृश तथा पर्वतके ऊपर वनदाहके समान, मध्याह्नकालके सूर्यसे भिन्न एक दूसरे ही सूर्य भगवान्‌को देखा ॥ १, २ ॥

इसके बाद आकाशमें अग्निलोकके तुल्य तथा सागरमें वडवानलके समान प्रदीप्त हुए एक और सूर्यको मैंने नैर्ऋत्यदिशामें उदित देखा ॥ ३ ॥

तदनन्तर दक्षिण दिशामें, उसके बाद अग्निकोणमें, फिर पूर्वदिशाकी ओर, उसके बाद पुनः मैंने ईशानकोणमें उदित हुए—इस तरह भिन्न-भिन्न सूर्य मैंने देखे ॥ ४ ॥

कुबेरकुकुभि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्तटे ।
सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥ ५ ॥
यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम् ।
उदभूद्भूतलात्तावदर्कं और्वं इवार्णवात् ॥ ६ ॥
एकादशेऽखिलार्काणां प्रतिबिम्बमिवोत्थितम् ।
उदभूत्त्रयमर्कानामन्तरे दिग्गणाम्बरे ॥ ७ ॥
तद्धि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम् ।
तद्द्वादशपरीमाणं दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥ ८ ॥
सर्वदिक्कं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवाऽनलः ।
अथोदभूज्जगत्खण्डशोषणग्रीष्मवासरः ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद उत्तरदिशामें, वायव्यकोणमें तथा पश्चिम-दिशामें भिन्न-भिन्न सूर्यदेव भगवान्‌को देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया ॥ ५ ॥

इतनेमें व्याकुल होकर ज्यों ही मैं दैवकी प्रतिकूलताको विचारने लगा त्यों ही झट भूतलसे सूर्य ऐसे प्रादुर्भूत हुआ, जैसे सागरसे और्व—वड़वानल ॥ ६ ॥

दिग्गणोंके मध्याकाशमें ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ । उस ग्यारहवें सूर्यमें, दर्पणमें प्रादुर्भूत हुए प्रतिबिम्बकी तरह, तीन अन्य सूर्य उदित हुए * ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस ग्यारहवें सूर्यमें वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्रके शरीर हैं । उस भगवान् रुद्रके शरीरके मध्यमें तीन नेत्र हैं । बारह सूर्योंके आकारके बराबर परिमाणवाला प्रदीप्त सूर्योंका समूह होकर वह रौद्र शरीर सभी दिशाओंको खूब जोरसे ऐसे जलाने लगा, जैसे सूखे जंगलको अग्नि । तदनन्तर जगत्खण्डको शुष्क बना देनेवाला ग्रीष्म ऋतुका दिन प्रकट हुआ ॥ ८, ९ ॥

* दसों दिशाओंके बीचमें उदित हुए सूर्यके अन्दर उदित तीन सूर्यस्वरूप एक ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक रुद्रका यह एक रौद्र शरीर है । वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं भार्गः' इस गायत्रीसे प्रकाशित होता है । एकमात्र यही कारण है कि वह चौबीस अक्षरोंसे प्रसूत चौबीस हजार श्लोकोंके पूर्वरामायणके सारसंग्रहस्वरूप आदित्यहृदयमें 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इस श्लोकसे तीन मूर्तियोंके मूलभूत परमशिवके रूपसे नमस्कृत हुआ है, सभी विद्वान् लोग उसीको सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव कहते हैं, यह एक ज्ञातव्यविषय है ।

अनग्निरग्निदाहो द्रागदृश्योल्मुकगुल्मकः ।
अनग्निनाऽग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥ १० ॥

अङ्गानि दावदग्धानि खिन्नानीव ममाभवन् ।
प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारूढवानहम् ॥ ११ ॥

दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकवन्नभः ।
अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं चण्डतेजसम् ॥ १२ ॥

तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्वपि ।
बृहच्चत्र सतारावज्ज्वालेत्र भगणं चलम् ॥ १३ ॥

महाकुहकुहाशब्दं क्वथत्सप्ताब्धिडम्बरम् ।
सज्वालोल्मुल्कनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥ १४ ॥

ज्वालाघनपटाटोपसिन्दूरीकृतपर्वतम् ।
दीप्यमानमहागारस्थिरविद्युत्ककुत्पटम् ॥ १५ ॥

हे कमलनयन, इसके बाद झट बिना अग्निके ही अग्निका दाह तथा अदृश्य उल्मुकोंके गुल्मक उत्पन्न हुए। अग्निरहित उस सौराग्निके दाहसे मेरे सभी अङ्ग दावाग्निसे दग्ध अतएव खिन्न-से हो गये। उसके बाद उस प्रदेशको छोड़कर मैं बहुत दूर आकाशमें आरूढ़ हो गया ॥ १०, ११ ॥

और प्रबल हथेलीके आघातसे मारे जा रहे गेंदकी तरह आकाशमें जाकर वहाँ स्थित हो मैंने उदित हुए प्रचण्डतेजयुक्त तप रहे बारह सूर्यसमूहको दसों दिशाओंमें भी देखा। तथा उन दिशाओंमे तारोंके सहित आकाशको व्याप्त कर देनेवाली ज्वालाके समान चंचल वर्तुलाकार बृहत् नक्षत्रचक्र देखा ॥१२,१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ मैंने महाकुहकुह शब्दोंसे युक्त सातों समुद्रको खूब खौलाकर काढ़ा बना रहे तथा ज्वालासहित उल्मुकोंसे सारे लोक और समस्त नगरोंके भीतरी भागको अच्छी तरह परिपूर्ण कर देनेवाले बारह सूर्य-समूहको देखा ॥ १४ ॥

उस सूर्यमण्डलने ज्वालासदृश घन रक्तवस्त्राडम्बरोंसे सारे पर्वतोंको सिन्दूरी रङ्गका कर दिया था तथा देदीप्यमान लोकपालोंके घरोंमें स्थिर बिजलीकी तरह उसने समस्त दिशामण्डलको बना दिया था ॥ १५ ॥

स्फुरत्कटकटाटोपचटत्पत्तनमण्डलम् ।
विदधद् भूतलोद्भूतधूमदण्डैः शिलाघनैः ॥ १६ ॥

काचस्तम्भसहस्राढ्यं भुवनस्थानमण्डपम् ।
क्वथद्भूतमहाभूतताराक्रन्दातिघर्घरम् ॥ १७ ॥

भूतलोकपुरापातस्फुटच्चटचटोद्भटम् ।
ताराविसरणोद्घातघृष्टरत्नधरातलम् ॥ १८ ॥

सर्वस्थलालयचलद्दह्यमानजनव्रजम् ।
क्षीणाक्रन्दक्वथद्भूतगणदुर्वासदिक्तटम् ॥ १९ ॥

उत्तप्ताम्बुदराखिन्नजलेचरमहार्णवम् ।
सर्वदिक्कानलप्लोषक्षीणाक्रन्दपुरान्तरम् ॥ २० ॥

चट-चट शब्द करते हुए नगरोंके मण्डलको उसने स्फुरित हो रहे कट-कट शब्दोंके आडम्बरोंसे युक्त कर दिया था। शिलाके समान घनीभूत, भूतलपर उद्भूत हुए दण्डाकार धूमोंसे भुवनस्थानमण्डलको हजारों काचके खम्भोंसे वह परिपूर्ण बना रहा था। क्वाथरूपमें परिणत हो रहे समस्त प्राणियों तथा पृथिवी आदि महाभूतोंके ऊँचे आक्रन्दनसे उसमें अतिघर्घर शब्द हो रहा था ॥ १६, १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह बारह आदित्योंका मण्डल, जिसका मैंने अवलोकन किया, चारों ओरसे समस्त प्राणियोंके लोकों एवं उनके अन्तर्गत नगरोंके पतनसे फट रहे पदार्थोंके चटचटाशब्दोंसे उद्भट—प्रचण्ड था। अश्विनी आदि तारा-समूहोंके पतनके अभिघातोंसे धरातलके रत्नोंको वह घिस रहा था ॥ १८ ॥

सभी स्थानोंमें अपने-अपने घरोंके भीतर उसके तापसे जल रहा जन-समुदाय इधर-उधर जोरोंसे भाग रहा था। मरे हुए तथा आक्रन्दनपूर्वक खूब पकाये जा रहे प्राणिसमुदायसे वह सारे दिक्तटोंको दुर्गन्धयुक्त बना रहा था ॥ १९ ॥

सारे महासागरोंके जलजन्तुओंको, जो उनके उदरमें रह रहे थे, सन्तप्त हुए जलोंसे व्याकुल कर रहा था। सारी दिशाओंमें व्याप्त अग्निके दाहसे उसने भिन्न-भिन्न अनेक नगरोंके प्राणियोंको मारकर उन्हें रोदनसे शून्य बना रहा था—उनमें रोनेवाला कोई एक भी प्राणी न रह जाय, ऐसा उन्हें कर रहा था ॥ २० ॥

विदलद्दग्धदिग्दन्तिदन्तोत्तम्भितभूधरम् ।
धराधरदरीरन्ध्रधूममण्डलकुण्डलम् ॥ २१ ॥
पतत्पर्वतनिष्पिष्टप्लुष्टपत्तनमण्डलम् ।
पचत्पचपचाशब्दशब्दिताद्रीन्द्रकुञ्जरम् ॥ २२ ॥
तापतप्तोन्नमद्भूतज्वरितार्णवपर्वतम् ।
हृदयस्फोटनिःसारपतद्विद्याधराङ्गनम् ॥ २३ ॥
आक्रन्दरोदनश्रान्तमूर्द्धनिःसरणामरम् ।
नाकलोकज्वलज्ज्वालापातालोत्तप्तभूतलम् ॥ २४ ॥
शुष्कार्णवसदापक्वविवर्तोग्रजलेचरम् ।
और्वेणाबिन्धनाभावात्प्रोड्डीयेव सहस्रधा ।
गतेन नृत्यतोत्थाय गृहीतगगनाङ्गनम् ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने बारह आदित्योंका वह समुदाय देखा, जो विदलित हो रहे तथा दग्ध हो चुके दिग्गजोंके दाँतोंरूपी खम्भोंसे दिगन्तपर्वतोंको अग्रभागमें धारण करा रहा था तथा पर्वतोंकी कन्दराओंके छिद्रोंको धूममण्डलोंसे कुण्डलमय बना रहा था यानी परिपूर्ण कर रहा था ॥ २१ ॥

वह जले हुए नगरोंके मण्डलोंको गिर रहे पर्वतोंके द्वारा पीस-पीसकर खूब चूर्णरूपमें परिणत कर रहा था और पचपच शब्दोंसे शब्दमय हो रहे महापर्वतोंके हाथियोंको वह खूब पकानेमें संलग्न था ॥ २२ ॥

सन्तापसे सन्तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों द्वारा सभी सागरों एवं पर्वतोंको वह ऐसा बना रहा था, मानो उन्हें ज्वर आ गया हो। हृदय फटनेसे सारहीन हो जानेके कारण विद्याधरों एवं उनकी अङ्गनाओंको गिरानेमें वह बराबर तत्पर हो रहा था ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय कुछ लोग जोर-शोरसे खूब चिल्लाने तथा रोनेसे थक गये थे एवं कुछ योगी लोग उस समय ब्रह्मरन्ध्रको फाड़कर उसके द्वारा अपने प्राणोंको निकाल देनेसे अमर भी हो चुके थे। स्वर्गलोकमें जलती हुई ज्वालाओं द्वारा पातालपर्यन्त सारा भूतल उस समय खूब सन्तप्त हो रहा था ॥ २४ ॥

सूखे समुद्रोंमें उसके द्वारा लगातार सदा पकते रहनेके कारण नक्र आदि

अथोदभूज्ज्वलज्ज्वालाकिंशुकांशुकशोभितः ॥ २६ ॥
ताण्डवायेव कल्पाग्निस्तरलोल्मुकमाल्यवान् ।
तारं पटपटाटोपी रटद्भट इवोद्भटः ॥ २७ ॥
ज्वालोद्भुजो धूमकचो जगज्जीर्णकुटीनटः ।
जज्वलुर्वनजालानि पुराणि नगराणि च ॥ २८ ॥
मण्डलद्वीपदुर्गाणि जङ्गलानि स्थलानि च ।
सर्वखानि महाकाशमाशा दश दिवः शिरः ॥ २९ ॥
श्वभ्ररूपारघट्टाढ्यपट्टनोदारदिक्तटः ।
शृङ्गाणि सिद्धवृन्दानि गिरयः सागरार्णवाः ॥ ३० ॥

जल-जन्तु परस्पर खूब टक्कर खा रहे थे, इसलिए वे सबके सब देखनेमें उस समय बड़े भीषण प्रतीत हो रहे थे। जलरूपी इन्धन न मिलनेसे वड़वानल मानो उड़कर स्वयं आकाशमें चला गया। वहाँ पहुँचते ही हजारों तरहसे नृत्य करते हुए उसने अप्सराओंको जिससे उछलकर पकड़ लिया, वह बारह आदित्योंका मण्डल मैंने वहाँ देखा ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर प्रलयाग्निरूपी नट जगद्रूपी जीर्ण कुटीमें ताण्डव नृत्य करनेको तैयार हो गया वह जल रही ज्वालारूपी किंशुक पुष्पके वर्णकी तरह वस्त्रोंसे सुशोभित था, बड़े वेगसे फट रहे बाँस आदिके कारण पटपट आदि शब्दोंके आडम्बरसे युक्त था यानी वह उनसे नाना तरहके बाजोंका आडम्बर रखनेवाला था। चंचल उल्मुकरूप माला पहिने हुए था, प्रचण्ड एवं वीरोचित शब्दोच्चारण कर रहे भटकी तरह अलङ्कृत दीखता था, प्रज्वलित ज्वाला-रूपी अपनी लम्बी भुजाओंसे समन्वित तथा धूमरूपी केशोंसे वह विभूषित था। उस प्रलयकी अग्निसे वनोंके समूह, ग्राम, समस्त नगर, मण्डलोंके द्वीप-दुर्ग, जंगल, स्थल, पाताल आदि पृथिवीके समस्त छिद्र, पृथिवीके ऊपरका महाकाश, दसों दिशाएँ, भूलोकके ऊपरका हिस्सा—ये सबके सब जलने लगे ॥२६–२९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कहीं सुन्दर गर्तोंसे शोभित, कहींपर अरघट्टयन्त्रोंसे अलंकृत तथा कहीं ऊँची अट्टालिकाओंसे युक्त अनेक नगरोंसे रमणीय दिशाओंका तट, पर्वतोंके शिखर, उन शिखरोंपर बास करनेवाले सिद्धोंके समूह, उन सिद्ध समूहोंसे युक्त अनेक पर्वत, सागर, महासागर, तालाब, तलैया, नदी, देव, असुर, नर, उरग

सरः सरस्यः सरितो देवासुरनरोरगाः ।
आशाः शनशनाशब्दैः पुरुषैश्च शिवार्चिषाम् ॥ ३१ ॥
आसन् क्ष्वेडाकुराक्षस्यो ज्वालाजालोज्ज्वलोर्ध्वजाः ।
भमझमिति भाङ्कारैर्भीषणैर्भूरिभस्मभिः ॥ ३२ ॥
ज्वालाः श्वभ्राद्रिभूमीनां गुहाभ्यः परिनिर्ययुः ।
ज्वालोदरस्था अरुणाः समस्ता भूतजातयः ॥ ३३ ॥
स्थलपद्मोदरालीनामाजह्रुः श्रियमश्रियः ।
सद्यो निःसृतरक्ताभैः सिन्दूराम्भोदसुन्दरैः ॥ ३४ ॥
धगद्धगिति गायद्भिर्ज्वालाजालैर्जगद्गतैः ।
आसीद्रक्तांशुकैः कीर्णं सन्ध्याभ्रैरिव वा नभः ॥ ३५ ॥

(सर्प) और पुरुषोंके साथ सभी दिशाएँ—ये सबके सब भगवान् रुद्रके नेत्रोंकी ज्वालाओंके शनशना शब्दोंसे जलने लगे ॥ ३०, ३१ ॥

भंभं भांकार भयंकर शब्दोंसे बहुत ज्यादा धूलि फेंकती हुई ये सभी दिशाएँ, दुष्ट राक्षसियोंकी तरह, परस्पर धूलि एवं जल फेंक-फेंककर क्रीडा करनेमें तत्पर हो गईं, ये सभी अपने मस्तकके ऊपर ज्वाला-समूहोंसे उज्ज्वल केश धारण किये हुए थीं यानी ज्वालाजालरूपी चमकीले केश इनके माथेपर विराजमान थे ॥ ३२ ॥

उत्तम गर्तोंसे युक्त पर्वतभूमियोंकी गुफाओंसे ज्वालाएँ खूब निकलने लगीं। उन ज्वालाओंके उदरमें स्थित समस्तभूत जातियाँ लाल रङ्गकी हो गईं ॥३३॥

सम्पत्तिरहित उन सब दिशाओंने तत्काल निकले हुए रक्तके सदृश ज्वाला-जालोंसे, जो सिन्दूरी रङ्गके मेघोंकी तरह सुन्दर थे, स्थल कमलके उदरमें लीन शोभाको धारण किया। धक्-धक् शब्दोंसे गाते हुए सारे संसारमें व्याप्त ज्वालाओंके जालोंसे आकाश मानो रक्त वस्त्रोंसे या सन्ध्याकालीन मेघोंसे आकीर्ण हो गया। अथवा यह भी कह सकते हैं कि ज्वालासमूहोंसे आवृत वह सारा आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उड़कर वहाँ चले गये विकसित किंशुकके वनोंसे ढँका हो। हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी ही दशा सम्पूर्ण सागरोंकी भी हो गई, बड़वानलसे संवृत्त सारे सागर भी ऐसे हो गये, मानो उनमें अशोकके वन खिल गये हों, या

उत्फुल्लकिंशुकवनैरुड्डीनैरिव वाऽऽवृतम् ।
और्वेण चाऽऽवृता आसन् फुल्लाशोकवना इव ।
इव स्थलाब्जवलिता रविरा इव चार्णवाः ॥ ३६ ॥
नानावर्णज्वलज्ज्वालाधूमविन्यास बन्धवान् ।
रूढं वह्निमिवाधातुं चित्रसौधतलाश्रयम् ॥ ३७ ॥
अनन्त इव विन्यासवनयौवनपावकः ।
उदयास्तमयादिभ्यो विन्ध्यो विधुरतामगात् ॥ ३८ ॥
अङ्गारकल्पविटपैर्ज्वालावनविवल्गनैः ।
शनैरीषदिव क्षुब्धैः सह्योऽसह्यत्वमाययौ ॥ ३९ ॥
मध्यमध्यकचत्कार्ण्यभ्रमद्धूमालिमालितम् ।
वलज्ज्वालाब्जमलिनं दृष्टं सर इवाम्बरम् ॥ ४० ॥
खेऽद्रीणां शिखरे व्योम्नि शिखाशिखरशेखराः ।
ननृतुर्नीरसा नाशनर्तक्यः केतुकुन्तलाः ॥ ४१ ॥

स्थल कमलोंसे वे संवलित हो गये हैं। अथवा प्रातःकालीन सूर्यके समूहोंसे वे व्याप्त हो चुके हों ॥ ३४–३६ ॥

युवावस्थाको प्राप्त दावानल चित्रलिखित कोठोंपरकी मिथ्या अग्निको मानो यथार्थ अग्नि बनानेके लिए नाना वर्णोंकी प्रज्वलित हो रही ज्वालाओं तथा धूम-विन्यासोंकी श्रेणिवाला होता हुआ, हजार फणाओंकी श्रेणिवाले सर्पराजके समान, विस्तारको प्राप्त हो गया, अनेक सूर्योंके उदय और अस्तमय आदिसे विन्ध्याचल भी विधुरताको प्राप्त हो गया ॥ ३७, ३८ ॥

तथा दक्षिण देशमें प्रसिद्ध सह्यनामक पर्वत भी ज्वालायुक्त वनोंकी गर्जना-सहित अङ्गारके समान क्षुब्ध हुए विटपोंसे कुछ धीरेसे मानो असह्यताको प्राप्त हो गया ॥ ३९ ॥

बीच-बीचमें जिनकी कुछ कालिमा प्रकाशित हो जाती थी ऐसे धूमरूपी भ्रमरोंसे मालित तथा धूमसंवलित ज्वालारूपी कमलोंसे मलिन हुआ आकाश सरोवरके तुल्य देखा गया ॥ ४० ॥

ज्वालारूपी चूड़ामणिसे अलङ्कृत तथा धूमोंके आवर्त एवं धूमकेतु नामक उत्पातविशेषरूपी केशपाशोंसे भूषित मृत्युरूपी नर्तकी (वेश्याएँ) पर्वतोंकी

तलाहितानलज्वाला ब्रह्माण्डोर्ध्वकपाटभूः ।
सर्जनप्रोत्पतद्भूतधानौघा भ्राष्ट्रभूमिका ॥ ४२ ॥
कणच्छ्रेणी मृज्जलाग्निर्नानावर्णाननारुणा ।
हृत्प्रकोष्ठे जगल्लक्ष्म्याः सौवर्णीवाभवत्तदा ॥ ४३ ॥
शैलाश्चटचटास्फोटैर्वृक्षाः कटकटारवैः ।
देशा हलहलोल्लासैरलं विदलनं ययुः ॥ ४४ ॥
अब्धयः क्वथिताकाराः फेनिलोल्लासमांसलाः ।
वीचीकरतलाघातांश्चक्रुरर्कमुखे मुखे ॥ ४५ ॥
अन्योन्यवेल्लितोल्लोलभूतलाकारपर्वतम् ।
जह्रुर्वीचीकरैर्देहं जडाः प्रकुपिता इव ॥ ४६ ॥

कन्दराओं तथा शिखरोंपर एवं पर्वतादिसे शून्य आकाशप्रदेशमें भी करुणादि रससे शून्य होकर नाचने लगीं ॥ ४१ ॥

ब्रह्माण्डका ऊर्ध्वभाग ही जिसका कपाट है ऐसी पृथिवी अपने अधोभागमें स्थापित अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त होती हुई भाड़की वह खपड़ी तैयार हो गई, जहाँपर भूने जा रहे दानोंकी जगह अत्यन्त क्लेशयुक्त शब्दसहित गिरते हुए एकमात्र प्राणियोंके समूह ही विद्यमान थे ॥ ४२ ॥

उस प्रलयकालमें अपनी छाती पीट-पीट कर रो रही जगत्-लक्ष्मीके हृदयपर स्थापित हुए हाथमें—अनेक द्वीपोंकी खोदी गई मृत्तिकाओं, सातों समुद्ररूपी जलों तथा उनमें व्याप्त अग्नियोंसे, काच एवं उसकी कान्तिसे युक्त सुवर्णकी जगहपर स्थित नानावर्णोंके मुखों एवं मणियोंसे लाल हुई यह पृथिवी सुवर्ण-विरचित मनोहर शब्द कर रहे—कंकणोंकी पंक्ति-सी हो गई ॥ ४३ ॥

उस समय सभी पर्वत चटचटाशब्दों, सभी वृक्ष कटकटाशब्दों तथा सभी देश हलहलाशब्दोंके साथ अच्छी तरह विदलनको प्राप्त हो गये ॥ ४४ ॥

इसी तरह सागर भी मुँह पीट-पीटकर एक तरहसे रोने लग गये, यह उत्प्रेक्षा करते हैं—'अब्धयः' इत्यादिसे ।

क्वथित आकारवाले (जिनके जल खूब खौल गये थे ऐसे) तथा फेनिल होनेके कारण उन फेनोंके उल्लाससे परिपुष्ट हुए सारे समुद्र स्वीय जलमें पड़े सूर्य-प्रतिबिम्बरूप तिलकसे समन्वित अपने मुखमें तरङ्गरूपी करतलोंसे आघात पहुँचाते हुए मानो रोने लग गये तथा पुनः वे सबके सब आपसमें सम्बद्ध होकर तरङ्गोंके

आशाकाशाशिनामेषां गुहागुहगुहारवान् ।
पपाठ शब्द आग्नेयो ज्वालातटतटोद्भवः ॥ ४७ ॥
लोकपालपुरापाततप्ताङ्गारराद्रिभित्तयः ।
दिशो दशापि वैवश्यं ययुरुन्मत्तवृत्तयः ॥ ४८ ॥
काञ्चनद्रवसाद्रीन्द्रद्रुमागारगुहागृहः ।
शनैश्चार्वाकृतिर्मेरुरासीद्धिम इवातपे ॥ ४९ ॥
क्षणेनैवानलात्तस्माद्धिमवान् जतुवद्द्रुतः ।
सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनादिव सज्जनः ॥ ५० ॥

आघातसे मिट्टी तथा पत्थर आदिको बिलकुल बराबर कर देनेके कारण भूतलरूपताको प्राप्त हुए पर्वतका तरङ्गरूपी अपने हाथोंसे ऐसे ग्रास करने लग गये, जैसे कि मूर्ख प्राणी देहमें प्राप्त मिट्टी तथा पत्थर आदिका ग्रास करने लग जाते हैं ॥ ४५, ४६ ॥

कहींपर सारी दिशाओं तथा सारे आकाशको ग्रास कर जानेवाले या उन्हें पूर्ण कर देनेवाले इन सागरोंके गुहामुखसे निकले हुए 'गुहगुह' इस तरहके शब्दोंका प्रदेशान्तरमें गिरितटके संघट्टनसे उत्पन्न अग्निका शब्द पाठ करने लगा यानी अपने गुरुजीके द्वारा कहे गये शब्दोंका अनुकरण जैसे शिष्यध्वनि करती है वैसे ही गुहामुखसे निःसृत 'गुहगुह' शब्दोंका अनुकरण वह आग्नेय शब्द करने लगा ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, और सुनिये—उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी निवृत्तिसे वृष्टिशून्य दसों दिशाएँ भी लोकपालोंके नगरोंके गिरनेसे दाहमें सन्तप्त हुए अंगारोंसे परिपूर्ण पर्वतोंकी भित्तियाँ होती हुई उन्मत्तवृत्ति होकर व्याकुलताको प्राप्त होने लगीं ॥ ४८ ॥

समीपके अनेक पर्वतों, इन्द्र, कल्पद्रुम, आगारों तथा गुहागृहोंके सहित, सुन्दर आकारवाला सुवर्णद्रवरूप सुमेरु पर्वत उस समय धीरेसे ऐसे गल गया, जैसे आतपमें हिम ॥ ४९ ॥

सम्पूर्ण शीतल अन्तःकरणसे युक्त एवं शुद्ध हिमालय पर्वत तो उस प्रलयकी आगसे एक ही क्षणमें लाहके सदृश ऐसे पिघल गया, जैसे दुर्जनसे सज्जन ॥ ५० ॥

तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः ।
आसीत्त्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम् ॥ ५१ ॥
नश्यन्नपि महान् ह्लादं न खेदं सम्प्रयच्छति ।
चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम् ॥ ५२ ॥
न कदाचन संयाति वस्तूत्तममवस्तुताम् ।
प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत् ॥ ५३ ॥
द्वे हेमनभसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले ।
तयोरेव वपुः श्लाघ्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः ॥ ५४ ॥
नभो विभुतयाऽनाशि हेमाऽऽकृष्टतयाऽक्षयम् ।
सत्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस महाभयंकर प्रलयकालीन दशामें भी मलयाचल तो अपने निर्मल सौरभसे युक्त ही स्थित रहा। [इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है,] उदारात्मा महापुरुष तो नाशके समय भी अपने उत्तम गुणको नहीं छोड़ते ॥ ५१ ॥

महान् पुरुष तो नष्ट होते हुए भी आनन्द प्रदान करते हैं, किसीको दुःख नहीं देते, [हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये न,] स्वयं दग्ध होनेपर भी वह चन्दन जीवन धारण कर रहे प्राणियोंके आनन्दके लिए ही ज्यों-का-त्यों स्थित रहा ॥ ५२ ॥

उत्तम वस्तु कभी भी अवस्तुताको यानी निकृष्टताको नहीं प्राप्त होती, [देखिये न] प्रलयकालीन अग्निसे जल रहा भी सोना सर्वथा नाशको नहीं प्राप्त हुआ ॥ ५३ ॥

जो वस्तु कभी नष्ट नहीं होती वही इस जगत्में सार है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिए, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'द्वे हेमनभसी' इत्यादिसे ।

उस प्रलयकालीन अग्निमें सुवर्ण और आकाश ये दो ही नष्ट न हुए। उन्हीं दोनोंका शरीर प्रशंसनीय है, क्योंकि सबका नाश हो जानेपर भी उनका नाश नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

आकाश तो विभु यानी व्यापक होनेसे अविनाशी है और सुवर्ण दोषरहित होनेसे यानी दोषोंसे निचोड़कर शोधितरूप होनेसे अक्षय है। इसलिए हे

चलदुच्चवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ।
दग्धाब्दाद्रिर्महाधूमज्वालोऽभूद्वह्निवारिदः ॥ ५६ ॥
रसविस्मरणार्तानां शून्यानां स्फारदेहिनाम् ।
शुष्काणां व्योमविटपिपत्राणां पात्ररूपिणाम् ॥ ५७ ॥
वारिदानां सवारीणां दग्धानां प्रलयार्चिषा ।
ज्ञस्येवाङ्ग न दोषाणां दृष्टं भस्मापि न क्वचित् ॥ ५८ ॥
न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ।
तावत्तं कल्पकुपितो रुद्रो नेत्राग्निनाऽदहत् ॥ ५९ ॥
दाहस्फुटद्द्रुमस्थूलशिलाचटचटारवाः ।
लकुटोपललोष्टौघैरयुध्यन्तेव भूभृतः ॥ ६० ॥

श्रीरामजी, रज और तमसे निचोड़कर निकाले गये यानी जिसमें रज और तम बिलकुल नहीं है ऐसे शुद्ध एक सत्त्वको ही ब्रह्मसुखकी अभिव्यक्ति होनेसे मैं सब सुखोंका सार समझता हूँ। मैं रज अथवा तमको सुखोंका सार नहीं समझता ॥ ५५ ॥

मेघरूपी पर्वतोंको जलानेवाला महाधूमकी ज्वालासहित प्रलयाग्निरूपी वारिद इधर-उधर चल रहे उच्च जंगलोंकी नाईं आकाशमें स्फुरित होता हुआ बिखरे हुए अङ्गारोंकी वृष्टि करनेवाला हो गया ॥ ५६ ॥

सभी तरहके जलोंके बिलकुल सूख जानेके कारण यानी संस्कारमात्र भी अवशेष न रह जानेके कारण स्मृतिके अभावसे अत्यन्त ही दुःखी, अतः शून्य-स्वरूप विशाल शरीरधारी अण्डज आदि चार तरहके जीवोंका तथा सर्वथा शुष्क हो जानेसे आकाशके वृक्षके पत्तोंके पात्रस्वरूप, प्रलयाग्निकी ज्वालासे दग्ध हुए जलसहित मेघोंका हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए तत्त्वज्ञानीके दोषोंकी नाईं, कहीं भस्म भी न दीख पड़ा ॥ ५७, ५८ ॥

जबतक उल्लसित हुई वह प्रलयाग्नि कैलास पर्वतको न लाँघ सकी, इतनेमें ही कल्पान्तके लिए कुपित हुए रुद्र भगवान्‌ने अपनी नेत्राग्निसे उस कैलासको जला दिया ॥ ५९ ॥

उस दाहका भी वर्णन करते हैं—'दाह०' इत्यादिसे ।

दाहसे तड़कते हुए वृक्षोंके तथा महाशिलाओंके चटचट शब्दोंवाले उस

ज्वालाघनघटाटोपसावतंसचलान्तिमाः ।
बभूवुर्व्योमविकसत्स्थूलपद्मवना इव ॥ ६१ ॥
सर्गः कदाचिदेवासीदित्यगात्स्मरणीयताम् ।
कल्पान्तः स्मारयन्मूर्खानगादस्मरणीयताम् ॥ ६२ ॥
तापोपतापपरमाः परमारणतत्पराः ।
वह्वयोऽपह्नवं चक्रुर्जगतामसतामिव ॥ ६३ ॥
ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गाः
कचदनलोल्मुकगुल्ममण्डलाभाः ।
प्रलयसमयवायवोऽनलान्ता-
द्दलदमरावलयो लये लिहन्तः ॥ ६४ ॥

कैलास पर्वतके नीचेके सभी पर्वत लकुटों तथा पत्थरके ढेलोंके समूहोंसे मानो युद्ध करने लगे—युद्ध करते हुएके समान प्रतीत होने लगे ॥ ६० ॥

और सुनिये—ये सभी पर्वत ज्वालाओंके घनघटाटोपोंसे अवतंससहित चंचल अग्र शिखरोंवाले होते हुए आकाशमें विकसित हो रहे महाकमलोंके अनेकों जंगल-जैसे हो गये ॥ ६१ ॥

'कभी तो सृष्टि अवश्य रही ही होगी' इस प्रकार सृष्टि स्मरणीय दशाको प्राप्त हो गई। मूर्खोंको जगत्की असारताका स्मरण दिलाते हुए कल्पान्त प्रत्यक्ष आ गया ॥ ६२ ॥

ताप और उपतापमें परम यानी सबसे बढ़े-चढ़े तथा दूसरोंको मारनेमें तत्पर प्रलयकालके पवनोंने सम्पूर्ण भुवनोंका, शशशृङ्ग आदि असद्रूप पदार्थोंकी तरह, सर्वथा अत्यन्ताभाव कर दिया ॥ ६३ ॥

उस प्रलयके प्रवृत्त होनेपर वज्रपातोंसे प्राणियोंके अङ्गोंको पीड़ित करनेवाले तथा प्रकाशमान अग्निके उल्मुकोंसे संयुक्त होनेके कारण गुल्म * मण्डलोंके सदृश शोभायमान प्रलयसमयके पवन—देवताओंकी पंक्तियोंको विदलित

* गुल्म—ऐसा पौधा जो एक जड़से कई होकर निकले और जिसमें कड़ी लकड़ी या डंठल न हो। जैसे—ईख, शर आदि। अर्कप्रकाशमें गुल्मगणके अन्तर्गत बरियारा, पाठा, तुलसी, काकजंघा, चिरचिरा आदि पौधे लिये गये हैं।

व्यालोलस्फुटदानलद्रुमवनप्रोद्भूतभस्मोष्मणा
दत्ताभ्राभ्रमदुल्मुकाहतिवहत्साङ्गारगौरार्चिषः ।
अश्यत्पावकशृङ्गमध्यविलसज्ज्वालावलीश्यामला
निःशेषाग्निनिकाशसुस्तवजवा वेगेन वाता ववुः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने महाकल्पान्ताग्निवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

करते हुए अग्निके बीचसे निकलकर सारी दिशाओंको चाटते हुए-से—बहने लगे ॥ ६४ ॥

चंचल ज्वालापल्लवोंसे तड़कते हुए अग्निमय वृक्षोंके वनोंमें उत्पन्न भस्म-सहित उष्णतासे आकाशको व्याप्त करनेवाले, † भ्रमण करते हुए उल्मुकोंके अभिघातसे निकल रही अङ्गारसहित पीली ज्वालाओंसे युक्त, कज्जलरूपसे गिर रही तथा पावककी शृङ्गप्राय शिखाके मध्यमें विलास करती हुई कज्जलयुक्त ज्वालाओंकी पङ्क्तियोंसे श्यामवर्ण एवं सम्पूर्ण जगत्में अग्नियोंको प्रकाशित करनेसे स्तुतियोग्य वेगवाले पवन बड़े वेगसे बहने लगे ॥ ६५ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

---

† अथवा—मेघोंको उत्पन्न करनेवाले ।

षट्सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ कल्पान्तमरुति वहत्यवधुताचले ।
बलेनाम्भोधिकल्लोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ॥ १ ॥
समुद्रेषु विमुद्रेषु मर्यादोल्लङ्घने घने ।
अघनेषु घनिष्वम्बुदारिद्र्योपद्रवद्रुते ॥ २ ॥
भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।
पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥ ३ ॥
दिवि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
लोके व्योमगतालोके शोकौकसि ककुब्गणे ॥ ४ ॥
कुतोऽप्याकाशकुहरादृप्तदैत्यगणा इव ।
पुष्करावर्तका मेघाश्चक्रुर्गुलुगुलारवम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मविस्फोटितस्वाण्डकुड्यविस्फोटनोद्भटम् ।
अन्योन्यास्फालनोत्फालमत्तार्णवरवाविलम् ॥ ६ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

[पश्चिम दिशामें, ऊपरके भागमें पुष्करावर्तक (प्रलयमेघ) का उदय तथा आग्नेय दिशामें अग्निका उपसंहार—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर जब पर्वतोंको कम्पित कर देनेवाला तथा समुद्रतरङ्गोंके द्वारा बलपूर्वक आकाशमण्डलमें आवर्त पैदा कर देनेवाला कल्पान्त पवन वह रहा था, समुद्र अपने चिह्नोंसे रहित हो गये थे, मेघ अपनी मर्यादा एकदम नष्ट कर चुके थे, तथा जलकी दरिद्रतारूप दुःखसे जब भाग चुके थे, घनी अधनी हो गये थे, भूतल अपने अंशसे रहित हो चुका था और अग्निसे भून गया था, कालप्रभावसे पाताल भी किसी [अनिर्वचनीय] पातालको यानी विनाशको प्राप्त हो चुका था, समस्त सृष्टिवर्ग जीर्ण-शीर्ण हो गया था, विद्यमान अन्तरिक्ष लोक भी आकाशगत प्रकाशमें मिल चुका था तथा जब सारी दिशाएँ शोकसे व्याप्त हो चुकी थीं; तब किसी एक आकाशके गर्तसे क्रुद्ध दैत्यगणोंके सदृश निकलकर पुष्करावर्तक नामधारी मेघ गुलगुल ध्वनि (गर्जन) करने लग गये ॥ १–५ ॥

यद्यपि उनकी वह ध्वनि दूरसे वैसी सुन पड़ती थी, लेकिन वस्तुतः वह

लोकार्णवपुरोद्‌गीर्णघनकोलाहलोल्बणम् ।
एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोग्ररवघर्घरम् ॥ ७ ॥
ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
स्वर्लोकरोदःपातालतलतोऽतिसगुल्मकम् ॥ ८ ॥
समस्तदूरदिग्भित्तिहेलाहेलनघर्घुलम् ।
महाप्रलयसम्पन्नापानकापानतर्षुलम् ॥ ९ ॥
प्रसृतप्रलयाख्येन्द्रमत्तैरावतबृंहितम् ।
आकल्पक्षुब्धमेघाब्धिनिर्ह्रादमिव संभृतम् ॥ १० ॥

अत्यन्त भयङ्कर थी, ब्रह्माजीने अपने अण्डेका जब भेदन किया था, तब ब्रह्माण्डकी भित्तिके विस्फोटसे जैसी उन्नत दहलानेवाली ऊँची ध्वनि निकली थी, ठीक वैसी ही उनकी ध्वनि थी, परस्पर आस्फालनों द्वारा उछलते हुए मत्त समुद्रोंकी ध्वनिके सदृश वह बीभत्स थी ॥ ६ ॥

लोक, समुद्र एवं नगरोंमें प्रतिध्वनिके रूपसे उत्पन्न घन कोलाहलोंके कारण वह सही नहीं जा सकती थी तथा पूर्वमें वर्णित कुलाचल पर्वतोंके कन्धोंपर सम्बद्ध दाहके उग्रशब्दोंके साथ मिल जानेके कारण वह घर्घर ध्वनि बड़ी ही भयानक लगती थी ॥ ७ ॥

भद्र, उस शब्दने समस्त ब्रह्माण्डरूपी शङ्खके उदरको भर दिया था, भरनेपर ब्रह्माण्डभित्तियोंके प्रतिरोधके कारण हुए अनेक आवर्तनोंसे वह बड़ा ही निविड़ बन गया था, इसीलिए मानो स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं पातालतलतक उसकी अनेक शाखाएँ फैल गईं ॥ ८ ॥

दूर-दूरकी सम्पूर्ण दिशारूपी असीम भित्तियोंको वह ध्वनिरूप शब्द लीलासे लेखन द्वारा मानो खोद रहा था, महाप्रलयमें मिश्रित होकर सात समुद्रोंका काढ़ा बन गया था, काढ़ा हो जानेके कारण समुद्र एक तरहसे पानक (पना) या मद्य बन गये थे, इन समुद्रोंके मद्यको वह मानो पी जानेकी ज्यादा इच्छा कर रहा था ॥ ९ ॥

वह ध्वनि क्या थी, विजय पानेके लिए प्रस्थान किये हुए महाप्रलयनामक इन्द्रके मत्त ऐरावत हाथीकी गर्जना-सी थी। और सुनिये—वह शब्द क्या था, कल्पकालतक रोके जानेसे क्षुब्ध हुए मेघरूपी समुद्रोंका दीर्घकालसे संचित एक ही समयमें निकला हुआ निर्घोष-सा था ॥ १० ॥

महाप्रलयसंक्षुब्धक्षीरोदमथनारवम् ।
ब्रह्माण्डोग्रारघट्टेऽस्मिन्वार्यन्त्रमिव सारवम् ॥ ११ ॥
अथास्मिन्सति कल्पाग्नौ स्थितिमेति कथं घनः ।
इति विस्मितवानस्मि दृशं दिग्नवकेऽत्यजम् ॥ १२ ॥
यावन्न क्वचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
तरन्ति तरलास्फालमुल्मुकाशनिवृष्टयः ॥ १३ ॥
तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
पदार्था भस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥ १४ ॥
अनन्तरं क्षणाद्व्योम्नि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥ १५ ॥
एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिताः ।
यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सदृदृशाम् ॥ १६ ॥

महाप्रलयके कारण विक्षुब्ध हुए क्षीरसागरके मथनका वह भयानक शब्द था, ब्रह्माण्डरूप जो महान् उग्र अरघट्टयन्त्र है, उसमें लगे हुए जलधारायन्त्रका एक तरहसे वह शब्द था ॥ ११ ॥

श्रीरामजी, वर्णित मेघध्वनि मैंने सुनी, सुननेके बाद मैं आश्चर्यके मारे चकित हो गया और आश्चर्यचकित होकर मैंने यह सोचा कि इस महान् कल्पाग्निमें भी मेघकी स्थिति कैसे हो सकती है। यों सोचके नीचेकी दिशाको छोड़कर बाकी नव दिशाओंकी ओर ताका ॥ १२ ॥

मैंने उन दिशाओंमें मेघ नहीं देखे, किन्तु केवल यही देखा कि उनमें तरल एवं आस्फालित उल्मुकरूपी वज्रोंकी वृष्टियाँ हो रही हैं ॥ १३ ॥

उस अग्निके तापसे दसों दिशाओंमें भी अनेक करोड़ों योजन दूरतकके सारे पदार्थ भस्म हो रहे हैं ॥ १४ ॥

तदनन्तर मैंने क्षणभरमें अतिदूर आकाशमें ऊपरसे शीतल वायुका और नीचे अग्निके सदृश गरम वायुका त्वचासे अनुभव किया ॥ १५ ॥

आकाशमार्गमें वे मेघ इतने दूर प्रदेशमें स्थित थे कि उस प्रदेशमें न तो नीचेके अग्निताप ही जा सकते थे और न उसे जीवित प्राणी ही अपनी आँखोंसे देख सकते थे ॥ १६ ॥

अथ वारुणदिग्भागादाययौ कल्पमारुतः ।
यस्मिंस्तृणवदुह्यन्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥ १७ ॥
तेन ज्वालाचलाः प्रान्तोड्डीनाङ्गारविहङ्गमाः ।
लोलोल्मुककनाक्रान्ता जग्मुरग्निदिशं द्रुतम् ॥ १८ ॥
सन्ध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुरङ्गारवारिदाः ।
भ्रेमुर्भस्मभराभ्राणि पूताङ्गाररजांसि खे ॥ १९ ॥
सज्वालविलसद्वातो दुष्टोऽनलदृशं व्रजन् ।
हेमाद्रीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥ २० ॥
धराद्रिमण्डलाभोगे सौम्याङ्गारभरात्मनि ।
ज्वालावलिगणे जाते भाते तेजसि भास्वताम् ॥ २१ ॥
अर्णवेष्वनलार्णस्सु क्वथनोत्फालवारिषु ।
वनेष्वस्मृतपर्णेषु दीप्ताग्नितरुधारिषु ॥ २२ ॥

तदनन्तर पश्चिमदिशासे कल्पकी वायु बहने लगी, उस वायुमें विन्ध्य, मेरु, हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वत भी तृणके सदृश उड़े जा रहे थे ॥ १७ ॥

उस वायुके द्वारा अगल-बगल उड़ रहे अङ्गाररूपी पक्षियोंसे युक्त ज्वालारूपी पर्वत आग्नेय दिशाकी ओर तत्काल जाने लगे, चञ्चल लुआठे ही उनमें जङ्गल प्रतीत हो रहे थे ॥ १८ ॥

आकाशमण्डलमें सन्ध्याकालके अभ्रोंके सदृश आकारवाले अङ्गाररूपी मेघ बरस रहे थे तथा उसमें भस्मसमूहरूपी जलधारी मेघ एवं वायुसे शोधित अङ्गारोंकी धूलि उड़ रही थी ॥ १९ ॥

भद्र, वह ज्वाला युक्त एवं के अनेक तरहके विलासोंसे पूर्ण कुपित पवन अग्निदिशाकी ओर ऐसे जा रहा था, जैसे पंखवाले उड़ रहे हेमाद्रि आदि पर्वतोंका समूह ॥ २० ॥

श्रीरामजी, जब अतिविस्तृत भूमण्डल और पर्वतमण्डल ज्वालारहित अङ्गारोंका ढेर बन गया, तथा ज्वालाकी पंक्तियोंका समूह धूलिशून्य होनेके कारण चमकते हुए बारह सूर्योंका स्पष्ट तेजरूप बन गया [तब कल्पान्तका मेघ भी आ धमका] ॥ २१ ॥

जब समुद्र अग्निरूपी जलसे लबालब तथा काढ़ेके सदृश उछलते हुए जलसे

ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
साङ्गनाबालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥ २३ ॥
कल्पान्तानलपद्मिन्या ब्रह्माण्डावसरोवरे ।
ज्वालापल्लवशालिन्याः सबीजायाः सटोल्मुकैः ॥ २४ ॥
अनिलात्मसु मूलेषु नागेषु च नगेषु च ।
आपातालं निमग्नेषु महत्यङ्गारकर्दमे ॥ २५ ॥
उष्ट्रसैन्यमिवाऽऽलक्ष्य गतिमच्चिकटं नभः ।
आययावञ्जनश्यामः कल्पाम्बुदगणः क्वणन् ॥ २६ ॥
स्थिरकल्पानलज्वालातुल्यविद्युन्मयाचलः ।
एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥ २७ ॥
भित्तिभासुरनीहारभारनिर्वारदिक्तटः ।
ब्रह्माण्डकुड्यनिबिडमण्डलास्फोटपण्डितः ॥ २८ ॥

पूर्ण हो गये और सारे जङ्गल पत्तोंके स्मरणसे शून्य (पत्रशून्य) एवं प्रदीप्त अग्निरूपी वृक्षोंके आधार बन गये [तब कल्पान्तके मेघ आने लगे] ॥ २२ ॥

जब भार्या, बालक एवं वृद्धोंके साथ ब्रह्मलोकस्थ अधिपति तथा ब्रह्मलोकके नगर जलकर आकाशमें गिरने लगे [तब कल्पान्तके मेघ आने लगे] ॥ २३ ॥

भद्र, कल्पान्तकी अग्नि एक तरहसे कमलिनी ही प्रतीत हो रही थी, उसकी ज्वालाएँ ही पल्लवोंकी शोभा धारण कर रही थीं, पत्थरोंसे शून्य ब्रह्माण्ड-रूपी सरोवर ही उसका उत्पत्तिस्थान था, इस तरहकी बीजयुक्त कमलिनीके केसर-सदृश विस्फुलिङ्गोंसे घटित उल्मुकोंके द्वारा जब वायुरूप यानी वायुप्रधान सांप एवं पर्वतरूप मूल पातालपर्यन्त अङ्गाररूपी कीचड़में फँस गये, तब मशकमें जल ढोनेवाली ऊँटोंकी सेनाके सदृश विस्पष्ट (शीघ्र) संचरणशील आकाशको देखकर कल्पान्तके मेघ, जो काजलके सदृश काले-काले थे, गरजते निकट आ धमके ॥२४—२६॥

भद्र, वह जो मेघमण्डल आया, वह सुस्थिर कल्पान्तकी अग्निकी ज्वालाओंके सदृश अतिभयानक विद्युन्मय पर्वतोंसे सुशोभित लग रहा था । उसने अपने एक कोनेमें ही सात समुद्रोंका असीम जल-भण्डार भर लिया था ॥ २७ ॥

समस्त दिशाओंके तट भासुर नीहारसमूहोंसे छिद्ररहित भित्तियोंके सदृश मालूम पड़ रहे थे, वह समस्त ब्रह्माण्डकी भित्तियोंके घनमण्डलोंको तोड़-फोड़ देनेमें अतिदक्ष मालूम हो रहा था ॥ २८ ॥

कल्पान्तक्षुभिताम्भोधिर्वर्तुलावर्तवृतिमान् ।
तडिज्जलचरः सारनिर्ह्रादः खमिवागतः ॥ २९ ॥
मृतो दग्धो निशानाथस्ततो द्विगुणशीतलः ।
अन्यमाकारमाश्रित्य परं लोकमिवागतः ॥ ३० ॥
हेमसम्भाररूपेण हिमालयमिवाखिलम् ।
जाड्यस्तम्भितनिःशेषजलकाष्ठाचलं दधत् ॥ ३१ ॥
अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
प्राग्द्रुतोद्भटतौषारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥ ३२ ॥
अग्निदाहवनाकाशविद्युदुन्मेषभीषणा ।
चटद्गडगडास्फोटस्फुटद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३ ॥
प्रथितोत्थितसीत्कारशतक्ष्वेडाक्षयारवा ।
शीतसीकरनीहारभित्तिबन्धमयाम्बरा ॥ ३४ ॥

उस मेघको देखकर यही कहना पड़ता था कि कल्पान्तसे क्षुब्ध होकर समुद्र ही आकाशमें आ धमका है। क्योंकि उसमें वर्तुलाकार द्वादश आदित्योंकी परिधि ही उसका वेष्टन-सा था, बिजली ही उसमें जलचर-सी मालूम पड़ती थी और इसमें भी गम्भीर ध्वनि हो रही थी ॥ २९ ॥

उसे देखकर यह भी मालूम पड़ रहा था कि मृत या दग्ध चन्द्रमा ही परलोकमें जाकर पुनः पहलेकी अपेक्षा द्विगुण शीतल होकर दूसरा रूप लेकर इस आकाशमण्डलमें आया है ॥ ३० ॥

सुवर्णके समूहके सदृश विद्युत्-समूहोंका रूप धर लेनेके कारण वह उस हिमालयका मानो स्वरूप धारण कर रहा था, जिस हिमालयने अपनी जड़ताके कारण काष्ठके सदृश समस्त जलको अचलरूपसे स्तम्भित कर दिया है ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, तदनन्तर वर्षा होने लगी, इसने समस्त आकाशमण्डलको ब्रह्माण्ड-के विस्फोटके सदृश अतिकठोर वज्रतुल्य निर्घातसे छा दिया। इसने तो अखिल दिङ्मण्डलको पहलेसे ही पिघले हुए उद्भट तुषारसे व्याप्त कर दिया था ॥ ३२ ॥

भद्र, यह वृष्टि अग्निदाहके सदृश वन तथा आकाशमण्डलमें विद्युत्के प्रकाशसे अतिभीषण लग रही थी, तथा अपनी चटचटाहट एवं गड़गड़ाहटसे सारे ब्रह्माण्डको तोड़ रही थी ॥ ३३ ॥

उत्पन्न हुए अनेक महान् सीत्कारके सैकड़ों शब्दोंसे उसने सिंहनादके शब्दोंको

रोदोमण्डपवैदूर्यस्तम्भसम्भारभासुरैः ।
धारासारैर्धराधुर्यशैलशातकशालिनी ॥ ३५ ॥
धराचटचटास्फोटस्फुटदङ्गारपत्तना ।
गर्जितोर्जितसंपातपतल्लोकान्तराकुला ॥ ३६ ॥
सा बभूवाथ साङ्गारजगद्गेहविलासिनी ।
कृतप्रत्युद्गमा बाष्पश्रियोऽज्वलनया भुवः ॥ ३७ ॥

ज्वालालवोल्लुलनडम्बरमम्बरं त-
द्व्यूढस्थलाब्जदलजालमिवालमासीत् ।
ज्वालाभ्रमद्भ्रमरपङ्क्तिनिभास्तदासं-
स्तत्र स्फुरच्छिशिरसीकरपक्षपुञ्जाः ॥ ३८ ॥

उद्यद्बृहच्चटचटारवपूरिताशो
भीमोऽभवत्सलिलदानलसन्निपातः ।

भी मात कर दिया था और शीतल जलकण एवं नीहारसे उसने आकाशको भी भित्तिबन्धनमय बना दिया था ॥ ३४ ॥

भद्र, पृथ्वी एवं आकाशरूप मण्डपके लिए निर्मित वैदूर्यमणिके (लहसुनियाके) स्तम्भोंके समूहके सदृश भासुर धारासम्पातोंसे वह पृथ्वीका भार ढोनेवाले पर्वतोंको भी तोड़ देनेवाला टंक-प्रहार कर रही थी ॥ ३५ ॥

पृथ्वीको चट-चट शब्दके साथ विदारित करनेके कारण उसने अङ्गारोंके समूह भी फोड़ दिये थे । गर्जनाके साथ प्रबल जलके पातोंसे लोकान्तरोंको गिरानेमें भी वह व्याकुल हो रही थी ॥ ३६ ॥

भद्र, तदनन्तर अङ्गारोंसे युक्त जगत्-रूपी घरमें विलास करती हुई वह वृष्टि बाष्पशोभाकी सखीके सदृश ज्वलनरहित पृथ्वीपर आकर मिल गई ॥ ३७ ॥

भद्र, वह गगनमण्डल, जो कि ज्वालाओंके खण्डोंके विलासोंसे भरा था, उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि उसमें स्थल-कमलोंके अनेक समूह उगे हुए हों तथा उस आकाशमण्डलमें स्फुरित हो रहे, शीतल जलकणरूप पंखोंके समूहोंसे युक्त मेघ ऐसे मालूम पड़ने लगे थे, जैसे कि ज्वालाओंमें घुम रही भ्रमरपंक्तियां हों ॥ ३८ ॥

श्रीरामजी, उस समय बड़े भयङ्कर चटचट शब्दोंसे दिशाओंको भर

दुर्वारवैरिविषमो महतां बलानां
सङ्ग्राम उग्र इव हेतिहतोग्रहेतिः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथावनिपयस्तेजःपवनानां युगक्षये ।
जाते परमसङ्क्षोभे बभूवास्मिन् जगत्त्रयम् ॥ १ ॥
तापिच्छविपिनोड्डीतिनिभभस्माभ्रभासुरम् ।
महार्णवमहावर्तवृत्तिधूमविवर्त्तनम् ॥ २ ॥

देनेवाला जो मेघों और अग्नियोंका समागम हुआ, वह एक दूसरेसे पराजित न हो सकनेवाले वैरियोंके विषम—अतएव महान् उग्र, कुशल सेनाओंके परस्पर तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंसे विनाशित उग्र शस्त्रयुक्त यानी परस्पर घात-प्रतिघातयुक्त—संग्रामके सदृश अति भयङ्कर लगता था ॥ ३९ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

[पुष्करावर्तक मेघकी वृष्टिधारासे जर्जर एवं सात समुद्रोंके विक्षोभसे बोये गये जगत्‌का पुनः वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, युगक्षयमें जब पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु—इन चार महाभूतोंका परम विक्षोभ हो गया, तब तीनों जगत्‌की जो स्थिति हुई, उसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥ १ ॥

श्रीरामजी, उस समय तीनों जगत् उड़ रहे तमालवनके सदृश उड़ रहे भस्मरूप अभ्र-से भासुर हो गये तथा महासमुद्रोंके भ्रमणशील महावर्तोंके सदृश भ्रमणशील धूमोंसे व्याप्त हो गये ॥ २ ॥

नीलज्वालालवोल्लासं हेलाटिमिटिमारटि ।
कृतभस्माभ्रसम्भारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ॥ ३ ॥
उच्छलद्दीर्घरुत्कारैच्छमच्छममयात्मकैः ।
तूर्यघ्नन्मदासारविसारिजयघोषणम् ॥ ४ ॥
भ्रमद्भस्माभ्रधूम्राभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् ।
बाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोग्राभ्रवृन्दवत् ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभित्तिभाङ्कारभीषणैर्मातरिश्वनः ।
प्रसरैरम्बरोड्डीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ॥ ६ ॥
जलानलानिलोल्लासस्फुटत्कोटिगताश्मनाम् ।
प्रविघट्टनटङ्कारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ॥ ७ ॥

गीले काष्ठ आदिके जलनेसे उनमें कुछ धूम्रयुक्त नील ज्वालाएँ उठ रहीं थीं, इन नील ज्वालांशोंके विलासरूपी क्रीड़ाओंसे उनमें टिम-टिमशब्द हो रहे थे उन्होंने अपने भस्मरूपी अभ्रोंके महान् ढेरोंसे लोकान्तरोंके मध्यको भी भर दिया था ॥ ३ ॥

भद्र, उस त्रिलोकीमें चारों ओर घनघोर वृष्टिका व्यापक जयघोष हो रहा था, वृष्टिके कारण आर्द्र लकड़ियोंसे छम-छम दीर्घ ध्वनि निकल रही थी, इससे यह प्रतीत हो रहा था कि मानो तुरही ही जयघोष कर रही हो ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त त्रिलोकीमें पांच तरहके मेघ छा गये अर्थात् वह सारी त्रिलोकी भ्रमणशील भस्मरूपी मेघोंसे युक्त तथा धूमरूपी मेघोंसे व्याप्त हो गई। उसमें महाकल्पके मेघोंका सौन्दर्य छा गया। बाष्परूपी मेघोंके विभ्रमसे वह समन्वित हो गई। उद्भ्रान्त सीकरोंरूपी मेघोंने उसमें अपना एक अच्छा स्थान बना लिया ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्डभित्तिकी अन्तिम सीमातक हो रहे भाङ्कार शब्दोंसे अति भीषण वायुके गमनोंसे आकाशमण्डलमें उड़ाये गये दग्ध इन्द्रादिनगरोंके समूहसे वह व्याप्त हो गया था ॥ ६ ॥

उस समय वहां यह हालत रही कि जल, अग्नि एवं वायुका जो विविध ताण्डव हो रहा था उससे बड़े-बड़े पत्थर ऊपरकी ओर उड़े जा रहे थे, इनका जो परस्पर आघात हो रहा था और जो उससे टङ्कारध्वनि निकल रही थी, उससे सबकी श्रोत्रेन्द्रियां (कान) जड़ हो गईं थीं ॥ ७ ॥

नभःस्तम्भनिभाबन्धधारानीरन्ध्रवर्षणैः ।
कर्षणैः कल्पवह्नीनां छमच्छमघनध्वनि ॥ ८ ॥
गङ्गा तरङ्गिका येषां तादृशैः सरितां गणैः ।
अभ्रारव नभाभामः पूयमाणाखिलार्णवम् ॥ ९ ॥
तापिच्छपत्रवृन्दस्थपुष्पगुच्छसमोपमैः ।
तपद्भिरर्कैरालीढपीठकल्पाभ्रमण्डलम् ॥ १० ॥
वहद्गिरिसरिद्व्यूहशिखरिद्वीपपत्तनम् ।
कल्पानिलघनक्षोभकृतपर्वतकुट्टनम् ॥ ११ ॥
ग्रहतारागणैरुग्रैर्व्यग्रैर्विग्रहदुर्ग्रहैः ।
पतद्भिर्द्विगुणालातलतामावर्तपातिभिः ॥ १२ ॥
आवहोत्थजलाद्रीन्द्रसंघट्टास्फोटघट्टितम् ।
महाप्रलयपर्यस्तपर्वतप्रान्तकुट्टिमम् ॥ १३ ॥

आकाशमें खम्भोंके सदृश जलकी अन्धाधुन्ध—अविच्छिन्न-धाराओंके वर्षण द्वारा जो कल्पान्त अग्नियोंका विदारण (विनाश) हो रहा था, उससे वहाँ छम-छम शब्दोंकी घन ध्वनि हो रही थी ॥ ८ ॥

भद्र, उस समय त्रिलोकीके सारे समुद्र नदियोंके समूहोंसे—जिनमें गङ्गाजी एक तरङ्ग-सी प्रतीत हो रही थीं तथा जो आकाशमण्डलके भयङ्कर मेघोंके सदृश थे—परिपूर्ण हो रहे थे ॥ ९ ॥

उस समय त्रिलोकीमें जो कल्पान्त मेघ बरस रहे थे, उन मेघोंके आधार पीठका तमालवृक्षके पत्तोंके नीचे लगनेवाले पुष्पगुच्छोंके सदृश तप रहे सूर्य मानो आस्वाद ले रहे थे ॥ १० ॥

उस समय पर्वतोंके ऊपरसे जो नदियोंके समूह बह रहे थे, उनसे बड़े-बड़े पर्वत, द्वीप एवं नगर भी बह जाने लगे और कल्पान्त पवनके भयङ्कर क्षोभसे बड़े-बड़े पर्वत चूर्णित होने लग गये ॥ ११ ॥

ग्रह और तारोंका समूह बड़ा ही उग्र एवं व्यग्र प्रतीत हो रहा था, ये एक दूसरेपर प्रहार करनेमें तुले हुए थे, अतएव ये वर्तुलाकारमें परिणत होकर अन्तमें गिर भी रहे थे, इसलिए आकाशमण्डलमें भी इन्होंने पृथ्वीकी अपेक्षा द्विगुण अलातलताको पैदा कर दिया था ॥ १२ ॥

भद्र, सारे त्रैलोक्यमें उस समय चारों ओर बहनेवाले प्रचण्ड पवनके कारण

घनसीकृतबाष्पाभ्रैः कल्पाभ्रैरपि मेदुरैः ।
अन्धीकृतार्कजालांशुतमोनिबिडमन्थरम् ॥ १४ ॥
विशीर्णवसुधापीठखण्डखण्डैर्गलत्तटैः ।
उह्यमानैर्लुठच्छैलपतनैः सङ्कटार्णवम् ॥ १५ ॥
ऊर्म्युद्यदुपलच्छिन्नघनैर्घस्मरमारुतैः ।
समुद्रघोषैर्निर्घातगम्भीरैर्मग्नदिक्तटम् ॥ १६ ॥
ब्रह्माण्डकुड्यक्रोडाग्रकुट्टकैः कटुटांकृतैः ।
कल्पाभ्रविटपास्फोटैर्धट्टितैकार्णवारटि ॥ १७ ॥
स्वर्गपातालभूलोकखण्डखण्डैर्विमिश्रितैः ।
यथास्वभावं तिष्ठद्भिर्मरुबुध्नैर्वृताम्बरम् ॥ १८ ॥

उत्पन्न हुए जलके पर्वताकार बड़े-बड़े तरङ्गोंके आघातोंसे पर्वत टूट-फूट जा रहे थे और पर्वतप्रान्तोंको कूट-कूटकर पवन प्रलयमें ले जा रहा था ॥ १३ ॥

घने जलकणोंसे युक्त बाष्पके मेघोंसे तथा कल्पकालीन नीलवर्णके मेघोंसे सारी त्रिलोकीमें सूर्योंके किरणसमूह आवृत हो गये थे, इससे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार हो गया था ॥ १४ ॥

श्रीरामभद्र, पर्वतोंका आधारपीठ जो भूतल था वह तो एकदम जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था, इसलिए पर्वततट गल रहे थे, इधर उनको प्रलय-का पवन उड़ा रहा था—इस स्थितिसे लुढ़क रहे पर्वतोंके पतनोंसे त्रिलोकीमें सारे समुद्र महान् सङ्कटमें फँसे-से मालूम हो रहे थे ॥ १५ ॥

उठ रही तरङ्गोंसे ऊपर आकाशकी ओर फेंक दिये गये पत्थरों द्वारा मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले प्रलय-पवनोंने उनकी सारी दिशाओंके तटोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डभित्तिरूपी वक्षःस्थलमें चोट पहुँचानेवाले, कठोर टंकारसहित प्रलय-कालीन मेघके समान विटपरूपी हाथोंके आस्फोटों द्वारा परस्पर एकत्रित महासागरमें छाती पीट-पीटकर वह सारा त्रैलोक्य रोने लग गया ॥ १७ ॥

जलके अभावसे मरुस्थलके समान हो गये अधोभागवाले अन्तरिक्षमें स्थित हो रहे यानी उड़ रहे स्वर्ग, पाताल और भूलोकके सम्मिलित अनेक खण्डोंसे वह तीनों लोक आकाशको ढँकने लग गया ॥ १८ ॥

मृतार्धमृतदग्धार्धदग्धाङ्गैर्देवदानवैः ।
अन्योन्यदर्शनाद्धातवेल्लितभ्रामितायुधम् ॥ १९ ॥

कल्पान्तपवनोद्भ्रान्तैर्लोकान्तरजरत्तृणैः ।
आरब्धार्जुनवाताख्यास्तम्भमुद्भूतभस्मभिः ॥ २० ॥

वह्यमानशिलाजालप्रहारविलुठत्तटैः ।
पतल्लोकान्तरैः स्फारदुष्कालकटुटांकृतम् ॥ २१ ॥

वातोद्व्यूहगिरिव्रातगुहाभाङ्कारभासुरम् ।
पतद्भिर्विहितावर्तलोकपालपुरीपुरैः ॥ २२ ॥

तीनों लोकमें प्रलयकालीन वायु द्वारा वेल्लित हुए मरे, अधमरे, जले तथा अधजले अङ्गोंवाले देव और दानव, सबके ऊपर एक-सी विपत्ति आनेपर भी परस्पर वैरदृष्टि रखनेके कारण* एक दूसरेको देखकर मारनेके लिए हथियार घुमाने लगे ॥ १९ ॥

'अर्जुन वात' यह एक वातरोग विशेषका नाम है। जिसे यह रोग होता है उस रोगीको यह रोग आकाशमें ले जाकर खूब नचाता है। परन्तु उस रोगमें अर्जुनकी वर्णता नहीं है, अतः उसका नाम आलम्बनशून्य न रहे, इस मतलबसे कल्पान्त पवनोंके द्वारा उड़ाये गये लोकान्तरके जीर्णतृणोंने स्वोद्भूत भस्मों द्वारा वातको सफेद बनाकर उस त्रिलोकीमें अर्जुनवातनामक रोगका एक स्तम्भ खड़ा कर दिया यानी उसे आलम्बनयुक्त कर दिया ॥ २० ॥

कल्पान्त पवनसे उड़ाये जा रहे शिला-समूहोंसे जो प्रहार हो रहा था उससे लोकान्तरोंके तटप्रान्त लुढ़क रहे थे और वे गिर भी रहे थे, इससे महादुष्काल-जनित कठोर शब्दोंसे वह सारा त्रैलोक्य व्याप्त हो गया था ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण जगत् कल्पान्तके प्रचण्ड पवनोंके संघट्टनोंसे उत्पन्न पर्वतोंकी गुफाओंके भाङ्कार शब्दोंसे भासुर तथा गिर रहे वर्तुलाकारमें परिणत लोकपाल-नगरों एवं अन्य नगरोंसे पूर्ण हो गया ॥ २२ ॥

---

* ज्ञानके बिना, हजारों विपत्तियोंके उपस्थित होनेपर भी अज्ञानियोंकी वैरदृष्टि कभी शान्त नहीं होती। वह वैरदृष्टि विपत्तियोंसे भी बढ़कर महाविपत्स्वरूप है, इसलिए प्रत्येक प्राणीको चाहिए कि वह ज्ञानप्राप्तिके लिए कुछ भी उठा न रखे, यह इसका गूढ़ अभिप्राय है।

कृतकर्कशनिर्ह्रादैरसुरैरिव मारुतैः ।
उह्यमानवनव्यूहप्रोतवातायनैर्वृतम् ॥ २३ ॥
पुरमण्डलदैत्याग्निसुरनागविवस्वताम् ।
निकुरम्बं दधद्व्योम्नि मशकानामिवोच्चयम् ॥ २४ ॥
नश्यन्नगवराभोगैर्भागैर्भग्नसुरालयैः ।
आवर्तघर्घरारावैर्जलमूर्ध्वमधोऽनलम् ॥ २५ ॥
कुर्वज्जलाद्रिनिष्पेषैर्दिक्पालपुरकुट्टनम् ।
निपतद्देवदैत्येन्द्रसिद्धगन्धर्वपत्तनम् ॥ २६ ॥
कुट्टनं पर्वतादीनां प्रशान्ताङ्गाररूपिणाम् ।
वातैः कुर्वत्पदार्थानामसारं रजसामिव ॥ २७ ॥
पुराण्यमरदैत्यानां भ्रमद्भित्तीनि शातयत् ।
रत्नैः खणखणायन्ति पयांसीव पयस्वताम् ॥ २८ ॥

असुरोंके समान घोर कर्कश शब्द करनेवाले वायुओंके द्वारा उड़ाये जा रहे वनसमूहमें संसृष्ट शीघ्रगति घोड़े आदिसे सारा जगत् आवृत हो गया ॥ २३ ॥

उस समय त्रैलोक्य आकाशमण्डलमें—नगर, जिले, दैत्य, अग्नि, असुर, नाग एवं आदित्योंके समूहोंको—ऐसे धारण कर रहा था, जैसे मच्छरोंके समूहको ॥ २४ ॥

भद्र, उस समय तीनों जगत्का स्वरूप इस तरह दिखाई दे रहा था—बड़े-बड़े विशाल पर्वत नष्ट हो रहे थे, और देवमन्दिर भी टूट रहे थे—इससे जो उनके अनेक विभाग निकले वे उलटे-पुलटे हो गये यानी दोने या कठवतके समान ठीक विपरीत हो गये, इसलिए घरघर शब्दोंके साथ ऊपरकी ओर तो जल भर गया और नीचेकी ओर निर्बाध अग्नि जलने लगी ॥ २५ ॥

उस समय जलके पर्वताकार तरङ्गोंके आघातोंसे दिक्पालोंके नगर कूटे जा रहे थे और देव, दैत्य, इन्द्र, सिद्ध तथा गन्धर्वोंके नगर छिन्न-भिन्न होकर पतनोन्मुख हो रहे थे ॥ २६ ॥

प्रशान्त अङ्गारोंके सदृश भासमान पर्वत आदि बड़े-बड़े पदार्थोंका वायुओंके द्वारा ऐसे निःसारतापूर्वक कुट्टनं हो रहा था, जैसे कि धूलिका ॥ २७ ॥

जिनकी भित्तियाँ घूम रही थीं, ऐसे देव और दैत्योंके नगरोंको, जो मेघोंके

पूर्णाम्बरं पतल्लोकलोकसप्तकमन्दिरैः ।
चक्रावृत्त्या भ्रमद्भूपैरमरैः सागरैरिव ॥ २९ ॥
डीनोड्डीनैः परिवृतं विचलद्वातवेल्लितैः ।
दग्धादग्धैः पदार्थैः खे शीर्णपर्णगणैरिव ॥ ३० ॥
हेमस्फटिकवैदूर्यसुसारमणिमन्दिरैः ।
दिवः पतद्भिराकीर्णमुद्यज्झणझणस्वनैः ॥ ३१ ॥
उत्पेतुर्धूमभस्माब्दाः पेतुर्वारा पुरोत्कराः ।
उन्ममज्जुस्तरङ्गौघा ममज्जुर्भूतलाद्रयः ॥ ३२ ॥
आवर्तघर्घरारावा मिथो विदलनोद्यताः ।
जुघूर्णुरर्णवाकीर्णपर्णवत्प्रौढपर्वताः ॥ ३३ ॥
क्रन्दच्छिष्टामरगणं चलत्सज्जीवभूतकम् ।
भ्रमत्केतुशतोत्पातं दुष्प्रेक्ष्यमभवज्जगत् ॥ ३४ ॥

जलके सदृश रत्नोंसे खनखन ध्वनि कर रहे थे, उस समय सारा जगत् छिन्न-भिन्न करने लग गया ॥ २८ ॥

सारा आकाशमण्डल तो गिर रहे लोगोंसे युक्त सातों लोकोंके घरोंसे तथा सागरोंके सदृश चक्रोंके आकारमें घूम रहे देवताओंसे व्याप्त हो गया ॥ २९ ॥

आकाशमण्डलमें जीर्णशीर्ण पत्तोंके समूहोंके सदृश चञ्चल वायुओंके द्वारा वेल्लित अतएव गिर रहे, उड़ रहे दग्ध, अर्धदग्ध आदि पदार्थोंसे तीनों लोक व्याप्त थे—ऐसे पदार्थोंकी उस समय जगत्‌में भरमार दिखाई दे रही थी ॥ ३० ॥

भद्र, आकाशसे झनझन शब्दपूर्वक गिर रहे सुवर्ण, स्फटिक, वैदूर्यमणि एवं नीलम आदिके मन्दिरोंसे तीनों जगत् उस समय पूर्ण हो गये ॥ ३१ ॥

उस समय धूम और भस्मके मेघ उठने लगे, वृष्टिके जलसे पुरोंके समूह आ गिरने लगे, बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठने लगीं और भूतल, पर्वत आदि डूबने लगे ॥३२॥

आवर्तके सदृश घरघर ध्वनि करनेवाले और परस्पर विदलन करनेमें उद्यत प्रौढ पर्वत, समुद्रमें बिखरे पत्तोंके सदृश, घूर्णित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

भद्र, शिष्ट और देव गण उसमें क्रन्दन कर रहे थे, थोड़े-से जीवनसे युक्त दयाके पात्र प्राणी रेंग रहे थे, सैंकड़ों धूमकेतुओंके उत्पात उठ रहे थे, इससे जगत् अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था ॥ ३४ ॥

मृतार्धमृतया भूतसन्तत्याऽनिललोलया ।
अभून्नीरन्ध्रमाकाशं जीर्णपर्णसवर्णया ॥ ३५ ॥
जगदासीत्पतच्छृङ्गस्थूलधारौघनिर्भरम् ।
वहद्वहद्गिरिपुरव्रातपूर्णसरिच्छतम् ॥ ३६ ॥
शाम्यच्छमशमाशब्दशतशाखहुताशनम् ।
चलाब्धिवलनान्दोललोलशैललसत्तटम् ॥ ३७ ॥
तृणराशिसरिन्न्यायमिश्रद्वीपार्णवोत्कटम् ।
अत्यन्तदूरचिद्व्योमक्षणज्वालासहावनम् ॥ ३८ ॥
वर्षशाम्यद्धुताशोत्थभस्मामोदपतत्सुरम् ।
भूतपूर्वजगद्भूतं परिविस्मृतसर्गकम् ॥ ३९ ॥

पवनोंके द्वारा उड़ाये गये मृत और अर्धमृत जीव-समूहोंसे, जो ठीक जीर्ण पत्तोंके समान थे, सारा आकाशमण्डल पूर्ण हो गया ॥ ३५ ॥

उस समय सम्पूर्ण त्रैलोक्य पर्वतशिखरोंके सदृश मोटी-मोटी गिर रही जल-धाराओंके निर्भरोंसे आक्रान्त होकर पर्वतों तथा नगरोंके समूहोंको भी बहा देनेवाली परिपूर्ण सैकड़ों नदियोंसे बहने लग गया ॥ ३६ ॥

उस समय जगत्में अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त अग्नि शमशम शब्द-पूर्वक शान्त हो रही थी और चञ्चल समुद्रोंके विविध विचलन-आन्दोलनोंसे लोल हुए पर्वतोंके कारण जगत्के तट सुशोभित हो रहे थे ॥ ३७ ॥

उस कालमें समस्त जगत् नदियोंमें मिली हुई तृणराशिके सदृश समुद्रमें मिले हुए बड़े-बड़े द्वीपोंके कारण बड़ा ही विकट लग रहा था । [तत्त्व-ज्ञानसे प्रदीप्त चिदाकाशरूप अग्निसे एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाले जगत्का प्रलयकालमें जो देरसे दाह हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अत्यन्त'से] तत्त्वज्ञानकी दुर्लभताके कारण अत्यन्त दूर चिदाकाशमें सारे जगत्की स्थिति क्षणभर भी ज्वाला सहनेमें समर्थ नहीं थी ॥ ३८ ॥

भद्र, उस समय त्रिलोकीमें वृष्टि शान्त हो जानेके कारण अग्निसे उत्पन्न भस्मकी गन्धसे देवगण गिरने लग गये और पहले उसमें जो चराचर भूतगण थे उनकी इस समय तो विस्मृति ही होने लगी ॥ ३९ ॥

निरर्गलोल्लसन्नादं सर्गलोपशमक्रमम् ।
सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविवर्जितम् ॥ ४० ॥

अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
बीजराशिरिवाजस्रं पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥ ४१ ॥

उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
रजोभिर्विवृतैर्हैमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥ ४२ ॥

भूमण्डलबृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः सद्वीपसागरैः ।
पूर्णसप्तमपातालं लुठत्पातालमण्डलैः ॥ ४३ ॥

आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥ ४४ ॥

भद्र, उस समय निरर्गल नादका उल्लास हो रहा था, त्रिलोकीमें सृष्टिका लोप हो जानेसे क्रमशः उसमें शान्ति मालूम पड़ने लगी, वास्तवमें सृष्टिके लोपसे परमात्माका ही विलास होने लगा। यदि तत्त्वदृष्टिसे देखें तो सारा जगत् उत्पत्ति एवं विनाशसे शून्य ही है ॥ ४० ॥

अथवा सदा ही सृष्टि और सृष्टिलोपसे युक्त है, इस आशयसे कहते हैं—'अनारत०' इत्यादिसे।

भद्र, अथवा यह जगत् निरन्तर परिवर्तनकारी वायुसे निर्वृत है एवं निरन्तर बीजराशिके सदृश बार-बार पूरा हो जानेवाला है ॥ ४१ ॥

भद्र, अधिक क्या कहें, सारे जगत्में लुआठोंके एक दूसरेके साथ हुए आघातोंसे अग्निचूर्ण और सुवर्णजनित फैली हुई अपार धूलियोंसे आकाशका कोटर सुवर्णकुट्टिम-सा बन गया ॥ ४२ ॥

उस समय सातवें पातालतक जगत् अपने स्थानसे च्युत द्वीप एवं सागरोंसे युक्त भूमण्डलके बड़े-बड़े खण्डोंसे एवं लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलसे पूर्ण हो गया ॥ ४३ ॥

नीचे सातवें पातालतक, मध्यमें भूमण्डल एवं पर्वततक और ऊपर आकाश-मण्डलतक प्रलयवायुओंके द्वारा सारा जगत् पूर्णरूपसे एक समुद्राकार हो गया ॥ ४४ ॥

एकार्णवोऽथ ववृधे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ॥ ४५ ॥
मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभाङ्गया ।
ततस्तालद्रुमाकारधारयाऽऽसारसारया ॥ ४६ ॥
ततो नदीप्रवाहोग्रजलपातैकपातया ।
सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेधया ॥ ४७ ॥
वह्निर्विदाहकृद्वृष्ट्या शममभ्याययौ तथा ।
शास्त्रसज्जनसङ्गत्या गाढमापत्पदं यथा ॥ ४८ ॥
ऊर्ध्वाधरस्थपरिवृत्तपदार्थजात-
मन्तःकणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
लीलाविलोलमिव बिल्वफलं विशुद्रम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्त्तवृष्टिविसंष्ठुलजगद्वर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥



हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह अकेला महासमुद्र धीरे-धीरे शीघ्रगामी सैकड़ों नदियोंके द्वारा जलकल्लोलोंसे भुवनमें ऐसे बढ़ने लगा, जैसे मूर्खके चित्तमें कोप ॥४५॥

भद्र, तदनन्तर पहले तो मुसलके आकारमें, फिर खम्भेके आकारमें और फिर तालवृक्षके आकारमें उत्तरोत्तर अतिस्थूल घनघोर वृष्टिकी धाराएँ गिरने लगीं ॥ ४६ ॥

तदनन्तर नदीप्रवाहके उग्र जलपातके सदृश जलपात करनेवाली तथा सातों द्वीपोंसे युक्त भूपीठके सदृश महास्थूल धाराओंसे वृष्टि होने लगी ॥ ४७ ॥

उक्त महावृष्टिसे दाह करनेवाली अग्नि ऐसे शान्त हो गई, जैसे शास्त्र एवं सज्जनोंकी सङ्गतिसे करोड़ों दुःखोंसे निबिड़ आपदाओंका स्थान (अज्ञान) शान्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, जिसमें ऊपर और नीचेके भ्रमणशील अनेक पदार्थ थे, भीतर जलकणोंके कारण शैलरूपी मज्जा खनखन ध्वनि कर रही थी, ऐसा समस्त

अष्टसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

वातवर्षहिमोत्पातपातभग्ने धरातले ।
जडवेगोऽगमद्वृद्धिं कलाविव महीपतिः ॥ १ ॥
गङ्गाप्रवाहपतितधारापातविवर्धितः ।
सरित्सहस्रैः सहसा मेरुमन्दरभासुरैः ॥ २ ॥
आदित्यपथसम्प्राप्तकन्दरो जडमन्थरः ।
एकार्णवः समुच्छून आसीन्मूर्ख इवेश्वरः ॥ ३ ॥
विपुलावर्तवृत्त्याऽऽत्तविवृत्ताद्रिजरत्तृणः ।
स्फुरत्तुङ्गतरङ्गाग्रनिगीर्णादित्यमण्डलः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डरूपी कोटर इस प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार बालकोंकी कुत्सित (तोड़-फोड़ कारक) क्रीड़ाओंसे चञ्चल हुआ विशुद्ध बिल्वफल विनष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त



अठहत्तरवाँ सर्ग

[नदीके रूपमें गिरनेवाली घनघोर वृष्टिधाराओंसे चारों ओरसे आकाशको पूर्ण कर रहा जो एक महासमुद्र बढ़ा, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जब धरातल वायु, वर्षा, हिम और अनेक तरहके उत्पातोंके आगमनसे नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्रका जलवेग ऐसे वृद्धिको प्राप्त हुआ, जैसे कलिमें राजा ॥ १ ॥

वह समुद्र आकाशगङ्गाके प्रवाहोंमें पतित मेघधाराओंके गिरनेसे खूब बढ़ा या उस तरहकी मेघधाराओंसे जनित हजारों नदीधाराओंसे खूब बढ़ा। अकस्मात् उत्पन्न हुई मेरु एवं मन्दर पर्वतके सदृश भासुर तरङ्गोंसे बहाये जा रहे पर्वत-कन्दराओंको उसने आदित्यके मार्गमें पहुँचा दिया। थोड़ेमें यही कहना है कि मूर्ख राजाके सदृश जलसे मन्थर वह समुद्र बहुत ही उन्नत हो गया ॥ २, ३ ॥

सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसी एकार्णवका वर्णन करते हैं—'विपुला०' इत्यादिसे।

मेरुमन्दरकैलासविन्ध्यसह्यजलेचरः ।
गलितावनिपङ्कान्तर्लीनव्यालमृणालकः ॥ ५ ॥
अर्धदग्धद्रुमवनव्यूहशैवलसङ्कटः ।
त्रैलोक्यभस्मसंसृष्ट आसीत् कर्दमकुत्सितः ॥ ६ ॥
नभःस्तम्बबृहद्घनोत्तालभास्करपुष्करः ।
धाराजालमहाम्भोदविलीननलिनीदलः ॥ ७ ॥
डिण्डीरपर्वतप्रान्तनदद्दुन्मत्तवारिदः ।
भ्रमदिन्द्रानिलार्केन्दुपुरपत्तनपूरणैः ॥ ८ ॥
काष्ठवत्प्रोह्यमाणोग्रसुरासुरजनोत्करः ।
शनैः क्रमोच्छूनतया लिहन्नादित्यमण्डलम् ॥ ९ ॥

इस बढ़े हुए समुद्रने अपने आवर्तस्वभावके कारण बड़े-बड़े पर्वतोंको जीर्ण तृणके समान पकड़कर चक्करमें डाल दिया तथा चंचल उत्तुङ्ग तरङ्गोंके अग्रभागोंसे वह आदित्यमण्डलको भी निगल गया ॥ ४ ॥

उसमें मेरु, मन्दर, कैलास, विन्ध्य और सह्य पर्वत तो जल-चर-से हो गये और उसमें जो पृथ्वी गल गई थी, उसके कीचड़में भीतर लीन शेषादि सर्प कमलदण्डसे मालूम हो रहे थे ॥ ५ ॥

उस समुद्रमें अर्धदग्ध वृक्षोंसे युक्त वनसमूह तो शैवाल-सा लग रहा था और त्रिलोकीके भस्मसे उत्पन्न कीचड़से वह कुत्सित भी प्रतीत हो रहा था ॥६॥

आकाश तो ठहरे कमलनाल। इन नालोंमें जो बड़ी कर्णिकाएँ थीं उनमें बीजभूत किरणोंके द्वारा उत्ताल हुए बारह आदित्य ही उसमें कमल-से प्रतीत हो रहे थे और धारासमूहरूपी महामेघ ही उसमें जलके ऊपर संलग्न होनेके कारण विलीनप्राय कमलिनीके पत्ते थे ॥ ७ ॥

उसमें उत्पन्न झरनोंके बड़े-बड़े पर्वतोंके प्रान्तभागमें उन्मत्त मेघ शब्द कर रहे थे और घूम रहे इन्द्र, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्राम एवं नगरोंके समूहोंसे वह भर गया था ॥ ८ ॥

उसमें उग्र सुर, असुर और मनुष्योंके समूह काठके सदृस बह रहे थे। वह समुद्र धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ता हुआ आदित्यमण्डलको एक तरहसे चाटने लग गया ॥ ९ ॥

तरत्तारतरारावधाराधरसमुद्भवैः ।
बुद्बुदैः परिसंदिग्धप्रोह्यमाणमहाचलः ॥ १० ॥
भ्रमद्बुद्बुदविश्रान्तभ्रान्तकल्पान्तवारिदः ।
उत्तालैस्तैरनाधारैः पश्यन्नपरवारिदम् ॥ ११ ॥
महाप्रवाहवार्योघघोषघुङ्घुमिताम्बरः ।
एकप्रवाहमहितसव्योमकुलपर्वतः ॥ १२ ॥
चण्डवातकृतापूर्वजलौघकुलपर्वतैः ।
महाघुरघुरारावघर्घरोग्रमहारयः ॥ १३ ॥
ब्रह्माण्डखण्डसंघट्टपरावृत्तिभिरुद्धतः ।
कुर्वन्योजनलक्षाणि विततान्युन्नतानि च ॥ १४ ॥

भद्र, उस समय समुद्रमें जो महागर्जना कर रहे मेघोंसे बुल्ले उठ रहे थे, उनको देखकर यह सन्देह हो रहा था कि ये महापर्वत तो नहीं बह रहे हैं ॥ १० ॥

उस समुद्रमें इधर-उधर नाँच रहे बुल्लोंपर कल्पान्तके महामेघ विश्राम कर रहे थे और स्वयं नाँच भी रहे थे, वे बुल्ले एक तरहसे आँखोंकी पुतली-से प्रतीत हो रहे थे। हाँ, प्रसिद्ध पुतलियोंसे इनमें विलक्षणता अवश्य थी, क्योंकि इनका आधारभूत मुख ही यहाँ नहीं था, इन पुतलियोंसे समुद्र समीपके दूसरे मेघको मानो देख रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥ ११ ॥

भारी प्रवाहसे युक्त जलके ओघसे जो भयङ्कर घोष हो रहा था, उससे आकाशको भी वह सावधान कर रहा था। अपने एक ही प्रवाहमें उसने आकाश-सहित सातों कुलपर्वतोंको अपने उदरमें कर लिया ॥ १२ ॥

प्रचण्ड पवनके द्वारा उत्पन्न जो अपूर्व जलौघ थे, उनसे उसने अपने अन्दर सातों कुलपर्वतोंकी मानो रचना कर दी थी, इन रचित कुल-पर्वतोंसे उदित हुए घुरघुर महाध्वनिसे घर्घर उग्रमहाध्वनिपूर्वक उसका वेग असीम हो गया था ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डखण्डोंके परस्पर संघट्टनोंका जो पुनः-पुनः आवर्तन हो रहा था, उससे उसकी उद्धता क्षण-क्षणमें बढ़ती ही जा रही थी, और ऊपर-नीचे लाखों योजनों तक विस्तारवाले पदार्थोंको अपने उदरमें वह निगलता जा रहा था ॥१४॥

तृणैरिव तरङ्गेषु दोलान्दोलनमद्रिभिः ।
कुर्वन्द्भिरुपलाघातभग्नभास्करमण्डलः ॥ १५ ॥
शून्यब्रह्माण्डविपुलजलघातकुलायके ।
नीलानचलकाकोलान् जहन्सलिलजालकैः ॥ १६ ॥
मृतामृतमहद्भूतमज्जनोन्मज्जनाकुलान् ।
तरङ्गमकरावर्तप्रतिबिम्बान्वितानिव ॥ १७ ॥
मृतशिष्टान् पुरभ्रष्टान्फेनाद्रितटिकोटिषु ।
दधज्जलबलश्रान्तांस्त्रिदशान् मशकानिव ॥ १८ ॥
विपुलाद्यतनाकाशविपुलानम्बुबुद्बुदान् ।
सहस्रसंख्यान् कलयन् लोचनानीव वासवः ॥ १९ ॥

तरङ्गोंपर जैसे तृण झूलते हैं, वैसे ही उसकी तरङ्गोंपर महान् पर्वत झूल रहे थे, इन झूला झूल रहे पर्वतोंके द्वारा पत्थरोंको फेंककर वह सूर्य-मण्डलको भी नष्ट कर रहा था ॥ १५ ॥

भद्र, उस शून्य ब्रह्माण्डरूप घोंसलेके भीतर, जो कि एकमात्र विपुल जल-समूहसे ही बना था, विद्यमान नील-पर्वतरूप महान् द्रोणकाक-पक्षियोंका (डोम कौओंका) वह समुद्र अपने जलरूपी जालोंसे आहरण कर रहा-सा मालूम पड़ता था ॥ १६ ॥

नील-पर्वतरूपी द्रोणकाकोंका ही दो विशेषणोंसे वर्णन करते हैं—'मृत०' इत्यादिसे ।

मृतक एवं जीवित प्राणियोंके, मज्जन और उन्मज्जनोंसे व्याकुल तथा तरङ्ग और मकराकार आवर्तोंमें प्रतिबिम्बित हुए-जैसे नील-पर्वतरूपी डोमकौओंका जल-रूपी जालोंसे मानो वह हरण कर रहा था ॥ १७ ॥

भद्र, जो मरनेसे बच गये थे और अपने-अपने नगरोंसे च्युत हो गये थे, ऐसे जलके बलपर विश्राम किये हुए देवताओंको—मच्छरोंके सदृश—फेनरूपी पर्वतोंकी तटी और कोटियोंपर (शिखरोंपर) धारण कर रहा था ॥ १८ ॥

उस समुद्रमें जो बुल्ले उठ रहे थे, वे उनके भीतर स्थित प्राणियोंकी

शरद्व्योमसमाभोगैर्वलद्भिर्बुद्बुदेक्षणैः ।
पश्यन्निव नदीधारान्मेघानाताम्रपूरकान् ॥ २० ॥
पुष्करावर्तकाभ्राणां बहुभिर्वीचिमण्डलैः ।
कुर्वन्नालिङ्गनानीव सपक्षाद्रिवदुत्थितैः ॥ २१ ॥
त्रिजगद्ग्राससंतृप्तः प्रगायन्निव घर्घरैः ।
स्वैर्नृत्यन्निव चोग्राद्रिकटकैर्वीचिदोर्द्रुमैः ॥ २२ ॥
नदीधाराधरैरूर्ध्वे मध्ये दग्धैर्धराधरैः ।
अधो धराधरैर्नागैरधरः पङ्कगैर्वृतः ॥ २३ ॥
धारात्रिपथगापूरैर्निपतद्भिर्निरन्तरम् ।
मग्नोन्मग्नोह्यमानाद्रिशृङ्गडिण्डीरबुद्बुदः ॥ २४ ॥

दृष्टिसे चाँदीके कड़ाहेके सदृश प्रतीत हो रहे थे, ये इतने विपुल थे कि इस प्रसिद्ध आकाशके सदृश थे, और ये ठीक समुद्रके नेत्रोंके सदृश प्रतीत हो रहे थे, इन सहस्र नेत्रोंसे वह ऐसे देख रहा था, जैसे इन्द्र ॥ १९ ॥

शरत्कालके आकाशके सदृश विशाल उठ रहे बुद्बुदोंरूपी नेत्रोंसे वह नदियोंके समान धारावाले चारों ओर लालिमासे व्याप्त मेघोंको मानो देख रहा था ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, यह प्रलयकालका समुद्र पक्षसहित पर्वतोंके तुल्य आविर्भूत हुए अनेक तरङ्गमण्डलोंसे पुष्करावर्तक आदि मेघोंका मानो आलिङ्गन कर रहा था ॥ २१ ॥

तीनों लोकके ग्राससे संतृप्त हुआ वह प्रलयकालीन महासागर घर्घरशब्दोंसे एक तरहका गीत गा रहा था और उग्र पर्वतरूपी कंकणोंसे अलंकृत तरङ्गरूपी भुजाओंसे वह मानो नाच कर रहा था ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, धरासे शून्य वह सागर ऊपर नदीके सदृश धाराओंवाले मेघोंसे, मध्यमें दग्ध पर्वतोंसे तथा नीचे पङ्कमें रहनेवाले नागोंसे आवृत था ॥ २३ ॥

निरन्तर गिर रही धाराओंसे सुशोभित गङ्गाजीकी बाढ़से वह परिपूर्ण था। उसमें पर्वतशिखरोंके डूबने और उतरानेसे पानीके झाग और बुल्ले उठ रहे थे ॥ २४ ॥

उह्यमानदलत्स्वर्गखण्डक्रन्दन्नभश्वरः ।
वहद्विद्याधरीवृन्दपद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥ २५ ॥
एकार्णवपयःपूरैर्घर्घरारावरंहसि ।
त्रैलोक्यखण्डसंहारे प्रोह्यमाणे महाम्भसि ॥ २६ ॥
नासीत्कश्चित्परित्राता हन्ताऽवीचिवशोऽपि च ।
शक्नोति कः परित्रातुं कालेन कवलीकृतम् ॥ २७ ॥
नाकाशमासीन्न दिगन्त
आसीदधोऽपि नासीन्न तदूर्ध्वमासीत् ।
भूतं न आसीन्न च सर्ग आसी-
दासीत्परं केवलमेव वारि ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने एकार्णववर्णनं नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

उसमें बहते हुए छिन्न-भिन्न स्वर्गके अनेक खण्डोंमें देवतारूपी अनेक हंस विद्यमान थे। एकमात्र यही कारण था कि उसका आभ्यन्तर बहती हुई विद्याधरियोंकी पङ्क्तिरूपी पद्मिनीसे बहुत ही सुन्दर दीख रहा था ॥ २५ ॥

एकमात्र समुद्रोंके जलोंकी उस बाढ़से घर्घरशब्दयुक्त, अतिवेगशाली सम्पूर्ण त्रैलोक्यके खण्डोंके संहारक, बेटोक-रोक बहाये जा रहे उस महासागरमें उस समय कोई संरक्षक नहीं था और ऐसा भी कोई प्राणी या पदार्थ न था, जो कि उसकी तरङ्गोंकी चपेटमें न आ गया हो, यह दुःखकी बात है। हे श्रीरामजी, इस संसारमें कालके गालमें पड़े हुए प्राणीकी कौन रक्षा कर सकता है ॥ २६, २७ ॥

हे श्रीरामजी, और अधिक हम क्या कहें, सिर्फ यही कह देना पर्याप्त है कि उस समय आकाश नहीं था, दिगन्त नहीं था, ऊपर नहीं था, नीचा नहीं था, भूत नहीं था और न सर्ग था, किन्तु एकमात्र केवल जल ही जल विद्यमान था ॥ २८ ॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकोनाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे चक्षुर्व्योमस्थोऽहमथात्यजम् ।
ब्रह्मलोके महालोके प्रभातेऽर्कः प्रभामिव ॥ १ ॥
यावद्दृष्टो मया तत्र शैलादिव विनिर्मितः ।
परमेष्ठी समाधिस्थः प्रधानपरिवारवान् ॥ २ ॥
समूहश्चैव देवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ ३ ॥
सोमोऽथ वरुणोऽग्निश्च तथाऽन्येऽपि सुरर्षयः ।
देवगन्धर्वसिद्धानां साध्यानां च विनायकाः ॥ ४ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग

[प्रबोध द्वारा स्वप्नके बाधके समान, ऋषियों तथा देवताओंके समूहके सहित विधाताके निर्वाणका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तपोलोकपर्यन्त जब समूचा प्रदेश प्रलयकालीन एक महासागरके जलमें डूब गया तब सत्यलोकके निकट आकाशमें स्थित मैंने अपनी दृष्टि ऐसी फेंकी, जैसे प्रातःकालमें सूर्यदेव अपनी प्रभा फेंकते हैं ॥ १ ॥

इतनेमें मैंने प्राणादि-उपासनाओंके द्वारा सालोक्यादि मुक्तिको प्राप्त हुए तथा ब्रह्माजीके साथ विदेहकैवल्यको प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहे जीवन्मुक्त परिवारके * सहित ब्रह्माजीको शैलसे विनिर्मित हुए-सा देखा ॥ २ ॥

वहां मैंने अधिकारी देवों तथा भावितात्मा मुनियोंके समूहको देखा। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समूहके भीतर मैंने शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण और अग्निको देखा तथा इनके अतिरिक्त वहां मैंने और भी अनेक देवताओं और ऋषियोंको देखा। इतना ही नहीं और सुनिये—वहां देव, गन्धर्व,

---

* इस विषयमें सुनिये क्या कहा है—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

लिपिकर्मार्पिताकाराः सर्वे ध्यानपरायणाः ।
बद्धपद्मासनास्तत्र निर्जीवा इव संस्थिताः ॥ ५ ॥
अथ ते द्वादशादित्यास्तमेवोद्देशमागताः ।
बद्धपद्मासनास्तस्थुस्तथैवाऽऽशु यथैव ते ॥ ६ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण दृष्टवानहमब्जजम् ।
पुरो विनिद्रतां यातः स्वप्नदृष्टमिवाग्रगम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मलोकजनं सर्वं महतामिव वासनाम् ।
नापश्यं स्वप्नगरं बुध्यमान इवाग्रगम् ॥ ८ ॥
अरण्यशून्यमेवासीत्तद्ब्रह्ममननं तदा ।
कठिनाकाण्डविध्वस्तं पृथिव्यामिव पत्तनम् ॥ ९ ॥

सिद्ध और साध्योंके नायक भी उपस्थित थे, मैंने उन्हें भी देखा । हे श्रीरामचन्द्रजी, पद्मासन लगाकर बैठे हुए, चित्रलिखित-जैसे, ध्यानमें परायण वे सबके-सब निर्जीवके समान वहाँ स्थित थे ॥ ३–५ ॥

उसके बादकी घटना बतलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसी स्थानपर वे प्रलयके बारह सूर्य भी आये और पद्मासन लगाकर वे भी सब तुरत उन्हींकी तरह बैठ गये, जिस तरह ये देवता और ऋषि बैठे हुए थे ॥ ६ ॥

इसके बाद मुहूर्तमात्रमें मैंने सामने ब्रह्माजीको ऐसे देखा, जैसे सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंको अपने सम्मुख उपस्थित देखता है । कहनेका तात्पर्य यह कि जाग्रदवस्थामें स्वाप्निक पदार्थोंका जैसे बाध होकर केवल आत्ममात्र परिशेष रह जाता है वैसे ही मैंने ब्रह्माजीको आत्ममात्रपरिशेष ही देखा वही विधाताका विदेहकैवल्य है ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त विधाताके पारिवारिक लोगोंमें भी ऐसा ही कैवल्य हुआ, यह कहते हैं—'ब्रह्मलोकजनम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्माजीके परिवारके जितने लोग थे, उन सबको भी मैंने अपने सामने तत्त्वज्ञानियोंकी ज्ञानसे बाधित पूर्ववासनाकी तरह बिलकुल ऐसे नहीं देखा, जैसे सोकर उठता हुआ पुरुष स्वप्नकालमें देखे गये नगरको अपने सामने उपस्थित नहीं देखता ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माजीके चरम-साक्षात्कारके समय सबके विदेह-

सर्वं एव न च क्वापि ते तथा तादृशास्तदा ।
ऋषयो मुनयो देवा सिद्धा विद्याधरादयः ॥ १० ॥
ज्ञातं ततोऽवधानेन मया नभसि तिष्ठता ।
यावन्निर्वाणमापन्ना ब्रह्मवत्सर्व एव ते ॥ ११ ॥
वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः ।
स्वप्नलोकाः प्रबुद्धानामिव स्वं रूपमागताः ॥ १२ ॥
आकाशात्मैव देहोऽयं भाति वासनया स्फुटः ।
तदभावात्तु नो भाति स्वप्नो बोधवतो यथा ॥ १३ ॥

कैवल्यको प्राप्त हो जानेसे उन ब्रह्मदेवका वह सारा ब्रह्माण्ड, जो उनके सङ्कल्पसे सिद्ध था, शून्य अरण्यकी नाईं ऐसे हो गया, जैसे किसी भयङ्कर आकस्मिक नाशके हेतुसे विध्वस्त हुआ पृथिवीमें नगर ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऋषि, मुनि, देव, सिद्ध तथा विद्याधर आदि वे सभी वैसे ही उस समय शून्यरूप हो गये, क्योंकि वे सब वहाँसे कहीं भी अन्यत्र नहीं गये ॥ १० ॥

नामरूपसे शून्यभावको प्राप्त होनेपर भी स्वरूपसे तो वे सबके सब निर्वाण-रूपसे ही स्थित थे, यह महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभवसे दिखलाते हैं—'ज्ञातम्' इत्यादिसे ।

इसके बाद आकाशमें स्थित मैंने ध्यानसे जाना कि वे सभी लोग तो ब्रह्माजीके समान ही नामरूपका परित्यागकर निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं ॥ ११ ॥

वासनाकल्पित रूपका नाश हो जानेसे वही उनकी वास्तवस्वरूपकी प्राप्ति है, इस आशयसे कहते हैं—'वासनायाम्' इत्यादिसे ।

वासनाके विलीन हो जानेपर वे अदर्शनको प्राप्त होकर अपने विशुद्ध ब्रह्म-स्वरूपमें ऐसे आ गये, जैसे प्रबुद्ध—जागे हुए प्राणियोंके स्वप्नकालके लोक ॥१२॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं—'आकाशा०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चिदाकाशरूप यह शरीर वासनाके कारण ही स्पष्ट भासित हो रहा है । वासनाके अभावमें तो यह ऐसे नहीं भासता, जैसे कि बोधवान् प्राणीको यानी जागे हुए जीवको स्वप्न नहीं भासता ॥ १३ ॥

अन्तरिक्षगतो देहो यथा स्वप्ने विलोक्यते ।
बोधे तद्वासनाशान्तौ न किञ्चिदपि लक्ष्यते ॥ १४ ॥
जाग्रत्यपि तथैवायं वासनायाः परिक्षये ।
नैवातिवाहिको नैव लक्ष्यतेऽत्राऽऽधिभौतिकः ॥ १५ ॥
स्वप्नानुभव एषोऽत्र दृष्टान्तत्वेन लक्ष्यते ।
आबालमेतत्संसिद्धमनुभूतं श्रुतं स्मृतम् ॥ १६ ॥
अपह्नुते च वा योऽपि स्वमेवानुभवं शठः ।
स त्याज्यः को ह्यलीकेन सुप्तमुद्बोधयेत्किल ॥ १७ ॥

जैसे स्वप्नमें आकाशगामी यह शरीर दीखता है, किन्तु जाग्रत्कालमें नहीं दीखता, वैसे ही वासना रहनेपर ही यह शरीर दीखता है तत्त्वज्ञान होनेपर जब प्राणीकी वासना बिलकुल शान्त हो जाती है तब कुछ भी नहीं दीखता ॥ १४ ॥

स्वप्नसे उठनेपर जाग्रत्कालमें एकमात्र स्वाप्निक भौतिक पदार्थोंका बाध होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान होनेपर तो आधिभौतिक आदि तीनों शरीरका बाध होता है, इतना विशेष है, इस आशयसे कहते हैं—'जाग्रत्यपि' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालमें भी, वासनाका सर्वथा नाश हो जानेसे न तो आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भासता है और न आधिभौतिक शरीर ही दीखता है अर्थात् वासना न रहनेसे वे दोनों नहीं भासते ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें स्वप्नका अनुभव ही दृष्टान्तरूपसे लक्षित है। यह वृद्धसे लेकर एक बच्चे तक सबको अनुभूत है, श्रुतिसिद्ध है * तथा पुराणादिमें प्रतिपादित है ॥ १६ ॥

इस तरह अपने तथा दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध स्वप्नके बाधका जो अपलाप करता है यानी स्वप्नादि सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको सत्यस्वरूप स्वीकार करता है, उसको तत्त्वज्ञानोपदेश देनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है—वह प्रबोधके योग्य है ही नहीं, यह कहते हैं—'अपह्नुते' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो शठ स्वयं अपनेको तथा दूसरोंके अनुभवको भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् अपने तथा दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध स्वप्नके बाधका

* देखिये यह श्रुति—'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' ।

देहकारणकः स्वप्नो देहाभावान्न दृश्यते ।
इति चेत्तददेहानां परलोकोऽपि नास्ति च ॥ १८ ॥
इत्येतदभविष्यच्चेत्तच्छरीरकसंक्षये ।
नाभविष्यदयं सर्गः स चास्त्येव च सर्वदा ॥ १९ ॥

अपलाप करता है वह त्याज्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि मिथ्या सुप्त पुरुषको यानी सचमुच न सोये हुए पुरुषको भला कौन उठा सकता है ॥१७॥

फिर भी इस विषयमें स्वप्नका दृष्टान्त तो उचित नहीं है, क्योंकि यह जो वर्तमान शरीर है इसमें पिता आदिका शरीर कारण है, परन्तु स्वप्नशरीर तो ऐसा नहीं है। स्वप्नशरीरके अत्यन्त असद्रूप होनेसे यह विषम दृष्टान्त है, यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसकी वह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यज्ञ आदिके द्वारा जो स्वर्गीय शरीर प्राप्त होता है वह भी तो अत्यन्त असद्रूप ही है, ऐसी परिस्थितिमें प्रतिवादीको नास्तिक कहलानेके लिए तैयार रहना होगा, यह कहते हैं—'देहकारणकः' इत्यादिसे ।

इस शरीरका कारण पिता आदिका शरीर है, इसलिए यह दिखाई देता है, किन्तु स्वाप्निक शरीरका कारण तो पिता आदिका शरीर नहीं है, इसलिए वह नहीं दिखाई देता, यदि कोई यह शङ्का करे, तो उसकी यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो उसके मतसे इस पार्थिव शरीरसे रहित प्राणियोंका, जो यज्ञादिके द्वारा स्वर्गीय शरीर प्राप्त करनेवाले हैं, परलोक भी नहीं है। ऐसी दशामें हमें उसको नास्तिक कहनेमें तनिक भी संकोच न होगा ॥ १८ ॥

किंच, पिता आदिका शरीर जिस देहका कारण है उस देहको भी सर्वथा असद्रूप माननेपर तो सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप हिरण्यगर्भको भी असद्रूप होनेमें कोई अड़चन न होगी और उस दशामें उनकी सर्गादि-अर्थक्रिया भी मिथ्या ही सिद्ध होगी, यह कहते हैं—'इत्येतद०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस रीतिसे यदि यह सब असद्रूप होता, तो पूर्व-सृष्टिके प्रलयके अन्तमें सब शरीरोंका सर्वथा क्षय होनेपर इस सृष्टिके आदि-कालमें शरीरहेतुक शरीर न रहनेसे यह सृष्टि भी न होती। और यह सृष्टि सबकी आँखोंके सामने सर्वदा विद्यमान है ही [इसलिए यह सृष्टि नहीं है, यह कोई कहनेका साहस नहीं कर सकता] ॥ १९ ॥

अवयवविभागात्मन्यवश्यं भाविनि क्षये ।
न कदाचिदनित्थं तज्जगदित्यप्यसंस्थितम् ॥ २० ॥
न कदाचिज्जगन्नाशो देहोद्भूतगुणादिकम् ।
मदशक्तिरिव ज्ञप्तिरुदेतीति च वक्षि चेत् ॥ २१ ॥

पृथिवी आदि पञ्चभूतोंके सावयव होनेसे विभागोंका अवसान हो जानेपर संयोगका विनाश ध्रुव है। अतः अवयवविभागस्वरूप इस जगत्‌का जब विनाश अवश्यंभावी है तब इस दशामें 'यह जगत् कभी इस अविच्छिन्नप्रवाहसे विपरीत नहीं है, यह जैमिनीय मत अप्रतिष्ठित है—असंगत है ॥ २० ॥

यहाँपर प्रसङ्गवश चार्वाक मतका भी खण्डन करनेके लिए अनुवाद करते हैं—'न कदाचिद्०' इत्यादिसे।

पृथिवी आदि जो चार भूत हैं वे ही चार प्रकारके देहाकारसे तथा घट, पट आदिके आकारसे सम्मिलित होकर 'जगत्' नामसे कहे जाते हैं। पृथिवी आदि भूतस्वरूप होनेके कारण उस जगत्‌का कभी नाश नहीं होता। जब ये चारों भूत एक जगह मिल जाते हैं तब ज्ञान तथा इच्छा आदि गुणोंवाला इन चारोंके धर्मोंका समुदायरूप एक शरीर तैयार हो जाता है, जिसमें हाथ, पैर आदि अनेक अवयव विद्यमान रहते हैं। और वह शरीर भी उन हाथ, पैर आदि अनेक अवयवोंकी नाना प्रकारकी रचनाओंके कारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जातिका हो जाता है। यद्यपि इन चारों भूतोंके मध्यमें किसी भी एक भूतमें ज्ञप्ति नहीं दिखाई देती तथापि जिन द्रव्योंसे मदिरा तैयार की जाती है उन्हें पीसकर जल तथा नमकके साथ एकत्र मिला दिये जानेपर उन एकत्र मिले हुए द्रव्योंमें जैसे कालपाकादि द्वारा मदशक्तिरूप एक विलक्षण गुण आविर्भूत हो जाता है उसी तरह देहाकारमें परिणत हुए पृथिवी आदि इन चारों भूतोंमें ज्ञप्तिरूप गुण आविर्भूत हो जाता है। इसलिए ज्ञप्ति तथा इच्छा आदि गुणोंसे सम्पन्न यह शरीर ही आत्मा है। भाई चार्वाक, यदि यह तुम कहते हो, तो इसका उत्तर सुन लो ॥ २१ ॥

तब तो * सम्पूर्ण वस्तुओंका संक्षय † बतलानेवाले अठारह पुराण,

* अर्थात् तुम्हारे कहनेके अनुसार तो।

† अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और वैज्ञानिक ये जो चार तरहके प्रलय होते हैं उन्हें बतलानेवाले।

तत्पुराणेतिहासानां सर्वसंक्षयवादिनाम् ।
स्मृत्यादीनां सवेदानां वैयर्थ्यमुपजायते ॥ २२ ॥
अप्रमाणतयैतस्मिन्नर्थे तेषां महामते ।
अन्यत्रापि प्रमाणत्वं वन्ध्यादावपि किं भवेत् ॥ २३ ॥
न चैतदिष्यते लोके जगदुच्छेदकारणात् ।
अन्यच्चास्तामेतदङ्ग ममेदमपरं शृणु ॥ २४ ॥

महाभारत आदि इतिहास, ऐहिक और पारलौकिक आत्माके हित और अहित तथा धर्म और अधर्मके प्रतिपादक मनु आदि स्मृति एवं सदाचार आदि—ये सबके सब व्यर्थ हो जायँगे ॥ २२ ॥

यदि यह कहो कि हम देहात्मवादी चार्वाकोंके मतमें उन वेदादि शास्त्रोंका वैयर्थ्य और अप्रामाण्य इष्ट ही है । वे सबके सब अप्रमाण हो जायँ, इसमें हमारी हानि क्या है ? तो इसपर हमारा यह कहना है कि हे महामते चार्वाक, निर्दोष उन वेद, पुराण आदि शास्त्रोंका * इस अर्थमें † अप्रामाण्य हो जानेपर 'इस वन्ध्या स्त्रीने सौ लड़के पैदा किये' इस वाक्यके समान भोगलाम्पट्यलोभ-द्वेषादि हजारों दोषोंसे दुष्ट तुम्हारा वाक्य भी क्या प्रमाण होगा ? हमें तो उसकी सम्भावना भी दुर्लभ है ॥ २३ ॥

तुम्हारे कथनको लोकमें विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बिना कारण और प्रयोजनके सृष्टि आदिका संभव न होनेसे तुम्हारे मतके अनुसार तो जगत्‌का उच्छेदप्रसङ्ग अनिवार्य होगा । किंच, देहात्मवादमें क्या सभी अवयव ही आत्मा हैं या अवयवी ही ? प्रथम पक्षमें तो यह दोष आता है कि अनेक चेतनोंमें सर्वदा ऐकमत्य न होनेसे वैमत्यके कारण देहका सभी अवयव उन्मथन करने लग जायँगे । अब रह गया दूसरा पक्ष, उस पक्षमें यह दोष आता है कि हाथ आदि किसी एक अवयवके कट जानेपर अवयवीका नाश हो जानेसे 'जीवन' का ही अभाव हो जायगा—इत्यादि और भी हजारों दोष हैं ही, यह सब अलग रहे । हे चार्वाक, इस मेरे कथनसे कायाकारमें परिणत भूतसंघातमें मदशक्तिकी नाईं ज्ञप्तिगुण पैदा हो जाता है, यह जो तुमने कहा है उसका भी उत्तर हो गया और भी तुम अपने मतमें मेरा यह एक दूसरा दूषण सुन लो— ॥ २४ ॥

* जो शिष्टसम्मत हैं ।
† प्रलय, धर्माधर्म एवं आत्मतत्त्वरूप अर्थमें ।

मदशक्त्यात्मनि ज्ञाने दृष्टा देशान्तरेषु या ।
प्रमृतानां पिशाचादिदेहता सा न सिद्ध्यति ॥ २५ ॥
अथ सापि मुधाभ्रान्तिर्यविदेहं प्रदृश्यते ।
इति चेत्तन्मुधा नाम सत्यमित्येव वो भवेत् ॥ २६ ॥

यदि ऐसा मान लिया जाय कि जैसे मदशक्त्यात्मक द्रव्यमें मदशक्ति विद्यमान रहती है वैसे ही भूतसंघातमें, जो कि ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानगुण रहता है तब तो गुणी देहका नाश हो जानेपर गुणका भी अवश्य नाश हो जानेसे [दूसरे देशोंमें मरे हुए जीव देहके नष्ट हो जानेपर अपने देशमें पिशाचादिका शरीर धरकर कैसे चले आते हैं तथा दूसरोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर अपने पूर्वजन्मके आत्मीयोंको पहचान कर उनके साथ बातचीत आदि कैसे करते हैं अर्थात्] प्रदेशान्तरोंमें मरे हुए व्यक्तियोंकी पिशाचादि देहता जो लोकमें प्रसिद्ध है वह सिद्ध न होगी ॥ २५ ॥

वह पिशाचादिकी कल्पना भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि पिशाचोंको हमने अपनी आंखोंके सामने उपस्थित हुए आजतक नहीं देखा और हमारे मतमें प्रत्यक्षके सिवा और कोई दूसरा प्रमाण है ही नहीं। प्रत्यक्षातिरिक्त दूसरे प्रमाणकी संभावना ही नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार पार्थिवत्व और लोह-लेख्यत्वादि-का सहचारग्रह होनेपर भी वज्रमणि आदिमें व्यभिचार देखा गया है। उत्पातादि अन्य समयमें गायके पेटसे गदहेकी उत्पत्ति भी देखी गई है तथा देवतादिकी प्रतिमाओंसे भी बिना अग्निके भी धूम उठते देखा गया है। तथा सर्वत्र लिङ्गोंमें देशान्तर और कालान्तरमें व्यभिचारशङ्काका निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आपके अनुमान प्रमाणका तो बिलकुल योग नहीं है। सादृश्यके विषयमें यत्किञ्चित् या पूर्ण—यों विकल्प होनेसे उपमान प्रमाणकी भी सिद्धि नहीं होती। जिसके मूलमें अन्य प्रमाण नहीं है, ऐसे शब्दोंसे लोकमें अर्थसिद्धि दृष्टिगोचर न होनेसे तथा समूल शब्दोंके अनुवादक होनेसे शब्द प्रमाणका योग नहीं बैठता। इसी तरह अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रमाण नहीं हो सकते। किंच, पिशाचग्रस्त पुरुषका पिशाचवाक्व्यवहार भी जबतक देह विद्यमान रहता है तभीतक दीखता है उसके मरणके बाद नहीं। इसलिए उस देहको ही सान्निपातिक भ्रान्तिकी तरह 'मैं पिशाचग्रस्त हूँ' यह व्यर्थकी भ्रान्ति है। यदि यह सब तुम कहो,

एवं चेत्तत्परो लोकः सत्स्वर्गनरकादिकम् ।
इत्येषाऽपि न संवित्किं सत्यताम्रुपगच्छति ॥ २७ ॥

तो तुम्हारा यह सब कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारी ही बातोंसे इन सबका खण्डन हो जाता है । इसमें प्रबल कारण यह है—प्रत्यक्षके अतिरिक्त यदि सभी अप्रमाण हैं, तो फिर चार्वाकोंका वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके अतिरिक्त है । चूँकि अनुमान प्रमाणको तुम मानते नहीं हो, इसलिए युक्तिसे तुम अपने मतका तो कदापि समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमानरूप होनेसे वे युक्तियां भी प्रमाण नहीं हो सकतीं । दृष्टान्त तो तुम दे ही नहीं सकते, क्योंकि सादृश्यके उपमानगम्य होनेसे वह तुम्हारे मतसे प्रमाणके बाहर है । स्वपक्षमें अनुकूल और परपक्षमें प्रतिकूल तर्क भी तुम नहीं उपस्थित कर सकते, क्योंकि तर्कके अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिघटित होनेके कारण उसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते । आपत्ति और व्यतिरेक ये दोनों अनुपपत्ति और अनुपलब्धिके अधीन रहते हैं, इसलिए यदि इनका तुम स्वीकार करते हो, तो तुम्हें अर्थापत्ति और अनुपलब्धिको प्रमाणरूपसे स्वीकार करना अनिवार्य होगा । अतः ये जो छः प्रमाण हैं, वे सबके सब सत्य हैं, यह तुम चार्वाकोंको मानना ही पड़ेगा ॥ २६ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे आपको क्या लाभ है, यह कहते हैं—'एवं चेत्तत्परो' इत्यादिसे ।

इस तरह यदि तुम शब्द आदिका प्रामाण्य मान लेते हो, तो फिर निर्दोष श्रुतिको तुम्हें प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति न होगी । जब श्रुति प्रमाण है तब 'परलोक, स्वर्ग, नरक आदि सब सत् है'—इत्याकारक श्रुतिजन्य संवित् भी क्यों न सत्यताको यानी प्रामाण्यको प्राप्त होगी ? कहनेका तात्पर्य यह कि यदि अन्यके बोधके लिए शब्द प्रमाण है, तो फिर परलोक, स्वर्ग, नरक तथा उनके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि शब्द भी क्यों न सत्य प्रमाण होंगे ? क्योंकि जितने ज्ञान हैं उनमें स्वतः प्रामाण्य है, इसमें तो किसीको भी विवाद नहीं है, हाँ, यह बात दूसरी है कि कारणदोष तथा बाधक ज्ञानसे उसका कहींपर अपवाद हो जाता है । लेकिन यहाँपर तो न कोई कारणमें दोष है और न 'स्वर्ग, नरक आदि नहीं है' ऐसा बाधक प्रमाणज्ञान ही है ॥ २७ ॥

न पिशाचप्रमा सत्या मदशक्तिमतोऽपि हि ।
प्रतिभाऽस्य न सत्या स्यात् परलोकात्मिका कथम् ॥२८॥
पिशाचोऽस्तीति चेत्संवित् सत्यार्था तेन संविदः ।
मृतस्याऽस्ति परो लोक इत्यस्यां किं न सत्यता ॥ २९ ॥
काकतालीयवद्देहात्पैशाची ज्ञप्तिरस्ति चेत् ।
परलोकार्थसंवित्तिः कथं नास्ति सकारणा ॥ ३० ॥

'अथ साऽपि मुधा भ्रान्ति०' यह जो ऊपर कहा है, उसमें दोष दिखलाते हैं—'न पिशाच०' इत्यादिसे ।

अन्य शरीरमें स्थित पिशाचकी—सबके अनुभवसे सिद्ध पिशाचग्रस्त शरीरमें पिशाचविषयिणी—प्रमा ज्ञानोंके स्वतः प्रामाण्य होनेसे ही लोकमें सत्यरूपसे प्रसिद्ध है । वह भी यदि सत्य न प्रमाणित हुई, तो फिर मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए पुरुषकी प्रतिभा भी, जो मदशक्ति-समन्वित द्रव्यगत मदशक्तिविषयक है, कदापि सत्य प्रमाणित न होगी । अमत्त पुरुषोंके अनुभवसिद्ध अर्थोंका खण्डन करनेवाले तुम ठहरे, तुम्हारी प्रमत्त पुरुषकी प्रतीतिसे सिद्ध मदशक्तिका दूसरा कोई कैसे नहीं खण्डन कर सकता । ऐसी दशामें तुम्हारी दृष्टान्तासिद्धिके कारण ज्ञानमें भूतगुणत्वकी सिद्धि न हो सकनेसे परलोकात्मक स्थितिका यानी स्वर्गनरकादि स्थितिका तुम भला कैसे खण्डन कर सकते हो ॥ २८ ॥

सर्वजनप्रसिद्ध ज्ञानोंका स्वतः प्रामाण्य होनेसे 'पिशाच है' यदि यह संवित् सत्यार्थ है, तो फिर मृत प्राणीका भी परलोक है यानी कोई-न-कोई दूसरा लोक अवश्य है, यह श्रुतिजन्य प्रतीति भला सत्य क्यों न सिद्ध होगी [क्योंकि जो युक्ति तुम उपस्थित कर रहे हो उसी युक्तिके बलसे हम मृत प्राणीके परलोकका अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं । हमें युक्ति ढूँढ़नेके लिए कहीं और जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है] ॥ २९ ॥

और सुनो, पिशाचग्रस्तकी पैशाची ज्ञप्ति श्रुतिके समान किसी दृढ़तर प्रमाणसे जन्य नहीं है, किन्तु 'काकतालीय' न्यायवत् आकस्मिक है—अचानक उदित हुई है । ऐसी ज्ञप्ति भी यदि स्वानुभूत होनेसे प्रमा है, तो फिर श्रुति आदि दृढ़तर कारणोंके सहित विद्यमान परलोकार्थसंवित्ति भला प्रमा क्यों नहीं है ॥ ३० ॥

याऽन्तर्वेत्ति यथा संवित् सा तथाऽनुभवत्यलम् ।
अस्तु सत्यमसत्यं वा सिद्धमित्यनुभूतितः ॥ ३१ ॥
मृतस्यास्ति परो लोको विदित्येवंमयी भवेत् ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिंस्तेन किं सदसच्च किम् ॥ ३२ ॥
तस्मात्स्वभावः प्रथमं प्रस्फुरन्वेत्ति संविदम् ।
वासनाकारणं पश्चाद्बुद्ध्वा संपश्यति भ्रमम् ॥ ३३ ॥

एकमात्र अपने अनुभवके बलपर अर्थसत्ताका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि शुक्तिमें रजतका अनुभव होनेपर भी उसमें अर्थसत्ता नहीं दीखती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'याऽन्त०' इत्यादिसे ।

जो संवित् जिस पदार्थकी सत्ताको अपने भीतर जैसी जानती है उस पदार्थकी सत्ताको वह अपने भीतर वैसी ही भलीभाँति अनुभव करती है । शुक्ति-रजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिक अर्थसत्ताका अवगाहन करती है, परन्तु पूर्व-कालकी संवित्का जब 'यह रजत नहीं है' इस उत्तरकालकी संवित्से बाध हो जाता है तब यह उत्तरकालकी बाधसंवित् सीपमें चाँदीकी त्रैकालिक असत्ता बतलाती है । ऐसी स्थितिमें प्रथम संवित्के बलसे रजतमें प्रातिभासिक सत्ता रहे या द्वितीय संवित्के बलसे असत्ता रहे, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अनुभवसे दोनों ही सिद्ध हैं [अनुभवका सहारा लिये बिना अर्थके रूपका अपलाप करना कोई बच्चोंका खेल नहीं है !] ॥ ३१ ॥

जीवितदशामें देहके उपस्थित रहनेपर श्रुति आदि प्रमाणके बलसे अथवा मृतदशामें देहके उपस्थित न रहनेपर स्वप्नवत् एकमात्र प्रतिभासके बलसे 'पर-लोक है'—इत्याकारक अनुभवस्वरूप संवित् यदि अवश्य होगी ही, तो फिर उस मृत्युसे क्या ? जीवित प्राणीके अनुभवसे सिद्ध सत् है और मृतके अनुभवसे सिद्ध असत् है अथवा इसके विपरीत प्रकारसे है, इसका अपलाप ही क्यों होगा—दोनोंमें किसीका भी अपलाप नहीं किया जा सकता । इस तरह श्रुति आदि प्रमाण हैं, यह सिद्ध हो गया ॥ ३२ ॥

यदि वह चार्वाक यह कहे कि कायाकारमें परिणत हुए भूतोंसे संवित्का उद्भव होता है, इसलिए शरीरके नष्ट हो जानेपर मृत प्राणीको पारलौकिकी बुद्धि ही न उत्पन्न होगी, तो इसपर उससे कहना यह चाहिये कि हे मित्र, संवित्

तत्क्षयाच्छममायाति द्रष्टृदृश्यदृगामयः ।
तत्सत्तायामुदेतीयं संसृत्याख्या पिशाचिका ॥ ३४ ॥
उपलम्भ उदेत्यादौ ब्रह्मणो वासना ततः ।
तच्छान्तिं विद्धि निर्वाणं तत्सत्तां संसृतिभ्रमम् ॥ ३५ ॥

शाश्वत है, स्वतः सिद्ध है, प्रत्युत उसकी सिद्धिके बलसे ही वासनामय आतिवाहिक देह, तत्कल्पित स्थूल देह तथा बाह्यप्रपञ्चकी पीछे सिद्धि होती है। वासनाके सिवा कोई अन्य दृश्यप्रपञ्चकी सिद्धिमें हेतु नहीं है, इसलिए संवित्की उत्पत्ति देहके अधीन नहीं है। यह सूचित करते हुए महाराज वसिष्ठजी उस चार्वाकके प्रति वचनका उपसंहार करके 'वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः' इत्यादि श्लोकसे पहले जो यह उपक्रम किया गया है कि एकमात्र वासनाके क्षयसे ही सम्पूर्ण दृश्यका उच्छेद होता है इस उठाई गई बातका समर्थन करनेके लिए प्रस्ताव करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए * ज्ञानस्वभाव परमात्मा स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे स्फुरित होते हुए समस्त व्यवहारसे पहले निजस्वरूपभूत संवित्को, जो स्वतः नित्यसिद्ध है जानता है, जैसे अग्नि अपनी औष्ण्यप्रकाशरूपताको जानती है। उसके बाद वासनाओंकी उत्पत्तिमें उपादानकारण सर्वजगत्की वासनामय आतिवाहिक देहको जानकर फिर स्थूल देहादि संसारके भ्रमको देखता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सबसे पूर्वसिद्ध संवित्की सिद्धि देहके अधीन नहीं है ॥ ३३ ॥

अतएव एकमात्र वासनाके क्षयसे ही सूक्ष्मशरीरक्षय द्वारा सम्पूर्ण अनर्थोंका क्षय सिद्ध है, यह कहते हैं—'तत्क्षया०' इत्यादिसे।

वासनाके क्षयसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप रोग शान्त हो जाता है तथा वासनाकी सत्ता रहनेपर यह संसृतिनामक पिशाचिका उदित होती है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको संसार रचनेकी इच्छा * उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्वकालकी जगद्वासनाओंका जगत्-रूपसे उद्भव होता है।

---

* अर्थात् चूँकि वेदादि प्रमाण सिद्ध हो गया है तथा ज्ञानोंमें स्वतःप्रामाण्यकी सिद्धि हो चुकी है, इसलिए।

* 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'—इत्यादि श्रुति देखिये।

उत्पन्नैव च सा नादौ परब्रह्मण्यसम्भवात् ।
उत्पन्ना समयाद्याऽसौ ब्रह्मैव परमेव सत् ॥ ३६ ॥

इसलिए वासनाकी शान्तिको आप निर्वाण समझिये और उसकी सत्ताको संसाररूप भ्रम जानिये ॥ ३५ ॥

यह कहिये कि वासना उत्पन्न कैसे हुई ? ब्रह्मसे तो वह उत्पन्न हुई नहीं, क्योंकि उसके तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे कारण होनेका निषेध है तथा असंग, कूटस्थ और अद्वय प्रतिपादक श्रुतियां भी इसीका समर्थन करती हैं। पूर्वकल्पीय जगत्से वह वासना उत्पन्न होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो प्रलयकालमें स्वयं नष्ट हो जाता है उसमें दूसरेको पैदा करनेकी शक्ति ही कहां रह सकती है। यदि यह कहिये कि प्रलयमें जगत् नष्ट नहीं होता, वह स्वयं ही चरमभाव विकारसे सूक्ष्म होकर स्थित रहता है, इसलिए उसकी उस तरहकी स्थिति ही वासनात्मक प्रलय है, तो यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि इसपर मैं आपसे यह पूछता हूँ कि वैसी जगत्की स्थिति क्या प्रलयमें अपनी सत्तासे रहती है या ब्रह्मकी सत्तासे ? यदि आप यह कहें कि अपनी सत्तासे रहती है, तो आपके इस पक्षमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध पड़ता है। अब रहा आपका दूसरा पक्ष, इसमें हमारा यह कहना है कि जो स्वतः असत् है वह भला दूसरेकी सत्तासे स्थित रहता है यह भी कहना तो एक जबर्दस्त मिथ्या प्रलाप ही होगा न। इसलिए दोनों पक्षमें सृष्टि और प्रलयमें कोई विशेषापत्ति न होनेसे अभासमानकी सत्ताकी प्रसिद्धिके अभावमें जगत नष्ट होता है और स्थित भी रहता है, यह कहना तो 'वदतो व्याघात' दोषसे ग्रस्त ही है। ठीक है, यह सब आपका कथन हम मान रहे हैं। सुनिये, प्रलय या पूर्वसर्गमें वह वासना उत्पन्न ही है, यह आप कैसे कहते हैं, यह तो आप कह नहीं सकते कि वह वासना उत्पन्न ही है, क्योंकि असङ्ग अद्वय परब्रह्ममें अनुत्पत्ति तो आप पहले ही कह चुके हैं। फिर भी अद्वितीय ब्रह्मबोधके उपायरूपसे जबतक बोध नहीं हो जाता, तबतकके लिए आप कृपाकर 'वह वासना भी पहले किसी एक निमित्तसे अवश्य उत्पन्न हुई है, यह स्वीकार कर लीजिये, क्योंकि बिना कारणके जगत्की उत्पत्ति नहीं होती, यह शास्त्रसिद्ध है। हाँ, ब्रह्मज्ञान हो जानेके बाद तो फिर सारा संसार ही सद्रूपब्रह्म है और वह वासना भी परब्रह्मस्वरूप ही है ॥३६॥

एतावद्यत्परिज्ञानं तन्निर्वाणं विदुर्बुधाः ।
यदत्रैवापरिज्ञानं तं बन्धं विद्धि राघव ॥ ३७ ॥
विज्ञानघन एवायं कचनाकचनात्मकः ।
स्वयमेव कचत्यन्तर्न कचत्येव वा स्वयम् ॥ ३८ ॥
संविदंशपरावृत्तिमात्रे पेलवरूपिणि ।
बन्धदृङ्मोक्षदृक्चेति क्लेशस्तत्साधनं कियत् ॥ ३९ ॥
संविदुद्बोधने बन्धस्तदनुद्बोधने शिवम् ।
असत्सद्वज्जगद्भाति संविदुद्बोधनोदरम् ॥ ४० ॥

बिना असङ्ग अद्वय ब्रह्मका श्रुतियोंसे परिज्ञान किये वासनाकी अनुत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है । ब्रह्मका परिज्ञान हो जानेपर तो सम्पूर्ण संशयोंके बीजभूत अज्ञानका उच्छेद हो जानेसे निर्वाण ही सम्पन्न है । इसलिए वासनाकी उत्पत्ति आदिमें अनुपपत्तिकी शङ्का करना ठीक नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'एतावत्' इत्यादिसे ।

इतना जो यह परिज्ञान है उसीको तत्त्वज्ञानी लोग निर्वाण कहते हैं । इसलिए हे राघव, इस ब्रह्मके विषयमें जो प्राणीका अपरिज्ञान है उसीको आप बन्ध समझिये ॥ ३७ ॥

विज्ञानघन यह आत्मा ही प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भी है । ज्ञात होनेपर यह स्वयं ही स्वप्रकाशरूपसे अन्दर स्फुरित होता है तथा ज्ञात न होनेपर यानी श्रुति आदि प्रमाणलाभके पहले यह बिलकुल स्फुरित नहीं होता ॥ ३८ ॥

'मैं बद्ध हूँ' इस भावनासे बन्धदर्शन और 'मैं नित्यमुक्त हूँ' इस भावनासे मोक्षदर्शन जब आत्माको अत्यन्त कोमलात्मा एकमात्र संविदंशके परिवर्तनमात्रसे प्राप्त होता है तब भला उसके साधनमें क्लेश ही कितना है ॥ ३९ ॥

इसको परीक्षक लोग व्युत्थान और समाधि तथा व्युत्थान और सुषुप्तिके द्वारा स्पष्ट देख सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'संविदुद्बोधने' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संवित्को यानी चित्तकी वृत्तिको बहिर्मुख कर देनेपर बन्ध और उसको समाधि द्वारा आत्मामें लीन कर देनेपर निर्वाण प्राप्त होता है । संवित्के उद्बोधनरूपी उदरवाला यह असत् संसार सत्के समान

अजडं वेदनं सुप्तं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
प्रबुद्धबन्ध इत्याहुर्यदिच्छसि तदाहर ॥ ४१ ॥
निर्वाणवासनमनन्तमनाद्यमच्छ-
बोधैकतानमपयन्त्रणमस्तशङ्कम् ।
अद्वैतमैक्यरहितं च निरस्तशून्य-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥



अशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति ते सर्व आयाता ब्रह्मलोकनिवासिनः ।
अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीणदशा इव ॥ १ ॥

भासता है । इसका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिको बहिर्मुख कर देनेपर यह असत् संसार सत्‌के समान भासित होता है ॥ ४० ॥

सुप्त और अजड़ वेदन 'मोक्ष' कहलाता है तथा प्रबुद्ध वेदनको तत्त्वज्ञानी लोग बन्ध कहते हैं । इसलिए इन दोनोंमें आपको जिसकी इच्छा हो उसे चुन लीजिये ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बन्ध-मोक्ष आदिकी सारी शङ्काएँ छोड़कर आप निर्वाण-रूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, स्वच्छ बोधस्वरूप, अद्वैत और ऐक्यसे रहित, अशून्य (परिपूर्ण) ब्रह्मस्वरूप बनकर आकाशकोशके सदृश विशद अन्तःकरणसे युक्त, शान्त एवं बन्धनसे बिलकुल मुक्त होकर स्थित रहिये ॥ ४२ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सी सर्ग

[पूर्वसर्गमें वैज्ञानिक तत्त्वदृष्टिसे प्रलयक्रमका वर्णन हो चुका । अब योगिगम्य अन्य प्राकृत प्रलयक्रमका वर्णन]

विधाताकी वासनासे कल्पित उनके लोक, देव, भुवन आदि समस्त प्रपञ्चका

अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते ।
जगद्वद्ब्रह्मलोकं तमदहन् भास्वरार्चिषः ॥ २ ॥
वैरिञ्चनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरिञ्चिवत् ।
तेऽपि निर्वाणमाजग्मुर्निःस्नेहदशदीपवत् ॥ ३ ॥
तत एकार्णवापूरो विरिञ्चिनगरान्तरम् ।
रात्रौ भुवमिव ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥ ४ ॥

जो प्रारब्धक्षयके अनन्तर क्षणभरमें ही उत्पन्न हुए साक्षात्कार द्वारा बाध है तद्रूप वैज्ञानिक प्रलयका, जो स्वप्नबाधके सदृश है, उसका मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे 'नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपपत्तिपूर्वक पूर्व सर्गमें वर्णन हो चुका । अब बद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे, विधाताकी देह, उसके आरम्भक उपाधियों तथा उसके इन्द्रिय आदिकोंका अपने-अपने कारणमें लय-द्वारा मायाशबल ब्रह्ममें लयरूपी प्रलयका उपवर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह आये हुए वे सभी ब्रह्मलोकनिवासी अदृश्यरूपताको ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे बत्तीसे रहित दीप ॥ १ ॥

इसके अनन्तर जब विधाताकी देह मायाशबल ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो गई तब पूर्वोक्त वे उन बारह आदित्योंने, जो प्रकाशमयी ज्वालाओंसे युक्त थे, पृथिवी आदिकी तरह उस ब्रह्मलोकको भी भस्मीभूत बना डाला ॥ २ ॥

प्रारब्धवश अधिकारका अन्त हो जानेपर आदित्य आदि जितने अधिकारी जीव थे, वे भी चरमसाक्षात्कार द्वारा अपने-अपने समस्त प्रपञ्चका नाश हो जानेसे पूर्वोक्तके समान ही विदेहकैवल्यको प्राप्त हो गये, यह कहते हैं—'वैरिञ्चनगरम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, विधाताके नगरको जलाकर तथा विधाताके समान ही स्वयं ध्यान करके वे आदित्य आदि भी निर्वाणको ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तेल और बत्तीसे रहित दीप ॥ ३ ॥

उसके बादका दृश्य कैसा था, यह कहते हैं—'तत' इत्यादिसे ।

तदनन्तर सुन्दर विशाल तरङ्गोंसे युक्त एक महासागरकी बाढ़ने विधाताके

आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्णमर्णसा ।
तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्वद्राक्षाफलेन तत् ॥ ५ ॥
तत्तदूर्मिगिरिव्रातखगैरावलिताः खिलाः ।
विच्छिन्नाः कल्पजलदा जल एव निलिल्यिरे ॥ ६ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।
यावदभ्युदितं भीमं भीतः किञ्चिन्नभोन्तरात् ॥ ७ ॥
कल्पान्तजगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।
आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ॥ ८ ॥
तरुणादित्यलक्षाणां तेजसा आभास्वरं दधत् ।
आदित्यत्रयसङ्काशैः स्थिरविद्युच्चयोल्बणैः ॥ ९ ॥

नगरान्तरको ऐसे परिपूर्ण कर दिया, जैसे रातमें सारी पृथिवीको अन्धकार

ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा जगत्, केवल एकमात्र रससे परिपूर्ण पके हुए अङ्गूरके फलके सदृश, जलसे परिपूर्ण हो गया ॥ ५ ॥

उन-उन अनेक तरहके तरङ्गोंसे तैरते हुए पर्वतसमूहों तथा देवादिशरीरों से तोड़-फोड़ दिये जानेके कारण छिन्न-भिन्न हुए कल्पान्तोंके पुष्करावर्त आदि मेघ सब जलमें ही विलीन हो गये ॥ ६ ॥

इसी बीचमें वहां मैंने कोई एक भयङ्कररूप देखा, जो आकाशसे यानी ठीक आकाशके मध्यसे अभ्युदित हुआ था। मैं वह रूप देखते ही मारे भयके कांप गया ॥ ७ ॥

भयके कारणरूप अद्भुत विशेषणोंसे उसी रूपका वर्णन करते हैं—'कल्पान्त०' इत्यादि आठ श्लोकोंसे।

कल्पान्त जगत्के आकारके समान, आकाशको भर देनेवाला काला वह रूप देखनेमें ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो कल्पतकका प्रत्येक रातका एकत्रित हुआ सारा अन्धकार शरीर धारण करके सामने आकर खड़ा हो रहा हो ॥ ८ ॥

रङ्गमें काला होते हुए भी वह अपने तेजसे चमक रहा था, यह कहते हैं—'तरुणा०' इत्यादिसे।

लाखों तरुण आदित्योंके प्रकाशमय तेजको वह धारण कर रहा था। देदीप्यमान स्थिर बिजलीके समूह-जैसे तीन सूर्योंके सदृश नेत्रोंसे युक्त उसका

नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।
पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ॥ १० ॥
आयान्तमन्तमुक्तेऽपि व्योम्नीव विततांकृतिम् ।
खमिवासितघनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ॥ ११ ॥
स्थितमेकार्णवापूर्णाद्ब्रह्माण्डाद्बहिरम्बरे ।
व्योमेव हस्तपादादिसंनिवेशेन लक्षितम् ॥ १२ ॥
घोणाऽनिलपरावृत्तिविधूतैकमहार्णवम् ।
गोविन्दमिव दोर्दण्डक्षोभितक्षीरसागरम् ॥ १३ ॥
कल्पार्णवजलापूरं पुंस्त्वेनेव समुत्थितम् ।
मूर्तियुक्तमहङ्कारमस्तकारणमागतम् ॥ १४ ॥
कुलाचलबृहद्वृन्दमिवोड्डयनडम्बरैः ।
पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ॥ १५ ॥
ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।
दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ॥ १६ ॥

मुख तो बहुत ही ज्यादा चमकदार दीखता था। वह ज्वालाओंके पुञ्जको खूब उगिल रहा था। उसके पांच मुख थे, दस भुजाएँ थीं और तीन थे उसके नेत्र। वह अपने हाथमें शूल लिये हुए था, अन्तशून्य आकाशमें वह मानो आ रहा था, उसका आकाशकी तरह विशाल आकार था, दीप्त मेघकी तरह श्याम शरीर धारण कर वह स्थित था। एकमात्र महासागरके परिपूर्ण ब्रह्माण्डके बाहर आकाशमें वह अवस्थित था, हाथ, पैर आदिके रचनाविशेषोंसे लक्षित वह आकाश-जैसा था। अपनी नाककी श्वासवायुके गमनागमनसे वह उस एक महासागरको कम्पित कर रहा था। वह अपने भुजदण्डोंसे क्षीरसागरको क्षुभित कर देनेवाले गोविन्द भगवान्‌के सदृश था। उसे देखनेसे ऐसा मालूम हो रहा था कि महाप्रलयकालीन सभी समुद्रोंकी बाढ़ ही मानो पुरुषाकारसे स्वयं उपस्थित हो गयी हो, तथा सबका कारण होनेसे स्वयं कारणरहित सर्वसमष्टिरूप अहङ्कार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो। प्रतीत हो रहा था कि मानो उड़नेमें अत्यन्त कुशल अपने पक्षसमूहोंसे समस्त कुलपर्वतोंके महावृन्दने ही स्वयं अपने स्थानसे उड़कर सारे आकाशको पूर्ण कर दिया है। वैसा रूप देखनेके

श्रीराम उवाच

किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।
किं पञ्चवदनः कस्माद्दशबाहुः स तिष्ठति ॥ १७ ॥
किं त्रिनेत्रः किमुग्रात्मा किमेकः किंप्रयोजनः ।
केनेरितः किमकरोच्छायाऽऽसीद्वद का मुने ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

काकुत्स्थरुद्रनामासावहङ्कारतयोत्थितः ।
विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नभः ॥ १९ ॥

अनन्तर त्रिशूल तथा तीन नेत्रोंसे 'यह भगवान् जगदीश्वर रुद्र हैं' ऐसा जानकर मैंने दूरसे ही उस भगवान् परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ९–१६ ॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियोंमें महेश्वर नामसे प्रसिद्ध तो मायाशबल निराकार ब्रह्म ही है, फिर परमेश्वर किसलिए किन उपाधियोंसे पञ्चमुख आदिसे विशिष्ट मूर्ति धारण करता है ? अथवा सर्वात्मकका परिच्छिन्न मूर्तिभाव कैसे हो जाता है ? यों विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किं स' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, सभी श्रुतियोंमें प्रसिद्ध वह परमेश्वर रुद्र उस तरहका—भयानक स्वरूपवाला क्यों है ? अर्थात् काले रङ्गका वह क्यों है, उसकी महा भयानक विशाल आकृति क्यों है, उसके पांच मुख कौन हैं, उसकी दस भुजाएँ कैसे हैं, वह रहता कहां है, उसकी तीन आंखें कौन हैं, वह उग्र क्यों है, उसका स्वरूप क्या है, सृष्टि आदिमें उसका प्रयोजन क्या है ? वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि वह स्वतन्त्र है, तो पूर्णकाम उसकी संहारमें प्रवृत्ति क्यों है, यदि वह परतन्त्र है, तो फिर वह किससे प्रेरित होकर कार्य करता है । उसने क्या किया, उस परमेश्वरके रुद्ररूप होनेपर उसकी इच्छारूप माया भी क्या थी, यह सब कहिये ॥ १७, १८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे काकुत्स्थ, वह परमेश्वर ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार आदिके विषयरूप सङ्कल्प, अध्यवसाय आदिके बीजभूत सर्वाभिमानात्मक मायावृत्तिरूप अहङ्कारतासे सम्पूर्ण जगत्के अध्यासके मूल स्तम्भभूत तथा समस्त प्राणियोंको रुलाने एवं सभी शरणागत प्राणियोंके रोगोंको

व्योमाकृतिः स भगवान् व्योमवर्णो महाद्युतिः ।
चिद्व्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ॥ २० ॥
सर्वभूतात्मभूतत्वात्सर्वगत्वान्महाकृतिः ।
यानि तस्यानुषक्तानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यलम् ॥ २१ ॥
तानि तस्य मुखान्याहुस्तपद्रूपाणि सर्वतः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ॥ २२ ॥
सर्वभूतनरैः सार्द्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
यदाऽसौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ॥ २३ ॥

दूर भगानेमें निमित्तभूत होनेके कारण रुद्रनामसे आविर्भूत है । वही प्राणियोंको रुलानेमें विषमाभिमानरूप तथा प्राणियोंके रोगोंको दूर करनेमें एकाभिमानरूप सम्पन्न होता है । इसकी जो मूर्ति मैंने देखी वह निर्मल आकाशरूप ही थी ॥१९॥

वस्तुतः महाप्रकाशस्वरूप वह भगवान् चिदाकाशमात्र सार होनेके कारण आकाशमात्र आकारवाला है, व्योमवर्ण है और वह आकाशात्मा ही कहा जाता है । सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो आत्मा है तद्रूप होनेसे तथा सर्वव्यापी होनेसे वह महान् आकारवाला है * ॥ २० ॥

उस अहङ्कारकी सम्पूर्ण जीवोंके प्रत्येक शरीरमें बिलकुल अनुषक्त जो पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं उन्हींको तत्त्वज्ञानी लोग रुद्र भगवान्के पांच मुख कहते हैं † । एकमात्र यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियां सब ओरसे प्रकाशस्वभाव हैं ॥ २१ ॥

वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ नामक जो पाँच कर्मेन्द्रियां हैं ये उसकी दाहिनी भुजाएँ हैं तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द नामक ये जो उन पांच कर्मेन्द्रियोंके पांच विषय हैं वे ही पांचों विषय उसकी बायीं भुजाएँ हैं—इस क्रमसे उसकी दस भुजाएँ हैं * ॥ २२ ॥

तब इस तरहकी मूर्तिसे वह पहले क्यों न देखा गया, यदि यह आशङ्का हो, तो इसका उत्तर यह है कि चराचर नामरूपात्मक कार्योंके आकारोंके अध्या-

* 'किं स तादृगविघोरुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः'—इन तीन प्रश्नोंका उत्तर इस श्लोकसे हो गया ।

† 'किं पञ्चवदनः' इस प्रश्नका उत्तर यह है ।

* 'कस्माद्दशबाहुः' इस प्रश्नका यह उत्तर है ।

स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साऽऽकृतिः।
तथा दृश्यत एवासौ भ्रान्तिमात्रेण मूर्तिमान् ॥ २४ ॥

चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति।
देहे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ॥ २५ ॥

सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिन् काले खमूर्तिमान्।
क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेष्यति ॥ २६ ॥

रोपसे व्यामूढ़दृष्टि होनेके कारण उसके अन्तर्गत कारणस्वभावका दुर्ग्रह होनेसे ही वह उस तरहकी मूर्तिसे युक्त न दीख पड़ा, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वभूत०' इत्यादिसे।

जैसे अपनेमें अध्यारोपितकार्यरूप पट तन्तुका परित्याग कर देता है वैसे ही चार प्रकारके शरीरों तथा तत्-तत् जीवोंके साथ प्रलयकालमें परमकारण मायाशबल ब्रह्मको प्राप्त हुए चतुर्मुख ब्रह्माजीने जब उसका भी परित्याग कर दिया तब वह पूर्वोक्त आकाशमात्रपरिशेषरूप वर्णित अपनी मूर्तिमें आ गया। अर्थात् कारणरूप अपनी मूर्तिमें स्फुट हो गया। कहनेका तात्पर्य यह है कि कारण-स्वभावके दुर्ग्रहसे ही वह इस तरहकी मूर्तिसे पहले न दीख पड़ा ॥ २३ ॥

यदि वह एकमात्र आकाशस्वरूप ही है, तो फिर निराकार उसकी पूर्ववर्णित देहाकृति क्यों दृष्टिगोचर हुई? इसपर कहते हैं—'स चैकांशैक०' इत्यादिसे।

और वह रुद्र समस्त कार्यविशेषोंके प्रलयके बाद अवशिष्ट कारणके एक अंशमात्रके आकारवाला है। उसकी देहाकृतिका जो मैंने वर्णन किया है यथार्थमें वह कुछ नहीं है, क्योंकि उसका कोई आकार ही नहीं है। उपासक लोग अपनी वासनासे एकमात्र भ्रान्ति द्वारा उसे वैसा मूर्तिमान् देखते ही हैं ॥ २४ ॥

चिदाकाशगत विशाल भूताकाशमें तथा समस्त भूतोंकी देहमें वायुकेसमान वह परमेश्वर नित्य स्थित रहता है * ॥ २५ ॥

उस प्रलयकालमें एक क्षणतक सबको क्षोभित करते हुए, सम्पूर्ण भूतोंसे परित्यक्त होकर चिदाकाशमात्र मूर्तिधारी वह परमेश्वर परमशान्तिको प्राप्त हो जायगा ॥ २६ ॥

---

* 'स क्व तिष्ठति' (वह कहाँ रहता है) इस प्रश्नका यह उत्तर है।

ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहङ्कारबुद्धयः ।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ॥ २७ ॥
रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसन्निवेशेन संस्थिताः ।
त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ॥ २८ ॥
यस्मात्तद्व्यतिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
अन्यन्न विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥ २९ ॥
सर्वसत्त्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥ ३० ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुणोंके आकार ; भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल ; चित्त, अहंकार और बुद्धि ; अ, उ, और म्—ये तीनों प्रणवके अक्षर तथा ऋक्, यजु और साम—ये जो तीन वेद हैं वे ही उस रुद्र भगवान्के तीनों नेत्ररूपसे संस्थित हैं*। अपने मुष्टिच्छिद्रमें उसने त्रिशूलरूपी तीनों लोक धारण कर रक्खे हैं† ॥ २७, २८ ॥

अब 'किमात्मा' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'यस्मात्' इत्यादिसे ।

चूँकि समस्त भूतसमूहोंमें उस परमेश्वरसे भिन्न और कुछ नहीं है, इसलिए समस्त भूतगणोंकी जो देह है उसी रूपसे वह स्थित है। अर्थात् समस्तभूतोंमें अहङ्कारात्मक रुद्रके अभिध्यानसे ही वह देहात्मत्वाभिमानी है‡ ॥ २९ ॥

'किं प्रयोजनः' इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

स्वविरचित सम्पूर्ण जीवोंको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार विषयभोगरूप उपलम्भ तथा क्रमशः ज्ञानसाधनप्राप्तिके अन्तमें स्वात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप जो शास्त्रीय विहित और निषिद्ध कर्मोंके ज्ञान एवं फल देनेका स्वभाव है वही सृष्टि आदिमें प्रयोजक होनेसे उसका प्रयोजन है अर्थात् समस्त जीवोंको उनके

---

* 'किं च नेत्रः' इस प्रश्नका यह उत्तर है।

† 'किमुग्रात्मा' यहाँ किम् शब्दका उग्र और आत्मा दोनोंमें अन्वय होनेसे 'किमुग्रः, किमात्मा' ये जो दो प्रश्न पूछे गये हैं उनमें प्रथम प्रश्नका यह उत्तर है अर्थात् किस त्रिशूलके धारणसे वह उग्र है, इस गूढ़ार्थक प्रश्नका, जो श्रीरामचन्द्रजीको अभिप्रेत है, यह उत्तर है।

‡ देखिये भगवान् बादरायणका यह सूत्र—'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' [३।२।१।५]।

तेनैव च निगीर्णः सन् परमां शान्तिमेत्यसौ ।
निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥ ३१ ॥
कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा ।
स प्रयाति परां शान्तिमभूयःसन्निवृत्तये ॥ ३२ ॥

तत्-तत् कर्मोंके अनुसार विषयफल प्रदान करनेका तथा अधिकारी पुरुषोंको ज्ञान प्रदान करनेका जो स्वभाव है वही उस परमेश्वरका सृष्टि आदिमें प्रयोजन है*। भाव यह कि सर्वसत्त्वोपलम्भरूप स्वभाव ही उसका प्रयोजन है, और कुछ नहीं। चिन्मात्राकाशरूप शिवस्वरूप परमात्मा यानी वाणी और मनके अगोचर निरतिशय भूमानन्दात्मक परम कल्याणमय स्वरूप परमात्मा स्वयं अपनेसे ही 'बहुस्यां प्रजायेय' इस सङ्कल्पात्मक मायावृत्ति द्वारा एकसे बहुत होनेकी इच्छासे प्रेरित होकर जगत्की रचना करता है। और उसी अपने चित्स्वरूपसे प्रलयके लिए स्वयं प्रेरित होकर सर्गक्रमके विपरीत क्रमसे जगत्को निगल कर यानी स्वविरचित जगतका संहार कर आकाशरूपसे स्थित हो जाता है। तदनन्तर स्वयं भी वह अपने उसी परम कल्याणमयरूपसे निगीर्ण होता हुआ अपने उस आकाशभावका भी परित्याग करके भूमानन्दस्वरूप प्रतिष्ठारूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ३० ॥

'किं कृष्णः' इत्यादि सभी प्रश्नोंका उपपत्तिपूर्वक जो उत्तर दिया गया है उसका स्मरण कराते हुए अब महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'निर्मला०' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे।

निर्मल चिदाकाशरूप वही परमेश्वर महाकाल रुद्रका रूप धारण कर प्रलय लाकरके सारे जगत्को एक महासागरके रूपमें परिणत कर देता है और जब सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र महासागरके रूपमें परिणत हो जाता है तब उस महासागरका जल पीकर पुनः शरीर न धारण करनेके लिए परमशान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३१, ३२ ॥

---

* देखिये गौड पादाचार्यने क्या कहा है—
'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'।

† 'केनेरितः' इस प्रश्नका यह उत्तर है।

अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात् ।
प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाक्रष्टुं महार्णवम् ॥ ३३ ॥
अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम् ।
प्राणाकृष्टो महाम्भोधिर्वाडवाग्निमिवाविशत् ॥ ३४ ॥
स एव वाडवो भूत्वा वह्निराकल्पमर्णवे ।
अहङ्कारः पिबत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तत्तदा ॥ ३५ ॥
पातालमिव पानीयं सर्पो बिलमिव क्षणात् ।
पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्तन्मुखं जवात् ॥ ३६ ॥
समुपेत्यापिबद्रुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः ।
कृष्णाङ्गोऽर्क इव ध्वान्तं सत्सम्पर्क इवागुणम् ॥ ३७ ॥

'किमकरोत्' इस उपान्त्य प्रश्नका उत्तर सुननेके उत्सुक श्रीरामचन्द्रजीको जानकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वैसा भयङ्कररूप देखनेके बाद मैंने देखा कि वहाँ यह परमेश्वर उद्यम करके यानी उद्यत होकर श्वासवायुके वेगसे उस महासागरको पी जानेमें प्रवृत्त हो गये ॥ ३३ ॥

इसके अनन्तर श्वासवायुसे आकृष्ट महासागर उनके विशाल मुखमें, जिसका भीतरी भाग ज्वालामालाओंसे व्याप्त था, *ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे बड़वानलमें ॥ ३४ ॥

अन्य कालमें भी जल सूख जानेपर तेजमें ही उसका उपसंहार प्रसिद्ध है, इस आशयसे कहते हैं—'स एव' इत्यादिसे ।

वही अहङ्काररूप रुद्र कल्पपर्यन्त समुद्रमें बड़वानल होकर अवस्थित रहता है, परन्तु जब प्रलयकाल आ जाता है तब वह समुद्रके उस सारे जलको पी जाता है ॥ ३५ ॥

जैसे जल पातालमें, साँप बिलमें और पञ्चपवन प्राणियोंके मुखाकाशमें प्रविष्ट होता है वैसे ही एक ही क्षणमें बड़े वेगसे आकर वह भगवान् रुद्रके मुखमें प्रविष्ट हो गया और महाकाल रुद्र भगवान्‌ने भी उस सारे जलको सिर्फ एक

---

* तेजमें ही जलका उपसंहार हुआ, यह दिखलानेके लिए 'ज्वालामालाकुलान्तरम्' यह विशेषण दिया गया है ।

आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथाभवत् ।
रजोधूमानिलाम्भोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥ ३८ ॥
केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः ।
इमे पदार्था निस्पन्दाः शृणु तान् रघुनन्दन ॥ ३९ ॥
एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः ।
निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदबिम्बवत् ॥ ४० ॥
द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः ।
भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधःपातालसप्तकात् ॥ ४१ ॥
पातालभूतलदिवां सशैलेन्द्रदिवौकसाम् ।
व्याप्तः पार्थिवभागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ॥ ४२ ॥
तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः ।
दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वाद् दुर्लक्ष्यगगनासितः ॥ ४३ ॥

मुहूर्तमें ही ऐसे पी लिया, जैसे सूर्य भगवान् अन्धकारको तथा सज्जनोंका सम्पर्क दोषसमूहको ॥ ३६, ३७ ॥

इसके बाद ब्रह्मलोकसे लेकर पातालतक सब स्थान ऐसे शान्त और शून्य हो गया, जैसे धूल, धूम, वायु और मेघ—इन भूतोंसे रहित सब तरहके वैषम्यसे निर्मुक्त आकाश ॥ ३८ ॥

उस समय वहाँ आकाशके समान निर्मल तथा स्पन्दशून्य ये केवल चार पदार्थ ही दीख रहे थे । हे रघुनन्दन, उन्हें आप सुनिये [मैं कहता हूँ] ॥३९॥

उनके मध्यमें एक तो काले रङ्गके आकाशके सदृश आकृतिवाले, निराधार भगवान् रुद्रदेव, स्पन्दनशून्य सौरभ बिम्बकी तरह, आकाशमें स्थित थे ॥ ४० ॥

दूसरा सप्त पातालके बहुत दूर पृथिवी और आकाशतलके सदृश ब्रह्माण्ड-सदनका अधोभाग स्थित था ॥ ४१ ॥

शैलेन्द्रों तथा देवताओंके सहित पाताल, भूतल तथा स्वर्गके बिलकुल भस्म हो जानेके कारण यानी तीनों लोकों तथा उनके भीतर रहनेवाले सभी पदार्थोंके भस्मरूप बन जानेके कारण पुनः जलक्लेदन द्वारा एकमात्र पङ्करूपमें परिणत हुए पार्थिवभागसे व्याप्त होकर वह ब्रह्माण्डसदनका अधोभाग ऊर्ध्वभागकी अपेक्षा अवश्य कुछ समृद्धस्वरूप था ॥ ४२ ॥

उनमें तीसरा पदार्थ ब्रह्माण्डखण्डका ऊर्ध्वभाग स्थित था । बहुत दूर होनेके

दूरविश्लिष्टयोर्मध्यं यत्तद्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्मनिर्मलमाततम् ॥ ४४ ॥
चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
चतुष्टयादत्र नान्यदेतस्मादेव किञ्चन ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

बहिः किं विद्यते ब्रह्मन् ब्रह्मसद्मकटाहतः ।
कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्यः संस्थिताः कथम् ॥ ४६ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
सन्ध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ॥ ४७ ॥

कारण वहाँतक आँखोंकी ज्योतियोंकी पहुँच न हो सकनेसे वह दुर्लक्ष्य काले वर्णके आकाशके सदृश था ॥ ४३ ॥

चौथा पदार्थ तो उन दोनोंके बीचमें स्थित आकाश ही था, यह कहते हैं—'दूर०' इत्यादिसे ।

बहुत दूर विभक्त हुए ब्रह्माण्डके उन दोनों खण्डोंके बीचमें जो स्थित था वह तो एकमात्र आदि-अन्तशून्य सर्वत्र व्याप्त निर्मल ब्रह्माकाश ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, वही उनमें चौथा पदार्थ था, जिसका मैंने उस समय अवलोकन किया । मेरी आँखोंके सामने उपस्थित इन चार पदार्थोंके बीचमें इन चारोंसे अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ नहीं था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४४, ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आवरणयुक्त उन ब्रह्माण्डखर्परोंके बाहर क्या है, उनके कौन-कौन आवरण हैं, वे कितने हैं तथा बिना आधारके वे सब वहाँ संस्थित कैसे हैं, कृपाकर यह कहिये ॥ ४६ ॥

इन चार प्रश्नोंमें पहले बीचके दो प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डखण्डोंके पारमें उनसे दश गुण अधिक विस्तृत जल है । और वह जल इन दोनों खण्डोंके

ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम्।
ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ॥ ४८ ॥
ततस्तथैव विमलं नभो दशगुणं स्मृतम्।
ततः परममत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ॥ ४९ ॥
अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे।
कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ॥ ५० ॥

अति विस्तृत सन्ध्याकाशको छोड़कर उसके बाहर ही खूब विस्तृतरूपसे स्थित है ॥ ४७ ॥

उसके बाद जलके दशगुण ज्वालात्मक तेज अवस्थित है। उसके अनन्तर जलके समान ही उस जलको पवित्र करनेवाला तथा स्वयं निर्मल पवन स्थित है ॥ ४८ ॥

उसके बाद उस पवनके समान ही दशगुण विमल आकाश स्थित है। [प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हैं—'ततः' से] हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर परम-पवित्र, अतिसूक्ष्म होनेके कारण अत्यन्त ही स्वच्छ अनन्त मायाशबल ब्रह्माकाश स्थित है ॥ ४९ ॥

आकाशसे परे उससे दशगुण अधिक अहङ्कारतत्त्व, उससे दशगुण अधिक महत्तत्त्व और उसके आगे अनन्त प्रकृतिका वर्णन जो पुराण आदिमें मिलता है, उसका यहाँ परित्याग क्यों किया ? इस शङ्कापर कहते हैं—'अन्यत्र' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मायाशबल ब्रह्मके स्वरूपाकाशमें योगि-माहेश्वर-पाञ्चरात्र तथा कापिल आदि तन्त्रोंमें महत्, अहङ्कार आदि तत्त्वभेदके आवरणके विषयमें भिन्न-भिन्न कल्पनादृष्टियाँ अनन्तरूपसे स्फुरित हो रही हैं। किन्तु परस्पर विवादग्रस्त देखी गईं उनकी स्वरूपकल्पनाकी सृष्टियाँ पुराणोंमें मिलती हैं, श्रुतियोंमें नहीं, इसलिए हमने उनकी उपेक्षा कर दी है, इसका तात्पर्य यह है कि अन्य-अन्य योगी, महेश्वर पाञ्चरात्र तथा कपिल आदिके मतके अनुसार मायाशबलित ब्रह्माकाशमें महत्तत्त्व आदि दृष्टिकी कल्पनाएँ भी एक-एकसे दशगुण अधिक हैं। लेकिन परस्पर विवादग्रस्त होनेसे हमने उनकी उपेक्षा कर दी है ॥ ५० ॥

श्रीराम उवाच

ऊर्ध्वे ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाधस्तान्मुनीश्वर ।
तज्जलादि महाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥ ५१ ॥

वसिष्ठ उवाच

सपार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥ ५२ ॥
अतो यदेव नेदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महावपुः ।
तत्पदार्थाः प्रधावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥ ५३ ॥
अवलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसादयः ।
न स्थितिं प्रविमुञ्चन्ति स्वां यथाऽवयवा इव ॥ ५४ ॥

अवशिष्ट चौथे प्रश्नका स्मरण दिलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ऊर्ध्वे' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, ब्रह्माण्डखण्डके ऊपर तथा नीचे उससे भी उत्तरोत्तर दश-दश गुण अधिक विस्तारवाला होनेके कारण महान् आकारवाले जलादिको कहाँ कौन कैसे धारण करता है ॥ ५१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पार्थिव पदार्थोंका जो भाग ब्रह्माण्डखर्पर है वह कमलपत्रके समान स्थित है । उसी भागको वे आधारादि-भावसे ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे वानरीके शिशु अपनी माँको । अर्थात जैसे वानरीके बच्चे अपनी माँको पेटमें अच्छी तरह पकड़के दौड़नेपर भी नहीं गिरते, वैसे ही इनकी भी स्थिति है । अथवा उस ब्रह्माण्डखर्परकी ओर उसकी आकर्षणशक्तिसे आकृष्ट होकर वे ऐसे दौड़ते हैं, जैसे वानरीके बच्चे अपनी माँकी ओर दौड़ते हैं ॥ ५२ ॥

उस ब्रह्माण्डखर्परके ऊपर स्थित जलके न गिरनेमें भी यही न्याय है, इस आशयसे कहते हैं—'अतो' इत्यादि ।

इसलिए हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डनामक जो महाशरीर अत्यन्त समीप है उसकी ओर वे सब पदार्थ ऐसे दौड़ते हैं, जैसे तृषित प्राणी जलकी ओर ॥ ५३ ॥

जैसे शरीरमें संयुक्त हाथ, पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़संयोग स्थितिको नहीं छोड़ते वैसे ही उसीका आभ्यन्तर अवलम्बन करके तैजस आदि सब पदार्थ अवस्थित हैं ॥ ५४ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
किमाकृती धृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥ ५५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अधृतं धृतमेवोच्चैरपतच्चैव वा पतत् ।
अनाकृत्येव साकारं जगत्स्वप्नपुरं यथा ॥ ५६ ॥
किमस्य नाम पतति किं वा केनास्य धार्यते ।
यथा संवित्तिकचनं तथैतदवतिष्ठते ॥ ५७ ॥
यथा केशोण्डूकं व्योम्नि यथा च व्योम्नि शून्यता ।
यथा वा पवने स्पन्दो जगच्चिद्गगने तथा ॥ ५८ ॥

और आवरणोंके आधारभूत दोनों ब्रह्माण्डखर्परोंका, जो भारी होनेसे अवश्य गिर जानेवाले हैं, आधार क्या है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आप कृपाकर यह मुझसे कहिये कि वे ब्रह्माण्डखण्ड कैसे अवस्थित रहते हैं, उनका आकार क्या है, किसने कैसे उन्हें धारण कर रक्खा है, अथवा वे गिरकर नष्ट कैसे होते हैं ॥ ५५ ॥

यह जो आधारादिकी चिन्ता हो रही है, सो सत्यतादृष्टिमें ही है । मिथ्या-दृष्टिमें तो जो अत्यन्त भारी पदार्थ हैं उनके भी आधार आदिका कोई नियम नहीं है, यह स्वप्नदृष्टान्तसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अधृतम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यद्यपि इसको किसीने धारण नहीं किया है, फिर भी परमात्माकी अचिन्त्य धारणात्मिका शक्तिसे यह अच्छी तरह धृत है ही । यह बिलकुल गिरता हुआ भी नहीं गिर रहा है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आकृतिशून्य (निराकार होनेपर भी) स्वप्ननगरके सदृश साकार है ॥ ५६ ॥

इस मायिक जगत्का क्या पतन होगा अथवा इसमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसका कोई धारण करेगा । यह ठीक वैसा ही अवस्थित है जैसा कि संवित्तिका स्फुरण है अर्थात् चितिशक्तिके स्फुरणके अनुसार यह अवभासित हो रहा है ॥ ५७ ॥

जैसे आकाशमें केशोण्डूक श्यामता है तथा जैसे आकाशमें शून्यता है एवं पवनमें जैसे स्पन्दन है, वैसे ही चिदाकाशमें यह जगत् है ॥ ५८ ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १४ } आश्विन, २००४ { अङ्क ९

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

देववृन्दकृता शिवस्तुतिः

कुन्दामन्दमरन्दसौभगमहामन्दारसन्मालिका-
लोलोत्तुङ्गतरङ्गरङ्गितमहागङ्गाम्बुजोत्कैरवम् ।
पर्वानन्दितशर्वरीरमणतोत्तुङ्गाङ्गमौलिं शिवं
ध्यायामोऽद्य महाघसंसृतिभवं दुःखं विहायादरात् ॥ १ ॥

आरक्तसुन्दरतरैः कुरुविन्दवृन्द-
रक्तारविन्दमकरन्दपरागमौलिम् ।
वृन्दारवन्दितपदाम्बुरुहं महेशं
सुन्दोपसुन्दवरदं जगदादिकन्दम् ॥ २ ॥

मूर्धोर्द्धं मधुपालिझङ्कृतियुतं चञ्चज्जटानिर्झरं
शैलान्निर्झरसारिणीव भवतो दृष्टिर्भवाम्भोझरी ।
उद्यद्रागमलीमसाञ्झटिति नो नोज्झन्ति पादौ हृदि
ते धन्यास्सजलञ्जलौ स भगवान् भूयाच्छ्रियै सर्वशः ॥३॥

—श्रीशिवरहस्यस्था

योगवासिष्ठ

अनुवादक—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

विषय-सूची

चितौ सङ्कल्पनगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्गृहम् ।
खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ॥ ५९ ॥
पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशम् ।
गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशम् ॥ ६० ॥
स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशम् ।
उत्पतन्त्या चितोद्भूतमुत्पतच्चैव तिष्ठति ॥ ६१ ॥
एति नाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदनैः ।
जायते जन्मसंवित्त्या व्योम्नि सर्वादिवेदनैः ॥ ६२ ॥
आभाति मौक्तिकगणः शरदम्बरान्त-
र्दृष्टावसत्य उदितोऽप्यतिसत्यरूपः ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चितिमें ब्रह्माण्डनामक सङ्कल्पनगर है, उसके अन्दर अनेक जगत्‌रूपी घर हैं । चिदाकाशमें निराकार चिदाकाश ही प्रतिनियताकारके समान यानी नियत आकारवालेके सदृश स्थित है ॥ ५९ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंका नियत या अनियत स्वभाव संवेदनके अनुसार ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'पातसंवित्' इत्यादिसे ।

पतनके अध्याससे युक्त संवित्‌से उत्पन्न यह जगत् रात-दिन गिरनेमें तत्पर है । तथा गमन-अध्याससे युक्त संवित्‌से यह रात-दिन गमनमें ही तत्पर है ॥ ६० ॥

स्थितिके अध्याससे युक्त संवित्‌से समुद्भूत यह संसार सदा अवस्थित है तथा ऊर्ध्वगमनमयी चितिसे उद्भूत यह संसार निरन्तर ऊर्ध्वगमनोन्मुख ही बना रहता है * ॥ ६१ ॥

'कथं वा परिनश्यतः' इसका उत्तर देते हैं—'एति' इत्यादिसे ।

महाकल्पादिके सङ्कल्पों द्वारा नाशसंवित्‌से वह ब्रह्माण्ड नष्ट होता है और सबकी सृष्टिके आरम्भमें सृष्टि-सङ्कल्पों द्वारा जन्मयुक्त संवित्‌से चिदाकाशमें वह उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शरत्कालीन आकाशकी ओर देख रहे पुरुषकी

---

* 'किमाकृती धृते केन' इन दोनों प्रश्नोंका भी—'वे दोनों ब्रह्माण्डखण्ड स्वसंवित्‌से कल्पित नियत तथा अनियत आकारवाले हैं और एकमात्र संवित्‌ने ही इन्हें धारण कर रक्खा है'—यह उत्तर अर्थतः प्राप्त हो गया ।

भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां
संख्यां विधातुमिह को जगतां समर्थः ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

एकाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे ।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं विततांकृतिम् ॥ १ ॥
व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम् ।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥ २ ॥

दृष्टिमें बेरके आकारके सदृश असत्य मोतियोंका समूह सत्य-सा भासता है, वैसे ही असत्य ही उदित यह संसार अतिसत्यस्वरूप-सा भास रहा है। चिदाकाशमें ये जितने जगत् भ्रान्तिसे स्फुरित हो रहे हैं, ठीक-ठीक उन सबकी गणना करनेमें भला यहाँ कौन समर्थ है* ॥६३ ॥

अस्सी सर्ग समाप्त

इक्यासी सर्ग

[प्रलयकालमें नृत्य कर रहे भयङ्कर रुद्र तथा जगद्रूपी अङ्गवाली उसकी छाया कालरात्रिका वर्णन]

'किमकरोत्' 'छायाऽऽसीद्वद का मुने' इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए उपक्रम बाँधते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, इसके बाद मैंने उस महाकाशमें मत्त उस रुद्र भगवान्‌को नृत्य करनेमें प्रवृत्त देखा, उस समय उनका आकार बहुत दूरतक फैला हुआ था, आकाशके सदृश उन्होंने विशाल आकृति प्राप्त की थी, अपनी

* द्विवचनान्तसे किये प्रश्नोंका एक वचनान्तसे उत्तर देनेमें यह एक विशेष कारण समझना चाहिए। यहाँ 'जातावेकवचनम्' यह सूत्र स्मर्तव्य है।

अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम् ।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ॥ ३ ॥
बडवाग्निदृशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम् ।
एकार्णवार्णो द्राग्देहबन्धेनेव समुत्थितम् ॥ ४ ॥
पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः ।
छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ॥ ५ ॥
सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे ।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ॥ ६ ॥
यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः ।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥७॥
कृष्णा कृशा शिरालाङ्गी जर्जरा विततकृतिः ।
ज्वालाकुलानना लोलवनसंभारशेखरा ॥ ८ ॥

व्यापिता—व्यापकताका उन्होंने त्याग नहीं किया था, उनका वह आकार महान् था, मेघके सदृश उनका श्याम वर्ण था, उनसे दसों दिशाएँ चारों ओरसे खूब व्याप्त थीं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये तीनों उनके तीन नेत्र थे, चञ्चल दसों दिशाएँ ही उनके वस्त्रके स्थानमें थीं, घन तथा दीर्घ प्रभाजालसे वे युक्त थे, इसीलिए वे देखनेमें नील प्रभाज्वालाओंके बन्धनस्तम्भ-जैसे मालूम पड़ रहे थे, वड़वाग्निकी तरह तो उनकी आँखें थीं, चञ्चल भुजारूपी तरङ्गमालाओंसे उनका शरीर खूब चमकीला दीख रहा था, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो सबको जलमय बनानेवाले प्रलयकालके महासागरका जल ही शरीर ग्रहण कर अभी आविर्भूत हुआ हो। इसके अनन्तर मैं क्या देखता हूँ कि भगवान् रुद्रके नृत्यका अनुकरण करती हुई उनके शरीरसे मानो छाया निकल रही है ॥१–५॥

देखते ही बलात् मेरे मनमें ऐसी आशङ्का उठी कि भला सूर्योंके उपस्थित न रहते महान् अन्धकारसे परिपूर्ण आकाशमें यह छाया स्थित कैसे है ॥ ६ ॥

यह मैं अब विचार कर रहा था कि इतनेमें तत्क्षण ही वह उस समय नाच करती हुई भगवान् रुद्रके सामने आकर खड़ी हो गई। डील-डौलमें विशाल वह अपनी सुन्दर तीन आँखोंसे शोभित हो रही थी ॥ ७ ॥

उसके रूपका वर्णन करते हैं—'कृष्णा' इत्यादिसे।

भिन्नाञ्जनतमःश्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
तमःश्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥ ९ ॥
अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिङ्मुखम् ॥ १० ॥
कृशा बहूपवासेन परिनिम्नमहातनुः ।
कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥ ११ ॥
कृशाऽशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
ग्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्दैर्घ्यशालिभिः ॥ १२ ॥
तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।
मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥ १३ ॥

वह रङ्गमें काली थी, पतली थी, उसके सारे अंगोंमें नस ही नस दीख रही थी, उसके सभी अङ्ग शिथिल थे, आकृति उसकी विशाल थी, उसका मुख ज्वालाओंसे व्याप्त था, चञ्चल वनसमृद्धिकी नाईं पुष्प, पल्लव आदिसे विभूषित श्यामल उसका मस्तक था ॥ ८ ॥

घनीभूत अञ्जनरूप तमके समान उसका श्याम वर्ण था, इसलिए देखनेमें वह दूसरी मूर्तिमती यामिनी-जैसी, शरीरयुक्त अन्धकारकी शोभा-सी तथा साकार श्यामवर्ण आकाशकी द्युति-जैसी प्रतीत हो रही थी ॥ ९ ॥

वह बहुत लम्बी थी, उसका मुख बड़ा ही भयानक था। वह ऐसी खड़ी थी, मानो अपनी लम्बी देहसे आकाश नापनेको उद्यत हो या आकाशसे अपनी समता कर रही हो। वह मानो अपनी दीर्घ जानु और भुजाओंके भ्रमणसे समस्त दिशाओंके मुखको ही नापनेकी इच्छा कर रही थी ॥ १० ॥

उसे देखनेसे यही प्रतीति हो रही थी, मानो बहुत दिनोंतक अधिक उपवास करनेसे ही यह ऐसी दुबली हो गई है। उसकी लम्बी देहमें सर्वत्र गड्ढे ही गड्ढे दीख रहे थे। कज्जलके सदृश श्याम वर्णकी वह पवनसे आकुल मेघोंकी माला-जैसी थी ॥ ११ ॥

उसे देखनेसे ऐसा भान हो रहा था कि अत्यन्त लम्बी और दुबली उसे खड़ी होनेमें भी जब विधाताने असमर्थ देखा है तब मानो उन्होंने शिरारूपी लम्बी रस्सियोंसे बाँध दिया है, ताकि यह अच्छी तरह खड़ी रहे ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह इतनी अधिक लम्बी थी कि हजारों वर्षोंतक

अन्त्रान्त्रतन्त्रीग्रथितशिरःकरखुरोत्करा ।
आमूलात् सूत्रवलिता कण्टकानामिव स्थली ॥ १४ ॥
विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
कृतमालाऽमलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥ १५ ॥
प्रलम्बकर्णा लुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताष्ठीला दीर्घा लोलाऽसितस्तनी ॥ १६ ॥
कुमारबर्हिपिच्छौघैर्ब्राह्ममूर्द्धजमण्डलैः ।
लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरःखट्वाङ्गमण्डला ॥ १७ ॥
दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्योतपाततः ।
तमोर्णवोर्ध्वलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥ १८ ॥
शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतरुसंस्थिता ।
विलोलावयवाष्ठीला वातैः पटपटारवा ॥ १९ ॥

ऊपर-नीचे आ-जाकर मैंने योगबलसे उसके सिर और पादनखोंका अवलोकन किया ॥ १३ ॥

नाड़ियोंके समूहों तथा अँतड़ियोंरूपी रस्सियोंसे ग्रथित सिरसे लेकर पैरतक सभी अङ्गोंसे युक्त वह ऐसे स्थित थी, जैसे मूलसे लेकर शाखाग्रपर्यन्त सूतोंसे ग्रथित कण्टकोंकी निवासभूमि—खदिरादि लता ॥ १४ ॥

नाना वर्णोंके सूर्य आदि देव तथा दानवोंके मस्तकरूपी कमलोंके समूहोंकी माला उसके कण्ठमें विराजमान थी, निर्मल आलोकवाला पवनसे प्रदीप्त अनल उसका आंचल था ॥ १५ ॥

उसके लम्बे दोनों कानोंमें चंचल नाग झूल रहे थे तथा दो मृतक कुण्डलके रूपमें विराजमान थे। शुष्क तुम्बी-लताकी तरह अतिदीर्घ, अत्यन्त चञ्चल तथा काले वर्णके उसके दोनों स्तन जाँघतक लटक रहे थे ॥ १६ ॥

उसका खट्वाङ्गमण्डल मयूरोंके पिच्छसमूहों तथा ब्रह्माके केशोंके मण्डलोंसे लाञ्छित (चिह्नित) चन्द्रादि सुराधीशोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंसे अलङ्कृत था ॥१७॥

चूँकि दन्तरूपी चन्द्रमालासे वह विमल थी, इसलिए विमल दाँतोंके प्रकाशोंके पतनसे अभिवृद्ध तथा अन्धकाररूपी सागरके आवर्तोंसे व्यालोल (चञ्चल) ऊर्ध्वलेखा-जैसी स्थित वह प्रतीत हो रही थी ॥ १८ ॥

आकाशमें उत्पन्न हुए वृक्षके ऊपर आरूढ़ शुष्क तुम्बी-लता-जैसी वह

बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥ २० ॥
क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाक्षिप्तजगन्नर्तनमण्डपा ॥ २१ ॥
क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥ २२ ॥
एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
क्षणं चानन्तपादाढ्या निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥ २३ ॥
कालरात्रिरियं सेति मयाऽनुमितदेहका ।
काली भगवती सेयमिति निर्णीतसज्जना ॥ २४ ॥

ऊँचे आकाशरूपी वृक्षके ऊपर आरूढ़ थी। वायुओं द्वारा पटपट शब्दोंसे विभूषित तथा जाँघ तक सभी चञ्चल अवयवोंवाली वह—नीचे तक अपने चञ्चल अवयवोंसे युक्त तथा वायुओं द्वारा पटपट शब्दोंसे अलङ्कृत—शुष्क तुम्बीलता-जैसी ही बिलकुल प्रतीत हो रही थी ॥ १९ ॥

महातरङ्गरूपी लम्बी भुजाओंवाली, श्यामल तथा उल्लासोंसे परिपूर्ण, नृत्यरूपी आवर्तोंसे चञ्चल प्रलयकालीन महासागरकी तरङ्गमाला-सी भास रही थी ॥ २० ॥

क्षणमें ही कभी तो वह एक भुजासे युक्त आकारवाली हो जाती थी और कभी क्षणमें ही अनेक भुजाओंसे व्याप्त हो जाती थी तथा कभी क्षणभरमें ही अपनी अनन्त उग्र भुजाओंसे जगद्रूपी नृत्यमण्डपको ऊपर फेंककर व्याकुल कर देती थी ॥ २१ ॥

क्षणभरमें ही तुरत उसका आकार एक मुखवाला हो जाता था तथा शीघ्र ही उसकी आकृति अनेक मुखोंसे युक्त बन जाती थी। शीघ्र ही वह अनन्त उग्र मुख धारण कर लेती थी तथा क्षणभरमें ही बिना मुखवाली भी वह हो जाती थी ॥ २२ ॥

वह शीघ्र एक पैरसे युक्त हो जाती थी तथा शीघ्र ही उसके सैकड़ों पैर हो जाते थे। क्षणभर भी देर न हो पाती थी कि इतने हीमें वह अनन्त पैरोंसे समन्वित हो जाती थी तथा क्षणमें ही वह बिना पैरकी भी हो जाती थी ॥ २३ ॥

वह रूप देखकर मैंने उसकी देहका अनुमान कर लिया कि हो न हो यह

ज्वालापूर्णारघट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
ज्वलद्वरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमललाटभूः ॥ २५ ॥
लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्वभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥ २६ ॥
इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैःप्रभाम्बरे ।
विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥ २७ ॥
नृत्यद्भुजलतापुष्पैर्नखशुभ्राभ्रामण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रामयन्ती नभस्तले ॥ २८ ॥
भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखाबृहत्प्रभाः ॥ २९ ॥

वही कालरात्रि है। अन्य सज्जन महानुभावोंने भी इसको 'यह भगवती काली है' यह निर्णय किया है ॥ २४ ॥

फिर उसके मुखसे लेकर पैरतकके प्रत्येक अङ्गका वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं—'ज्वाला०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवतीकी तीन आँखें थीं, उनकी उपमा तो तब ठीक मिल सकती है, जब कि अरघट्ट यन्त्रके मस्तकके काठमें प्रसिद्ध तीन गड्ढे ज्वालाओंसे परिपूर्ण हो जायँ। और उसकी ललाट भूमिकी उपमा तो वह प्रसिद्ध इन्द्रनील पर्वतका प्रस्थभाग है, जहाँपर पृथिवी जल रही हो ॥ २५ ॥

उसके दोनों जबड़े तो लोकालोक पर्वतके प्रसिद्ध इन्द्रनीलके उग्र गड्ढेकी तरह ही भयङ्कर दीख रहे थे, क्योंकि अधिक गहरा होनेसे वहाँतक कुण्डलोंकी कान्तिका प्रकाश बिल्कुल नहीं पहुँच पाता था। वातस्कन्धरूपी तागोंमें पिरोये गये तारागणरूपी मुक्ताकलापोंकी माला उसके गलेमें विराज रही थी ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वतके तुल्य ऊँचे नगरके बाहरके दरवाजेपर पद्मराग आदिकी प्रभासे रञ्जित दरवाजेके उन्नत भीतरी छेदमें विश्रान्त अधोमुख कृत्रिम काचशैलकी तरह भगनामक भीषण काकसे वह भयङ्कर लगती थी ॥ २७ ॥

नाच रही भुजलतारूपी पुष्पोंसे युक्त नखोंकी शुभ्र प्रभारूपी मेघ-मण्डलोंसे वह आकाशतलमें सैकड़ों पूर्णचन्द्रोंको नचाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥ २८ ॥

कल्पान्त मेघोंके तुल्य*, गजमुक्ताओं तथा प्रलयकालमें गिर रही तारोंकी

* अर्थात् स्फुरित हो रही प्रभाओंसे युक्त हाथीके दाँतोंकी तरह पर्वत-प्रान्तोंके ऊपर महा प्रभाओंसे युक्त मोटी मोटी जल-धाराश्रेणीको बरसा रहे कल्पान्त मेघोंकी तरह।

नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैर्भ्रान्तभुजद्रुमैः ।
कृष्णैः काननिताशेषगगनाग्रोग्रमूर्तिभिः ॥ ३० ॥
तमालतालतः स्थूलां भुवं दग्धमहावनैः ।
विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥ ३१ ॥
अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्राप्तैः शिरोरुहैः ।
कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरदन्तिनः ॥ ३२ ॥
उह्यन्ते मेरवो येन तेन निःश्वासवायुना ।
घनघुङ्घुमदिक्चक्रगगनग्रामघोषिणा ॥ ३३ ॥
घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।
नियतानुनयेनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥ ३४ ॥
ततो नृत्तवशावेशाद्वर्द्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥ ३५ ॥

श्रेणी-जैसी भासमान नखोंकी पङ्क्तियोंकी विशाल प्रभाओंको बरसा रही भ्रमणशील अपनी भुजाओंसे भगवती कालीने सारे दिग्मण्डलको व्याप्त कर दिया था ॥२९॥

रङ्गमें बिलकुल काले अतएव उग्र स्वरूपके अपने उन भ्रान्तभुज-द्रुमोंसे, जो नखोंरूपी पुष्पोंसे विभूषित अङ्गुलीरूपी लतासमूहोंसे सुशोभित थे, उस भगवती कालीने सारे आकाशप्रान्तको जङ्गल-सा बना दिया था ॥ ३० ॥

वह भगवती काली सभी ओर चलित हुए अपने जङ्घासमूहसे, जले हुए खजूर आदिके महान् जङ्गलोंसे वलित तथा एकमात्र जले हुए अच्छे-अच्छे तमाल, ताल आदिके वृक्षोंसे स्थूल बनी हुई पृथिवीका अनुकरण कर रही थी ॥३१॥

अनन्त महाकाशमें भी पारङ्गत अपने केशोंसे वह सञ्चरणशील अन्धकाररूपी हाथीका आकाशमें विस्तृत निवास मानो सिद्ध कर रही थीं ॥ ३२ ॥

प्रतिध्वनियोंसे घनीभूत दिग्मण्डलवाले गगनरूपी गाँवमें उद्घोषणशील अपने उस निःश्वास पवनके साथ, जिसके द्वारा मेरु आदि अनेक पर्वत उड़ा दिये जाते थे, वह भगवती बराबर चली जा रही थीं। देखनेसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह एक ऐसे नटके साथ चली जा रही हैं, जो नियत अनुनयवाला है, और प्रबल वायुके फूत्काररूपी अव्यक्तशब्दसे परिपूर्ण गीत गा रहा है ॥ ३३, ३४ ॥

इसके बाद आकाशमें स्थित अनन्त आकाशके सदृश व्यापकरूप मैंने

यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ।
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥ ३६ ॥
आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिकापट्टपट्टिका ।
आदर्शमण्डलान्यङ्गे त्रीणि लोकान्तराणि च ॥ ३७ ॥
कर्णयोर्हिमवन्मेरू रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
ब्रह्माण्डघुङ्घुमैर्माला महती कटिमेखला ॥ ३८ ॥
स्रजः कुलाचलाः शृङ्गवनपत्तनगुच्छकाः ।
अरत्पुरवनद्वीपग्रामपेलवपल्लवाः ॥ ३९ ॥

योगबलसे उस भगवतीको देखा कि वह नृत्यवश आवेशके कारण वर्द्धमान शरीरवाली हो गई है ॥ ३५ ॥

इतने ही में मैं क्या देखता हूँ कि एकमात्र विलासपूर्वक नृत्य करना ही जिसका अभिप्रेत अर्थ था ऐसी उस भगवती कालीने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतोंसे एक सुन्दर माला बनाकर अपनी देहमें धारण कर लिया ॥३६॥

अधिक क्या कहा जाय, सारा संसार ही उसके आभूषण आदि सामग्रीके रूपमें परिणत हो गया, इस आशयसे कहते हैं—'आसीत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युगान्तकालके प्रसिद्ध पुष्करावर्तक आदि अभ्रमालिका (मेघसमूह) उसके वक्षःस्थलमें इन्द्रनीलकी पट्टपट्टिकाके रूपमें * विराजमान थी । तीनों लोकान्तर उसके जघन, उदर आदि अङ्गमें मणिमय आदर्शमण्डल † बन गये थे ॥ ३७ ॥

हिमालय तथा सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानकी चाँदी और सोनेकी मुद्रिका ‡ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे । ब्रह्माण्डोंकी घुंघुम शब्दोंसे परिपूर्ण माला एक लम्बी लच्छेदार करधनी थी ॥ ३८

शिखरों, वनों एवं नगरोंके गुच्छकोंसे परिपूर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण गाँव, वन, द्वीप, ग्राम आदि रूप कोमल पल्लवोंसे भरे सातों कुलपर्वत उसके गलेकी मालाएँ थीं ॥ ३९ ॥

* एक तरहका आभूषण (पनवां) ।

† अर्थात् देखने योग्य नमूनेदार अलङ्कार ।

‡ साधारणतया 'मुद्रिका' शब्दका अँगूठी अर्थ है, लेकिन यहाँपर यह 'बाली' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥ ४० ॥
मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दी त्रिपथादिकाः ।
धर्माधर्मावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥ ४१ ॥
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्रवद्धर्मपयोलवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥ ४२ ॥
त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि बिभर्ति सा ॥ ४३ ॥
चतुर्दशविधाभूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥ ४४ ॥
तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः ।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्ममुदेव ते ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती कालीके अङ्गोंमें नगर, ग्राम, ऋतु, मास, दिन-रात तथा तीनों लोककी मालाएँ विराज रही थीं—वह सब मैंने देखा ॥ ४० ॥

भद्र, यमुना, त्रिपथगा—भागीरथी आदि नदियां गलेके मोती आदिके हारके रूपमें थीं, धर्म एवं अधर्म दोनों दूसरे कानोंके (पूर्वोक्त कानोंसे अतिरिक्त कानोंके) भूषण बन गये थे ॥ ४१ ॥

भद्र, उस कालरात्रिके धर्मरूपी दूधका क्षरण करनेवाले चारो वेद चार स्तन थे, समस्त शास्त्रार्थरूपी क्षीरवाले ऋक् आदि चार संस्थान उसके कुचाग्र थे ॥४२॥

त्रिशूल, पट्टिश (पटा), भाला, बाण, शक्ति (बरछी), खड्ग, मुद्गर—इनसे बना जो आयुधोंका समूह था, वही पुष्पमालाके रूपमें उसने धारण किया था ॥ ४३ ॥

जो देवता आदि चौदह तरहकी भूतजातियां हैं, वे शरीरधारी उस कालरात्रिके रोमपंक्तियोंके रूपमें अवस्थित थीं ॥ ४४ ॥

उसकी देहमें अव्यक्तरूपसे स्थित नगर, ग्राम, पर्वत आदि मानो अपना पुनर्जन्म पानेके आनन्दसे उसके साथ-साथ नाच कर रहे थे ॥ ४५ ॥

जङ्गमात्मैकमेवैतज्जगदस्थावरं तदा ।
नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६ ॥
निगीर्णं जगदङ्कस्थं कृत्वा तृप्तिमुपागता ।
परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहिचातकी ॥ ४७ ॥
आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत् ।
तस्या वपुषि विस्तीर्णे स्वरूपिणि सरूपधृक् ॥ ४८ ॥
सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम् ।
जगन्नृत्यति नानात्म मृत्वा पुनरुपागतम् ॥ ४९ ॥
तज्जगन्नर्त्तनं चारु तद्देहादर्शसंस्थितम् ।
चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनः स्थितम् ॥ ५० ॥
विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥ ५१ ॥

भद्र, सारा संसार उसके नर्तनमें काँप रहा था, इसलिए कोई भी पदार्थ स्थावर (स्थिर) तो था ही नहीं, किन्तु केवल जङ्गमात्मक ही यह जगत् उस समय प्रतीत हो रहा था, पहले नष्ट होकर इसके शरीररूपी परलोकमें सुखसे स्थित सारा जगत नाच रहा है, यह मैंने जाना ॥ ४६ ॥

निगीर्ण जगत्को उदरस्थ करके अत्यन्त तृप्तिको प्राप्त हुई वह कालरात्रि मत्त होकर चारों ओर नृत्य कर रही थी, वह जगत्रूपी सर्पको जीर्ण बनाने और नचानेके कारण ठीक चातकी-सी (मयूरी-सी) मालूम हो रही थी ॥ ४७ ॥

समस्त जगत् विस्तीर्ण-स्वरूपवाले उसके शरीरमें आदर्श-प्रतिबिम्बमें स्थित-सा मालूम पड़ रहा था और उसका रूप भी पूर्व जगत्के सदृश ही था ॥ ४८ ॥

किसी समय वह नृत्यसे विरत भी हो जाती थी, फिर भी उसके भीतरका जगत् तो नृत्य करता-सा ही प्रतीत होता था, यह कहते हैं—'सा' इत्यादिसे ।

कभी तो वह नृत्य नहीं भी करती थी, परन्तु शैल, पर्वत, अरण्य आदिके साथ वह नानारूप जगत्, जो मरकर फिर आया था, नृत्य करता ही रहा ॥ ४९ ॥

उक्त सुन्दर जगत्का नृत्य उसीके देहरूपी आदर्शमें स्थित था और उस समय मैंने दीर्घकालतक उसे देखा, वह एकदम अविनाशी होकर स्थित था यानी निरन्तर चल रहा था ॥ ५० ॥

उसी जगत्के नृत्यका वर्णन करते हैं—'विचल०' इत्यादिसे ।

सङ्ग्रामोन्मुक्तचक्राभद्वीपार्णववृताम्बरम् ।
हेलाविवलनावर्तप्रौढशैलधरातृणम् ॥ ५२ ॥
नीलमेघांशुकावृत्तिवातघुङ्घुमिताम्बरम् ।
काष्ठास्थ्यादिस्फुटास्फोटपटत्पटपटारवम् ॥ ५३ ॥
जगत्पदार्थैर्व्यामिश्रैरमिश्रैर्मुकुरे यथा ।
व्याप्तमाभोगिभाङ्कारैरङ्गैरङ्गभ्रमैस्तथा ॥ ५४ ॥
मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचलबृहद्भुजः ।
भ्रमदभ्रपटोपेतनमच्चनुतनूरुहः ॥ ५५ ॥
अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुद्रणं द्रुमाः ।
भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥ ५६ ॥

वह नृत्य क्या था, उसमें समस्त तारागण चल रहे थे, सारा पर्वतसमूह घूम रहा था, अमर और दानव मच्छरोंके समूहके समान वायुओं द्वारा कम्पित किये जा रहे थे ॥ ५१ ॥

सङ्ग्रामभूमिमें छोड़े गए चक्रोंके भ्रमणके सदृश शोभ रहे द्वीपों एवं समुद्रोंसे सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया था, हेलासे उत्पन्न भ्रमणोंसे यानी आवर्त वायुओंसे मानो पर्वत एवं धरारूपी तृण वर्तुलाकारमें जोरसे उड़ाये जा रहे थे ॥५२॥

उस नर्तनमें ऊपर नीलमेघरूपी वस्त्रोंका परिचालन होनेपर वायुओंसे आकाशमण्डल घुङ्घुम ध्वनिसे पूर्ण हो गया था, और नीचे परस्पर टक्कर खाये हुए काष्ठ, अस्थि आदिके सन्धिभेदसे हो रही पटपट ध्वनिसे व्याप्त हो गया था ॥५३॥

परस्पर संयोग और विभागसे प्रत्येक क्षणमें कभी मिलित एवं कभी विभक्त हुए जगत्पदार्थोंसे युक्त अङ्गों एवं अङ्गभ्रमणोंके कारण, दर्पणके सदृश उसकी देहमें उनका नृत्य विशाल भांकारोंसे मानो मूर्तिमान् भय-जैसे व्याप्त था ॥ ५४ ॥

उसी जगत्के नृत्यका विभागशः वर्णन करते हैं—'मेरु०' इत्यादिसे ।

कहीं मेरु पर्वत अपने चञ्चल कुलाचलरूपी बड़े-बड़े हाथोंका सञ्चालन कर नृत्य करता था, इसके अभ्ररूपी वस्त्रोंसे युक्त (आच्छन्न) छोटे-छोटे कल्पवृक्षरूप रोमोंका घुमाव बड़ा ही रमणीय लग रहा था ॥ ५५ ॥

समुद्र भी अपनी मर्यादाका मुद्रण न छोड़कर नाच रहे थे और वृक्ष पृथ्वीसे कभी आकाशमें तथा आकाशसे कभी पृथ्वीमें आते-जाते थे ॥ ५६ ॥

पुराणि घर्घरारावैर्दृश्यन्ते लुठितान्यधः ।
सगृहाट्टालवास्तव्यं न च किञ्चिल्लुठत्यधः ॥ ५७ ॥
तस्यां भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।
नखाग्रलेखालोकान्तर्भान्ति काञ्चनसूत्रवत् ॥ ५८ ॥
विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥ ५९ ॥
खमेव तस्याः सम्पन्नं कबरीमण्डलं बृहत् ।
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥ ६० ॥
द्वीपाब्धयोऽन्त्रवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥ ६१ ॥
तदाऽनुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
हिमवन्मेरुसह्याद्रैर्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥ ६२ ॥

किसी समय घर, अट्टालिका एवं गृहस्थीके सामानके साथ नगर घरघर ध्वनि करते हुए नीचेकी ओर लुढ़कते हुए दीख रहे थे, लेकिन वास्तवमें कुछ नहीं नीचेकी ओर लुढ़क रहा था ॥ ५७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब भगवती कालरात्रि चतुरतापूर्ण नृत्य कर रही थी, तब चन्द्र, सूर्य, दिवस और रात उसके नखाग्रभागकी रेखाओंके अन्दर विद्यमान आलोकमें (प्रभामें) मिलकर घूमते हुए, सुवर्णसूत्रके सदृश, दीर्घाकार प्रकाशित हो रहे थे ॥५८॥

भद्र, कालरात्रिने नीहारके तो हार पहिने थे, उसके वस्त्र नीले मेघ थे, इसलिए मेघोंसे बरसाये गये जो जलबिन्दु थे, वे उसके स्वेदबिन्दुकी तरह मालूम पड़ते थे ॥ ५९ ॥

अब सारा जगत उस भगवतीका अङ्गसमूह बन गया था, यह वर्णन करते हैं—'खमेव' इत्यादिसे ।

आकाश ही उसका बड़ा केशपाश (जूड़ा) बन गया था, पाताल चरण बन गये थे, भूमिमण्डल उदर बना था और दिशासमूह बाहु बन गये थे ॥ ६० ॥

उस भगवतीकी जो आँतोंसे युक्त वलियाँ थीं, वे द्वीप और समुद्र ही थे, जो पसलियाँ थीं, वे सारे पर्वत थे, और जो चञ्चल प्राण और अपान थे, वे सारे आवह आदि पवनस्कन्धरूप आकाश-सौध की शालिकाएँ ही थीं ॥ ६१ ॥

जब भगवती कालरात्रि नृत्य करती थी, तब उसके विशाल शरीरके ऊपर

तरदद्रिगुलुच्छास्ता वलयन्त्या तया स्रजः ।
पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥ ६३ ॥
सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्कः शरीरकः ।
निस्पन्दं स्थातुमशकन्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥ ६४ ॥
नानाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
सा सरन्ती नभस्यासीद्घनघूत्कारघोषिणी ॥ ६५ ॥
तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
प्रतिकृति भवत्यन्तर्न च किञ्चिद्विवर्तते ॥ ६६ ॥
बृहन्नासागुहागेहनिर्गताघनघुङ्घुमाः ।
तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥ ६७ ॥

हिमालय, मेरु, सह्याद्रि आदि पर्वतोंने झूलेके आनन्दका अनुभव किया ॥ ६२ ॥

उड़ रही पर्वतरूपी मञ्जरियोंसे युक्त पूर्ववर्णित ब्रह्माण्डमालाका इधर-उधर परिवर्तन करती हुई उस भगवतीने अपनी ताण्डव-लीलासे मानो फिर महाप्रलय आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामजी, वे सुर, असुर, नाग आदिके समूह ही भगवतीके रोम थे, इसका शरीर स्पन्दनरहित होकर ठहर सकता ही नहीं था, इसलिए चक्रकी तरह वह बराबर घूम रहा था ॥ ६४ ॥

भद्र, कर्मफलरूप नाना वैभव, कर्मानुष्ठानके कारण अनेक विज्ञान एवं अनुष्ठानरूप यज्ञ—इन तीन सूत्रोंका उसने यज्ञोपवीत धारण किया था, आकाशमें नाचती हुई वह मेघोंकी ध्वनियोंको लेकर वेदघोष कर रही थी, इसलिए ठीक ब्रह्मचारिणीकी तरह प्रतीत हो रही थी ॥ ६५ ॥

वस्तुतस्तु उस नृत्यमें कुछ भी नहीं हिल रहा था, परन्तु भूतल और आकाश चक्रके मिषसे एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित होकर एक दूसरेके सदृश वे दोनों बन जाते थे, इससे कुछ समयके लिए भूतल आकाश बन जाता था और आकाश बन जाता था भूतल, यह देखनेवालोंकी एक भ्रान्ति ही थी ॥ ६६ ॥

कालरात्रिकी श्वासवायुओंका वर्णन करते हैं—'बृहन्ना०' इत्यादिसे ।

उस भगवतीके बड़े-बड़े नासिकागुहारूपी घरोंसे निकले हुए मेघके सदृश घुंघुं शब्द कर रहे उग्र पवन बह रहे थे, इन वायुओंसे घोर घुंघुं शब्द हो रहे थे ॥ ६७ ॥

नभःकरशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥ ६८ ॥
तदङ्गजजगद्वस्तुजातभ्रमणसंभवात् ।
दृष्टिर्घीरापि मे मोहे सन्ना सेनेव सङ्गरे ॥ ६९ ॥
प्रोह्यन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
लुठन्त्यमरगेहानि वलिते देहदर्पणे ॥ ७० ॥
मेरवः पर्णवद्व्यूढा मलयाः पल्लवा इव ।
हिमाद्रयो हिमकणा इवोर्व्योऽब्जलता इव ॥ ७१ ॥
सह्या मह्यामिव खगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥ ७२ ॥
द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥ ७३ ॥

भद्र, सारा आकाशमण्डल उस भगवतीके चातुर्यपूर्ण पद्धतिसे सञ्चालित हुए सैकड़ों हाथोंके कारण प्रचण्ड वायुओं द्वारा कम्पित पल्लवोंसे व्याप्त-सा हो गया था ॥ ६८ ॥

उसके अङ्गोंसे जनित जगत्पदार्थोंके साथ-साथ जो भ्रमण हुए, उनसे उत्पन्न भ्रमके कारण मेरी धीर दृष्टि ऐसे कुण्ठित हो गई, जैसे युद्ध संग्राममें सेना ॥६९॥

उसका देहरूपी दर्पण जब कुछ भ्रमणशील हो गया, तब यन्त्रोंके सदृश पर्वत विचलित होने लगे, आकाशचारी देवता गिरने लगे और देवताओंके घर लुढ़कने लगे ॥ ७० ॥

उसकी नाभिमें पृथ्वीकी कमललताके सदृश उस समय शोभा मालूम हो रही थी, क्योंकि अनेक मेरु पर्वत ठीक पत्तोंके सदृश प्रतीत हो रहे थे, मलयाचल पल्लव-से भास रहे थे और इनपर हिमाचल हिमकण-सा प्रतीत हो रहा था ॥७१॥

उस भगवतीकी देहमें अनेक सह्य पर्वत पृथ्वीपर पक्षियोंके सदृश, अनेक विन्ध्याचल आकाशमें विद्याधरोंके सदृश तथा वृक्ष और बादल आकाशके अन्दर घूम रहे राजहंसोंके सदृश भास रहे थे ॥ ७२ ॥

उसके देहरूपी सरोवरमें अनेक द्वीप तृणोंके सदृश, समुद्र वलयोंके सदृश और देवताओंके आलय पद्मोंके सदृश भास रहे थे ॥ ७३ ॥

विशदाकाशसंकाशे स्वप्नाञ्जनपुरोपमे ।
अङ्गे तस्या बृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥ ७४ ॥
विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवनेऽसह्यश्च सह्यो गिरिः
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी क्रौञ्चाचलो मन्दरः ।
गोकर्णो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं
सर्वे जङ्गमतां गता वनभुवस्तस्याः शरीरे सदा ॥७५॥
अब्धिर्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोच्चैर्नभःकोटरे
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्गतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविव तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥७६॥
व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।
नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
वातावकीर्णतृणविक्रमणक्रमेण ॥ ७७ ॥

भगवतीका शरीराङ्ग विशद आकाशके सदृश विशाल था, स्वप्नमें उत्पन्न महान् अञ्जन पर्वतके सदृश था तथा एक पिण्डमें बने हुए बारहों आदित्योंके सदृश तो उसकी कान्ति थी, विशाल उसकी जंघाएँ थीं, इस प्रकारके उसके अङ्गमें कहींपर सुवर्ण पर्वतके ऊपर उगे जङ्गलमें अपना चिरन्तन वैर निकालते हुए-सा विन्ध्याचल नाच रहा था, तो कहीं गगनरूप आँगनमें अपने शत्रु विन्ध्याचलको न सहने योग्य सह्य, कैलास, मलय, महेन्द्रपर्वत, क्रौञ्च पर्वत, मन्दर और गोकर्ण पर्वत मानो कंपसे नाच रहे थे, इनके पक्षपातसे सारी वसुमती और विद्याधरोंके नगर नाच रहे थे— इस तरह उसके शरीरमें सभी स्थावर जङ्गमभावको प्राप्त हो गये थे ॥७४, ७५॥

श्रीरामजी, एक और आश्चर्य सुनिये—उसकी देहमें पर्वतपर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत ऊँचे आकाशकोटरमें नृत्य कर रहा था, वह आकाश भी चन्द्र और सूर्योंके साथ पृथ्वीके नीचे चलित होकर कहां चला गया, यह जाना ही नहीं गया। नानाविध पुष्पोंसे युक्त तथा द्वीप, अचल एवं नगरसे समन्वित वनगण सूर्यमण्डलमें नाच रहा था—यों चञ्चल जगत् समुद्रमें चञ्चल तृणके समान दिशाचक्रमें भ्रमण कर रहा था ॥ ७६ ॥

भद्र, आकाशमें पर्वत घूम रहे थे, दिशाओंमें समुद्र घूम रहे थे, पुर, नगर,

मत्स्याश्चरन्ति च मरौ वरवारिणीव
व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भान्ति ।
खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातवातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥७८॥
ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र-
चक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।
अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥७९॥
संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे
बिन्दूपमा रजतयोर्दिवसोत्कराश्च ।
कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
स्वादर्शमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥८०॥

मण्डल, नदियां, सरोवर—ये सब अपने आश्रयभूत लोकसे लोकान्तरमें, दर्पणके भीतर-जैसे, प्रविष्ट होकर—झंझावातके द्वारा असङ्कीर्ण तृणोंका उड़ना जैसे लोकमें विख्यात है, वैसे ही—उड़ रहे थे ॥ ७७ ॥

किञ्च, मत्स्य समुद्रकी नाईं मरुभूमिमें घूम रहे थे, नगर पृथ्वीके सदृश आकाशमें स्थिर दिखाई दे रहे थे, पर्वत आकाशमें प्रतीत हो रहे थे। अधिक आश्चर्य तो यह था कि आकाश एवं प्रलयके मेघ उत्पात-वायुओंसे घिरे हुए पर्वतोंपर स्थित थे ॥ ७८ ॥

किसी यन्त्र-चक्रमें हजारोंकी संख्यामें दीपक लगे हों और वह यदि घूमता हो तो कितना सुन्दर लगता है, ठीक इसी क्रमसे वेगसे हो रही मणियोंकी वृष्टिके सदृश अतिसुन्दर नक्षत्रोंका समूह घूम रहा था। इसकी शोभा उस तरहकी थी, जैसे आपकी सभामें विद्याधरों एवं देवताओंके गण द्वारा प्रीतिसे छोड़ी गई पुष्पवृष्टि भीतर-बाहर भ्रमण करती है ॥ ७९ ॥

भद्र, भगवती कालरात्रिके शरीरमें प्रलय एवं सृष्टियोंके समूह दिन-रातके भागमें प्रतीत हो रहे थे, दिन और रात्रिके समूह मलिन एवं अमलिन रजतके बिन्दुके सदृश अतिस्वल्प मालूम पड़ रहे थे, शुक्ल-कृष्णपक्ष सुन्दर निर्मल हीरे एवं इन्द्रनीलमणिके बनाये गये धवल एवं काले आदर्श-मण्डलके सदृश प्रतीत हो रहे थे ॥ ८० ॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।
स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलातलेखाः ॥ ८१ ॥

कल्पान्तकालविलुठत्त्रिजगन्मणीनि
व्यावर्तनैर्झगिति जातझणज्झणानि ।
तेजांसि झङ्कततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥ ८२ ॥

सङ्ग्राममत्तभटखड्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।
व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणा-
माकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥ ८३ ॥

हे राघव, उसकी देहमें सूर्य, चन्द्र आदिके मण्डल तो रत्न बन गये थे, नक्षत्रसमूह तरल वर्तुलाकार शोभासे युक्त गलेके हारके सदृश बन गये थे, अत्यन्त स्वच्छ गगनमण्डल पहिने हुए महान् वस्त्र बन गये थे। इनमें भ्रमण कर रही विद्युत् अलातचक्र-सी प्रतीत हो रही थी और निरन्तर महान् प्रकाश कर रही थी ॥ ८१ ॥

भगवतीके नृत्यमें कल्पान्तकालमें लुढ़क रहे तीनों जगत् ऊपर-नीचे परिवर्तनोंके कारण तत्काल ही झनझन ध्वनि करनेवाली मणियोंके रूपमें बन गये। झंकारसे ऊपर-नीचे गमन कर रहे सूर्य आदि तेज अनेक तरहके गुणयुक्त (सूत्रयुक्त) नूपुर, वलय आदि भूषणके रूपमें बन गये ॥ ८२ ॥

भद्र, अब एक दूसरा आश्चर्य सुनिये—देवीके ताण्डवनृत्यकालमें वीरजनोंका बड़ा-बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा था, ये वीरजन सङ्ग्राममें मत्त प्रतिभटोंके लिए निकाले गए खड्गोंकी मरीचियोंकी प्रभासे ग्रीष्मकालके दिनोंको भी मलिन कर रहे थे। देवीके नृत्यके समय ऊपर-नीचे होनेवाले संचालनोंसे वे योद्धा लुढ़क रहे थे, फिर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी स्थिरताके कारण वे स्थिर थे ॥ ८३ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दुपूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरातपन्तः ।
अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति
वातावधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥८४॥
संसारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिषेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्द्धं पृथक् च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥ ८५ ॥
भावोद्भवस्थितिविपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणाम् ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नामसंख्या ॥ ८६ ॥
उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।

किञ्च, यह दूसरा आश्चर्य सुनिये—भूत, भविष्यत् अनन्त कोटि सृष्टि, प्रलय आदिसे युक्त इस भगवती कालरात्रिका जब ताण्डव होता था, तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता एवं असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्तिसे दूसरे-दूसरे बनकर वायुसे चालित मच्छरोंके सदृश या बिजलीके सदृश प्रसिद्ध अस्थिरताविलाससे आते और आते दीख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

भद्र, भगवतीके शरीरमें जो सर्ग दिखाई देता था, उसमें सृष्टि, प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण आदि परस्पर विरुद्ध भी सब पदार्थ कभी सदा एक साथ एवं कभी अलग-अलग रूपसे विलसित होते मालूम पड़ रहे थे ॥ ८५ ॥

किञ्च, भगवतीके शरीररूप चिदाकाशमें मिथ्यारूप ही चमक रहे अतएव चिदाकाशरूप (शून्यरूप) सृष्टि, प्रलय, चतुर्दश भुवन, पृथ्वी आदि पदार्थोंकी अधिष्ठानवश हुई उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, अर्थक्रिया, परिभ्रम—इन सबकी संख्या कितनी थी, यह तनिक भी मालूम नहीं हो सकती थी ॥ ८६ ॥

भद्र, भगवतीकी देहमें उत्पात, शान्ति आदि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व-समूह

एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥ ८७ ॥
तस्याश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्व्यवस्थाः ।
सर्वक्षया मलिनदृक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्ड्रकस्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ॥ ८८ ॥
जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
सञ्चाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥ ८९ ॥
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थाः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसङ्कल्पसर्गवत् ॥ ९० ॥
क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥ ९१ ॥

एकत्र ऐसे प्रतीत होता था, जैसे एक कोशमें एकत्र रत्नोंका समूह। क्योंकि भगवतीके शरीरमें नाना रसोंसे पूर्ण अन्योन्य अनुचित अनेक सर्गपरम्पराएँ विद्यमान थीं ॥ ८७ ॥

श्रीरामजी, परमार्थ-दशामें चिदाकाशमय उसकी देहमें स्वभावभूत यानी अशास्त्रीय ज्ञानसे सिद्ध मायारूप आवरणात्मक अस्फुट अनुभवसे उत्पन्न जगत्-स्थितियाँ एवं जगत्प्रलय चारों ओर ऐसे कलित होते थे, जैसे तिमिर रोगसे मलिन हुई दृष्टिसे आकाशमें केशोण्ड्रकोंके स्फुरण प्रतीत होते हैं ॥ ८८ ॥

भद्र, अविचल अधिष्ठानरूप स्थितिमें विद्यमान जगत् वस्तुतः अक्षुब्ध ही है, फिर भी मायाक्षोभदृष्टिसे क्षुब्ध-सा दीख पड़ता है, क्योंकि बिम्बरूपसे अचल पर्वत चलित होनेवाले दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर जैसे चलित होता है, ठीक ऐसा ही यह जगत् स्थित है ॥ ८९ ॥

जैसे बालकके सङ्कल्पका सर्ग प्रतिक्षण पूर्वस्थितिका त्याग कर अन्यस्थिति ग्रहण करता है, वैसे ही नृत्यसे चमक रहे विशिष्ट प्रतापसे युक्त मायाके अन्दर प्रविष्ट हुए सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम द्वारा पूर्वस्थितिका त्याग और अन्य-स्थितिका ग्रहण करते रहते थे ॥ ९० ॥

सब पदार्थोंका उत्पादन करनेके लिए ही कारकोंकी क्रिया-शक्ति उपयोगमें

क्षणमालक्ष्यते किञ्चिन्न किञ्चिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमङ्गुष्ठमात्रैव क्षणमाकाशपूरिणी ॥ ९२ ॥
यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥ ९३ ॥
कालत्रयस्थितजगत्त्रितयान्तरी हि
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥ ९४ ॥

आती है, आगेके भावविकार तो स्वयं ही काल आनेपर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मूँग इकट्ठे करने हों, तो कारकक्रियाशक्तिकी आवश्यकता होती है, परन्तु विशीर्ण होकर फैलनेमें तो उनकी स्निग्धता ही कारण है, न कि अन्यकारक-क्रियाशक्ति, ठीक ऐसे ही यहां समझना चाहिए, यह कहते हैं—'क्रियाशक्तिः' ।

भगवतीकी देहमें क्रियाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा उसमें निरन्तर भरे जा रहे जगत्-रूपी मूँगके दाने ढेरके रूपमें पहले होकर फिर विशीर्ण हो जाते हैं यानी चारों ओर फैल जाते हैं ॥ ९१ ॥

माया भगवती परिणामि-स्वभाव जड़ जगत्रूपा होनेके कारण ही प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपकी प्रतीत होती है, यह कहते हैं—'क्षण०' इत्यादिसे ।

भगवती माया एक क्षणमें तो कुछ मालूम पड़ती है और दूसरे क्षणमें वैसी नहीं भी मालूम पड़ती है, एक क्षणमें एक अँगूठेके बराबर प्रतीत होती है, तो दूसरे क्षणमें आकाशको भी भर देनेवाली मालूम पड़ती है ॥ ९२ ॥

चूँकि सर्वविध कलाओंसे परिपूर्ण जगदात्मक यह देवी संवित्-शक्तिरूपा है, इसलिए अनन्त एवं विशाल आकाशकोशके सदृश विशुद्ध स्वरूपवाली ही है ॥९३॥

वह देवी कालरात्रि तीनों कालमें स्थित तत्-तत् विचित्र परिणामधारी समस्त त्रिजगत्की भीतरी चित्-शक्ति है, इस कारणसे वह चितेरेके उदार मनमें स्थित चित्रसंसारसमूहके सदृश यथास्थित उस विचित्ररूपसे वैसी प्रकाशित होती है । इस प्रकारके प्रकाशनमें उस चिति-शक्तिका परिवर्तनशील तत्-तत् काम-कर्मवासनाके परिपाकके अनुसार वेग भी रहता है ॥ ९४ ॥

सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वात्
संशान्तखैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषणसमुन्मिषितैकरूपं
सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥ ९५ ॥
तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखाब्जचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चित्त्वाद्द्रवज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ॥ ९६ ॥
महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥ ९७ ॥

तब क्या वह देवी प्रपञ्चपूर्ण ही है, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'सर्वात्म०' इत्यादिसे ।

अविद्यासे आवृत चिति-शक्तिके कारण वह देवी समस्त संसाररूप एक शरीरधारिणी होकर एक प्रकारसे चित्रभित्ति ही बन कर स्थित रहती है और विद्यासे अविद्याके हट जानेपर शुद्ध ज्ञानात्मक बन जानेके कारण वह शान्त आकाशरूप शरीरधारिणी होकर सर्वविध प्रपञ्चसे निर्मुक्त होकर स्थित हो जाती है । इस प्रकार बद्ध और मुक्त पुरुषकी दृष्टिसे गम्य एवं विद्या-अविद्यासे क्रमशः व्यञ्जित हो रहे स्वरूपसे उपलक्षित तथा परमार्थरूपसे अनादि-अनन्त चिदेक-रूपको धारण कर रही वह देवी ही प्रकाशती रहती है ॥ ९५ ॥

विवर्त एवं परिणामकी दृष्टिसे तथा जीवन्मुक्त एवं युक्तिवादी आत्माओंकी दृष्टिसे उस मायामें जो जगत्का ज्ञान हो सकता है, इसमें दो दृष्टान्त कहते हैं—'तस्याम्' इत्यादिसे ।

भद्र, उस देवीके शरीरमें विद्यमान उस अनन्त स्फटिक शिलारूप कोशमें यह दृश्य एक रेखामें रचित कमलचक्रादि-सा ही प्रतीत होता है और आकाश-मात्र शरीरधारिणी उसमें चिद्रूपके कारण यह दृश्य आकाशात्मक होकर ऐसे भासता है, जैसे द्रवस्वरूप समुद्रकोशमें ऊर्मिरेखा प्रतीत हो रही हो ॥ ९६ ॥

यों उस कालरात्रि और उसके नृत्यका सात्त्विक स्वरूप बतलाकर अब उसके नृत्यका उत्प्रेक्षा आदिसे वर्णन करते हैं—'महती' इत्यादिसे ।

शिरोमन्दाश्रितोग्राग्निदग्धस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ॥ ९८ ॥
कुद्दालोलूखलबुसीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दामधारिणी ॥ ९९ ॥
एवंविधानां सग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृतक्षुब्धं क्षयक्षतम् ॥१००॥
वन्द्यमानस्तया सोऽपि तथैवाकाशभैरवः ।
तथैव विततकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ॥१०१॥

डिम्बंडिम्बं सुडिम्बं पचपच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं ताक्ष्यपक्षैः ।

समस्त आकाशमण्डलको पूर्ण कर देनेवाली वह महान् भैरवी कालरात्रि देवी भैरवाकृति उस कल्पान्तरुद्रके सम्मुख नृत्य कर रही थी ॥ ९७ ॥

भद्र, मैं क्या वर्णन करूँ, कल्पान्तकालके महारुद्रके ललाट-स्थानका दृढ़तापूर्वक आश्रयण कर रही जो उग्र तृतीय नेत्राग्नि है, उससे दग्ध हुए अतएव स्थाणुके रूपमें बचे हुए अरण्योंसे युक्त भूमिवाली; कल्पान्त वायुओंसे कम्पित वनमालाके सदृश वह महादेवी नृत्य कर रही थी ॥ ९८ ॥

उस देवीके गलेमें पूर्ववर्णित ही केवल मालाबन्धन नहीं था, परन्तु कुदार, मूसल, ओखरी आदि भी था, यह कहते हैं—'कुद्दालो०' इत्यादिसे ।

कुदार, ओखरी, आसन, हलकी फाल, घट, करण्डक (डला), मूसल, सूप, बटली, स्तम्भ आदिकी माला धारण कर वह देवी नृत्य कर रही थी ॥९९॥

हे श्रीरामजी, इस तरहके नानाविध पुष्पमालासमूहोंके फूलोंको, जो नृत्यमें क्षुब्ध तथा भङ्गसे क्षत हो जाते थे, बखेरती हुई तथा नूतन बनाती हुई सी नाच कर रही थी ॥ १०० ॥

इस प्रकार भयङ्कर रूप धारण करनेवाली उस कालरात्रिके द्वारा वन्दित हो रहे उसी प्रकारका आकाशके सदृश विशाल भयङ्कर रूप धारण किये हुए अनन्ताकृति रुद्र भी देवीके सदृश महानृत्य कर रहे थे ॥ १०१ ॥

रक्त एवं आसवोंसे पूर्ण यमराजके महिषका महान् सींग हाथमें लेकर डिंब, डिंब, सुडिंब, पचपच, झम्य, झम्य, प्रझम्य आदि *तालबोधक शब्दवाद्योंके द्वारा*

पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाशृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या ॥१०२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणो० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥८१॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

किमेतद्भगवन्सर्वनाशे नृत्यति केन सा ।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥ १ ॥

भगवती एकदम नाच रही थी, उसने अपने गलेमें मुण्डोंकी माला पहिनी थी, सिरमें गरुड़के पंख धारण किये थे, प्रलयमें सारे जगत्को खाकर बड़ी ही प्रसन्न हुई थी, और कल्पान्तरुद्र भगवान् भैरवको नमन भी कर रही थी। इस तरह नृत्यपरायण एवं प्रसन्न भगवती कालरात्रिके द्वारा वन्द्यमान भगवान् भैरव आपका कल्याण करें। [अथवा इस श्लोकका दूसरा यों भी अर्थ हो सकता है—देवी कालरात्रि भगवान् भैरवकी स्तुति कर रही थी—हे भैरव, आप सब लोगोंके अनर्थकात्मक भोग एवं स्थूल शरीरादि प्रपञ्चको सबसे पहले खा डालिए, फिर सूक्ष्म शरीर आदि प्रपञ्चको खा डालिए, फिर मूलभूत मायोपाधि एवं कारण शरीरको भी अन्तिम साक्षात्कारमें आकर खा डालिए। इसके बाद पञ्चम आदि योगकी भूमिकाओंमें लगाकर शीघ्र ही सप्तम भूमिका तकके योगको भली-भाँति पचाकर विदेह कैवल्यके द्वारा जला डालिए। यों उस तरह नाच कर रही भगवतीके साथ-साथ आपके द्वारा स्तुति किये जा रहे भगवान् भैरव आपकी रक्षा करें]॥ १०२ ॥

इक्यासी सर्ग समाप्त

बयासी सर्ग

[अज्ञान रहनेपर कलासहित तथा भलीभाँति ज्ञात हो जानेपर कलारहित चिद्रूप परमात्माके तत्त्वका शोधनकर वर्णन]

पूर्व सर्गमें बड़े विस्तारके साथ समस्त प्रपञ्चका वर्णन किया गया है तथा

किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या देहसंस्थितम् ।
परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

नासौ पुमांश्च चासौ स्त्री न तन्नृत्तं न तावुभौ ।
तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ॥ ३ ॥

प्रलीन हुए उस प्रपञ्चकी नृत्य कर रही कालरात्रिके भूषण आदि भावसे अङ्गमें उत्पत्ति एवं नृत्त भ्रमण आदिका भी वर्णन किया गया है। इस विषयमें नष्टकी पुनः उत्पत्तिकी संभावना न मानते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किमेतत्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जब प्रलयमें सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी किस अङ्गसे नाच कर रही थी ? तथा सूप, ओखली एवं कुम्भ आदिके द्वारा, जो उस समय नष्ट हो चुके थे, उसके माला धारणका जो आपने वर्णन किया है वह क्या है ? मेरे पूछनेका तात्पर्य यह है कि नष्ट हुए सूप आदिकी मालाको जो उसने धारण किया था, उसकी मैं कैसे संभावना करूँ ॥१॥

तीनों जगत्का नष्ट क्या हुआ, फिर कालीकी देहमें स्थित क्या रहा और निर्वाणको प्राप्त हुआ जगत् पुनः आकर नाचने कैसे लगा ? अर्थात् जब जगत् नष्ट हो गया, तो फिर वह स्थित कैसे रहा और जब वह निर्वाणको प्राप्त हो गया तब पुनः आकर वह नाचने कैसे लगा, यह सब कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

यदि परमार्थदृष्टिसे मेरे कथनमें व्याघात समझते हैं, तो ठीक है, आप वैसा ही समझिये, क्योंकि परमार्थतः चिन्मात्रैकरस परिपूर्णानन्द सन्मात्रसे अतिरिक्त स्त्री, पुरुष आदिरूप जगत् तथा रुद्र और देवी आदिका विभाग— यह सब अत्यन्त असंभावित ही है अर्थात् इनके भेदकी बिलकुल संभावना ही नहीं है। परन्तु भ्रान्तदृष्टिसे तो तनिक भी उसमें व्याघात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसत्तासे सर्वदा सत्‌रूप जो वस्तुएँ हैं उनके नाश और अविनाशके विशेषरूपका निरूपण नहीं हो सकता, नष्ट हुई वस्तुओंकी भी स्वप्नमें प्राप्ति दीखती है, मर गये या बहुत दिन पहले जो भस्मीभूत हो चुके हैं उनका भी मुनि, सिद्ध एवं ईश्वर आदिके वरप्रभावसे पुनरागमन प्रसिद्ध ही है। इसलिए जबतक अज्ञान है तबतक

अनादिचिन्मात्रनभो यत्तत्कारणकारणम् ।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥ ४ ॥
शिवं तत्सच्छिवं साक्षाल्लक्ष्यते भैरवाकृति ।
तथास्थितो जगच्छान्तौ परमाकाश एव सः ॥ ५ ॥
चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥ ६ ॥

जगत्‌के आकारका चित्तमें सबकी दृष्टिमें संस्काररूपसे सद्भाव रहनेसे अत्यन्त भ्रान्तिग्रस्त पुरुषोंके द्वारा केवल जगत्‌के रूपसे, सर्वजगत्‌से युक्त एक मूर्ति मानकर, रुद्र, देवी आदिके उपासकोंके द्वारा उक्त रूपसे योगसिद्धिके प्रभावसे उक्त रूपका दर्शन हो सकता है, इस आशयको लेकर कहते हैं—'नासौ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वह रुद्र परमात्मा न तो पुरुष है, न स्त्री है, न उसने नृत्य ही किया है । सच कहना तो यह है कि भगवती काली और भगवान् रुद्र—ये दोनों ही, जैसा कि मैंने आपसे उनका वर्णन किया है वैसे नहीं थे, वस्तुतः उस आचारके भी वे नहीं थे और न उनकी वह आकृति ही कुछ थी ॥ ३ ॥

किन्तु जो कारणोंका कारण है वही अनादि चिन्मात्र, आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशस्वरूप, अविनाशी ही सर्वत्र व्याप्त था ॥ ४ ॥

निरतिशयानन्दैकरस वह ब्रह्म ही नीलकण्ठ, त्रिनेत्र आदि रूप धरकर प्रलयकालमें भैरवाकार उपासकों द्वारा दिखाई देता है, क्योंकि उन उपासकोंकी वासनानुसार वह परमाकाश ही जगत्‌की शान्तिके समय भगवान् भैरवकी उस आकृतिसे युक्त स्थित रहता है ॥ ५ ॥

किंच, चेतन ब्रह्ममें ही जगत्‌का उपसंहार श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है । लोकमें निराकार चेतन कहीं नहीं दीखता, इसलिए जगत्‌का संहार करनेवाले परमेश्वरमें 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं शान्तम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध रूपकी संभावना अवश्य करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'चेतनत्वात्' इत्यादिसे ।

चेतन होनेके कारण वह परमेश्वर अपने चेतनस्वरूप वैभवको छोड़कर ऐसे स्थित नहीं रह सकता, जैसे कटक, केयूर आदिरूप अपनी आकृति छोड़कर सुवर्ण ॥ ६ ॥

कथमास्तां वद प्राज्ञ चिन्मात्रं चेतनं विना ।
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना ॥ ७ ॥
कटकादि विना हेम कथमास्तां विलोच्यताम् ।
कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत् स्थितिः ॥ ८ ॥
विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ।
निर्माधुर्यश्च यस्त्विक्षुरसो नहि स तद्रसः ॥ ९ ॥
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
न च चिन्मात्रनभसो नष्टं क्वचन युज्यते ॥ १० ॥

जैसे कटक, केयूर आदिके आकारमें परिणत हुए बिना सुवर्ण नहीं रह सकता यानी किसी-न-किसी अलङ्कारके रूपमें सुवर्णका परिणत हो जाना जैसे अनिवार्य है वैसे ही चितिमें भी चेत्याकारका अनिवार्य अवलम्बन लोकमें प्रसिद्ध है । इसलिए निराकारपक्षकी ही बिलकुल असंभावना सिद्ध होती है, यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं—'**कथमा०**' इत्यादिसे ।

हे प्राज्ञ, कहिये, चेतनके बिना—चेत्य विषयाकार धारण किये बिना चिन्मात्र भला कैसे रह सकता है ? हे प्राज्ञ, कहिये न, तिक्तताके बिना भला मरिच कैसे रह सकता है ? ॥ ७ ॥

सविषयतास्वभाव होनेसे भी अज्ञात चितिके आकारका किसी तरह परित्याग नहीं किया जा सकता, इस आशयसे कहते हैं—'**कथम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारिये तो सही, भला कटक आदि अलङ्कारस्वरूपताको प्राप्त किये बिना सुवर्णकी स्थिति कैसे रह सकती है, क्योंकि स्वभावके बिना यानी अपने स्वभावको छोड़कर किसी भी पदार्थकी स्थिति रह कैसे सकती है ? ॥ ८ ॥

कहिये न, माधुर्यके बिना इक्षुरस कैसे रह सकता है, क्योंकि माधुर्यसे रहित जो इक्षुका रस है, वस्तुतः वह उसका रस ही नहीं है ॥ ९ ॥

अपिच, नष्ट हुए भी पदार्थोंका स्मृतिमें भान होता है, इसलिए चितिदृष्टिसे किसी भी पदार्थका निरन्वयनाश कहीं प्रसिद्ध ही नहीं है, यह कहते हैं—'**अचेतनम्**' इत्यादिसे ।

चेतनशून्य जो चिन्मात्र है, वस्तुतः उसे चिन्मात्र नहीं कहते और यह भी युक्त नहीं है कि चिन्मात्र आकाशका कहीं कुछ नष्ट हो जाय ॥ १० ॥

स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते ।
अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥ ११ ॥
तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥ १२ ॥

किञ्च, ब्रह्मसे अभिन्न जो यह जगत् है, इसके एकमात्र ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त रूपकी प्रसिद्धि न होनेसे किसी पदार्थके नाशकी ही सिद्धि नहीं है, यह कहते हैं—'**स्वसत्ता०**' इत्यादिसे ।

उस ब्रह्मको स्वसत्तामात्रसे अन्य कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है । [यदि यह आशङ्का हो कि 'निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादि ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त रूपका कथन श्रुतियोंमें पाया जाता है और पामर लोग ऐसा अनुभव भी करते हैं, तो इस आशङ्कापर कहते हैं—'अन्यत्वम्' से ।] हां, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह ब्रह्मात्मा जगदाकारसे* अन्यरूप स्वीकार करनेके लिए पहले आकाशसे† अभिन्न अपनी आत्माको बना लेता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह ब्रह्म अपनेसे अभिन्न आकाशको बना लेता है, तो फिर उससे भिन्न दूसरा कोई रूप उसके द्वारा स्वीकृत कैसे हो सकेगा ? अथवा सद्रूप अनन्यत्वका सम्पादन न होनेपर उसके द्वारा आकाशकी रचना ही कैसे हो सकेगी, क्योंकि सदात्मताका लाभ ही तो आकाशादिकी उत्पत्ति कही जाती है, इसलिए 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित मूर्तामूर्तस्वरूप सद्रूपसे अन्य है, इसकी सिद्धि किसी तरह भी नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

'तब कहिये, जगत्का स्वरूप क्या है ?' यदि यह कोई प्रश्न करे, तो उसके इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'ब्रह्मसत्ता ही जगत्का रूप है' । वह ब्रह्मसत्ता तत्त्वके अवबोधक प्रमाणके बिना लौकिकदृष्टिसे जगत्प्रलय आदिके आकारसे ऐसे भासती है, जैसे सर्पाकारसे रज्जु भासती है । परन्तु तत्त्वावबोधक प्रमाणके द्वारा तो वह यथार्थरूपसे भासती है, यह निष्कर्ष है, यों उपसंहार करते हैं—'**तस्मात्**' इत्यादिसे ।

* 'बहु स्यां प्रजायेय' यह श्रुति देखिये ।
† 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः' यह श्रुति देखिये ।

तदेतत्त्रिजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योम भूर्दिशः ।
नाश उत्पादनं नाम विना माभासनं नभः ॥ १३ ॥
जननं मरणं मायामोहमान्द्यमवस्तुता ।
वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥ १४ ॥
विद्याविद्याविदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम् ।
चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरश्च तत् ॥ १५ ॥
सदसच्चाथ सदसन्मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव च ।
देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥ १६ ॥
रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
तेजोवार्यनिलाकाशपृथ्व्यादिकमिदं ततम् ॥ १७ ॥
एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
अजहद्व्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥ १८ ॥
एतत्सर्वं च विमलं खमेवात्र न संशयः ।
अस्मादनन्यत्स्वप्नादिर्दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः ॥ १९ ॥

इसलिए आदि, मध्य और अन्तशून्य, अक्षुब्ध, सर्वशक्तिमयात्मक ब्रह्मकी स्वसत्तामात्र जो अपनी स्थिति है वही इस जगत्-त्रयका सर्ग और प्रलय है। वही आकाश है, वही पृथिवी है और वही सब दिशाओंके रूपमें स्थित है। तत्त्वावेदक प्रमाणके बिना ही नाश और उत्पत्ति—ये दोनों अविद्यादूषित दृष्टिसे भासते हैं। भाव यह है कि तिमिररोगयुक्त दृष्टिसे चन्द्रकी व्योमादिरूपताके भासनके समान ही वस्तुतः ये दोनों शुद्धसत्तातिरिक्त अर्थशून्य ही हैं ॥१२,१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्म, मरण, माया, मोह, जड़ता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षण, चिरकाल, चञ्चलता, स्थिरता, तुम, मैं, इतर, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर विषय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय तथा जो यह सर्वत्र व्याप्त तेज, जल, अनिल, आकाश और पृथिवी आदि है, वह सब शुद्ध निरामय चिदाकाश ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परित्याग न करते हुए सर्वस्वरूप होकर ही स्थित है ॥ १४–१८ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह सब कुछ निर्मल चिदाकाश ही

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥ २० ॥
स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥ २१ ॥
अनिलो जलदोऽम्भोधिर्द्यौ यद्वस्त्वस्ति नास्ति च ।
इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥ २२ ॥

स्थित है, इससे भिन्न कुछ नहीं है । इस विषयमें स्वप्नादि ही अविखण्डित दृष्टान्त है ॥ १९ ॥

सत्-चित्स्वरूप जिस एक परमाकाश परमात्माका मैंने अभी आपसे वर्णन किया है वह 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य' इत्यादि श्रुतियोंमें 'शिव' नामसे कहा गया है । यही सनातन शिव होता है, जिसका मैंने रुद्रमूर्तिके नामसे उपन्यास किया है ॥ २० ॥

वही परमात्मा विष्णु आदिके आकारसे उपासना करनेवालोंके लिए 'हरि' वेषसे स्थित हो जाता है । एवं औरोंके लिए यही पितामह भी होता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक हम आपसे क्या कहें, यही परमात्मा चन्द्र, सूर्य आदिके स्वरूपकी वासनासे वासित बुद्धिवालोंके लिए चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर तथा अग्निरूप धारण कर स्थित होता है* ॥ २१ ॥

यही परमात्मा वायु, मेघ और सागर है तथा अतीतादि काल भी यही है । तीनों कालमें जिस वस्तुकी सत्ता विद्यमान है और नहीं है वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी, 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्दुः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥ स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् । ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ इस तरह श्रुतिमें प्रतिपादित जो ये विष्णु तथा पितामह आदि भाव अच्छी तरह स्फुरित हो रहे हैं वे सबके सब उस चिन्मय ब्रह्माकाशकोशके गुणादि-उपाधि-प्रयुक्त अंशस्वरूप हैं ॥ २२ ॥

* देखिये यह श्रुति—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' ।

एवंविधाभिः सञ्ज्ञाभिर्मुधा भावनयेदृशाः ।
स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥ २३ ॥
अबोधो बोध इत्येवं चिद्व्योमैवाऽऽत्मनि स्थितम् ।
तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥ २४ ॥

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥ २५ ॥

ज्ञाते तु शान्तिं स तथोपयाति
यथा न सोऽब्धिर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवस्वरूपवर्णनं नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥८२॥



अन्यथा ग्रहण करनेवाली अविद्या द्वारा इस तरहकी संज्ञाओंसे ब्रह्मा, विष्णु आदि ऐसे हो जाते हैं। लेकिन परमात्मस्वभावमात्रका बोध होनेपर तो वे सब चिन्मात्रस्वभाव ही हो जाते हैं ॥ २३ ॥

चिदाकाशरूप ब्रह्म ही अज्ञदृष्टिसे अबोधस्वरूप होकर जीव और जगत्के रूपसे स्थित है तथा तत्त्वदृष्टिसे वही बोधस्वरूप होकर अपने स्वरूपमें स्थित है। इसलिए भेद तथा द्वैत और ऐक्य कुछ भी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्त हो जाइये ॥ २४ ॥

यह जीव जबतक परब्रह्मात्मक अपने स्वभावको नहीं जानता तबतक यह अज्ञानस्वात्मस्वरूप संसाररूपी महासागरमें जन्म-मरण-भ्रमणादिरूप नाना तरङ्गोंकी कल्पना करता है। परन्तु जब यह अपने स्वरूपको जान लेता है तब तन्मयताको प्राप्त होकर निरामय उसी स्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ २५ ॥

यही कहते हैं—अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर तो वह जीव वैसे शान्तिको प्राप्त हो जाता है जिससे कि न तो वह समुद्र रहता है और न उसमें

त्र्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रपरमाकाश एष यः कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रनृत्यति ॥ १ ॥
याऽसौ तस्याऽऽकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनांवर ।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥ २ ॥
मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः ।
मयैव तत्परिज्ञातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥ ३ ॥

तरङ्ग ही । यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् उसके लिए परम शान्त अनन्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमूलशङ्करशास्त्रिविरचित-योगवासिष्ठभाषानुवादमें निर्वाणप्रकरणके उत्तरार्धका बयासी सर्ग समाप्त

तिरासी सर्ग

[चिन्मात्र ही भैरवाकार वह भगवान् शिव तथा भगवती काली हैं, चिन्मात्रसे अन्य वे नहीं हैं । बोधके लिए कल्पना दृष्टिसे उस तरह भासित होते हैं, यह वर्णन]

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र यही कारण है कि आपकी अविद्या-भ्रान्तिके निरास द्वारा तात्त्विक शिवस्वभाव दृष्टिके उद्घाटनके लिए मैंने जगत-प्रलयके समय रुद्र-नृत्य आदिका, जो स्वानुभूत हैं, वर्णन किया है, वही परमार्थ है, ऐसा आपको भ्रम नहीं कर लेना चाहिए, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जो मैंने आपसे वर्णन किया है वह चिन्मात्र परमाकाश ही है, यही शिवरूपसे कहा गया है । यही प्रलयकालमें रुद्र होकर नृत्य करता है ॥ १ ॥

हे पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, उसकी जो यह भयानक आकृति है वह वस्तुतः उसकी आकृति नहीं है, किन्तु उस तरहका वह चिद्घन चिदाकाश ही उस रीतिसे स्फुरित होता है ॥ २ ॥

तत्त्वदृष्टिसे मैंने उस भयानक आकृतिको उस समय शान्त चिदाकाशमात्र देखा । वस्तुतः अकेले मैंने ही उसे जाना, तत्त्वदृष्टिसे हीन कोई ही प्राणी उसे वैसा नहीं देखता ॥ ३ ॥

यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी ।
मायामात्रं तथा सर्वं परिज्ञातमलं मया ॥ ४ ॥
चिद्व्योमैव परं शून्यं सन्निवेशेन तेन तत् ।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवाकारतां गतम् ॥ ५ ॥
वाच्यवाचकसम्बन्धं विना बोधो न जायते ।
यस्मात्तस्मात् त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥ ६ ॥
यदेव वाच्युपारूढमेतद् राम सदैव ते ।
रूढाधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥ ७ ॥
न भैरवी सा नैवाऽसौ भैरवो नैव संक्षयः ।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्व्योम भासते ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी—ये सबके सब जिस तरह मायामात्र हैं, यानी 'कल्पादि सबके सब जैसे मायामात्र हैं' यह सब मैंने अच्छी तरह तत्त्वज्ञान हो जानेके कारण तत्त्वदृष्टिसे ही जान लिया ॥ ४ ॥

केवल वह निराकार चिदाकाश ही उस आकार विशेषसे भैरवाकारताको प्राप्त दिखाई देता है। सच पूछिये तो उस तरहका यथार्थमें कोई रूप आदि नहीं है, किन्तु उपासकोंकी वासनाके अनुसार भैरवाकारताको प्राप्त वह वैसा दीखता है ॥ ५ ॥

कल्पनादृष्टिसे देखी गई वस्तुका वर्णन आपके सामने वाच्य-वाचककी यानी शब्द तथा अर्थकी सम्बन्ध-कल्पनाके बिना निर्विशेषका व्युत्पादन न हो सकनेसे ही मैंने उसकी कल्पना करके आपको समझानेके लिए किया है, यह कहते हैं—'वाच्यवाचक०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि वाच्यवाचक सम्बन्धके बिना बोध नहीं होता, इसलिए कल्पनादृष्टिसे देखी गई वस्तुका ही मैंने आपसे वर्णन किया है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकालके अभ्यासके कारण जगत्में आपकी आधिभौतिक दृष्टि प्रौढ़ बन गई है, इसलिए आपकी वाणीमें यह जो कुछ दृढ़ताको प्राप्त है वह सब क्षण भरमें मायात्मताको यानी सत्यत्वकी भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि वह सब मायामात्र क्षणिक है, भ्रान्तिसे सत्यरूप प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥

वस्तुतः न वह भैरवी है, न वह भैरव है और न वह प्रलयकाल ही

स्वप्ननिर्माणपुरवत् सङ्कल्परणवेगवत् ।
कथार्थसार्थरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥ ९ ॥
यथा स्वप्नपुरं स्वच्छे व्योम्नि मौक्तिकधीर्यथा ।
यथा केशोण्डूकं व्योम्नि तथाऽचिद् भाति चिद्घने ॥ १० ॥
चिन्मात्राकाशमेवाऽच्छं कचति स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तथा नाम यदाभाति तदात्मैव जगत्तया ॥ ११ ॥
यथा चिद्व्योम्नि कचति स एवाऽऽत्मा तथा पटे ।
तथा कचति तत् तत्र कल्पान्तानलनर्त्तने ॥ १२ ॥
शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्ग वर्णितः ।
अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यस्याऽनृत्ततास्थितिम् ॥ १३ ॥

है, किन्तु वह समस्त ही भ्रान्तिमात्र है, परमार्थरूपसे चिदाकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥

स्वप्नमें जिसका निर्माण हुआ है उस नगरकी तरह, मनोरथके युद्धके वेगके समान, सुन लेना या कह देना ही एकमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कथार्थोंके रसकी तरह, मनोराज्यके विलासकी तरह यह सब भ्रम है, चिद्घनमें भासित हो रहा है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्न-नगर भासता है, जैसे स्वच्छ आकाशमें मौक्तिक बुद्धि होती है तथा जैसे आकाशमें केशोण्डूक भासता है वैसे ही अचित् चिद्घनमें भ्रान्तिसे भासित हो रहा है ॥ १० ॥

तब प्रबोध होनेपर कैसे भासता है, यह कहते हैं—'चिन्मात्रा०' इत्यादिसे।

प्रबोध होनेपर एकमात्र स्वच्छ चिदाकाश ही अपने स्वरूपमें अपनेसे भासता है। जब प्रबोध नहीं रहता, तब चिदात्मा ही जगत्-रूपसे वैसा भासता है, यह निश्चित है ॥ ११ ॥

जैसे चिदाकाशमें स्वयं ही आत्मा स्फुरित होता है वैसे ही पटमें स्फुरित होता है और उस कल्पान्तकी अग्नि तथा नृत्यमें भी वह उस रूपसे स्फुरित होता है ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने भगवान् भैरव तथा भैरवीके आकारका,

चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥ १४ ॥
स्वभावाच्चेतनं तस्माद् रुद्रत्वेन तथा स्थितम् ।
हेमेव रूपकत्वेन संनिवेशविलासिना ॥ १५ ॥
यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।
स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥ १६ ॥
यः स्पन्दश्चिद्घनस्याऽस्य शिवस्याऽस्य स एव नः ।
स्ववासनावेशवशान्नृत्यमेव विराजते ॥ १७ ॥
अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
यन्नृत्यति हि तद्विद्धि चिद्घनस्पन्दनं निजम् ॥ १८ ॥

जो तत्त्वतः निराकार हैं, वर्णन किया, अब मैं उनकी नृत्यस्थितिका आपसे वर्णन करने चल रहा हूँ, जो वस्तुतः अनृत्यस्वरूप है, आप सुनते रहिये ॥ १३ ॥

जैसे भ्रान्तिसे दिखाई दे रही शुक्ति आदि वस्तु अवस्तुभूत रजत आदि रूपके बिना किसी तरह टिक नहीं सकती, वैसे ही चिन्मात्र पर ब्रह्म परमात्माकी चेतनता भी बिना किसी स्पन्दनके स्थित नहीं रह सकती, क्योंकि भ्रान्तिके स्वभावका विपर्यासकत्व-नियम सर्वत्र समान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसी भ्रान्ति एक जगह होती है ठीक वैसी ही भ्रान्ति और जगह भी दीखती है, ऐसा नियम नहीं है कि दूसरी जगहकी भ्रान्तिका स्वरूप कोई दूसरा हो ॥ १४ ॥

इसीलिए जैसे सुवर्ण कटक, केयूर आदि आकारोंसे सुशोभित होनेवाले अलङ्काररूपसे स्थित होता है वैसे ही सद्रूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभावसे रुद्ररूप धारण कर स्थित है ॥ १५ ॥

जो चेतन है, जिसमें चेतनत्व अवश्य स्वभावतः है, वह स्पन्दधर्मवाला होता ही है, क्योंकि अधिष्ठानता स्वाभाविक होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥

जो इस चिद्घनका स्पन्द है वही इस भगवान् शिवका स्पन्द है। वही हम लोगोंके सामने अपनी वासनावश नृत्यरूपसे विराजमान होता है ॥ १७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलयकालमें वह भगवान् शङ्कर भयङ्कर आकृतिवाले रुद्र होकर जो शीघ्र नृत्य करते हैं, उसे आप चिद्घनका निजी स्पन्दन ही समझिये ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

प्रामाणिकदृशा दृश्यमिदं नास्त्येव वस्तुतः ।
यदवास्तवि तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९ ॥
तत्कल्पान्तमहाशून्ये एतस्मिन् परमाम्बरे ।
कथंचिन्नाम वा चेत्यं चेता चेतति चिद्घनः ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

एतदेव तदाप्यङ्ग द्वैतैक्याम्भोधिशान्तये ।
यदि चिन्मात्रनभसश्चेत्यमस्ति न किञ्चन ॥ २१ ॥
न किञ्चिच्चेतति ततः क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तं दृषन्मौनं विज्ञानघनमम्बरम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, प्रामाणिक दृष्टिसे वस्तुतः यह दृश्य है ही नहीं, इसलिए उस कल्पमें आपसे मेरा कुछ प्रश्न नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक दृष्टि पक्षमें मैं आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ एक तरहसे सत्तावान्-सा है वह सब कल्पान्तमें नष्ट हो जाता है, तो फिर कल्पान्तमें महाशून्य उस परमाकाशमें चेत्य रहित चिति कैसे रहती है? तथा आश्रयके अभावमें चेतयिता कैसे रहता है अथवा स्वातिरिक्त चितिक्रियाके अभावमें चिद्घन कैसे चेतता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि इस दशामें त्रिपुटीका रहना किसी तरह नहीं बन सकता। यदि आप यह कहें कि उस समय न रहते हुए भी दृश्यको अविद्या दिखला देती है, इसलिए उसीसे त्रिपुटीकी सिद्धि हो सकती है, तो इसपर मेरा सविनय यह निवेदन है कि सर्ग और प्रलयमें विशेषता ही क्या रही? क्योंकि अचेतित—चितिक्रिया-शून्य सर्वजगद्घटित रुद्र और देवीके शरीरमें उस नृत्यकी किसी तरह संभावना नहीं की जा सकती। भाव यह कि एक समयमें द्वैत और ऐक्यकी भावना कदापि नहीं हो सकती ॥ १९, २० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, ऐसी यदि आपकी शङ्का है, तो अपने द्वैत और ऐक्यके सन्देहरूपी सागरकी शान्तिके लिए यह उत्तर सुनिये—सबका प्रलय होनेपर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाशका यदि कुछ भी चेत्य नहीं है, तो फिर उससे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुके न रहनेसे ही किसी देश और किसी कालमें कोई भी कोई दूसरी वस्तु नहीं चेतता, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्'—जहां सब इसका आत्मा ही हो गया, वहां कौन किससे किसको देखेगा।

यच्चेदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य वल्गति ।
चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥ २३ ॥
यथा स्वप्ने चिदेवाऽन्तः पुरपत्तनवद्भवेत् ।
पुरादि न तु तत् किञ्चिद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥ २४ ॥
आत्मनाऽऽत्मनि चिच्छून्यं ज्ञात्वा च ज्ञेयमप्यलम् ।
तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कचनं च तत् ॥ २५ ॥

यानी उस दशामें द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, चेतयिता, चेत्य, चितिक्रियाका संभव नहीं है ।

[ऐसी दशामें प्रामाणिक दृष्टिसे सिद्ध नित्यमुक्त आत्मस्वभाव ही प्रलय है—यह आपने सिद्ध कर दिया, अतः सब तरहसे आपका प्रथम कल्प ही सम्पन्न हुआ, ऐसा कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे । अतः सब शान्त पाषाणवत् मौन विज्ञानघन आकाश ही सर्वदा स्थित है । ऐसी दशामें, अप्रामाणिक दृष्टिसे द्वितीय विकल्पका आश्रयण करके आपका प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह भाव है ।] ॥ २१, २२ ॥

यदि प्रथम कल्पकी विलक्षणताके लिए प्रलयमें अविद्या आदि किसी चेत्यको आप स्वीकार करते हैं, तो फिर उसीसे त्रिपुटी, जगद्घटित रुद्र और देवीका शरीर तथा उनका नृत्य भी सब उस दशामें रह सकते हैं, इसलिए मैंने जो कुछ कहा है वह कुछ भी असंभावित नहीं है—सबकी उस दशामें संभावना की जा सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'यच्चेदम्' इत्यादिसे ।

और जो कुछ यह चेतित होता है वह इस ब्रह्मका अविज्ञात आत्मरूप ही प्रलयमें भी रुद्र, देवी और उसके नृत्यरूपसे प्रथित होता है । [इतनेसे ब्रह्मके वास्तव कूटस्थ चित्स्वरूपमें किसी तरहकी हानि होती हो, सो भी नहीं है—आप भूलकर भी इसके वास्तविक स्वरूपकी हानिकी आशङ्का न कीजियेगा,] क्योंकि चित्स्वभाव शान्तस्वरूप इस ब्रह्मकी अपनी सत्तामें ही अवस्थिति रहती है ॥२३॥

भ्रान्तिके कारण अन्यथात्वका प्रतिभास होनेपर भी वास्तविक स्वभावकी अप्रच्युतिमें दृष्टान्त कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे कि स्वप्नमें एकमात्र चिति ही अन्तःकरणमें ग्राम और नगर-सी होती है—नगर आदिका स्वरूप धारण करती है, परन्तु यथार्थमें वहां पुर आदि कुछ नहीं रहते । जो कुछ वहां रहता है, वह सब विज्ञानाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥ २४ ॥

इसलिए समस्त ज्ञेयको भली भांति जानकर भी चिति अपनेसे अपनेमें सर्वदा

स्वयमन्तः कचन्ती चित्स्वभावाकाशकोटरे ।
क्षणकल्पजगद्भ्रान्तिं धत्ते कल्पनया स्वया ॥ २६ ॥
स्वमन्तः कचत्कान्तिश्चिदाकाशः स्वभावखे ।
अयं सोऽहमयं च त्वं करोतीत्यादिकल्पनम् ॥ २७ ॥
तस्मान्न द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥ २८ ॥
न चेतति क्वचित् किञ्चित्कश्चिच्चेत्यात्मभावतः ।
तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवाऽवशिष्यते ॥ २९ ॥

ही ज्ञेयको शून्य जानती है। तथा प्रलयकालमें भी सृष्टिके प्रारम्भ क्षणसे लेकर प्रलय क्षण तक जो जैसे सम्पन्न होता है सबको अपना स्फुरण समझती है। भाव यह कि वह ब्रह्मचिति सदा सर्वज्ञ प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

एकमात्र यही कारण है कि उस सृष्टिकालमें भी प्रलयको अतीत एवं अनागत सभी तरहके हजारों प्रलयोंके साथ वह अवश्य देखती रहती है, इसकी भी संभावना करनी चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह चिति स्वस्वभावरूप कोटरमें भीतर स्फुरित होती हुई अपनी ही कल्पनासे क्षण, कल्प तथा जगत्की भ्रान्तिको धारण करती है ॥२६॥

यह चिदाकाश निजस्वभावरूप आकाशमें स्वयं ही भीतर देदीप्यमान कान्तिवाला होकर 'यह, वह, मैं और तुम' इत्यादि नानाविध कल्पना किया करता है ॥ २७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है, न चेतन है और न अचेतन ही है, किन्तु एकमात्र निश्चित मौन ही है अथवा वह (मौन) भी नहीं है, किंतु चिन्मात्र ही स्थित है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सृष्टि और प्रलयमें जो विशेष है वह भी अपने अनुभवसे ही सिद्ध है, एक साथ प्रतीति होनेसे इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

चितिके स्वयं चेत्यस्वरूप होनेके कारण कहीं कोई कुछ भी नहीं चेतता यानी चिन्तनका विषय नहीं बनाता। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह निश्चित है कि चेत्य और चेतनक्रियाके न होनेसे चेतयिता भी कोई नहीं है अर्थात् चितिसे भिन्न न तो चेत्य है, न चेतनक्रिया है। एकमात्र मौन ही अवशिष्ट है ॥ २९ ॥

निर्विकल्पसमाधिर्हि सिद्धान्तः सर्ववाङ्मये ।
तच्च जीवदृषन्मौनं तूष्णीमेवात आस्यताम् ॥ ३० ॥
कुर्वन्निजं प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
माचारजालमचलः परमार्थमौनात् ।
निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विश्वरूपदर्शनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं मुने ब्रूहि काली किमिव नृत्यति ।
किं शूर्पफलकुद्दालमुसलादिस्रजावृता ॥ १ ॥

इस सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपञ्चमें निर्विकल्पक समाधि ही सिद्धान्त है और वह जीवकी पाषाणके समान मौनावस्था है। इसलिए आप बिलकुल चुपचाप स्थित रहिये ॥ ३० ॥

हे श्रीरामजी, आप भी परमेश्वरके समान लोकदृष्टिसे अपने राज्य-परिचालन आदि आचारसमूहका, पिता-पितामह आदिसे जो क्रम चला आ रहा है उसी क्रमसे, परिचालन करते हुए अपनी दृष्टिसे परमार्थतः मौन होनेके कारण मान, मोह, मद आदि भेदसे रहित अङ्गों तथा उनके अभिमानी जीवसे रहित हो आकाशकोशके समान विशालहृदय हो शान्त स्थित रहिये ॥ ३१ ॥

तिरासी सर्ग समाप्त

चौरासी सर्ग

[शिव और शक्तिके स्वरूपका विभागपूर्वक वर्णन तथा सूप आदिकी मालाके स्वरूपका भी सत्यासत्यविचारपूर्वक वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—हे मुने, आपने जो यह वर्णन किया कि भगवती काली नृत्य करती थी, अब आप उसका असली स्वरूप बतलाइये और वह जो सूप, हलकी

वसिष्ठ उवाच

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ २ ॥
यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ ३ ॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥ ४ ॥

फाल, कुदार, मुसल आदिकी माला पहिने थी, उस मालाके सूप आदिका क्या स्वरूप है, कृपया मुझसे यह भी कहिये । इस श्लोकमें 'कालः किमिव नृत्यति' पाठान्तर भी है, इस पाठमें भी कालात्मक कालीके स्वरूपका ही प्रश्न समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थमें नृत्य एवं सूप आदिकी मालाका ही वर्णन है ॥१॥

शिवजीके स्वरूपका निरूपण किये बिना शिवशक्तिके स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंका साथ-साथ स्वरूप बतलानेका उपक्रम करते हैं— 'स' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, जो वह भैरव हैं, वह तो चिदाकाशस्वरूप शिवजी ही कहे जाते हैं, उन शिवजीकी वह मनोमयी स्पन्दशक्तिरूपा काली अनन्य ही है, यह आप जानिये । यही माया है, यही शिवजीमें एकरूपसे अध्यस्त होकर उन्हींकी सत्ता और स्फूर्तिसे स्वयं सत्ता एवं स्फूर्तिसे युक्त बनती है, इसलिए शिवजीसे अनन्य है, चलनस्वभाव जो रजोगुण है, इसकी प्रधानता आनेपर स्पन्दनशक्ति कहलाती है और सत्त्वगुणकी प्रधानतासे अपनेमें चारों ओर चितिका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है तथा जगत्संस्कारसे घटित हो जाती है— इसी कारणसे सृष्टि आदिका सङ्कल्प-विकल्प करनेके कारण मनकी समता ग्रहण करती हुई मनोमयी कही जाती है ॥ २ ॥

दो दृष्टान्तोंसे मायामें अनन्यत्वका समर्थन करते हैं—'यथैकम्' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे पवन और स्पन्दन दोनों एक ही वस्तु हैं अथवा जैसे उष्णता एवं अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे चिन्मात्र शिव एवं स्पन्दनशक्तिरूपा माया दोनों सदा ही एकस्वरूप हैं, भिन्नस्वरूप नहीं ॥ ३ ॥

'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियोंमें जगत्सृष्टि, प्राणस्पन्दन आदि

तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नाऽन्यथा किल ।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥ ५ ॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥ ६ ॥
करोत्येवं शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः ।
सैषा चितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम् ॥ ७ ॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।
दृश्याभासानुभूतानां करणात् सोच्यते क्रिया ॥ ८ ॥

क्रियासे ही शिवात्मक ब्रह्मका लक्षण करनेके कारण भी माया एवं शिव दोनों अनन्य हैं, यह कहते हैं—'स्पन्देन' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे स्पन्दनसे वायु ही कहा जाता है या जैसे उष्णतासे अग्नि ही कही जाती है, वैसे ही शिवसे भी निर्मल शान्त चैतन्यमात्र ही कहा जाता है ॥ ४ ॥

स्पन्दनरूप मायाशक्तिसे ही वह शिवजी लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं । शिवजी ही ब्रह्मरूप हैं, वे ही शान्त और वाणीविशारदोंके अवाच्य हैं ॥ ५ ॥

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिसे वह स्पन्दशक्ति ही शिवजीकी इच्छा है, यह कहा गया है । वही इच्छा सत्यकाम परमात्माके मनोराज्य-ऐसे जगत्का निर्माण करती है, यह कहते हैं—'स्पन्दशक्ति०' इत्यादिसे ।

मायाकी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिवजीकी इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभासका उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुषकी इच्छा कल्पनात्मक नगरका विस्तार करती है ॥ ६ ॥

भद्र, इससे सिद्ध हुआ कि शिवकी उक्त इच्छा ही कार्य करनेमें दक्ष है, अतः समस्त आकारसे रहित शिवजीकी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा इस समस्त दृश्याभासका निर्माण करती है । वही इच्छा अपने भीतरके चिदाभासके द्वारा दीप्त होकर जीवचैतन्य कही गई है, क्योंकि वही जीवनाभिलाषियोंका जीवन है ॥ ७ ॥

वही जगत्के आकारमें परिणत होती है, अतः समस्त सृष्टिकी प्रकृति भी वही है । दृश्योंमें (पदार्थोंमें) प्रतीत होनेवाले उत्पत्ति आदि विकारोंका सम्पादन भी वही करती है, अतः क्रियारूप भी वही है ॥ ८ ॥

वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते ।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥ ९ ॥
जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाश्रयात् ।
जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥१०॥
प्रोक्ता पराजिता वीर्याद् दुर्गा दुर्ग्रहरूपतः ।
ॐकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता ॥ ११ ॥
गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः ।
सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥ १२ ॥
गौरी गौराङ्गदेहत्वाद् भवदेहानुषङ्गिणी ।
सुप्तानामथ बुद्धानाममात्रोच्चारणाद्धृदि ॥ १३ ॥
नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।
शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥ १४ ॥

'द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा' (व्याघ्रचर्म धारण की हुई, शुष्कमांसा एवं अतिभयङ्कर देवी) इत्यादि पुराणोंमें उसकी जो शुष्कता प्रसिद्ध है, उसमें भी निमित्त बतलाते हैं—'वडवा०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, वह शुष्का भी कही जाती है, क्योंकि समुद्र आदिके जलोंसे आर्द्र ब्रह्माण्डरूप शरीरधारिणी वह वडवाग्निकी लपटके सदृश लपटधारी आदित्य आदिकी ज्योतियोंसे सूख जाती है । दुष्टोंके लिए क्रोधकी मूर्ति होनेसे चण्डिका तथा उसका कमलके सदृश वर्णवाली होनेसे उत्पला कही जाती है ॥ ९ ॥

जब वह एकमात्र जयनिष्ठ हो जाती है, तब जया; सिद्धोंकी शरण होनेसे सिद्धा, जया होनेसे जयन्ती तथा विजयका आश्रय होनेसे विजया कही जाती है ॥ १० ॥

महाशक्तिके कारण अपराजिता, उसका स्वरूप दुर्निग्रह होनेके कारण दुर्गा, तथा ॐकारकी सारभूत शक्ति होनेके कारण उमा भी वही कही जाती है ॥११॥

जप करनेवालोंके लिए परमपुरुषार्थरूप होनेके कारण गायत्री, प्रसवकी भूमि होनेसे सावित्री तथा स्वर्ग-अपवर्गके साधन एवं समस्त कर्मोपासनाके विज्ञानोंकी विस्ताररूप होनेसे सरस्वती भी वही कही जाती है ॥ १२ ॥

चूँकि मायाका स्वरूप अति गौर है, अतः वही गौरी है, वही शिवजीके शरीरकी चिरसङ्गिनी है । सुप्त और जाग्रत् जितने प्राणी त्रैलोक्यमें स्थित हैं, उनके हृदयमें अकारादि मात्राओंसे रहित शब्दब्रह्मरूप प्रणवके नादका उच्चारण

नभो हि मांसमेताभ्यां दृष्टिकृष्टं विलोक्यते ।
अस्ति नभो नभस्येव तौ नभो नभसि स्थितौ ॥ १५ ॥
नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम्न इवाऽग्रजौ ।
हस्तपादास्यमूर्ध्नो यद् बहुत्वाल्पत्वभेदतः ॥ १६ ॥
नानात्वं हलशूर्पादिस्रग्धरत्वं च तच्छृणु ।
सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥ १७ ॥
दद्यात्स्नायाच्च जुहुयादित्याद्यप्रशरीरिणी ।
चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भाताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥१८॥
साऽऽकाशरूपिणी कान्ता दृश्यश्रीः स्पन्दधर्मिणी ।
देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्त्तनाः ॥
ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः ॥ १९ ॥

सदा होता रहता है, इससे जो अङ्गुष्ठपरिमित हृदयकमलके छिद्रमें लिङ्गाकारसे स्थित शिवजी हैं, उनके मस्तकमें भूषणभूत विन्दुरूपा जो उमारूपा इन्दुकला है, वह भी वही कही जाती है । शिव और शिवा दोनों आकाशरूप हैं, अतः उनका शरीर असित यानी नील प्रतीत होता है ॥ १३, १४ ॥

शिव और भगवती शिवा दोनों तो चेतनरूप हैं, इसलिए वे जड़ आकाशरूप कैसे हो सकते हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'नभो हि' इत्यादिसे ।

चूँकि चिद्रूप शिव और शिवाने मांसमय अपने शरीरके सदृश श्यामवर्ण आकाशको सृष्टिसङ्कल्पदृष्टिसे कल्पा है, इसलिए श्याम-सा एवं जड़-सा दिखाई देता है । जैसे आकाशमें आकाश स्थित है, वैसे ही आकाशरूप वे भी आकाशमें (अपने स्वरूपमें) निराधार ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

उनकी अमूर्तता और स्वच्छता भी आकाशके ही सदृश समझनी चाहिए, यह कहते हैं—'नभो०' इत्यादिसे ।

शिवजी और शिवा दोनों आकाशके सदृश हैं और उनका स्वरूप अमूर्त है, आकाशके जेठे भाइयोंके समान वे दोनों ही अत्यन्त स्वच्छ हैं । [जब अमूर्त हैं, तब हाथ, पैर आदि तथा हलादिमालाका धारण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'हस्त०' इत्यादिसे] भद्र, हाथ, पैर, मुँह तथा सिर आदिकी बहुलता एवं अल्पताके भेदसे अनेकरूपता विचित्रता तथा मालादि-

क्रियाऽसौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ।
स्पन्दाद् करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ॥ २० ॥
काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका ।
धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ॥ २१ ॥

का धारण है, उसे आप सुनिये। भद्र, एकमात्र स्पन्दनरूपवाली क्रियात्मिका वह भगवती यद्यपि अनादि-अनन्तरूपा चितिशक्ति है, तथापि अपनी इच्छासे अपने समस्तवैदिक क्रियारूप बनकर उसने 'दद्यात्, स्नायात, जुहुयात्' (दो, नहाओ और होमो) इत्यादि वेदविहित दानादि उत्तम शरीर धारण किया है, वास्तवमें वह देवी स्पन्दनधर्मयुक्त कमनीय दृश्यश्री आकाशरूपिणी ही है, इसलिए उस काली भगवतीके जो नानाविध अभिनयोंसे पूर्ण नृत्य हैं, वे सब ब्रह्माके कर्मफलरूप सब प्राणियोंके जन्म, स्थिति आदिके प्रकार हैं, यह जानना चाहिए ॥ १६–१९ ॥

यतः यह देवी क्रियारूपा है, इसलिए उसका अवयव मानना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तुसे कोई क्रिया हो नहीं सकती। इस परिस्थितिमें अपना ठीक स्वरूप निबाहनेके लिए ही कल्पित हाथ, पैर आदि अवयवरूपा होकर अपने भीतर ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदिकी मालाएँ धारण करती है और उनसे स्पन्दन करती है यानी अपनी क्रियारूपता प्रदर्शित करती है ॥ २० ॥

काली शब्दकी व्याख्यामें भी उसकी एकमात्र क्रियास्वभावता तथा ब्रह्माण्ड-शरीर होनेसे समस्त लोकादि अवयवधारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'काली' इत्यादिसे।

भद्र, यह काली है। तात्पर्य यह है—'कल गतौ संख्याने च' इस धातुसे काल और काली दोनों शब्दोंका निर्माण हुआ है। वैयाकरण लोगोंका कहना है कि 'कल' धातु तो एक कामधेनु है यानी कामधेनुसे जो चाहें दुहा जा सकता है, वैसे ही कलधातुसे जो भी अर्थ निकालना हो, निकाला जा सकता है। इसलिए यह लाखों ब्रह्माण्डरूप बीज कोशोंकी निर्माणकर्त्री है, धारणकर्त्री है और परिणाम आदि विकारोंको प्राप्त भी कराती है—यों स्वयं क्रियारूप होती हुई कमललताके सदृश श्यामला भी बन गई है। इसीलिए अपने फूल आदि अवयवरूप इन पृथिवी आदि दृश्य लक्ष्मीको हृदयमें धारण करती है ॥ २१ ॥

न कदाचन चिद्देवी निर्देश्यावयवा क्वचित् ।
शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ॥ २२ ॥
यथाऽङ्ग शून्यता व्योम्नः स्पन्दनं मातरिश्वनः ।
ज्योत्स्नायाश्चेत्यमेवं हि दृश्यमङ्गं चितेः क्रिया ॥ २३ ॥
शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ।
न मनागपि तत्राऽस्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ॥ २४ ॥
सा क्रियैव तथारूपा सति बोधवशाद् यदा ।
व्यावृत्त्यैव तथैवाऽऽस्ते शिव इत्युच्यते तदा ॥ २५ ॥

यों जगत्-रूप अङ्गोंको धारण करनेपर भी उसकी असङ्गोदासीन चिद्रूप शिवस्वभावता होनेके कारण वास्तवमें निरवयवता ही है, यह कहते हैं—'**न कदाचन**' इत्यादिसे ।

वास्तवमें चितिरूपा वह देवी न तो कभी शब्दोंसे वर्णित हो सकती है और न उसके कोई अवयव ही हैं । भद्र, केवल यही आप जानिये कि वह शिवस्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण विशुद्ध शिवात्मक ही है ॥ २२ ॥

अङ्गोंके न रहते भी अङ्गोंका व्यपदेश होनेमें दृष्टान्त देते हैं—'**यथाङ्ग**' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आकाशका शून्यत्व है, वायुका स्पन्दन है, चन्द्रिकाका खिलनेवाला कुमुद आदि अङ्ग है, वैसे ही चितिका क्रिया एवं दृश्य अङ्ग है ॥ २३ ॥

इस प्रकार उसका कालात्मक, जगदङ्गवाले क्रियास्वरूपका वर्णन कर अब उसका वास्तविक स्वरूप बतलाते हैं—'**शिवम्**' इत्यादिसे ।

वास्तवमें उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल है, यह आप जानिये । उसमें तनिक भी स्तिमितता या स्पन्दधर्मता नहीं है ॥२४॥

उसका जो क्रियात्मकस्वरूप है, वह तो अबोधकालमें दिखाई पड़ता है और शिवात्मक स्वरूप बोधदशामें प्रत्यक्ष होता है, वही असली है, यह कहते हैं—'**सा**' इत्यादिसे ।

अज्ञानदशामें वह उक्तस्वरूपा क्रिया ही है, पर जब बोधवश यानी ज्ञानवश क्रियास्वभावसे मुक्त होकर वास्तवरूपधारिणी हो जाती है, तब उसकी शिवसंज्ञा पड़ जाती है—उसे शिव ही कहा जाता है ॥ २५ ॥

चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ।
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ २६ ॥
कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ॥ २७ ॥
सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ।
सद्वीपसागराः पृथ्व्यः सवनावनयोऽद्रयः ॥ २८ ॥
साङ्गोपाङ्गास्त्रयो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ।
सविधिप्रतिषेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ॥ २९ ॥
सदक्षिणाग्नयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ।
भूपालोलूखलबृसीशूर्पयूपादिसंयुताः ॥ ३० ॥
सङ्ग्रामाः सायुधग्रामाः सशूलशरशक्तयः ।
सभुशुण्डीगदाप्रासहयेभभटभासुराः ॥ ३१ ॥
ज्ञातयो भूतसङ्घानां चतुर्दश सुरादिकाः ।
चतुर्दशाऽब्धिद्वीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥ ३२ ॥

कूटस्थ चितिशक्तिरूप देवीका अपने स्वरूपमें जो अविद्यासे प्रतिकूल स्पन्दन, जड़ आदि स्वभावसे स्थिति है, वही क्रिया कही जाती है और विद्यासे जब उसकी वास्तविक विशुद्ध अनुकूल चैतन्यरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे शिव कहा जाता है ॥ २६ ॥

भद्र, चितिशक्तिकी स्वरूपभूत, विशाल आकृतिवाली इस क्रियारूपा देवी, जिसने कि कल्पितस्वरूपधारण कर लिया है, ये कहे जानेवाले सारे पदार्थ अभिन्न अवयव ही हैं । [जिसने कल्पित जगत्‌रूप देह धारण किया है, उस कालीके नृत्यमें कल्पित गीतोंके सदृश कल्पित सूर्य आदिकी मालाका धारण करना भी उचित ही है ॥ २७ ॥

ये सब उसके अनन्य अवयव हैं—विद्यमान जनतावर्गसे युक्त सृष्टियां, आलोकसे भास्वर लोक, द्वीप एवं सागरोंसे पूर्ण पृथ्वी, वन और भूमिसे युक्त पर्वत ; अङ्ग-उपाङ्गोंसे, विद्यास्थान तथा गीतियोंसे, विधि-निषेधरूप अर्थोंसे एवं शुभाशुभ कल्पनाओंसे युक्त वेद; पुरोडाशरूप द्रव्यसे वर्णित होनेवाले, राजे, ओखरी, आसन, सूप, स्तम्भोंसे युक्त दक्षिणाग्निवाले यज्ञ; त्रिशूल, बाण एवं शक्ति आदि अनेकविध आयुधोंसे एवं बन्दूक, गदा, प्रास, घोड़े, हाथी, योधा आदिसे युक्त

श्रीराम उवाच

चितेः कल्पाः शरीरिण्याः सर्गा येऽङ्गे स्थितास्तथा ।
ते किमात्मनि तिष्ठन्ति उताऽसत्या वदेति भो ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

रामाऽसौ किल चिच्छक्तिस्तया यच्चोदितं तथा ।
तत्प्रचेतितमेवाऽतः सत्यं चेदमिवाऽखिलम् ॥ ३४ ॥

संग्राम एवं पृथ्वी तथा चौदह लोक ये सभी उस महादेवीके अङ्ग हैं ॥२८–३२॥

इस प्रकार आपने दो प्रश्नोंका यद्यपि समाधान तो किया, तथापि पूर्व सर्गमें उक्त इस शङ्काका समाधान नहीं हुआ कि कैसे द्वैत और ऐक्य एक कालमें रह सकते हैं, क्योंकि विनष्ट असत् पदार्थ किसी अर्थ-क्रियाका सम्पादन नहीं कर सकते। अपने अस्तित्वके प्रभावसे कार्यका अस्तित्व पैदा करना ही कारणोंकी कार्यार्थ-क्रिया है और उपादानके साथ कार्योंकी अर्थ-क्रियाकारिता या सत्ताका अपहरण नाश है। एक समयमें कार्योंमें सत्ता या सत्ताका अपहरण उनका कारण कर नहीं सकता। ऐसे पदार्थ, जो कि अपने कारणोंकी सत्ताके साथ अपनी भी सत्ता खो बैठे हैं, प्रलयमें अपनी-अपनी अर्थ-क्रियाका निर्वाह कभी नहीं कर सकते, इस आशयको लेकर श्रीरामभद्र प्रश्न करते हैं—'चितेः' इत्यादिसे।

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, रुद्र और कालीके शरीरको धारण की हुई चितिके अङ्गमें प्रलयकालमें भी अतीत, अनागत आदि समस्त सर्ग, कल्प और प्रलय स्थित हैं, यह जो आपने वर्णन किया है; उसमें मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। वह यह कि जो सृष्टि आदि स्थित हैं, वे क्या सत्स्वभाव अर्थक्रिया-समर्थ आत्मामें स्थित हैं यानी सत् हैं या मृगतृष्णाजलके सदृश असत्य सत्स्वभावसे रहित हैं? यह कहिये ॥ ३३ ॥

जगत् और प्रलयकी कभी भी न तो आत्यन्तिक सत्ता है और न आत्यन्तिक असत्ता है। किन्तु सत्य सङ्कल्पका अनुसरण करनेवाली चितिने जिसे सत्यस्वरूपसे प्रकाशित किया वह सत्य है, जिसे असत् स्वरूपसे प्रकाशित किया वह असत्य है। इसलिए किसी भी पदार्थका स्वतः कोई रूप नहीं कहा जा सकता। इस बातसे यह निष्कर्ष निकला कि प्रलयकालमें भी ऐन्दव सर्ग स्थित थे और वे अर्थक्रियासमर्थ भी थे, क्योंकि चितिका वैसा सङ्कल्प था तथा नहीं भी थे, क्योंकि चितिका अन्य सङ्कल्प भी था। इसका पूर्वमें वर्णन भी किया गया है—यों सङ्कल्पभेददृष्टिसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'रामा०' इत्यादिसे।

तत्प्रतिबिम्बितं बाह्यान्मुकुरप्रतिबिम्बवत् ।
सत्यं तदन्तरेवाऽस्ति चितेर्नाऽसत्यमर्थतः ॥ ३५ ॥
चिद्रूपस्य तथाऽप्यन्तः सत्सङ्कल्पपुरं भवेत् ।
दृढध्यानाद्विशुद्धायाश्चितेर्भवतु सा कथम् ॥ ३६ ॥
आदर्शेष्वथवा स्वप्ने सर्गः सङ्कल्पनेऽस्तु वा ।
स आत्मन्यर्थकारित्वात् सत्य इत्येव मे मतिः ॥ ३७ ॥

श्रीरामजी, वास्तवमें तो सब कुछ चितिशक्ति ही है, इसलिए तत्-तत् भोक्ता प्राणियोंके भेद द्वारा सृष्टिनिमित्त या प्रलयनिमित्त जिसका जिस वस्तुके रूपमें सत्यसङ्कल्प चितिने सङ्कल्प किया, उसका उसीके रूपमें उन भोक्ताओंने भी अनुभव किया । अतः उन अनुभवकर्ताओंकी दृष्टिसे यह समस्त जगत् सत्य-सा है और अन्योंकी दृष्टिसे अत्यन्त अप्रसिद्धिके कारण असत्य-सा भी है ॥ ३४ ॥

क्यों सत्य-सा भासा ? इसपर कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

भद्र, बाह्य मुख आदि बिम्बको लेकर जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक वैसे ही पूर्वानुभवजनित वासनाको लेकर उस तरह प्रतिबिम्बित हुआ साक्षी चेतन उसीमें विद्यमान है, अतः अर्थतः उस अनुभविताके प्रति सत्य ही है, असत्य नहीं ॥ ३५ ॥

असत्य क्यों है ? इसपर कहते हैं—'चिद्रूपस्य' इत्यादिसे ।

उक्त अनुभवके बलसे पदार्थकी सत्यता होनेपर भी चेतनरूपका अचेतरूपमें प्रवेश न हो सकनेके कारण जगत् सङ्कल्पनगरके सदृश मिथ्या ही होगा । जब दृढ़ ध्यानसे चितिका आवरणरूप मल हट जायगा, तब वह प्रतिबिम्बित हो नहीं सकती, फिर सत्यताकी चर्चा ही क्या ? ॥ ३६ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जगत्में प्रतीत्यात्मक सत्यता जो है, उसे स्वप्न आदिके पदार्थोंमें भी कह सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप अर्थक्रियाकारिता उनमें भी देखी जाती है, यों कहते हैं—'आदर्श' इत्यादिसे ।

भद्र, दर्पणमें प्रतिबिम्बात्मक या स्वप्नमें दृश्यमान या सङ्कल्पमें कल्पित जो सृष्टि है, वह भी तो अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सिद्ध प्रतीत्यात्मक सत्य हो सकती है, क्योंकि वह अपने अनुरूप अर्थक्रियाकारी है ही, फिर उसे सत्य ही मानना चाहिये, यह मेरा मत है ॥ ३७ ॥

मम नाऽर्थाय स इति वक्षि चेत्तत्कथं भवेत् ।
देशान्तरगताः सर्वे भवन्त्यर्थाय सम्प्रति ॥ ३८ ॥
यथा देशान्तरग्रामस्तद्गतस्याऽर्थकृद् भवेत् ।
सर्वे तथैव तद्भावं गतस्याऽर्थविनिश्चयात् ॥ ३९ ॥
यद् यथाभूतसर्वार्थक्रियाकारि प्रदृश्यते ।
तत्सत्यमात्मनोऽन्यस्य नैवाऽतत्ताप्नुपेयुषः ॥ ४० ॥
तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्थाः सर्वाः सर्गपरम्पराः ।
सत्य आत्मेति तद्भावं गतस्याऽन्यस्य नाऽखिलाः ॥ ४१ ॥

हे राघव, यदि आप यह कहें कि आदर्शके भीतर विद्यमान घट आदि मेरे लिए बाहर जलाहरण आदि करनेमें समर्थ नहीं है, अतः सत्य नहीं, तो इसपर मैं यह कहता हूँ, सुनिये। ठीक ही है, वह दर्पणमें रहनेवाली चीज बाहर आकर कैसे अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थानमें स्थित वस्तु दूसरे स्थानमें कुछ अर्थ-सम्पादन नहीं करती, एतावता क्या उसे असत्य समझ लेना चाहिए ? आपके जो घट आदि पदार्थ दूसरे प्रदेशमें रक्खे हैं, वे क्या आपके घरमें आकर कुछ अर्थ करनेमें समर्थ हैं ? ऐसे सब पदार्थोंकी इस समय जैसे देशान्तरमें अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, ठीक वैसे ही दर्पण, स्वप्न आदिमें प्रतिबिम्ब आदिकी भी अर्थक्रियाकारिता है। जैसे देशान्तरमें स्थित गाँव उसमें गये हुए पुरुषके लिए अर्थक्रियाकारी होता है, वैसे ही स्वप्न आदिके द्रष्टाके रूपको प्राप्त हुए पुरुषके लिए स्वप्नादिके समस्त भाव अर्थक्रियाकारी होते ही हैं, क्योंकि यही अर्थका निश्चय है ॥ ३८, ३९ ॥

इसलिए तत्-तत् अर्थक्रियाको देखनेवाले द्रष्टाकी दृष्टिसे ही वह सत्य ठहरता है, दूसरेकी दृष्टिसे नहीं, यों प्रतिबिम्बादिकी सत्यता व्यवस्थित हो जाती है, यों कहते हैं—'यद्यथा०' इत्यादिसे।

भद्र, जो पदार्थ यथार्थमें सकल अर्थक्रियाकारी दिखाई देता है, उसे देखनेवाले द्रष्टाके प्रति वह सत्य है और उसे न देखनेवाले अन्यके प्रति वह असत्य है ॥ ४० ॥

इसी प्रकार प्रकृतमें भी योजना करनी चाहिए, यों उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

भूतभव्यभविष्यस्थाः संकल्पस्वप्नपूर्गणाः ।
सर्वे सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा ॥ ४२ ॥
प्राप्यन्ते योगसिद्धेन तद्भावं तु गतेन ते ।
अन्येन पर्वता ग्रामा गत्या देशान्तरे यथा ॥ ४३ ॥
चालितस्य यथा गाढनिद्रस्य स्वप्नपत्तनम् ।
न लुठत्येव लुठितमित्यप्यनुमतं स्फुटम् ॥ ४४ ॥
तथा चलन्त्या लुठितं तस्या देहगतं जगत् ।
न लुठत्येव मुकुरप्रतिबिम्बमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामभद्र, इसलिए चितिशक्तिके कोशमें अवस्थित समस्त सृष्टियाँ स्वप्नादि द्रष्टृरूपताको प्राप्त हुए पुरुषके प्रति सत्य हैं और अन्यके प्रति सब असत्य हैं, क्योंकि तद्गत सत्यताका प्रयोजक अधिष्ठानभूत आत्मा है ही ॥ ४१ ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्यके जितने भी सङ्कल्प, स्वप्न आदिके नगर आदि हैं, वे सब सत्य ही हैं, यदि सत्य न हों, तो सर्वात्मा ब्रह्म चोटीका तत्त्व कैसे हो सकेगा ? कहीं भी अत्यन्त असत् वस्तुका तात्त्विकरूप आत्मा प्रसिद्ध नहीं है ॥ ४२ ॥

इसीलिए दूसरेके स्वप्नोंमें अनुभूत होनेवाले पदार्थोंका योगी लाभ करते हैं और भोग भी करते हैं, यह कहते हैं—'प्राप्यन्ते' इत्यादिसे ।

जैसे अन्य स्थानमें विद्यमान पर्वत, गाँव आदि पदार्थ वहाँ गमन करनेसे प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे भिन्न दूसरा योगसिद्ध पुरुष भी परकाय-प्रवेशसिद्धि द्वारा उसके हृदयमें जाकर उसका मनरूप होकर उसके स्वाप्न पदार्थोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

नृत्यसे भगवती कालरात्रिके चलित होनेपर भी उसकी देहमें स्थित भूमि आदिका चलन न होनेमें दृष्टान्त कहते हैं—'चालितस्य' इत्यादिसे ।

यदि पलँग धीरेसे अन्य स्थानमें हटाया जाय, तो उसपर गाढ़ निद्रामें सोया हुआ पुरुष शयन स्थानसे अन्यत्र ले जाया गया, परन्तु उसका स्वप्ननगर तो लुढ़का ही नहीं और शरीर तो लुढ़का हुआ ही माना जा सकता है । बस इसी प्रकार नृत्य कर रही कालरात्रिका शरीर चलित हुआ, परन्तु शरीरगत जगत् चलित नहीं ही हुआ, यह भी हो सकता है । दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश उसके शरीरमें जगत् स्थित रहता है ॥ ४४, ४५ ॥

स त्रैलोक्यमहारम्भः सत्योऽपि भ्रान्तिमात्रकम् ।
भ्रान्तिमात्रस्य के नाम लुठनालुठने वद ॥ ४६ ॥
कदा स्वप्नपुरं सत्यं कदा स्वप्नपुरं मृषा ।
कदा स्वप्नपुरं भग्नं कदा स्वप्नपुरं स्थितम् ॥ ४७ ॥
भ्रान्तित्वं केवलं सैव दृश्यश्रीर्याविदग्रगा ।
त्वं विद्धीमामपि भ्रान्तिं जगल्लक्ष्मीमवास्तवीम् ॥ ४८ ॥
संकल्पने मनोराज्ये स्वप्ने संकथने भ्रमे ।
यथा पुरानुभवनं त्रैलोक्यानुभवं तथा ॥ ४९ ॥
अहमिति जगदिति नाऽन्तर्भ्रान्तिरियं प्रकचतीव चितः ।
परमाकाशकृशाख्या शाम्यति निपुणं परिज्ञाता ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवशक्तिवर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥



श्रीरामभद्र, यों त्रैलोक्यका महान् आरम्भ सत्य होते हुए भी केवल भ्रान्तिमात्र ही है। जो भ्रान्तिमात्ररूप है, उसका लुढ़कना क्या मूल्य रखता है? यह बतलाइये ॥ ४६ ॥

कब स्वप्ननगर सत्य रहा, कब स्वप्ननगर असत्य रहा, कब स्वप्ननगर नष्ट हुआ और कब वह स्थित रहा? ॥ ४७ ॥

भद्र, भगवती कालीके अङ्गोंमें स्थित वह समस्त दृश्यश्री केवल भ्रान्तिरूपा ही थी, अतः आप इस समयकी जगत्-लक्ष्मीको भी असत्य भ्रान्तिरूप ही जानिये ॥ ४८ ॥

हे राघव, संकल्प, मनोराज्य, स्वप्न, कथा एवं भ्रमदशामें जैसे नगरोंका अनुभव भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस त्रैलोक्यानुभवको भी आप भ्रान्तिरूप ही समझिये ॥ ४९ ॥

भद्र, चितिरूप आत्माके अन्दर यह 'अहम्' (मैं) और जगत् नामकी कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, किन्तु आकाशकी कृशता (अल्पता) के सदृश केवल भ्रान्ति ही चमकती है। आकाशमें कृशता या कालिमा नहीं है, वह

पञ्चाशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥ १ ॥
क्रियाऽसौ नृत्यति तथा चितिशक्तिरनामया ।
अस्या विभूषणं शूर्पकुद्दालपटलादिकम् ॥ २ ॥
शरशक्तिगदाप्रासमुसलादि शिलादि च ।
भावाभावपदार्थौघकलाकालक्रमादि च ॥ ३ ॥
चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद्‌ धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि ।
सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम् ॥ ४ ॥

केवल भ्रान्तिसे वैसा दीखता है । इसलिए इस दृश्यश्रीको निपुणतासे देखा जाय, तो वह शान्त हो जाती है ॥ ५० ॥

चौरासी सर्ग समाप्त

पचासी सर्ग

[नृत्य कर रही कालीका शिवजीका दर्शन और बड़े प्रेमसे स्पर्श कर उनके अङ्गमें विलीन हो एकरूप हो जाना, यह वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—भद्र, वर्णित रीतिसे भगवती कालरात्रि भयङ्कर नृत्य करती है, उसके नृत्यका क्या हाल कहें, परिस्पन्दनात्मक अपने दीर्घ भुजमण्डलोंसे उसने सारे आकाशको एक घना जङ्गल-सा बना रक्खा है ॥ १ ॥

श्रीरामजी, चितिशक्तिका असली तत्त्व न जाननेपर वह क्रियारूप बन जाती है और वह स्वभावसे वहाँ नृत्य करती है । वास्तव स्थिति तो यह है कि चितिशक्तिमें किसी तरहका नृत्यादि विकार है ही नहीं । इसी क्रियात्मक चितिके सूप, कुदार पटल आदि भूषण हैं ॥ २ ॥

बाण, शक्ति, गदा, भाला, मुसल आदि, शिला आदि, भाव, अभाव आदि पदार्थसमूह तथा कला, कालके क्रम आदि भी उसीके भूषण हैं ॥ ३ ॥

जैसे अलातका (लुआठीका) स्पन्दन चक्रके आकारमें दिखाई देता है,

पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
यथा स्पन्दोऽनिलस्याऽन्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥ ५ ॥
अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः ।
यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्याऽथ यदा तत्र तथा तस्मिन् पराम्बरे ।
काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥ ७ ॥
निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम् ।
वाडवोऽग्निः स्वनाशायाऽऽवहन्त्येवाऽम्बुलेखया ॥ ८ ॥

वैसे ही उक्त चितिका स्पन्दन जगतके आकारमें दिखाई देता है, यह कहते हैं—'चित्स्पन्दः' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे हृदयमें कल्पना (मनोराज्य-कल्पना) ही नगराकारको धारण करती है, वैसे ही चितिका स्पन्दन ही अपने भीतर जगत्को धारण करता है। अथवा जैसे मनोराज्य कल्पना ही नगर है, वैसे ही स्पन्दित चिति ही जगत् है, यह आप जानिये ॥ ४ ॥

अब शिवजीकी इच्छारूपा वह कालरात्रि शिवजीसे अभिन्न है, यह कहते हैं—'पनवस्य' इत्यादिसे ।

जैसा पवनका स्पन्दन है, वैसी ही वह कालरात्रि शिवजीकी इच्छा है। इससे पवनके भीतरका स्पन्दन जैसे पवनके स्वरूपसे अलग नहीं है, किन्तु पवन-स्वरूप ही है और अस्पन्द ही है, वैसे ही शिवजीकी इच्छा शिवजीके स्वरूपसे अलग नहीं है, शिवस्वरूप ही है और अनिच्छा ही है। अतः इच्छात्मिका कालरात्रि पूर्णकाम शिवसे अभिन्न है, यह जान लेना चाहिए ॥ ५ ॥

आकारसे रहित शिवेच्छा साकार जगत्के रूपमें कैसे परिणत होगी ? इसपर कहते हैं—'अमूर्तः' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आकाररहित वायुका स्पन्दन आकाशमें साकार शब्दाडम्बर पैदा करता है, वैसे ही शिवजीकी निराकार इच्छा साकार जगत् पैदा करती है ॥ ६ ॥

भद्र, तदनन्तर जैसे बह रही समुद्रजलकी रेखा अपने विनाशके लिए वाडवाग्निका स्पर्श करती है, ठीक वैसे ही उस चिदाकाशमें नृत्य कर रही उस कालरात्रिने काकतालीय योगसे अत्यन्त प्रेमसे निकटवर्ती शिवजीका स्पर्श कर लिया ।

स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिंस्ततः परमकारणे ।
प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥ ९ ॥
अनन्ताकारतां त्यक्त्वा सम्पन्ना गिरिमात्रिका ।
ततो नगरमात्राऽसौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥ १० ॥
ततो व्योमसमाकारा शिवस्यैवाऽऽकृतिं ततः ।
सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भेव महार्णवम् ॥ ११ ॥
एक एवाऽभवदथो शिवया परिवर्जितः ।
शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छिवसंस्पृष्टा सा शिवा परमेश्वरी ।
किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १३ ॥

ज्योंही उसने स्पर्श किया त्योंही उसका आवरण करनेवाला शक्तिरूप अंश थोड़ा-सा हट गया ॥ ७, ८ ॥

हट जानेके अनन्तर परमकारण एकमात्र शिवजीके स्पर्शसे वह कालरात्रि धीरे-धीरे अपने अव्यक्तभावको तथा छोटेपनको प्राप्त होने लग गई ॥९॥

भौतिक अनन्त आकारोंको त्यागकर वह केवल भूतमात्ररूप हुई, यह कहते हैं—'अनन्त०' इत्यादिसे ।

पहले उसने अपने विशाल आकारका परित्याग किया, पञ्चीकरण त्यागकर पर्वताकृति बन गई, इसके बाद नगराकृतिमात्रस्वरूप हुई, फिर वह विचित्र-वासनारूप पल्लवके कारण वृक्षके सदृश सुन्दरी बन गई ॥ १० ॥

तदनन्तर अव्याकृत आकाशके सदृश आकारवाली हुई, फिर वह शिवजीके आकारमें उस प्रकार सब आडम्बर छोड़कर प्रविष्ट हो गई, जैसे कि नदी समुद्रमें प्रविष्ट होती है ॥ ११ ॥

अनन्तर शिवासे रहित एकमात्र शिवजी ही बच गये। ये पूर्ववर्णित चिदाकाशरूप गगनमें सबका उपसंहार करनेवाले तथा सर्वप्रकारके उपद्रवोंकी शान्तिसे कल्याणात्मा शिवजी ही थे ॥ १२ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, शिवजीसे स्पर्श की हुई भगवती शिवा कालरात्रि क्यों शान्त हो गई ? यह मुझे तत्त्वतः बतलाइए ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥ १४ ॥
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ १५ ॥
भ्रमति प्रकृतिस्तावत् संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ १६ ॥
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् ।
अजरं परमाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥ १७ ॥
संविन्मात्रैकधर्मित्वात् काकतालीययोगतः ।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ १८ ॥
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति ।
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे ॥ १९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, वह प्रकृति है, वह परमेश्वरकी इच्छारूपा शक्ति है। शास्त्रोंमें विख्यात जगन्माया और स्वाभाविक स्पन्दशक्ति भी वही है ॥१४॥

प्रसिद्ध जो शिवजी हैं, वे प्रकृतिसे पर पुरुष कहलाते हैं, पवनाकृति शिवरूप धरनेवाले पुरुष भी वही हैं, वह शरद्कालके सदृश निर्मल शान्तिधारी एवं परम शान्त हैं ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, वह शिवजीकी इच्छारूपा केवल स्वरूपधारिणी परमेश्वरकी चितिशक्ति भ्रमरूपी प्रकृति इस संसारमें तबतक भ्रमण कर सकती है, जबतक नित्यतृप्त, अजर, सर्वोत्कृष्ट आदि-अन्तशून्य, द्वैतरहित, विकारशून्य परमात्माको नहीं देख लेती। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शिवेच्छारूप चितिशक्तिमें तबतक स्पन्दन रहता है, जबतक कि इष्टप्राप्ति नहीं हो जाती और इष्टकी प्राप्ति (परमात्माकी प्राप्ति) हो जानेपर तो उसकी शान्ति हो जाती है ॥ १६, १७ ॥

यह प्रकृति एकमात्र चितिशक्तिकी आधारभूत है, इसलिए चितिशक्ति ही समझनी चाहिए। काकतालीय योगसे यह चितिदेवी जब शिवजीका स्पर्श कर लेती है, तब शिवरूप ही हो जाती है ॥ १८ ॥

पुरुषको छूकर समुद्रमें नदीके सदृश उसके अन्दर एकरूप बनकर प्रकृति अपना कार्यरूप परिणाम छोड़ देती है ॥ १९ ॥

आपगा हि पयोमात्रं सङ्गे अर्णव एव सा ।
यदा तदा तमेवाऽऽशु प्राप्य तत्रैव लीयते ॥ २० ॥
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवाऽऽसाद्य शाम्यति ।
जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथाऽऽयसी ॥ २१ ॥
पुंसश्छायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम् ।
यथाऽऽशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥ २२ ॥
चेतित्वा चिन्निजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम् ।
भूयो भ्रमति संसारे नेह तत्तां प्रयाति हि ॥ २३ ॥
साधुर्वसति चोरौघे तावद्यावदसौ न तम् ।
परिज्ञानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥ २४ ॥

इसमें युक्ति बतलाते हैं—'आपगा०' इत्यादिसे ।

नदियोंका स्वरूप तो केवल जलमात्र ही है, समुद्रका सङ्ग होनेपर भी उसका वही रूप रहता है । जब यही असली स्थिति है, तब वह उसको (समुद्रको) प्राप्त कर तत्काल ही उसीमें एकरूपसे लीन हो जाती है ॥ २० ॥

राघव, लोहनिर्मित छुरी आदिकी धारा उत्पत्तिकारण लोहशिलाको प्राप्तकर उसीमें जैसे शान्त हो जाती है यानी लोहेमें मिल जानेपर धार कुछ काम नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही वह शिवेच्छारूपा चितिशक्ति उस शिव देवको ही पाकर उसमें शान्त हो जाती है—फिर संसारमें कुछ काम कर नहीं पाती ॥ २१ ॥

वन आदिकी छायामें प्रवेश किये हुए पुरुषकी निजी छाया, जैसे उसीके रूपकी हो जाती है, वैसे ही पुरुषमें प्रविष्ट हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥ २२ ॥

तब तो वनमें से निकल जानेके बाद जैसे फिर अपनी छाया अलग हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मप्राप्त पुरुषको भी फिर संसार प्राप्त हो सकता है, इसपर कहते हैं—'चेतित्वा' इत्यादिसे ।

भद्र, अपना सनातन पुरुषरूप जो भाव है, उसको प्रकाशित कर देनेके अनन्तर फिर वह न इस संसारमें भ्रमण करता है और न प्रकृतिभावको ही प्राप्त करता है, क्योंकि पुनरागमनमें निमित्त अज्ञानका बाध हो जाता है ॥ २३ ॥

तभी इस संसारमें फिर आना होता है, जब संसारकी इच्छा रहती है, परन्तु

द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चितिः ।
परं पश्यति नो यावत्तं दृष्ट्वा तन्मयी भवेत् ॥ २५ ॥
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाऽब्धिताम् ॥ २६ ॥
तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाऽऽशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी ॥ २७ ॥

तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो संसारकी इच्छा ही नहीं रह जाती, यह कहते हैं—'साधु०' इत्यादिसे ।

साधु पुरुष तबतक चोरोंके समुदायमें रहता है, जबतक कि वह उसे जानता नहीं यानी भ्रान्तिसे चोरको अपना हितैषी समझकर तबतक उसके बीचमें रहता है, जबतक कि यह चोर है और मेरा हितैषी नहीं है, यह नहीं जान पाता । परन्तु जब जान लेता है कि यह चोर और अहितैषी है फिर उसके बीचमें रमण या वास नहीं करता ॥ २४ ॥

जबतक परम आत्माके स्वरूपको प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखती तभी तक असद्रूप द्वैतप्रपञ्चमें चिति (अज्ञ चिति यानी जीव) रमण और भ्रमण करती है । जब उसका प्रत्यक्ष कर लेती है, तब तो तन्मय बन जाती है ॥ २५ ॥

चूँकि चितिमें निर्वाणात्मक प्रशान्त स्वरूप ही परमपद है, इसलिए प्रकृति (अज्ञानयुत चिति) उसे प्राप्त कर जिस प्रकार समुद्रमें नदी समुद्ररूपता प्राप्त करती है उसी प्रकार तद्रूप बन जाती है ॥ २६ ॥

यहांतक जितनी बातें कही गईं, उन सबका संग्रहकर उपसंहार करते हैं—'तावत्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे रामभद्र, जब तक उस परब्रह्म परमात्माको चिति साक्षात् नहीं देखती, तबतक विशाल मोहके प्रभावसे आक्रान्त होकर प्रतिकूल इन सर्गोंमें और उन जन्म आदि दशाओंमें भ्रमण करती है और जब उसे देख लेती है, तब तो उसमें तन्मय बनकर ऐसे डूब जाती है, जैसे कि मधुमें भ्रमरी डूबती है ॥ २७ ॥

संप्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्याऽनुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम कथं तत्र महाकाशे तथा स्थितः ।
देहे भ्रान्तिं तु तां त्यक्त्वा स रुद्रोऽप्युपशाम्यति ॥ १ ॥
स रुद्रस्तौ जगत्खण्डौ तदा चित्र इवाऽर्पिताः ।
निस्पन्दा एव तत्राऽऽसन् प्रेक्षमाणे स्थिते मयि ॥ २ ॥

हे रामभद्र, लगातार आनेवाले जन्म, मरण एवं मोहमय सकल दुःख जिससे शान्त हो जाते हैं, उस आत्माको प्राप्त कर कौन पुरुष ऐसा है जो छोड़ दे ? क्या कोई रसायनको (अमृतको) प्राप्त और अनुभव कर कहीं छोड़ सकता है ? ॥ २८ ॥

पचासी सर्ग समाप्त

छियासी सर्ग

[ब्रह्माण्डरूपी खोपड़ीको ग्रस लेनेवाले रुद्रशरीरका सूक्ष्मभावसे शिलारूप चिदाकाशमें तिरोभाव तथा उस प्रदेशसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके अन्य शिला, वृक्ष आदि सकलरूप ब्रह्ममें सृष्टिकी विचित्रताका दर्शन—यह वर्णन]

सबसे पहले रुद्रदेहके उपसंहारक्रमको सुनाते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, उस महाकाशमें उस प्रकारसे अवस्थित वे महारुद्र जिस रीतिसे अपनी देहगत उक्त भ्रान्तिका त्यागकर शान्त हो जाते हैं, उस रीतिका श्रवण कीजिये ॥ १ ॥

भद्र, ब्रह्माण्डकी ऊपर-नीचेकी दोनों खोपड़ियां तथा वह रुद्र तीनों उक्त

ततो मुहूर्तमात्रेण स रुद्रस्तौ नभोन्तरे ।
खण्डौ विलोकयामास दृशाऽर्केणेव रोदसी ॥ ३ ॥

ततो निमेषमात्रेण घोणाश्वासेन खण्डकौ ।
तौ समानीय चिक्षेप पातालान्तरिवाऽऽनने ॥ ४ ॥

अतिष्ठदेक एवाऽसावेकं खे खमिवाऽखिले ।
भुक्तब्रह्माण्डखण्डोग्रमण्डमण्डकमण्डलः ॥ ५ ॥

ततो मुहूर्तमात्रेण लघुः सोऽभ्रमिवाऽभवत् ।
ततोऽभवद् यष्टिसमस्ततः प्रादेशमात्रकः ॥ ६ ॥

ततः काचकणाकारो मया दृष्टः स तादृशः ।
ततः सोऽणूभवन् दृष्टो मया खाद्दिव्यदृष्टिना ॥ ७ ॥

चिदाकाशमें उस समय चित्रलिखितके सदृश निश्चल यानी चेष्टाशून्य थे, यही पहले मैंने देखा था ॥ २ ॥

तदनन्तर एक मूहूर्तमात्रमें अन्य आकाशमें उस रुद्रने उक्त खण्ड (ब्रह्माण्डके ऊपर-नीचेके दो हिस्से) उस तरह, सूर्यात्मक दृष्टिसे देखे, जिस तरह द्यु और भूमि ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक निमेषमात्रमें उस रुद्रने अपने मुखसे खींचे गये श्वासवायुसे उन दोनों खोपड़ियोंको अपने समीप लाकर पाताल-गुहाके सदृश मुखमें फेंक दिया यानी मुखके भीतर डाल दिया ॥ ४ ॥

उस समय वह रुद्र भगवान्, जिसने कि ब्रह्माण्ड खण्डरूपी उग्र दुग्धसार और पक्वान्नके मण्डलको ग्रस लिया था, ऐसे एकरूप हो गये, जैसे आकाशमें आकाश एकरूप हो ॥ ५ ॥

उसके बाद एक मुहूर्तमात्रमें मेघके सदृश वह हलके हो गये, इसके अनन्तर यष्टिके सदृश, इसके बाद प्रादेशमात्र (अंगूठेसे लेकर तर्जनीतकके नापवाले—बित्ते भरके) हो गये ॥ ६ ॥

उसके बाद ऐसे रुद्रकी काचके छोटे टुकड़ेके सदृश आकृति हो गई, यह मैंने देखा । फिर दिव्यदृष्टि द्वारा यह भी मैंने देखा कि वे आकाशमण्डलसे भी छोटे अणु होने लग गये ॥ ७ ॥

परमाणुरथो भूत्वा ततस्त्वन्तर्द्धिमाययौ ।
इत्यसौ शममायातः शरदम्बुदखण्डवत् ।
तादृशोऽपि महारम्भः पुरः पश्यत एव मे ॥ ८ ॥
इति सावरणे तेन ते ब्रह्माण्डकवाटके ।
विनिगीर्णे क्षुधार्तेन हरिणेनेव पर्णके ॥ ९ ॥
अथाऽभून्निर्मलं व्योम शान्तं ब्रह्मैव केवलम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं संविदाकाशमात्रकम् ॥ १० ॥
इत्यहं दृष्टवांस्तत्र कल्पान्तमुरुविभ्रमम् ।
दर्पणप्रतिबिम्बाभं शिलाशकलकोटरे ॥ ११ ॥
अथ तामङ्गनां स्मृत्वा तां शिलां तच्च विभ्रमम् ।
राजद्वारगतो ग्राम्य इवाऽहं विस्मयं गतः ॥ १२ ॥
तामालोकितवान् भूयः कलधौतशिलामहम् ।
यावत्सर्वत्र सन्त्यत्र सर्गाः काल्या इवाऽङ्गके ॥ १३ ॥

भद्र, तदनन्तर परमाणुरूप हो गये, फिर एकदम तिरोहित (अदृश्य) हो गये । इस प्रकार उस तरह जगतसे लेकर रुद्र देहतक महारम्भ करनेवाले भी ये रुद्र शरत्कालके मेघखण्डोंके सदृश मेरे देखते-देखते क्रमशः शान्त हो गये ॥८॥

भद्र, भगवान् शङ्करजीने आवरणयुक्त ब्रह्माण्डरूपी कपाट उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कि क्षुधार्त हरिण क्षुद्र पत्तेको निगल जाता है ॥ ९ ॥

तदनन्तर वह दृश्यरूप कालुष्यसे रहित चिदाकाशरूप शान्त केवल ब्रह्मरूप ही रह गया । वह आदि, मध्य और सीमासे शून्य केवल ज्ञानस्वरूप ही रहा ॥ १० ॥

अब पाषाणोदर-कथाकी समाप्ति दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं—'इत्यहम्' इत्यादिसे ।

भद्र, इस प्रकार उस शिलाके टुकड़ेके कोटरमें (खोड़रेमें) मैंने दर्पणमें प्रतिबिम्ब-सा महान् विभ्रमरूप संसार एवं उसका महाप्रलय देखा ॥ ११ ॥

हे राघव, तदनन्तर उस अङ्गनाका, उस शिलाका एवं उस संसारभ्रमका स्मरण कर मैं ऐसे ही विस्मयको प्राप्त हुआ, जैसे कि ग्रामीण पुरुष, जिसने कभी नगर न देखा हो, राजद्वारपर आकर परम विस्मयको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पुनः उस सुवर्णकी शिलाको मैंने पूर्व प्रदेशसे अन्य प्रदेशोंमें भी देखा ।

बुद्धिनेत्रेण दृश्यन्ते दिव्याक्ष्णा वा न ते यथा ।
सर्वत्र सर्वदा सर्वं यदस्त्येव तदा तथा ॥ १४ ॥
दूरवत्प्रेक्ष्यते मांसदृशा यद्येव सा शिला ।
दृश्यते तच्छिलैवैका न तु सर्गादि किञ्चन ॥ १५ ॥
साऽत्रस्थिता शिलैवैकरूपा निबिडमण्डला ।
कलधौतमयी स्फारा सन्ध्याजलदसुन्दरी ॥ १६ ॥
ततोऽहं विस्मयाविष्टः प्रविचारितवान् पुनः ।
शिलायामपरं भागं तथैव परया दृशा ॥ १७ ॥
यावत्तमपि पश्यामि जगदारम्भमन्थरम् ।
तथैव सुषिराकार इव नानार्थसुन्दरम् ॥ १८ ॥
पुनरन्यं तथैवाऽहं प्रदेशं परिदृष्टवान् ।
सर्गसंरम्भवलितं यावत्तमपि तादृशम् ॥ १९ ॥

उसके अशेष अङ्गोंमें सभी जगह कालरात्रिके अङ्गोंके सदृश अनेक सृष्टियां विद्यमान थीं ॥ १३ ॥

भद्र, बुद्धिरूपी नेत्रसे वे सृष्टियां उन शिला खण्डोंमें दीख पड़ती हैं, और अद्वैतदृष्टिसे वे नहीं भी दीख पड़तीं, सब जगह सब कालमें सर्वात्मक वस्तु जब रहती है, तब वैसा हो ही सकता है ॥ १४ ॥

यदि मांसमय दृष्टिसे दूरपर स्थित वस्तुके सदृश आपाततः देखी जाय, तो वह केवल अकेली शिला ही देखनेमें आयेगी, उसमें कुछ भी सर्ग दिखाई नहीं पड़ेगा ॥ १५ ॥

घनमण्डलवाली वह सुवर्णमयी शिला एकरूप ही स्थित थी। सन्ध्याकालके मेघके सदृश अतिसुन्दर एवं विशाल थी ॥ १६ ॥

श्रीराघव, इसके बाद अत्यन्त आश्चर्यसे युक्त होकर मैंने फिर उस शिलाके दूसरे भागके विषयमें उसी प्रकारकी दिव्यदृष्टिसे विचार किया ॥ १७ ॥

विचार कर ज्यों ही मैंने उसे देखा, त्यों ही वह दूसरा भाग भी अनेक तरहके जगद्के आरम्भोंसे (सृष्टियोंसे) खचा-खच भरा ही मेरी दृष्टिमें आया। पहले जिस प्रदेशको देखा था, उसी तरहसे वह भी छिद्राकारमें (आकाशमें) अनेक तरहके अर्थोंसे सुन्दर ही लग रहा था ॥ १८ ॥

इसी तरह फिर मैंने उसके अन्य प्रदेशको भी देखा, तो वह भी उसी प्रकारसे

यं यं प्रदेशं पश्यामि शिलायास्तत्र तत्र वै ।
जगत्पश्यामि विमलमादर्श इव बिम्बितम् ॥ २० ॥
मयाऽतिकौतुकेनाऽथ सर्वास्तस्य गिरेः शिलाः ।
अन्विष्टा भूमिभागाश्च तृणगुल्मादयस्तथा ॥ २१ ॥
यावत्सर्वत्र तत्राद्दग्जगदस्ति यथास्थितम् ।
बुद्ध्यैव दृश्यते नाऽक्ष्णा परया विविधाकृति ॥ २२ ॥
क्वचित्प्रथमसर्गार्थजायमानप्रजापति ।
कल्प्यमानर्क्षचन्द्रार्कदिनरात्र्यृतुवत्सरम् ॥ २३ ॥
क्वचित्किंचिन्महीपीठसम्पन्नजनमण्डलम् ।
क्वचित्किञ्चिदखातोग्रचतुःसागरखातकम् ॥ २४ ॥
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातसुरसञ्जातदानवम् ।
क्वचित्किञ्चित्कृतयुगाचारसज्जनभूतकम् ॥ २५ ॥

अनेक तरहकी सृष्टियोंके आडम्बरोंसे परिपूर्ण ही था ॥ १९ ॥

भद्र, उस शिलाके जिस-जिस प्रदेशको मैं देखता, उस-उस प्रदेशमें, निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश, जगत् दिखाई देता था ॥ २० ॥

इसके बाद मैंने बड़े ही कौतुकसे उस पर्वतकी सभी शिलाएँ, भूमिभाग एवं तृण, गुल्म आदिके ऊपर जहां कहीं भी दृष्टिपात किया, वहां सर्वत्र उसी प्रकार अनेक तरहके आकारोंसे युक्त जगत्को विद्यमान देखा। भद्र, यह उत्तम बुद्धिसे (आधिभौतिक देहभावकी भ्रान्तिसे शून्य सर्वसाक्षी मैं ही हूँ, इस बुद्धिसे) ही देखा जाता है, चर्मचक्षुसे नहीं ॥ २१,२२ ॥

उस उस प्रदेशमें जो जो विशेष विशेष देखा, अब उसे दर्शाते हैं— 'क्वचित्' इत्यादिसे ।

कहींपर प्रारम्भिक सृष्टिके लिए प्रजापति पैदा हो रहे थे, तो कहीं-पर प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रमण्डल, दिन और रातकी कल्पना की जा रही थी ॥ २३ ॥

कहींपुर पृथ्वीकी पीठ मनुष्योंके समूहोंसे भरी थी, तो कहींपर राजा सगरके पुत्रोंने चार समुद्ररूपी विकट खाइयां अभीतक नहीं खोद पायी थीं ॥ २४ ॥

कहींपर कोई जगत् तो देवताओंकी उत्पत्तिसे शून्य और दानवोंकी उत्पत्तिसे

क्वचित्किञ्चित्कलियुगाचारदुर्जनभूतकम् ।
क्वचित्किञ्चित्पुरव्यूहदैत्यसङ्गरदुस्तरम् ॥ २६ ॥
क्वचित्किञ्चिन्महाशैलजालनिर्विवरावनि ।
क्वचित्किञ्चिदसम्पन्नसर्गमेकाम्बुजो...म् ॥ २७ ॥
क्वचित्किञ्चिज्जरामृत्यून्मुक्तभूतलमानवम् ।
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातचन्द्रशून्यशिरःशिवम् ॥ २८ ॥
अनिर्मथितदुग्धाब्धिमृत्युमत्सुरपूरितम् ।
असञ्जातामृताश्वभवैद्यगोकमलाविषम् ॥ २९ ॥
शुक्रामरमहाविद्यानाशनोत्कसुरव्रजम् ।
क्वचित्किंचिच्च गर्भाङ्गकर्तनोत्कसुरेश्वरम् ॥ ३० ॥

युक्त देखनेमें आया, तो कहींपर कुछ जगत् सत्युगके आचरण और सज्जन प्राणियोंसे भरा मैंने देखा ॥ २५ ॥

भद्र, कहींपर कुछ जगत कलियुगके आचरणोंसे युक्त तथा दुर्जन प्राणियोंसे भरे थे, तो कहींपर कुछ जगत् नगरोंकी राशियों एवं दैत्योंके सङ्ग्रामोंसे अति संकीर्ण थे ॥ २६ ॥

कहींपर जगत् बड़े-बड़े पर्वतोंके समूहोंसे इतना व्याप्त था कि उसमें तनिक भी अवकाश नहीं रह गया था और कहींपर दूसरी कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई थी, केवल ब्रह्माजी ही उत्पन्न हुए थे ॥ २७ ॥

कहींपर कुछ जगत् ऐसे देखे कि उनमें पृथ्वीके सभी मानव जरामरणसे रहित थे और कहींपर भगवान् शङ्कर ऐसी स्थितिमें दिखाई दिये कि उनके मस्तकपर चन्द्ररूप भूषण ही नहीं रहा, क्योंकि भूषणरूप चन्द्रकी उत्पत्ति ही वहां नहीं हुई थी ॥ २८ ॥

भद्र, कहींपर तो क्षीरसागरका मथन ही नहीं हुआ था, इसलिए वह मृत्युग्रस्त देवताओंसे पूर्ण था तथा वहां अमृत, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु, लक्ष्मी और विष भी उत्पन्न नहीं हुए थे ॥ २९ ॥

कहींपर शुक्राचार्यकी मृतसंजीविनी महाविद्या पैदा करनेवाली महती तपश्चर्यामें विघ्न डालनेके लिए देवता उत्कण्ठित दिखाई दे रहे थे, तो कहींपर भावी शत्रुओंके नाशके निमित्त दितिके पेटमें घुसकर गर्भके अवयवोंको काटनेके लिए इन्द्र उत्सुक थे ॥ ३० ॥

अपरिम्लानधर्मत्वात्स्वप्रकाशाखिलव्रजम् ।
क्वचित्किञ्चिच्च पूर्वान्यसंनिवेशक्रमस्थिति ॥ ३१ ॥
अपूर्ववेदशास्त्रार्थसमाचारविचारणम् ।
क्वचित्किञ्चिच्च कल्पान्तसंक्षोभमिव संस्थितम् ॥ ३२ ॥
क्वचित्किञ्चिच्च दैत्यौघविलुण्ठितसुरालयम् ।
क्वचित्किञ्चित्सुरोद्यानगायद्गन्धर्वकिंनरम् ॥ ३३ ॥
क्वचित्किञ्चित्समारब्धगीर्वाणासुरसौहृदम् ।
भूतभव्यभविष्यत्स्थजगदाडम्बरं मया ॥ ३४ ॥
तदाऽनुभूतं वपुषि महाविश्वगणात्मनि ॥ ३५ ॥
एकत्र कल्पविक्षुब्धपुष्करावर्तमन्थरम् ।
एकत्र सौम्यसकलभूतसंततिसंस्थितम् ॥ ३६ ॥

कहींपर जगत्में धर्ममें ग्लानि न आनेके कारण समस्त जनता स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञानसे पूर्ण थी, कहींपर तो पदार्थस्थिति पूर्वसिद्ध अवयव रचनाके क्रमसे विलक्षण ही थी ॥ ३१ ॥

कहींपर जगत् अपूर्व वेद एवं शास्त्रके अर्थोंके अनुसार आचरण तथा विचारमें तत्पर दिखाई दिया तथा कहींपर महाप्रलयके क्षोभसे रहित अतएव सुन्दर निश्चलरूपसे स्थित दिखाई पड़ा ॥ ३२ ॥

कहींपर तो जगत्में दैत्योंके समूहोंसे देवताओंके घर लूटे हुए मिले, और कहीं किसी जगत्में देवताओंके उद्यानोंमें गन्धर्व तथा किन्नर मधुर गाना गा रहे थे ॥ ३३ ॥

कहीं किसी जगत्में देवता और दानवोंमें समुद्रमथनके लिए बना हुआ उत्तम सौहार्द (मेल) देखनेमें आया ॥ ३४ ॥

भद्र, इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य कालके महान् जगदाडम्बरको मैंने उस समय विश्वरूप महादेवजीके स्वरूपमें यानी मायायुत चिदाकाशमें देखा ॥ ३५ ॥

उसी जगत्के आडम्बरको फिर दर्शाते हैं—'एकत्र' इत्यादिसे ।

कहींपर जगत् कल्पकालके कुपित पुष्करावर्त मेघोंके कारण व्याकुल था, तो कहींपर शान्त समस्त भूतोंके समूहोंसे उपद्रव रहित था ॥ ३६ ॥